शिवप्रसाद सिंह का कथा साहित्य

सत्यदेव त्रिपाठी

शिवप्रसाद सिंह
का
कथा साहित्य

डॉ० सत्यदेव त्रिपाठी
हिन्दी विभाग, चेतना कालेज, बांद्रा (पूर्व), बम्बई

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्राक्कथन

शिवप्रसाद सिंह पचासोत्तर हिन्दी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। शोध, समीक्षा, सृजन, चिंतन, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा सर्वविदित है, पर वे मूलतः कथाकार हैं। उन्होंने सर्वप्रथम अक्टूबर 1951 के 'प्रतीक' में 'दादी माँ' कहानी के साथ इस क्षेत्र में प्रवेश किया और तब से अनवरत अपनी एक से एक अनूठी रचनाओं में वे तमाम सामाजिक समस्याओं से जूझते आ रहे हैं।

शिवप्रसाद सिंह के कथा-सृजन का मूल क्षेत्र ग्रामीण जीवन है। असल में प्रेमचंद के बाद हिन्दी साहित्य में ग्राम-जीवन प्रायः लुप्त हो गया था। आजादी के साथ उभरी जिस नयी पीढ़ी ने इस 'गैप' (रिक्तता) को भरने की सार्थक कोशिश की, डॉ० शिवप्रसाद सिंह का नाम उसमें अग्रगण्य है। साहित्य में विस्तृत जीवन वास्तव के कारण तत्कालीन संदर्भों में प्रेमचंद गाँव के जिस उपेक्षित अंश को अपना संवेदनात्मक संस्पर्श नहीं दे सके थे और तमाम नारों-आन्दोलनों के प्रवाह में यह पीढ़ी भी जिन तक नहीं पहुँच पा रही थी, उस दलित मानवसमाज—नटों, मुसहरों, कुंजड़ों, डोमों, चमारों आदि—के दुख-दर्द को शिवप्रसाद सिंह की लेखनी ने पूरी सजगता और संजीदगी के साथ व्यक्त किया। दूसरे, प्रेमचंद के जमाने में शोषण की प्रक्रिया बड़ी साफ और सीधी थी लेकिन आजाद भारत में ज़मींदारी-व्यवस्था खत्म हो जाने के बाद उसमें बड़ी पेचें आ गयीं, सामाजिक व्यवस्था और स्तर बदल जाने से उसकी प्रक्रिया भी काफी जटिल हो गयी। इस संपूर्ण स्थिति को पकड़ पाने के लिए एक नयी दृष्टि तो चाहिए ही, उसे व्यक्त करने के लिए नये सिरे से प्रस्तुतीकरण की ज़मीन भी खोदनी थी। शिवप्रसाद सिंह ने इन तमाम ऐतिहासिक जरूरतों को समझते हुए बड़ी सूझ-बूझ के साथ इन्हें तदनुरूप अंजाम दिया। इसमें वे आशातीत रूप से सफल भी रहे क्योंकि विवेच्य (ग्रामीण) जीवन को इन्होंने मात्र देखा-सुना ही नहीं, संपूर्णता में जीया और भोगा भी है। स्वानुभूति की इसी सचाई के यथार्थ से इनका संपूर्ण कथा साहित्य संवलित और ऊर्जस्वित है। एक ओर जहाँ इनमें ग्रामीण जीवन की समस्त विद्रूपताओं को उनके नग्नयथार्थ रूप में उघाड़ने की निर्ममता है, वहीं दूसरी ओर भावी जीवन के प्रति आस्थावान संकेत भी। इस दृष्टि से 'अलग-अलग वैतरणी' लेखक की सशक्त प्रस्तुति है। इसमें इनकी प्रतिभा और चिंतन का चरम निखार देखा जा सकता है।

इतने समर्थ कथाकार होने के बावजूद साहित्य में शिवप्रसाद सिंह अपने आविर्भावकाल से अब तक के सृजन को लेकर न केवल तमाम परस्पर विरोधी विचारों,

वाद-विवादों के शिकार हुए वरन् उन्हें सतही आलोचना की संकरी गलियों से भी गुजरना पड़ा। कुछ प्रमुख मुद्दे उदाहरणीय हैं—

कथा-साहित्य में शिवप्रसाद सिंह का आविर्भावकाल ही 'नयी कहानी' का आविर्भावकाल भी है और नये कहानीकार के रूप में इनको लेकर एक से एक परस्पर-विरोधी विचार पाये जाते हैं। डॉ० बच्चनसिंह, शिवप्रसाद जी को नयी कहानी का प्रवर्त्तक मानते हैं। डॉ० नामवर सिंह 'प्रतीक' के एक ही अंक में छपी राजेन्द्र यादव की कहानी 'खेल-खिलौने' के मुकाबले 'दादी माँ' को मिली खुली दाद को स्वीकारते हैं, डॉ० सिंह की उपेक्षितों को लेकर लिखी कहानियों को सराहते हैं, पर प्रवर्त्तक नहीं मानते। इसी प्रकार कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव भी नये कहानीकार के रूप में इनका उल्लेख करते हैं पर प्रवर्त्तक किसी और (शायद अपने) को मानते हैं। इन सबके बिल्कुल विपरीत कुछ समीक्षा-पुस्तकों (हिन्दी कहानी में प्रगति चेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय आदि) में इन्हें (रेणु और मार्कण्डेय के साथ) नयी कहानी के अंतर्गत न पढ़कर आंचलिक खाने में डाल दिया गया है याने प्रवर्त्तक तो क्या, इन्हें नया कहानीकार भी नहीं माना गया है।

आंचलिकता को लेकर मामला सर्वाधिक विवादग्रस्त है। कहानियों के साथ 'अलग-अलग वैतरणी' को भी इसमें शामिल कर लिया गया है। डॉ० सिंह के लाख कहने, कि भाई मैं आंचलिक नहीं हूँ, के बावजूद ऐसा हुआ। असल में 'मैला आँचल' के प्रकाशन (1954) के साथ ही आंचलिकता का फैशन चल पड़ा और हिन्दी में अनजाने ही इसका इतना अर्थविस्तार हो गया कि संपूर्ण ग्रामकथाएँ आंचलिक मानी जाने लगीं। इसके पीछे ग्राम-कथा को नीचा दिखाने के लिए शहरी कथा द्वारा किये गये षड्यन्त्र का भी काफी हाथ था। धीरे-धीरे इसकी अवधारणा एक सीमित क्षेत्र के लेखन के लिए रूढ़ होती गयी और शहरी कथाकारों के मुकाबले इन्हें तुच्छ निगाहों से देखा जाने लगा। शिवप्रसाद सिंह इसके सबसे जबर्दस्त शिकार हुए।

इसी ग्रामीण जीवन की 'थीम' के कारण राजेन्द्र यादव ने डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसाद सिंह को समकालीन युगबोध के 'चेलेन्ज' से भागने और आधुनिकता के यथार्थ से डरने वाला कहानीकार बताया (एक दुनिया समानांतर—पृष्ठ 28)। इस प्रकार यह मिथक बन गया कि ग्राम-कथाएँ आधुनिक हो ही नहीं सकतीं। उन्हें पिछड़ेपन का पर्याय माना जाने लगा। इस मिथक को तोड़ने में बड़ा समय लगा जिसमें शिवप्रसाद सिंह के अलावा श्री जितेन्द्रनाथ पाठक, (कल्पना नवलेखन विशेषांक—दो, 1969) विजयदेवनारायण साही (आलोचना, अप्रैल-1969) और विवेकी राय (स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्रामजीवन) आदि ने बड़ा ही सार्थक और सफल प्रयत्न किया; पर शिवप्रसाद सिंह के कथा-साहित्य पर से इसकी कुहासा अब भी पूरी तरह से छट नहीं पायी है।

इन मुद्दों के अलावा कहानियों (जिनमें 'कर्मनाशा की हार', 'पापजीवी',

'नन्हों', 'मुरदासराय', 'इन्हें भी इंतजार है', 'धारा' और 'सुबह के बादल' आदि प्रमुख हैं) और दोनों ही उपन्यासों के कथ्य और शिल्प को लेकर सीधे काफी वाद-विवाद हुए जिनमें एक से दूसरे विद्वान् के मत में जमीन-आसमान का अंतर देखा जा सकता है। इन सबका उल्लेख तो प्रबंध में मिलेगा ही, पर संपूर्ण रचनाओं से व्यंजित कथाकार की दृष्टि को लेकर भी पर्याप्त मतवैभिन्न्य देखने को मिलता है—

मधुरेश जी कहानियों को लेकर जिस शिवप्रसाद सिंह को डॉ० लोहिया से प्रभावित और 'गली आगे मुड़ती है' को लेकर मार्क्सवादी जीवनमूल्यों के विरोधी अज्ञेय और भारती की परम्परा से जुड़ा मानते हैं, उसी शिवप्रसाद सिंह के लिए डॉ० प्रभाकर माचवे का मत है, 'वे अस्तित्ववाद की गहन निराशा भरी 'नो एक्जिट' वाली विवशता से परिचित हैं और मार्क्सवाद की आर्थिक मजबूरियों से भी। वे सीमाओं को जानकर उसके आर-पार देखना चाहते हैं। वे शब्दों की माला पिरोने में अटक नहीं गये हैं। वे अचेतन में सचेतन रूप से अवगाहन करते हैं। यही उनकी आधुनिकता है'—(मेरी प्रिय कहानियाँ—डॉ० शिवप्रसाद सिंह की भूमिका से उद्धृत)।

इन इतने-इतने परस्पर विरोधी विचारों के अलावा कुछ और भी मत हैं। इनकी कहानियों को अमृतराय 'नास्टैलिजिया' (गृहमोह) से ग्रस्त बताते हैं। राजेन्द्र यादव इन्हें खेत-खलिहानों के मासूम मोह में फँसा कहते हैं। 'गली आगे मुड़ती है' में काशी के सम्पूर्ण भौगोलिक परिवेश के उभार को लेकर श्री अजितकुमार ने इसे बनारस की 'गाइड' तक कह दिया है। मधुरेश जी इन्हें इसलिए ग्राम (या आंचलिक भी) कथाकार नहीं मानते क्योंकि ये न तो ऐसे किसी आंदोलन के साथ जुड़े और न ही अपना कोई वर्ग बना पाये। और सचमुच तत्कालीन कथा साहित्य में अपने-अपने को आंदोलनों का प्रवर्त्तक और लेखकों का मसीहा सिद्ध करने के लिए 'ग्रुप' बना-बनाकर 'पब्लिसिटी' करायी जाती रही जिससे सृजन और समीक्षा दोनों में हुई गुटबंदी के कारण माहौल इतना खराब रहा कि स्याह-सफेद की पहचान मुश्किल हो गयी। चूँकि शिवप्रसाद सिंह इस मसीहाई प्रवृत्ति से दूर रहे, अतः उस दौर में उनके कथा-साहित्य का वास्तविक विवेचन न हो सका। कारण जो भी हो, पर इतना तो निस्संदेह स्पष्ट है कि शिवप्रसाद सिंह का कथासाहित्य इतने-इतने परस्पर विरोधी विचारों के बीच घिर गया है कि साहित्य जिज्ञासु इसमें भटक कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

हाँ, इन दिनों कुछ सही रास्तों के संकेत जरूर मिले हैं। डॉ० विवेकी राय ने अपने शोधप्रबंध 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन' में लेखक की कुछ कहानियों और 'अलग-अलग वैतरणी' के कतिपय पक्षों का गवेषणापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। डॉ० शशिभूषण पाण्डेय 'शीतांशु' ने भी अपने शोधप्रबंध 'नयी कहानी के विविध प्रयोग' में डॉ० सिंह को नया कहानीकार मानते हुए उनकी कहा-नियों की कतिपय विशेषताओं, खासकर भाषा संबंधी, का गंभीरतापूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है।

किन्तु उन्हें भी शिवप्रसाद सिंह के संपूर्ण लेखन के संदर्भ में पूर्ण नहीं कहा

जा सकता । ये अपने विषय-विस्तार के कारण इन पर केन्द्रित न हो पाने की विवशता
से लेखक के संबंध में छिटफुट स्पष्टता ही ला सके हैं। फिर इधर के लिखे कहानी-
संग्रह 'भेड़िए' और उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में लेखक की सर्वथा नयी पहचान
उभरी है । इस प्रकार डॉ० शिवप्रसाद सिंह के समग्र कथा साहित्य को लेकर अब तक
कोई सुसंगठित अध्ययन-मूल्यांकन नहीं हो सका है। अतः उक्त विवादों और इस
अद्यतन सृजन को ध्यान में रखते हुए लेखक के कथा साहित्य के सम्यक् विवेचन और
उसकी सही तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए एक गहन-गंभीर और प्रामाणिक शोधकार्य
की महती आवश्यकता इन दिनों हिन्दी साहित्य में निरन्तर महसूस की जाती रही है।
प्रस्तुत शोधप्रबंध इसी आवश्यकता की पूर्ति का विनम्र, पर स्पष्ट और
मुकम्मल, प्रयास है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आदि में प्रास्ताविक और अंत में एक परिशिष्ट रखा
गया है । प्रस्ताविक में शिवप्रसाद सिंह के आविर्भावकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों और
उनकी कथा-यात्रा के सिलसिलेवार विकास का अति संक्षिप्त, पर साहित्यिक परिचय
दिया गया है तथा परिशिष्ट में लेखक के जीवन और साहित्य को लेकर शोधकर्त्ता
द्वारा पूछे गये प्रश्नों के लेखकीय उत्तर समाविष्ट हैं। इनके अलावा प्रबन्ध सात
अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में नयी कहानी का संक्षिप्त परिचय देते हुए
उसमें लेखक के स्थान और योगदान का संक्षिप्त मूल्यांकन किया गया है । दूसरे अध्याय
में डॉ० सिंह की कहानियों के परिवेश और उनकी आंचलिकता पर विस्तृत विचार
हुआ है । अध्याय तीन में कहानियों के कथ्य और अध्याय चार में चरित्र-विधान का
सम्पूर्ण विवेचन किया गया है । इसी तरह पाँचवें और छठे अध्याय में क्रमशः 'अलग-
अलग वैतरणी' और 'गली आगे मुड़ती है' के कथ्य की प्रायः सभी कोणों से समीक्षा
की गयी है । अध्याय सात में लेखक के कथा साहित्य के रूपबंध का सांगोपांग अध्ययन
प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार कुल मिलाकर कोशिश यह की गयी है कि शिवप्रसाद
सिंह के कथा साहित्य से संबंधित कोई बात अनकही न रह जाये, वैसे फिर-फिर कहने
की गुंजाइश से तो कभी इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि साहित्य में 'इदमित्थम्'
होता ही कहाँ है ? अस्तु....

प्रस्तुत शोध प्रबंध गुरुवर डॉ० पारसनाथ मिश्र, प्राचार्य, रत्नम कॉलेज, भांडुप.
बम्बई 78, के कुशल निर्देशन का परिणाम है जिनके लिए कुछ कहकर मैं उनके अमूल्य
प्रदेय को कम नहीं करना चाहता । वे मेरे सिर्फ निर्देशक और गुरु ही नहीं हैं । जो
निर्मल स्नेह-पीयूष तमाम दुनियावी रिश्तों-नामों को गलाकर मन की अतल गहराइयों
को अपनी तरलता से सिंचित करने लगता है, वह किसी शब्द से भला बँधेगा क्या ?
....उन्हें शत-शत प्रणाम !

शोध-कार्य के दौरान कई बार डॉ० शिवप्रसाद सिंह से मिलने का सुयोग प्राप्त
हुआ । बिना किसी अग्रिम निवेदन के भी जब-जब मैं पहुँचा, वे सहजभाव से मिले
और मेरी समस्याओं को ध्यानपूर्वक सुना तथा आवश्यक समाधान भी किया । अपनी

सारी व्यस्तताओं के बावजूद मेरे पत्रों का यथासंभव उत्तर भी देते रहे। इन सबके लिए मैं उनका सचमुच चिर ऋणी हूँ।

शोध-प्रबंध को पूरा करने में गुरुवर दयाराम पाण्डेय, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, खालसा कॉलेज, बम्बई 19, का योगदान चिरस्मरणीय है। उन्होंने अत्यन्त धैर्य के साथ शोध-प्रबंध को तो आद्योपांत पढ़ा ही है, समय-समय पर संबंधित साहित्य को पढ़कर भी अपने अमूल्य सुझाव देते रहे। मैं उनके आशीर्वाद का सतत आकांक्षी हूँ।

अपने कॉलेज की प्राचार्या श्रीमती वत्सला सरवाल, पुस्तकालयाध्यक्ष मित्रवर अविनाश सहस्रबुद्धे एवं आदरणीय डॉ० रविनाथ सिंह, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस० आई० ई० एस० कॉलेज, शींव, बम्बई-22 को धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपनी क्षमता भर हर संभव सहयोग दिया है।

गुरु व मित्र दोनों रूपों में डॉ० आर० आर० सिंह, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, खालसा कॉलेज, बम्बई-19, का अमूल्य स्नेह-सहयोग मुझे मिला है, उनके प्रति विनम्र आभार। अपनी शुभेच्छापूर्ण बातों से दैनंदिन प्रेरित करने वाले बड़े भाई श्रीधर तिवारी, एम० ए०, साहित्यरत्न तथा प्रिय भाई ओमप्रकाश शुक्ल, एम० ए०, साहित्यरत्न, के लिए धन्यवाद देने की औपचारिकता निभाने का मन नहीं होता; यदि दूँ भी तो वे मानेंगे क्या...?

अंत में उन तमाम शुभचिंतकों को हार्दिक धन्यवाद जिनका जिस किसी भी रूप में स्नेह-सहयोग प्राप्त हुआ है।

बम्बई
फरवरी, 1985

—सत्यदेव त्रिपाठी

अनुक्रमणिका

प्रास्ताविक

'कथा-साहित्य' की अवधारणा

'कथ्' धातु से व्युत्पन्न 'कथा' शब्द का साधारण अर्थ होता है—जो कहा जाये।[1] लिखित रूप में साहित्य में आने से पहले लोक-जीवन में कथाएँ कही-सुनी जाती थीं। संस्कृत की पुरानी कथाओं 'वृहत्कथामंजरी', 'कथा सरित्सागर' और 'वृहत्कथासागर' आदि में पूरी कहानी कोई न कोई किसी से कहता है। 'कादंबरी' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। हिन्दी की प्रारंभिक कथाएँ भी अपने पात्रों के बीच 'कहते भये', 'सुनते भये' के रूप में ही चलती रहीं।

अपने विकास-पथ पर तेजी से बढ़ते हुए हिन्दी का कथा साहित्य आज अनेक मंजिलें पार कर चुका है और तमाम प्रवृत्यात्मक विशिष्टताओं की भिन्नता के फल-स्वरूप 'कहानी' और 'उपन्यास' दो प्रमुख साहित्यिक विधाओं के रूप में सर्वमान्य हैं। कथ्यात्मकता ('कथ्' शब्द का परिष्कृत रूप) आज भी दोनों का प्रमुख तत्व है जो भिन्न नामरूपी विधाओं को सहज एकता के अंतस्सूत्र के रूप में मिलाये रहता है और इसी मिलन को व्यंजक के रूप में 'कथा' शब्द आधुनिक साहित्य में प्रचलित है—'इस कथा-साहित्य के अंतर्गत हम उपन्यास और कहानी...को अंतर्भुक्त समझते हैं।'[2]

फिर भी कभी-कभी विद्वानों ने पुस्तक का नाम तो दिया है—कथा-साहित्य, पर उसमें चर्चा की है—सिर्फ कहानियों की।[3] इसके विपरीत कभी-कभी कथा-साहित्य नाम देकर उसके अंतर्गत उन्हीं पुस्तकों की चर्चा की गयी जिनमें आद्योपांत एक ही कथा हो अर्थात् कहानी संग्रहों को नहीं लिया गया, मात्र उपन्यासों को कथा साहित्य कहा गया।[4]

यह वैषम्य शब्दकोशों में भी मिलता है। 'वृहत् हिन्दी शब्दकोश' (कालिका-प्रसाद शर्मा) में 'कथा' शब्द का अर्थ केवल उपन्यास बताया गया है, कहानी नहीं; पर भार्गव के 'आदर्श शब्दकोश' में कहानी और उपन्यास दोनों ही बताये गये हैं। इस सम्बन्ध में 'साहित्य कोश' में उद्धृत अंश द्रष्टव्य है। 'कथा' शब्द के विकास का इतिहास बताते हुए लिखा गया है—'यों तो साहित्य और काव्य समानार्थी शब्द हैं और काव्य का पद्यबद्ध होना अनिवार्य नहीं है परंतु साधारणतया पद्यबद्ध कथाओं को

---

1. साहित्य कोश—भाग 1, प्र० सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 183.
2. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्रामजीवन—विवेकी राय, पृष्ठ 19.
3. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य—सीताराम शर्मा
4. हिन्दी कथा साहित्य और उस पर पाठकों की रुचि का प्रभाव—डॉ० गोपालराय।

कथाकाव्य और गद्य में रचित कथाओं को कथा साहित्य—उपन्यास, उपन्यासिका, कहानी आदि कहते हैं।'[5]

उल्लेख्य है कि 'प्रोजफिक्शन' की तरह हिन्दी में भी 'गद्यकथा' और 'पद्यकथा' जैसे विभाजन किये गये हैं पर आज अंग्रेजी में सिर्फ 'फिक्शन' शब्द उसी अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है और आधुनिक (हिन्दी) साहित्य में 'कथा साहित्य' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'फिक्शन' के अर्थ में होता है।'[6]

'कथा' शब्द के औचित्य के सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात और है कि लगभग सभी लेखकों ने कहानी और उपन्यास दोनों ही लिखे हैं जिनके एकमेव और समग्र संबोधन के लिए 'कहानीकार' या 'उपन्यासकार' शब्द अधूरे साबित होते हैं। 'कथाकार' ही उनके संपूर्ण संबोधन का एकमात्र वाहक शब्द हो सकता है और उनके लेखन को विवेचित करने के लिए 'कथा साहित्य' शब्द ही उपयुक्त समझा गया है।[7] कहानी-उपन्यास दोनों की अवधारणा के लिए 'कथा' शब्द की निर्मिति के मूल में इस लेखकीय प्रवृत्ति ने अवश्य ही मार्गदर्शन का योग दिया होगा।

कथा : साहित्य का प्रमुख अंग

काव्य साहित्य के मुकाबले कथा साहित्य उम्र के लिहाज से अभी शिशु ही कहा जायेगा (हालाँकि कुछ कोरे कवितावादियों के लिए यह असमय वृद्ध हो गया है) पर जीवन की यथार्थ-ग्राहिता के कारण जिम्मेदारियों का गुरुतर भार वहन करने वाले पूर्ण विकसित किशोर की तरह यह साहित्य-परिवार के अत्यंत प्रमुख अंग के रूप में स्वीकृत है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए जनसामान्य में प्रचलित माध्यम गद्य वह पौष्टिक पदार्थ सिद्ध हुआ है कि अल्पकाल में ही कथा-किशोर की इयत्ता पूर्णरूपेण समादृत भी हो गयी है। जीवन के बहुआयामी संस्पर्श ने इसे विस्तार दिया है तो इसके प्रतिभा-संपन्न पोषकों ने विकास की सही दिशा, जिस पर चलकर आज का कथा साहित्य उन्नति के चरम शिखरों पर प्रतिष्ठित है—'पिछले तीन दशकों की उपलब्धियों के सबसे ऊँचे तथा महत्वपूर्ण शिखर यदि कहीं देखे जा सकते हैं तो उपन्यास और फिर कहानियों के क्षेत्र में।'[8] यथातथ्याग्रही (इक्जैटिंग) चित्रण की प्रवृत्ति की संजीवनी से संवलित सर्वतोन्मुखी जीवनाभिव्यक्ति की प्यास इसके आगामी जीवन को अक्षुण्ण बनाये रखने के 'गारंटी कार्ड' हैं।

स्वातंत्र्योत्तर स्थितियाँ और कथा-साहित्य

(अ) जन-मानस को करारा झटका : नयी वैचारिक दृष्टि का जन्म—स्वतंत्रता-

5. साहित्य कोश, भाग-1, प्र० सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 184.
6. वही
7. (अ) राहुल सांकृत्यायन का कथा साहित्य—डॉ० प्रभाशंकर मिश्र।
   (ब) यशपाल का कथा साहित्य – प्रकाशचन्द्र मिश्र।
8. 'कल्पना'—अगस्त-सितम्बर 1969, नवलेखन विशेषांक, पृष्ठ 50, शिवकुमार मिश्र का लेख।

प्राप्ति के साथ ही देश का वैचारिक पुनर्जन्म हुआ ।[9] 'पुनर्जन्म' शब्द तत्कालीन मानसिकता को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए बड़ा ही व्यंजक है और मौजूं भी । इसे नये सिरे से समझने की आवश्यकता है—

आजादी प्राप्त करने की चेतना का उदय देश का वैचारिक जन्म था । अनेकानेक आंदोलनात्मक प्रयासों में वह विचार पल्हुआया था और देश का छोटे से बड़ा तक हर व्यक्ति अपने सुख-समृद्धिमय जीवन के सपने देखने लगा था । कलाकारों ने तो 'सुना है मैंने उस पार, बसा है सोने का संसार' तक की कल्पना कर डाली थी । किन्तु जब स्वतंत्रता मिलते ही भारतीयता के हिंदुस्तान-पाकिस्तान और मानवता के हिन्दू-मुस्लिम जैसे टुकड़े हो गये, एकता की वेदी पर बापू भी बलि चढ़ गये तथा देश के नवनिर्माण की जिम्मेदारी सँभालने में भारतीय जनजीवन का तालमेल गड़बड़ाने लगा तो सोने के संसार वाले काल्पनिक 'घीसू' को पढ़ाने तथा मानवप्रेम की दुर्गति को नाक़ाबिले बर्दाश्त पाकर नीलकंठ-मोर-नेवलों के परिवार बनाने में लग गये । 15, अगस्त की पूर्व संध्या को जीत की रात भर पहरुओं को सावधान किया गया, पर पौ फटते ही विहान के हालात देखकर 'सत्य की विजय होती है' की पुरानी पट्टी उतार कर 'विजयी होने वाले ही सत्य हैं' के फार्मूले को स्वीकारना पड़ा । लोकतंत्र, मताधिकार, आम चुनाव और पंचवर्षीय योजनाओं आदि आकर्षणों की कलई जब अभ्रक की तरह उड़ी तो व्यक्तिगत स्वार्थ, अवसरवादिता लिये नेतानुमा क्षेत्रीय गुण्डों, पूंजीपतियों और नौकरशाहों की कराइयतभरे धुएँ में आम आदमी की साँसें घुटने लगीं, उन्हें 'कांग्रेसिया विदेसिया समान' लगने लगे । बस, यहीं आजादी के लिए जन्मी मुक्तिकामी चेतना ने 'सुसाइड' कर लिया जिसके प्रतिफलन में देश का वैचारिक पुनर्जन्म हुआ ।

(ब) स्थितियों का बदलाव : कथा साहित्य में प्रतिफल—जाहिर है कि स्थितियों का बदलाव सिर्फ शासक और शासनतंत्र तक ही सीमित नहीं था, 'यह समूची चेतना का संक्रमण काल था ।'[10] इस संक्रांतिकालीन जीवन में चौतरफा बिखराव और व्यापक असंतोष व्याप्त था । विभाजन, मोहभंग, यांत्रिकता, विसंगतियाँ, परिवारों का विघटन और राजनीतिक भ्रष्टाचार[11] की सड़ांध की संकुल जटिलता के दबाव से ग्रस्त जीवन का प्रस्तुतीकरण तत्कालीन साहित्य के लिए चुनौती (चैलेंज) बन गया था जिसे कथा साहित्य ने संपूर्ण साहस के साथ स्वीकारा ।

बदली हुई भौतिक स्थितियों के साथ पुरानी पीढ़ी ने गठबंधन की करवट ले ली थी, समाज के अंतर्मन से जीवन के महनीय मूल्यों का विघटन हो चुका था और धुरीहीन युवा पीढ़ी द्वारा सर्जनशील क्रियाशीलता की कसमसाहट लिये नये मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया अपनी पूरी तीव्रता के साथ कथा साहित्य में इतने वेग से प्रस्फुटित

9. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 9.
10. वही, पृष्ठ 24.
11. वही, पृष्ठ 14.

हुई कि स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य की पूरी आत्मा ही बदल गयी। समाज के प्रति प्रतिबद्ध लेखन में यथार्थ अपने पूरे परिवेश के साथ बिना किसी लेखकीय आग्रह के साकार हो उठा। प्रक्रियात्मक ग्रहण के रूप में आधुनिकता के तकाजों के फलस्वरूप कथा साहित्य ने समूहगत सामाजिकता को व्यक्तिगत सामाजिकता के रूप[12] में देखा क्योंकि लक्ष्य-प्राप्ति का सामूहिक संघर्ष अपने परिणाम में दम तोड़ चुका था।

द्वितीय महायुद्ध के परिणामों की विभीषिका और स्वतंत्रतावाद के विभाजन-विघटन-शोषण ने नैतिकता, पवित्रता व आदर्शपरक भावनाओं को बेमानी सिद्ध कर दिया था। मनुष्य घोर संत्रास, घुटन, उत्पीड़न, गरीबी और जहालत को झेलने लगा था। अतः ये सब कुछ यदि कथा साहित्य में आये तो इसलिए कि ये जीवन में थे। इन्हीं के बीच व्यक्ति जीवन की सार्थकता खोज रहा था जो समकालीन स्थितियों में औद्योगिक संस्थानों में दिखायी पड़ी और गाँव के लोग रोजी-रोटी की तलाश में उद्योग-केन्द्रों (शहरों) की तरफ भागने लगे। प्राकृतिक प्रकोपों—सूखा, बाढ़, बीमारियों आदि—ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और इस आवागमन से प्रगतिशील चेतना की गंध गाँवों तक पहुँची। वैज्ञानिक आविष्कारों ने अदृश्य के चिंतन पर आधारित दार्शनिक व धार्मिक मान्यताओं-विश्वासों को दृश्य-जगत् की वास्तविकताओं के निखार से निरस्त कर दिया। फलतः तमाम रूढ़ियाँ, अंधविश्वास और रीति-रिवाज व्यर्थ पड़ने लगे, प्रेम, विवाह व पारिवारिक सम्बन्धों की सार्थकता पर नये प्रश्न-चिह्न लगने लगे, परम्परावाद (परम्परा नहीं) का तिरस्कार होने लगा और एक नयी चेतना पनपने लग गयी थी।

इन सभी विकास-बदलावों को कथाकारों ने अपनी यात्रा के पाथेय के रूप में ग्रहण किया। सदियों से उपेक्षित, मानवजाति से बहिष्कृत जनसमूह की ओर भी प्रबुद्ध कथाकारों की दृष्टि गयी और हम पाते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में वास्तविक मनुष्य अपने पूरे वजूद के साथ जी उठा। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश कथा-साहित्य का 'अलंकरण न रहकर अंतःकरण' बन गया। जीवन और कथा साहित्य का संघर्ष एक हो गया। जीवन की ही तरह कथा साहित्य में भी कोई शाश्वत मूल्य नहीं रहा। जिंदगी नैतिक-सामाजिक बन्धनों में अँटने से इनकार करने लगी और उसी के मुताबिक तराशा कथालेखन किसी भी तरह के काव्यशास्त्रीय घटकों में बँधने से कतराने लगा। सृजन अपनी सोद्देश्यात्मक यथार्थता में 'पैटर्नाइज्ड' मूल्यांकन की नियति और नीयत से मुक्त हो चुका था।

अवाम के जीवन का समग्र चित्रण, यथार्थांकन व तमाम नयी 'एप्रोचों' के बावजूद कथा-साहित्य में ऐसे भी अनेक आयाम जुड़े जो उसकी प्रगति में बाधक ही बने। बढ़ते हुए स्वार्थी राजनीतिक नेताओं की तरह नेतानुमा लोगों ने साहित्य में अपनी प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए अनेक आंदोलनों की शुरुआत की। नयी कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी और फिर आंचलिक कथा, ग्राम कथा, नगर

---

12. 'किनारे से किनारे तक'—राजेन्द्र यादव—भूमिका।

कथा आदि अनेक सतही विवादों ने कथाकारों की उच्छृंखलता का ही परिचय दिया। आलोचकों की कूटनीति के तहत यह विवाद फला-फूला। विचार-विमर्श के लिए आयोजित गोष्ठियों (साहित्यिक ?) के नाम पर आरोप-प्रत्यारोप, एक-दूसरे की छीछा-लेदर का व्यापार चल पड़ा। गुटबंदी, अखाड़ेबाजी को प्रश्रय मिला। इन सब के बीच लेखन के अपेक्षित विकास में ह्रास आया। कथा-लेखन से ज्यादा कथा-समीक्षाओं का प्रकाशन इसका सबूत है।

कुछ लेखकों ने यथार्थ के नाम पर अतियथार्थ के उदाहरण प्रस्तुत किये। इससे 'सेक्स' आदि के विकृत चित्र सामने आये। दैनंदिन जीवन का अनिवार्य अंग कहकर गालियों और अपशब्दों की भरमार होने लगी। ग्राम-चित्रण के बहाने रोमैंटिक वर्णन पेश किये गये।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य जहाँ अपने विकास-विस्तार के प्रति सजग रहा, वहीं ये प्रवृत्तियाँ उसके सहज-स्वस्थ विकास में घुन बनकर लग गयीं जो अब तक भी अपना स्थान बनाये हुए हैं।

(स) स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में शिवप्रसाद सिंह का प्रवेश—बिना किसी नामोल्लेख और गवाही के स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों से उपजे कथा साहित्य के कुछ मूलभूत स्वरों का ऊपर संकेत किया गया। इन्हीं नवनिर्मित स्थितियों की स्वरूप-प्रतिज्ञा में नये कथाकारों का एक भारी दल लोकजीवन का समारोह संभवी उत्साह लेकर उदित[13] हुआ जिसके एक सशक्त हस्ताक्षर हैं—डॉ० शिवप्रसाद सिंह जिन्होंने भारतीय विचारसंपदा और जीवन परंपरा से ऊर्जस्वित इतने सशक्त व्यक्तित्वों को उनके संपूर्ण राष्ट्रीय-जातीय संदर्भों में प्रस्तुत किया, जिनमें अपने सम्पूर्ण वरदानों-अभिशापों, शक्ति-सीमाओं के साथ देश के बहुसंख्यक वर्ग (ग्राम जीवन) का नेतृत्व करने की क्षमता है। इनके सम्पूर्ण लेखन की विकास-यात्रा और बीच में पड़ने वाले मोड़ों को हम अलग-अलग देखेंगे लेकिन जरा रुककर उस 'एक मिनट' की प्रेरणा का जायजा ले लें जो इस प्रथम प्रवेश की पृष्ठभूमि बनकर डॉ० सिंह के लेखन में आद्यंत व्याप्त है।

प्रतिभा का प्रथम परिचय

आज कथाकार के रूप में विख्यात डॉ० शिवप्रसाद सिंह के लेखन की शुरुआत कविताओं से हुई थी[14] क्योंकि सृजनधर्मी मानसिकता की आंतरिक प्रक्रिया सर्पीली गुंजलक के समान होती है जिसका असली रुख किधर है, मालूम नहीं पड़ता। इसीलिए लेखक को (निजी तौर पर) आश्चर्य भले हो पर साहित्य में यह अजूबा बिल्कुल नहीं—हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि बच्चन जी के सृजन की शुरुआत कहानी से हुई थी।[15] बहरहाल—

---

13. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 19.
14. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 201.
15. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'—बच्चन—(पाँचवाँ संस्करण), पृष्ठ 267.

शिवप्रसाद जी की सृजन-प्रतिभा का हिन्दी-समाज से प्रथम परिचय हुआ—'दादी माँ' कहानी के माध्यम से, जो सर्वप्रथम 'प्रतीक' के अक्टूबर अंक में छपी[16] थी। यह कहानी लेखक की वास्तविक दादी माँ के (न रहने पर) प्यार-दुलार भरी मधुर स्मृतियों की 'घनीभूत पीड़ा' की अभिव्यक्ति है। लेखक को अपनी माँ से ज्यादा प्यार-दुलार दादी माँ से मिला था जो माँ की तरह कहानियाँ नहीं कहती थीं, लोक-गीत नहीं गाती थीं, सिर्फ (मेरे) पैरों को घंटों सहलाती रहती थीं कि (मुझे) नींद आ जाये।[17] किन्तु 'दादी माँ' की यह 'घनीभूत पीड़ा' जब अंतरतर में कसमसाती हुई अभिव्यक्ति की छटपटाहट से कुलबुलाने लगी तो सोने से पहले (माँ द्वारा) सुनायी जाने वाली लोकगीतों में निबद्ध अद्भुत व्यथा और कचोट भरी कहानियों के प्रभाव से उत्पन्न लोककथाओं की अजीब मोहिनी[18] ही माध्यम बनी और उस सम्पूर्ण संभार को अपने रूप (कहानी) में ढालने लगी।

कथालेखन की विकास-यात्रा

विकास-यात्रा में हम कहानी-उपन्यास को क्रमशः अलग-अलग देखेंगे—

(अ) कहानी

डॉ० सिंह की सम्पूर्ण कहानियों के विकास को दो कालखण्डों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम युग—(1951-1966)

इस बीच लेखक की विकास-यात्रा के चार चरण (चार संग्रहों के आधार पर) इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

(1) यात्रा का प्रस्थान बिन्दु—(आर-पार की माला—1951-55)।

(2) यात्रा का विकास—विस्तारसूचक प्रथम मोड़—(कर्मनाशा की हार—1955-58)।

(3) यात्रा का विकास—विस्तारसूचक द्वितीय सोपान—(इन्हें भी इन्तजार है—1958-63)।

(4) यात्रा का विकास—विस्तारसूचक तृतीय चरण—(मुरादासराय—1963-66)।

(1) यात्रा का प्रस्थान बिन्दु

इस प्रकार (प्रथम परिचय में वर्णित) डॉ० शिवप्रसाद सिंह का प्रारंभिक लेखन माँ और दादी माँ के प्यार दुलार भरे सम्मोलन की अर्गला में 'दादी माँ' की सुगंध से सुवासित 'उपधाइन मैया', 'देऊदादा', बुआजी (नई-पुरानी तस्वीर), देवला भाभी (कबूतरों का अड्डा) जैसे अनेक ममतालु पुण्य-मल्लिकाओं को पिरोकर 'आर-पार की माला' के रूप में (1955 में) प्रकाशित हुआ। इस संग्रह को डॉ० सिंह के लेखन

---

16. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 202.

17. वही, पृष्ठ 201.

18. वही।

की आधारशिला के रूप में देखा जा सकता है जिस पर इनके सम्पूर्ण लेखन का भव्य महल खड़ा है। इसकी कहानियों में अधिकांशतः उन तमाम समस्याओं-प्रवृत्तियों के रूप बुनियादी तौर पर मौजूद हैं जिन्हें आगे चलकर लेखक ने विस्तृत फलक पर आँका और प्रस्तुत किया है।

लेखक का विश्वास था कि जिन्दगी वहाँ (गाँवों में) रोती ही नहीं मुस्कुराती भी है।[19] रुदन-हास्य से भरपूर ऐसे जीवन के प्रति आस्था ही लेखक के सम्पूर्ण लेखन का केन्द्र है जो 'आर-पार की माला' से शुरू होकर 'हँसता है, रोता है'[20] से गुजरते हुए अब तक के एक तवील सिलसिले में दिनानुदिन पोख्ता होती गयी है। आर्थिक शोषण की बात हो चाहे सामाजिक वैषम्य की या रूढ़ियों के तोड़ने की समस्या सभी इस संग्रह की कहानियों—'हीरों की खोज', 'मुर्गे ने बांग दी', 'उस दिन तारीख थी', और 'चितकबरी' आदि—में बीज रूप में विद्यमान हैं। समाज में कलंकित, परिवार में निरादृत, पुरुषों द्वारा शोषित नारियों और समाज में उपेक्षित, मानवता से निरादृत लोगों की व्यथा-वेदना जो निरंतर लेखक की मेधा से टकराती रहीं, उन सबका उत्स 'बरगद का पेड़', 'महुए के फूल', 'पोशाक की आत्मा' और 'आर-पार की माला' (कहानी) आदि में देखा जा सकता है जिसने आगे चलकर अपने प्रस्तुतीकरण में अनेक युगप्रवर्त्तक चरित्रों को जन्म दिया। 'मंजिल और मौत' में प्रच्छन्न रूप से वे संकेत भी देखे जा सकते हैं जिसने लेखक से अस्तित्ववादी कहानियाँ लिखवायीं।

'आर-पार की माला' के प्रकाशन से पूर्व ही काशी के किसी धौरन्धिक द्वारा लेखक को 'इमारती आदमी' की खिताब मिल चुकी थी[21] क्योंकि 'इन कहानियों में एक अछूता शिल्पसौन्दर्य है।'[22] फ्लैशबैक पद्धति, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, प्रकृति और शब्दों के सांकेतिक प्रयोग इस शिल्पसौन्दर्य के कलात्मक आयाम हैं। ये सब वर्ण्यविषय के समरूप और उसी जीवन तथा परिवेश से उद्भूत होने के कारण सहज नवीनता की गमक से तरो-ताजे हैं। चरित्र के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति उनके लेखन का मेरुदण्ड है और ये सब प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में यात्रा की आगामी संभावनाओं के मुख्यद्वार के रूप में अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार डॉ० सिंह का समग्र लेखन यदि एक वृहत् ग्रंथ है तो 'आर-पार की माला' उसका 'इंडेक्स'। हाँ, हर संस्करण में कुछ नये अध्याय परिशिष्ट के रूप में जुड़ते गये हैं।

(2) यात्रा का विकास—विस्तारसूचक प्रथम मोड़

इस मोड़ की कहानियाँ भी प्रस्थानबिंदु पर छिड़े संघर्ष की चुनौती को विभिन्न नामरूपों—'रेती', 'प्रायश्चित्त', 'केवड़े का फूल', 'संपेरा', 'पापजीवी' और 'माटी

---

19. 'आर-पार की माला'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—'एक मिनट'—भूमिका से।
20. कर्मनाशा की हार—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—'विकल्प' से।
21. 'आर-पार की माला'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—'एक मिनट'—भूमिका से।
22. वही

की औलाद' आदि—में अपने यथार्थ परिवेश के तहत दिल खोलकर स्वीकार करती हैं, जीती हैं, लड़ती हैं, बार-बार टूटती हैं, हारती हैं पर अपने लक्ष्य से मुँह नहीं मोड़तीं।[23] इसी कटिबद्धता के परिणामस्वरूप इस दौर की यात्रा में ऐसे चरित्र भी उभर सके हैं जो रचना के प्रति लेखक की ईमानदारी, सौन्दर्यबोध और मानवीय संवेदना को अभिव्यक्त करने की उसकी क्षमता के आधार[24] बनकर विकास को दिशा भी देते हैं। अतः भैरो पाण्डे (कर्मनाशा की हार कहानी) रूढ़ियों को तोड़कर, सामाजिक अवमानना सहकर भी मानवीय संवेदना को प्रतिष्ठित करते हैं, गुलाबी (उपहार) अपनी दयनीयता के बावजूद जमींदार के दोहरे शोषण (आर्थिक, शारीरिक—श्रम और सेक्स) के खिलाफ बग़ावत करती है तो सुशीला (भग्न प्राचीर) पति के अत्याचार का मुँहतोड़ जवाब देती है और यह सब लेखकीय आग्रह का आरोपण नहीं है, वरन् उन सबके पीछे मुक्ति की छटपटाहट से सायास अर्जित आर्थिक आधार की पृष्ठभूमि है। इस प्रकार 'कर्मनाशा की हार' की कहानियाँ अपनी पूर्वस्थिति (प्रथम चरण की कहानियों) से आगे बढ़कर अपने सामाजिक और वैयक्तिक हक़ के लिए लड़ती शारीरिक दुर्बलताओं और मानसिक कमजोरियों के बावजूद मनुष्य की महानता[25] की पक्षधर हैं।

कथा-यात्रा का विकास कथ्यगत विस्तार के रूप में भी दृष्टव्य है। जहाँ संपूर्ण मानव-समाज द्वारा उपेक्षित नियति के अभिशाप को भोगता 'बिन्दा महाराज' मानवीय संवेदना के लिए तरसता है, वहीं तथाकथित आधुनिकता का परिचय देते हुए पति अपनी पत्नी से शरीर का सौदा कराके आजीविका कमाता है और पत्नी ने भी इसे 'हाथ का नाम' के रूप में स्वीकार कर लिया है। ये चित्रण यदि अपनी तल्खी के कारण पाठक से प्रतिक्रियात्मक उत्तेजना की अपेक्षा रखते हैं तो वहीं विघटन के अभिशाप से त्रस्त परिवार को एकता के सूत्र में जोड़ने के लिए रचनात्मक दृष्टिकोण का संकेत भी करते हैं।

शिल्प की दृष्टि से भी इस चरण तक की यात्रा विकास की सूचक है। पहले संग्रह की कहानियाँ स्मृति में आये जीवन के विभिन्न अनुभव-खण्डों की सूची के रूप में 'स्केच' का आभास देती थीं, हालाँकि उनसे चरित्र के उभार में बाधा नहीं आती थी पर कहानीपन विश्रृंखलित अवश्य लगता था और उद्देश्य भी पूरी तीव्रता के साथ निखर नहीं पाता था। हाँ, संग्रह की अंतिम कहानी 'आरपार की माला' में यह बात छूटी थी, स्मृतियों की श्रृंखला में कहानी सलीके के साथ चलने लगी थी और इस दूसरे संग्रह में यह सलीका कहीं भी स्खलित नहीं होने पाया है। प्रतीकों का उपयोग सूक्ष्म होता हुआ कथ्य की स्पष्टता की ओर उन्मुख हो गया है। प्रकृति-चित्रण भी सांकेतिकता के साथ-साथ प्रतीकात्मक होकर कथ्य की साफगोई को

23. 'कर्मनाशा की हार'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—विकल्प, पृष्ठ 6.
24. वही
25. वही

कलात्मक आयाम देने लगे हैं। भाषा अपनी आरंभिक स्थितिजन्य झिझक को छोड़कर 'स्पीड' में आ गयी है। कुल मिला कर कथा-यात्रा के विकास में यह मोड़ अत्यंत महत्वपूर्ण है।

(2) यात्रा का विकास—विस्तारसूचक द्वितीय सोपान

यात्रा के प्रस्थानबिन्दु पर लेखक ने अपने कथागाँव के एक सूने छोर पर 'नीक' (आर-पार की माला) के तरसते जीवन को एक नजर देखा था, प्रथम मोड़ पर कुछ पड़ोसी (बणीर संपेरा, बदलू मुसहर) और आ जुड़े थे। अब लेखक की निगाह इसी छोर पर आकर टिक जाती है और देखते-देखते ढेर सारे लोग—सुभागी (वेश्या), कबरी (डोमिन) आदि—कुनबे बनाकर विभिन्न नाम-रूपों में पूरे गाँव पर छा जाते हैं—दूसरे सोपान की निधि बनकर। इस प्रकार यात्रा का यह सोपान (इन्हें भी इंतजार है) उपेक्षितों-अभिशप्तों के जीवन का दस्तावेज बन गया है जो इनके जीवन पर सदियों से पड़े मोटे-गझिन परदे को उघाड़कर एक अलक्षित लोक-मंच हमारे सामने पेश करता है क्योंकि लेखक का उद्देश्य 'फिर से मनुष्य और मनुष्य के बीच टूटे संबंध को जोड़ना है।'[26] इसीलिए इन कहानियों में ऐसे लोगों की जमात से हमारा परिचय होता है जो बस्ती से दूर, पाँति से बाहर रहकर जूठे पत्तलों के दानों पर पली है[27] और जिनकी देह में ऐसी छूत भरी है कि कोई खाद-गोबर फेंकने का काम भी नहीं करने देता।[28] ये लोग जब भीड़ में आते हैं तो बड़े बाबू के नौकर का धक्का खाकर, अंगभंग होकर प्लेटफॉर्म (जिन्दगी) के दूसरे छोर पर (जीवन से दूर) जाकर 'किसी दूसरी गाड़ी के आने का इंतजार'[29] इनकी नियति बन जाता है। यहीं आकर ये चित्र स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों में विविध संकेतों के व्यंजक बन जाते हैं। दूसरी गाड़ी का इंतजार क्या है? दूसरी आजादी या दूसरा जनतंत्र या फिर इनकी अनकही व्यथा को वाणी देने वालों का, पर शायद किसी का नहीं, सबकी नीयत और कूबत देखकर ये अपनी इसी नियति का इंतजार करते हैं कि ऐसे तमाम लोग आ-आकर अंधों-अपाहिजों, कोढ़ियों-भिखारियों की पंगति को बढ़ाते रहें। और इस संग्रह में ऐसे तल्ख चित्रणों से भरी कहानियों की कमी नहीं।

बदली परिस्थितियों में शोषक वर्ग ने अपनी शक्ति जमा ली है, इसका अंदाज अब इस सोपान तक आते-आते लोगों को होने लगा है। इसीलिए पहले मोड़ पर उभरे विद्रोह यहाँ मौन स्वीकार में बदल गये हैं। शोषण का चक्र आर्थिक और शारीरिक (श्रम और सेक्स) स्तर से आगे बढ़कर 'खैरा पीपल' की छाया में लोगों के आत्मसम्मान को फिर से कुचलने लगा है। फलतः बिना पूछे-ताछे सड़सड़-सटसट कोड़े खाने और धौंस सहने से इनकार करके कहीं से हाथ-पाँव चलाकर दो रोटी कमा

26. शिखरों का सेतु—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 171.
27. 'इन्हें भी इंतजार है', कहानी का संदर्भ।
28. मेरी प्रिय कहानियाँ—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 118.
29. वही, पृष्ठ 121.

लेने के लिए भागा हुआ गुलाबी का 'बच्चन'[30] हक (खैरा पीपल कभी न डोले) के रूप में पीपल के नीचे रस्सी में बाँधकर उकड़ूँ लटका दिया जाता है ।[31]

यह कशिश दूसरे स्तर पर भी उभरी है । पढ़े-लिखे वर्ग की सुशीला ने आर्थिक स्वातंत्र्य के बल पर विरोध कर दिया था,[32]नन्हों भी आर्थिक आजादी के आधार पर रामसुभग का रूमाल लौटाकर दरवाजा तो बंद कर लेती है, पर सांकल नहीं लगा पाती[33]—मानवीय संकट का रेशा बड़ी बारीकी से उलझ गया है और विरोध अपनी नयी जमीन नहीं तलाश पाया है, अधर में लटक कर रह गया है । फिर गाँव के जीवन में कितने इस आर्थिक आजादी को पा सके हैं ? जो पा सके हैं, कहाँ तक बच पाते हैं ? सुभागी भी तो बिट्टो को इंसान बनाकर जीने के लिए बचाने आयी थी, क्या हुआ ?[34]

जब शोषण बाहरी था, दूसरे लोग इससे संबद्ध थे तब तो राह पाने की पेशकश से कोई न कोई मायने निकल सकने की संभावना भी थी, पर अब जब घर वाले ही इस स्तर पर उतर आये हैं, सांस्कृतिक विकास में 'दहेज' महत्वपूर्ण मानदंड बनकर उभरा है तो सारे रास्ते 'अंधकूप'[35] से जा मिले हैं, जिनकी गाँवों में कोई कमी नहीं । इनके सड़े पानी में गंदे कीड़े पैदा हुए हैं जो शरीफ, हयादार (सोना भाभी जैसे) लोगों के बदन पर सटकर यथार्थद्रष्टा कथाकार की विद्रोही चेतना के लिए राहु-केतु बन गये हैं । लेकिन 'वशीकरण' वाली जमीन पर लेखक पारिवारिक संदर्भों में 'बीच की दीवार'[36] तोड़ने में अब भी समर्थ है ।

इस प्रकार 'आर-पार की माला' से शुरू होकर 'संपेरा', 'केवड़े का फूल' से गुजरती हुई 'गाँगा तुलसी' में समझौता-स्वीकार करती हुई, 'भग्न प्राचीर', 'उपहार' में चट्टानों को तोड़ती हुई, 'नन्हों' में तोड़कर खुद भी टूटती हुई और अंत में शर्म को बचाने के प्रयास में 'अंधकूप' में गर्क हो जाने वाली यात्रा के विविध मोड़, जीवन के चोटी से घाटी तक के उतार-चढ़ावों के 'बाइस्कोप' हैं ।

यात्रा के इन मंतव्यों-लक्ष्यों के साथ ही चाल-ढाल में भी पैनापन आया है । इसके अंदाज-आयाम अभ्यास की पॉलिश से निखरे हैं । प्रतीक कथ्य की स्पष्टता से आगे बढ़कर सोद्देश्यता में घुलमिल गये हैं, पूरी कहानी में रचबस गये हैं और जीवन का विविधपक्षीय विश्लेषण करने लगे हैं—'सुबह के बादल', 'इन्हें भी इंतजार है', 'खैरा पीपल कभी न डोले' आदि में । प्राकृतिक वर्णन अब कथ्य की साफगोई,

30. कर्मनाशा की हार—'उपहार' कहानी, पृष्ठ 103.
31. वही—'भग्न प्राचीर', पृष्ठ 123.
32. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 222.
33. मेरी प्रिय कहानियाँ—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 51.
34. 'इन्हें भी इंतजार है'—'बेहया' कहानी ।
35. वही—'अंधकूप' कहानी ।
36. 'इन्हें भी इंतजार है' में संकलित कहानी ।

कलात्मकता के स्थान पर वस्तु-स्वभाव के अनुरूप मानव संबंधों के साथ एकाकार होकर पात्रों के हृदय की आंतरिक परतों-ऊहापोहों को भी स्पष्ट करने लगे हैं। यह स्पष्टता अब मिथक, उपमान आदि अनेक विधियों से स्मृतिपुनरावर्तन की प्रक्रिया में अतीत की घटनाएँ अत्यंत सहज रूप में संतरित होती है, वे अब 'स्केच' बिल्कुल नहीं लगतीं। 'अंधकूप' कहानी स्मृतिखंडों के तरतीबवार सिलसिले में लिखा एक पूरा पत्र है।

यात्रा का विकास—विस्तारसूचक तृतीय चरण

यहाँ तक आते-आते यात्रा में अनेक नये कोण उभरे हैं पर उनके उल्लेख के पहले पूर्वयात्रा के विकास में—

जमींदार द्वारा रिआया का शोषण प्रायः यहाँ नहीं है। बबुआने के लोग झूठी-मर्यादा-पालन के दंभ में अपने घरों के अंदर भी भ्रूण-हत्यायें कर रहे हैं।[37] नारियों की त्रासदी का रूप बदल गया है। पहले घर की औरत के जानते ही पुरुष (प्रायः जमींदार) दूसरी औरतों के साथ व्यभिचार करता था, अब पढ़ा-लिखा युवक शहर जाकर किसी और के साथ संबद्ध होना चाहता है—पिछड़ी हुई, अशिक्षित पर समर्पिता पत्नी को भूल जाता है।[38] कुल मिलाकर नारी वहीं की वहीं है केवल 'ययाति' के रूप बदल गये हैं। उपेक्षितों की गाथा में आये चरित्र, जो सभ्यता-संस्कृति से दूर (परती में) अब भी छूटे हुए हैं, 'धारा' से मिलने के प्रयास में परती से भी टूट जाते हैं और माथे पर लाभशुभ का कलंक लगाकर 'कबरी' की पाँति में ही मिलने के लिए विवश हैं।[39]

इस तृतीय चरण पर उपेक्षितों के प्रकरण समय के साथ संघर्ष में बनते-बिगतेते, टूटते-जुड़ते तमाम मानवीय और सांस्कृतिक संकेतों में आधुनिकता की वाहक 'आडियाज' में तब्दील हो गये हैं।

यात्रा-विस्तारक नवीन कोणों में पूरी यात्रा ही अब बाहर से अंदर की ओर हो चली है—'एक यात्रा सतह के नीचे'। बड़े भाई का आदर्श भी दम तोड़ चुका है, इसीलिए मस्तानी तबियत वाले छोटे भाई के अलग होने पर लेखक अब कोई 'बीच की दीवार' तुड़वाने की हिम्मत नहीं करता।[40] बेकार बेटे को पिता भी भार समझने लगा है[41] और तब यात्रा सचमुच ही सतह (नैतिक मर्यादाओं, खोखले आदर्शों) के नीचे से शुरू हो जाती है। संबंधों की गरिमा अंदर से टूटती है और व्यक्ति की यात्राएँ इस-उस पार की धारा से टूटने-जुड़ने की कोशिश में बदल जाती हैं। जिजीविषा अपने पुरजोर रूप में सामाजिक, पारिवारिक हितों का ख्याल छोड़कर स्वयं को अहमियत

37. 'अरुन्धती'—कहानी—मुरदासराय में संकलित।
38. 'मैं, कल्याण और जहाँगीरनामा'—कहानी।
39. 'धारा' कहानी।
40. तकाबी—('मुरदासराय' में संकलित कहानी)।
41. 'एक यात्रा सतह के नीचे'—('मुरदासराय' में संकलित कहानी)

देने में आकर सिमट गयी है। सरकार द्वारा दी जाने वाली सुविधाएँ ग्रामीण परिवेश में 'तकाबी' बनकर रह गयी हैं।

इस बीच यात्रा में धार्मिक आग्रहमूलकता के खिलाफ मानवीय संबंधों की गुहार करता एक सशक्त कथ्य उभरा है—'किसकी पाँखें' कहानी में जिसका चुभनशील रूप 'अलग-अलग वैतरणी' में चरमोत्कर्ष तक पहुँचा। इस चरण की शीर्षक कहानी में अस्तित्ववाद का स्वर जो 'मंजिल और मौत' में चिलका था, 'अंधकूप' में आकर उछाल मारा था, लेखक की तत्संबंधी मान्यताओं (जिसकी विस्तृत चर्चा हम यथास्थान करेंगे) के परिपक्व रूप में उभरा है।

'मुरदासराय' में अपेक्षाकृत कम कहानियाँ संकलित हैं। इस चरण पर आकर शिल्पचेतना बहुत (प्रोमिनेंट) भास्वर हो गई है। सोद्देश्यता में घुलने-मिलने के साथ अब तो प्रतीक ही कहानी के उद्देश्य भी बनने लगे हैं।[42] पिष्टपेषित कथ्य भी इससे मनोरम तो बना है पर लग जाता है कि प्रतीक-मोह ही कहानी-सृजन की प्रेरणा है। प्रतीकों और प्रकृति के रूमानी चित्रणों की बहुतायत से कहानियाँ बोझिल भी हो गयी हैं और गैरजरूरी रूप से लंबी भी। इससे सोद्देश्योन्मुखी गति में बाधा भी पड़ी है और कहानी का कथ्य भी दब-सा गया है[43] जिसे समझने के लिए पाठक को काफी बिसूरना पड़ता है।

प्रस्तुतीकरण की इन असहज स्थितियों के साथ ही शिल्प के कुछ ऐसे भी प्रयोग हुए हैं जिनसे कहानी की पूरी आत्मा ही बदल गयी है। खंड-चित्रणों की विश्रृंखल और स्केची शैली का एक नया ही रूप निखरकर सामने आया है जिसमें पेपर की कतरनों, सर्वथा अलग-अलग घटनाओं का श्रृंखलाबद्ध संयोजन करके सधी हुई कहानी-कला का प्रस्तुतीकरण हुआ है।[44]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम युग के प्रस्थानबिन्दु पर 'आर-पार की माला' के रूप में गाँठ बाँधने की चाह से दूसरे किनारे की जो तलाश शुरू हुई थी, यात्रा के दौरान अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरते हुए अब ऐसे भँवर में पहुँच चुकी है जहाँ 'एक भी गाँठ' का होना भारी लगने लगा है और तब बाँधने की सारी सामग्रियों को, जो मूँज की रस्सी से सोने की लॉकेट बन गयी थीं, 'मुरदासराय' में रखकर समाप्त होती है। आनेवाले जीवन (भविष्य) से डरकर—भय बिनु होइ न प्रीति—हरिचरण पुनः जीवन के प्रति नये विश्वास के साथ घर आता है—और लेखक की कहानियों के दूसरे युग का आरंभ होता है।

द्वितीय युग (1974 **से अब तक**)

दूसरे युग की शुरुआत और कालनिर्धारण का औचित्य

1966 (**'मुरदासराय'** के प्रकाशन) के बाद लेखक का पाँचवाँ कहानी-संग्रह

---

42. 'प्लास्टिक का गुलाब'—'मुरदासराय' में संकलित कहानी।
43. 'ताड़ीघाट का पुल', 'अरुन्धती', 'मैं कल्याण और जहाँगीरनामा' आदि।
44. जंजीर, फायरब्रिग्रेड और इन्सान, मैं, कल्याण और जहाँगीनामा और 'अंधेरा हँसता है' आदि कहानियाँ।

(भेड़िए) 1977 में प्रकाशित हुआ। इस बीच लेखक का तमाम सृजन प्रकाश में आया, बस कोई कहानी संग्रह नहीं। इसीलिए हम दूसरे युग की शुरुआत 1974 ('भेड़िए' के पहले की अंतिम पुस्तक—'गली आगे मुड़ती है' के प्रकाशन के बाद) से निर्धारित कर रहे हैं।

वैसे इस प्रकार का कोई विभाजन निश्चित करना कोरी यांत्रिक खानापूर्ति ही है क्योंकि लेखन, प्रकाशन की मशीनी प्रक्रिया का मोहताज नहीं और न ही उसका पथ ऋजु रेखा का पथ ही है, उसका 'पंथ' तो 'अनन्त सर्प-सा बाहर-भीतर पूँछ छिपाये' होता है। फिर भी हर तीन साल पर एक कहानी-संग्रह के प्रकाशन की पूर्व परंपरा की साखी पर 1974 से 1977 के उसी अंतराल के आधार पर यह विभाजन (सही शायद न होने पर भी) मन-कल्पना के लिए बड़ा सुखद होगा। अस्तु,

इस दूसरे आरम्भ में एकमात्र 'भेड़िए' ही बीजवपन की सार्थकता लिये हमारे सामने है। बस, इसी के आधार पर यह युग-विभाजन मात्र समय का अंतराल देखकर नहीं, वरन् यात्रा में युगांतकारी परिवर्तनों और इसकी अनंत संभावनाओं को लक्ष्य करके किया जा रहा है। दरअसल समकालीन कहानी-लेखन में काफी कुछ बदला है किन्तु डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अपने सर्वथा अलग तेवर के मानिंद इस दौर की कहानी के तमीज़-ओ-अंदाज़ को 'कुहराच्छन्न काल' कहकर इन 'तथ्यविहीन' फैशन के नाम पर नाना लेबुलों से विभूषित किन्तु सामाजिक यथार्थ से असंयुक्त कहानियों से पूर्णतया नाता तोड़ने का प्रयत्न किया है'[45] लेकिन समकालीन सामाजिक यथार्थ से पूर्णतया नाता जोड़ लिया है और अत्यन्त शिद्दत के साथ इस यथार्थ का अहसास भी किया है। फलतः इनका अपना अंदाजेबयां बदला है। बकौल उन्हीं के—'यह अलगाव सपाट भाषा और तीखे कथ्य के कारण उभरा है'[46] और इसीलिए हम इसे दूसरे युग की शुरुआत कहने का साहस कर सके हैं जिसकी पूर्णता भविष्य की संभावनाओं पर है लेकिन उसके प्रति हम पूर्णतः आश्वस्त हैं और पाठकों का एक वर्ग इस आश्वस्ति का हामी भरने में कोताही नहीं करेगा।

'भेड़िए' में यात्रा का विकास ग्रामीण सम्बन्धों के रूप में उभरा है। अब वहाँ जमकर गुटबाजी होती है जिसके बल पर चालाक लोग स्वस्थ-रचनात्मक चेतना को मार डालते हैं,[47] सीधे-सरल लोगों से नाजायज फायदा उठाते हैं और इस शुभकार्य में नयी पीढ़ी, भटकन जिसकी नियति बन गयी है, मुख्य भूमिका अदा करती है। भूले से यदि कहीं मानवीय हित का कार्य हो भी जाता है तो दलगत स्वार्थों के तहत,[48] अन्यथा बेकार, दिशाहीन, और आवारा, चकमेबाज[49] युवावर्ग सर्वत्र बिखरा पड़ा दिखता है।

45. 'भेड़िए' की भूमिका से।
46. वही।
47. 'भेड़िए—'बड़ी लकीरें' कहानी से।
48, वही —'आदिम हथियार' कहानी से।
49. वही—'....तो' कहानी से।

ज़मींदार के साथ लोगों के (जमींदारी न रहने पर) संबंध बदलकर ठाकुर-प्रजा के रूप में काम-परोजनों के अवसर पर शोषण की वही प्रक्रिया कार्यरत है।[50] नारी की अंधकूपी यात्रा अपनी प्रगतिशील और विरोधी चेतना के बावजूद पारिवारिक दबाव में हत्या और आत्महत्या के बीच झूल रही है। और जहाँ इकली नारी परिवार से विक्षुब्ध होकर हक की माँग करती है, प्रगति के संकेत मिलते हैं, पर उसका हस्र—वही नागनाथ और साँपनाथ वाला पुराना किस्सा।[51] इस प्रकार 'धारा' से कटकर सतह से नीचे की यात्रा करने वाली चेतना को 'धरातल' अभी मिल नहीं पाया है। आगे देखना है—हाथी किस करवट बैठता है।

शिल्प पक्ष में अलगाव को रेखांकित करने में 'पहले की कहानियों मे रूपाश्रयी रुझानें ज्यादा थीं, अब सपाटबयानी उभरी है'[52] पर वे रुझानें खतम नहीं हुईं, कम जरूर हुई हैं। प्रकृति-चित्रण विभिन्न स्थितियों, मन के ऊहापोहों को स्पष्ट करने के सूक्ष्म माध्यम बनकर अब भी प्रयुक्त होते हैं।[53] प्रतीक उद्देश्य के साथ व्यंग्यात्मक लहजा अपना कर नये रूप में उभरे हैं।[54] फ़्लेशबैक ? यह तो शिवप्रसाद जी की कहानियों की आदि शक्ति है। इनके बिना कोई लेखन हो भी कैसे सकता है—पार्थ बिना गाण्डीव के कैसे लड़ सकते हैं ? पर इस संग्रह की तमाम कहानियों में इस गाण्डीव को वृक्ष पर रखने की कोशिश की गई है और वार्तालाप, संवाद आदि के रूप में कोशिश को सफल अंजाम भी मिला है।

(ब) उपन्यास

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के अब तक दो वृहत् उपन्यास सामने आये हैं—(1) अलग-अलग वैतरणी, (2) गली आगे मुड़ती है।

(1) अलग-अलग वैतरणी

लेखन की शुरुआत के 17 सालों के बाद 1967 में यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। पर लेखक इस पर कई बरसों से काम करता रहा।[55] परिणामस्वरूप 'अलग-अलग वैतरणी' जमींदारी-प्रथा से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के कुल मिलाकर लगभग अर्धशती के जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है। इसीलिए इस बिन्दु पर कथा-यात्रा का विकास ग्राम-जीवन का ऐतिहासिक विकास बन जाता है।

पूर्वोल्लेख के अनुसार अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में डॉ० शिवप्रसाद सिंह का विश्वास था कि 'जिंदगी वहाँ (गाँवों में) रोती ही नहीं, मुस्कुराती भी है,'

---

50. 'भेड़िए' में संकलित कहानी—'कलंकी अवतार'।
51. वही—'धरातल'।
52. 'भेड़िए' की भूमिका से।
53. 'भेड़िए' में संकलित कहानियाँ—'धरातल', 'कलंकी अवतार', 'बड़ी लकीरें' आदि।
54. 'भेड़िए' कहानी।
55. 'अलग-अलग वैतरणी'—भूमिका से।

और यह धूपछाँही अंबर ही तब इनके लेखन के परिधान थे[56] लेकिन 'अलग-अलग वैतरणी' तक आते-आते नित्य बदलती स्थितियों की मार से ये गाँव इतने विरूप हो गये कि लेखक का वह विश्वास बिल्कुल लड़खड़ा गया, परिधान का छाँही रंग जाने कब उड़ गया और रोने-मुस्कुराने में कोई फर्क नहीं रह गया। मास्टर शशिकांत कहते हैं—'उन्हें (बच्चों को) डाँटो तो भी, हँसाओ तो भी, चेहरे में कोई फर्क नहीं पड़ता।'[57]

पहले के ज़मींदार लोग आज अपनी शान बचाने के लिए हर तरह के छल-बल का इस्तेमाल करते हैं। पुश्तैनी बैर का रंग गुटबंदी के रूप में और गाढ़ा हो गया है। गाँव वालों में कोई आपसी स्नेह संबंध नहीं रहा, नैतिक मूल्य भरभराकर गिर चुके हैं। गरीब मजदूरों का दोहरा शोषण उसी रूप में चल रहा है। आधुनिकता के प्रवाह में हरिजन एकजुट होकर इसका विरोध करते हैं तो बड़ी सहजता से दोनों गुट पुश्तैनी बैर भूलकर इसका दमन करने चल पड़ते हैं—वर्ग-संघर्ष का भयानक-बीभत्स रूप सामने आ जाता है।

स्त्रियों के प्रति अत्याचार में भी यह विकास पीछे नहीं है। विवाहिताएँ या तो दूध की मक्खी की तरह दरकिनार हैं या तो बोलने पर पिटती हैं। बहू-बेटियाँ सरेआम शक्तिसंपन्न लोगों द्वारा बेइज्जती और आवारा, शक्तिहीन नई पीढ़ी के फिकरों की शिकार होती हैं। नवयुवतियों को बूढ़े के गले मढ़ दिया जाता है और वे विवाह को 'निबाह' मानकर सब कुछ सह लेती हैं। कर्मनाशा का हाहाकार इतना बढ़ गया है कि भैरों पाण्डे न जाने कहीं डूब गये हैं शायद। इज्जत के नाम पर बेटों को बचाने के लिए स्त्रियों को जिबह करने की परंपरा इस यात्रा का अंग बन गयी है। यह सब कुछ निचले तबके के साथ होता है जिसका बँटवारा जाति के नहीं, अर्थ के आधार पर अनजाने ही होने लगा है—शायद इस समाज में पूँजी के आधार पर इसी शक्ल में साम्यवाद को स्वीकारा गया हो।

कुल मिला कर 'अलग-अलग वैतरणी' तक आते-आते स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम जीवन की यह यात्रा नारकीय जीवन के उत्कृष्टतम रूप तक पहुँच गयी है। यहाँ आकर कुछ पढ़े-लिखे, संवेदनशील नवयुवक शहर से 'इंपोर्ट' होकर इस नरक को सुधारने के सपने लेकर यात्रा में शामिल होते हैं तो लगता है कि शायद अब कुछ होगा। पर यह क्या ? ये तो इस नरक की बजबजाती गलीज़ से भाग खड़े होते हैं—एकाध छपका ही इनके लिए काफी हो जाता है। इस यथार्थ को झेलने, इससे टकराने की न तो इनमें शक्ति है न धैर्य। यात्रा के ये पढ़े-लिखे युवा पथिक अपनी बेहद रूमानी, अतीतोन्मुखी प्रवृत्ति को ही उजागर करते हैं।

इतने सबके बावजूद लेखक अपनी यात्रा के लक्ष्य को संजोये रहता है। झंझा-वातों से यात्रा भटकी है पर यात्री (लेखक) को दिशाभ्रम नहीं हुआ है। झंझावातों ने

56. 'आर-पार की माला'—'एक मिनट' से।
57. 'अलग-अलग वैतरणी', पृष्ठ 180.

उसे सुदूर की आगामी दृष्टि दी है जिससे ग्राम जीवन के प्रति उसकी मूल आस्था टूटी नहीं। इसीलिए गाँव के वर्तमान को बिलबिलाते देख कर 'गाँव का क्या होगा'[58] सवाल पर विश्लेषणात्मक नज़रिया अख्त्यार करते हुए वह अपना मत प्रकट करता है कि एक न एक दिन ऐसा आयेगा जब 'हायतोबा मचेगी तो झख मारकर खेमा दुरुस्त करना होगा। नहीं करोगे तो मरोगे।' नित परिवर्तित स्थितियों में इस विश्वास का हस्र तो भविष्य ही बतायेगा—यात्रा अभी जारी है....।

'अलग-अलग वैतरणी' लेखक के अंतरतर को करोकर निकली हुई अजस्रधार है। इसमें कथा-यात्रा के सभी आयामों—प्रतीकों, बिम्बों, मिथकों, लोककथाओं, उपमानों, रूपकों, प्रकृति-दृश्यों व ग्रामीण शब्दों और मुहावरों आदि—का इतना विशद पर सुसंगठित, चुस्त-दुरुस्त और सटीक प्रयोग हुआ है कि ये कथा के अविभाज्य अंग बन गये हैं और लेखकीय आग्रह का लेशमात्र भी भान नहीं होता। फ्लैशबैक ऐसा गवाक्ष बन गया है कि विभिन्न पात्र अपनी विविध मनःस्थितियों में वर्तमान कक्ष से अतीत के आसमान का संपूर्ण परिदृश्य अत्यन्त सहजता से देखते रहते हैं जिनसे उनका व्यक्तित्व संपूर्णता में उभर आता है। सारी घटनाओं का संयोजन इस बारीकी के साथ हुआ है कि हर अध्याय अलग-अलग रूप में एक पूर्ण कहानी है जिसमें पाठक को किसी पूर्वापर की कमी ज़रा भी नहीं खटकती। रुद्र जी की 'बहती गंगा' भी इसी ढंग की रचना है पर उसमें औपन्यासिक एकता का सूत्र इतना बारीक और अलक्ष्य है कि रचनाएँ कहानी ही बनकर रह गयी-सी लगती हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' इस शैली-शिल्प का अन्यतम उदाहरण है।

(2) गली आगे मुड़ती है

डॉ० शिवप्रसाद सिंह की कथा-यात्रा प्रस्थान बिन्दु से 'अलग-अलग वैतरणी' तक जिस 'लाइन' पर चल रही थी, इस उपन्यास में उसे छोड़कर एक नयी 'लाइन' (मात्रा के आधार पर जिसे छोटी लाइन कहा जा सकता है) पर चलने लगी। लेखक गाँव से शहर आया; पर उसकी 'जिन्दगी में गाँव एक ऐसी हकीकत है जिसे वह चाहकर भी काट नहीं सकता।[59] फिर भी इसमें काटने की कोशिश की है। लेखक 'एलान' करता है कि इसमें एक बार भी काशी नहीं छूटी है।[60] उपन्यास की गवाही में भी काशी का पर्दा और मंच सचमुच नहीं बदला है पर दृश्यों में तो जाने कितनी बार वह हकीकत उछाल मार जाती है। एक तरह से कह सकते हैं कि यात्रा की दिशा बदली है, गति और अंदाज वही हैं। खैर,

'अलग-अलग वैतरणी' के विकास में युवा पीढ़ी के हरिया, सिरिया, छबिलवा भी लेखक के साथ गँवई स्थिति को छोड़कर शहर में आ गये हैं और रमेन्द्र, देबू, माथुर, शुक्ल तथा रजुल्ली आदि अनेक रूपों में राजनीतिक, सामाजिक और शिक्षा

58. 'अलग-अलग वैतरणी', पृष्ठ 675.
59. 'मेरी प्रिय कहानियाँ'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह के फ्लैप पर।
60. 'गली आगे मुड़ती है' की 'नुक्कड़ सभा' से।

क्षेत्रों में (युनिवर्सिटियों) में अपना वही कार्य बेहद परिष्कृत रूप में करते हुए उसे आदर्श, सिद्धान्त आदि की खोल में उदात्तता का दर्जा दे रहे हैं। साधनसंपन्न होने से इनके कार्य बड़े पैमाने पर बाअसर भी होते हैं। समाज को बहुत दूर तक प्रभावित भी करते हैं। इनकी पैठ हर महकमे में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रही है। स्वस्थ दृष्टिकोण वाले हरि बाबू जब इन सबका डटकर विरोध करते हैं, लड़ते हैं तो लगता है कि जग्गन मिसिर के विचारों—'तो फिर एक ही रास्ता है—महाभारत'[61]—को शहर में आकर व्यावहारिक रूप मिल रहा है।

गाँव से शहर आया हुआ रामानन्द, शहर से गाँव गये विपिन का नवीन संस्करण है—गतिविधियों में कई कदम आगे हैं। अतीतचिंतन न करके अतीत (गणेशी तिवारी) से प्रेरणा लेता है, जनेऊ-तोड़ प्रतिज्ञा करता है, आंदोलनों में भाग लेता है और कपोल स्पर्श तथा आलिंगनबंध की प्रगति यात्रा भी करता है पर प्रेम के महीन मोर्चे पर 'एक्सीडेंट' का धक्का खाकर जो बिखरता है तो वैतरणियाँ जो पहले ही अलग-अलग थीं, आगे की गलियों में मुड़ने लगती हैं। इस प्रकार साठोत्तरी युवा-पलायन 70 के बाद आक्रोश की मुद्रा लेकर आता है पर बुरी तरह पिट जाता है।

नारी की स्थिति और आयाम बदले हैं, परिणाम कमोबेश वही हैं। एक को छोड़कर दूसरी स्त्री रखने की परम्परा खूब फली-फूली है। शहरी माहौल में संवेदनात्मक सचाई के तहत परंपराओं-संस्कारों के बंधन तो टूटे हैं पर जुड़ने की प्रक्रिया में धोखेबाजी आड़े हाथों आयी है और वही सिसकती जिन्दगी, आँसुओं से भींगी—धारा से अलग, सतह से नीचे।

'करैता' के मुकाबले काशी का फलक बहुत बड़ा है, पर चित्रण में वह अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ उभरा है—अंतर्बाह्य दोनों स्तरों पर। बाह्य परिवेश भौगोलिक स्तर पर प्रामाणिकता की अनिवार्यता बनकर आया है तो विविध प्रांतीय सांस्कृतिक परिवेश का चित्रण उसकी ऊँचाई है।

कथा-यात्रा के विस्तार में—

शहर तमाम बातों में समस्याओं के सन्दर्भ में राष्ट्रीय स्तर पर जुड़े होते हैं। अतः हिन्दी आंदोलनों, युवा आक्रोश के षडयंत्रकारी दलों आदि के अनेक सामयिक प्रश्न इस कृति में कथा-यात्रा की परम्परा से परिवेशगत अर्थ में विस्तार के आयाम बनकर आये हैं।

संप्रेषण के ये सभी माध्यम शहर को रूपायित करने में उतने ही सटीक साबित हुए हैं। फ्लेशबैक के साथ संवाद शैली पनपी है जिसका काफी इस्तेमाल हुआ है। संस्कृत के श्लोकों का साक्ष्य देकर वर्णन करने की एकदम नयी प्रवृत्ति सामने आयी है जो पात्र (रामानन्द) के व्यक्तित्व के कारण बड़ी जीवंत लगती है। मिश्रित आबादी में विविध पात्रों के अनुरूप भाषा का प्रयोग हुआ है। संस्कृत, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उत्तर प्रदेश की तमाम बोलियों के रूप इसमें मिलते हैं। कुल मिलाकर 'गली आगे मुड़ती है' लेखक की कथा-यात्रा का अभिनव सोपान है। ●

---

61. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 434.

शिवप्रसाद सिंह का कथा साहित्य

अध्याय—एक

नयी कहानी और शिवप्रसाद सिंह

(अ) कहानियाँ

शिवप्रसाद सिंह की कथा-यात्रा कहानियों से शुरू हुई थी और उनके आविर्भाव-काल की कहानियों को साहित्य के इतिहास में 'नयी कहानी' नाम से जाना जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से डॉ० सिंह अनेक बातों की बाबत नयी कहानी के उद्भव और विकास से जुड़े रहे हैं। इस सम्बन्ध को समग्रता में स्पष्ट करने के लिए नयी कहानी की प्रकृति का अध्ययन अपेक्षित है। तभी उन तमाम अनरेखांकित परिवर्तनों-परिवर्धनों के आलोक में नयी कहानी और उसमें लेखक की भूमिका का खुलासा हो सकेगा।

नयी कहानी-आन्दोलन

साहित्य में अन्य विधाओं के मुकाबले कहानी-चर्चा कभी प्रमुख नहीं रही। इसका खेद नये कहानीकारों[1] को रहा। लेकिन सन् 50 के बाद कहानीकार-समीक्षकों और कहानी-आलोचकों के लेखों, गोष्ठियों-सम्मेलनों, संपादकीय वक्तव्यों, पत्रिकाओं के स्थायी स्तंभों आदि में इसकी चर्चा इतनी बहुतायत में होने लगी कि उन्हीं लेखकों को कहना पड़ा—'मुझे नहीं मालूम कि कहानी को लेकर इतना विशद विवेचन कभी किसी भी भाषा में हुआ हो जितना पिछले वर्षों हिन्दी में हुआ है।[2] इन अभूतपूर्व विवेचनों के फलस्वरूप नयी-कहानी-चर्चा ने आंदोलन का रूप ले लिया जो आज इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय बन चुका है।

अब तो यह भी कहा जाने लगा है कि 'नई कहानी-आंदोलन एक ऐतिहासिक संदर्भ की उपज था।'[3] लेकिन असल में तो ऐतिहासिक संदर्भों की उपज नयी कहानी-

---

1. (अ) नई कहानी का यह बहुत बड़ा अभाग्य है कि इसे समझने और समझाने वाले आलोचकों का प्रायः अभाव है—शिवप्रसाद सिंह।
   —आधुनिक परिवेश और नवलेखन—पृष्ठ 136.
   (ब) कितना अच्छा होता, यदि यह संपूर्ति समीक्षक करते—कमलेश्वर
   —नई कहानी की भूमिका—'भूमिका' से।
2. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 52.
3. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प—डॉ० शिवशंकर पाण्डेय, पृष्ठ 57.

लेखन हो सकता है, है भी, पर अपने को या किसी अपने को नयी कहानी के भाग्य-विधाता के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए जिस तरह दल-बन्दी-मोर्चेबन्दी व साजिशें हुईं और जो आंदोलन का एक बड़ा हिस्सा बन गयीं या यूँ कहें कि नयी-कहानी-सृजन के ऊपर 'हावी' हो गयीं, वे ऐतिहासिक संदर्भों की उपज कदापि नहीं कही जा सकतीं। इससे पहले साहित्य में किसी भी नयी प्रवृत्ति को इस प्रकार शायद ही उछाला गया हो। इसीलिए लगभग 30 साल बाद जब नया पाठक (जो तब नहीं था) आज उन सम्पूर्ण स्थितियों को समझना चाहता है तो वह अपने को उस तीर्थयात्री की स्थिति में चारों तरफ अपने-अपने नाम-स्थान-माहात्म्य बतलाते हुए पंडों की कउआरोरी भीड़ से घिरा पाता है जो 'किसके साथ जायें' की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता लिए अवसन्न खड़ा रह जाता है। लेकिन जब तीर्थाटन मन की अकुलाहट के लिए विवशता और परिस्थितिजन्य आवश्यकता बन जाता है तो उन माहात्म्यों को एक-एक कर निबेरने-परखने का अपना ही मज़ा होता है।

(1) नई कहानी की शुरुआत

स्वतन्त्रता मिलने के बाद के परिस्थितिजन्य संघात से मानव-सम्बन्धों में आयी विकृति और नवीन जीवनबोध को जैनेन्द्र का दार्शनिक एप्रोच, अज्ञेय का प्रयोग, यशपाल की प्रगतिशीलता और जोशी का आत्ममंथन सब कुछ बेकार लगने लगा था।[4] तभी कहानी-क्षेत्र में नये सर्जक उभरने लगे थे। वैसे इस नवीन सृजन की वास्तविक चर्चा सन् 1955 के आसपास शुरू होती है[5] जो 1958-59 तक पूर्ण आन्दोलन का रूप ले लेती है, पर लेखन उससे पहले से ही प्रकाश में आने लगा था। चूंकि साहित्य के क्षेत्र में किसी नयी प्रवृत्ति का कोई उद्घाटन-पर्व नहीं मनाया जाता और न ही योजना-बद्ध रूप से 'मीटिंग' बुलाकर कोई 'रिजोलूशन' ही पारित किया जाता इसीलिए इन कहानियों की शुरुआत के सम्बन्ध में कोई निश्चित तिथि बता सकना न ही सम्भव है और न ही 'जेनुइन' क्योंकि यह तो एक लम्बे सिलसिले में जीए-भोगे-झेले गये समय के साक्षात्कार के रूप में सहज ही छलक उठता है। फिर भी तत्कालीन कहानीकार और कहानी-आलोचक बीसवीं शती के मध्य (1950-51)[6] को ही इस नवोन्मेष के

---

4. समकालीन : समांतर कहानी—डॉ० विनय, पृष्ठ 7-8.
5. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—देवीशंकर अवस्थी—भूमिका, पृष्ठ 14.
6. (अ) नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 68, 78.
   (ब) एक दुनिया : समानांतर—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 19.
   (स) आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 161-62.
   (द) कहानी—नयी कहानी—नामवर सिंह, पृष्ठ 213.
   (य) माध्यम की खोज—मोहन राकेश—'नई कहानी : दशा, दिशा और संभावना' में संकलित, पृष्ठ 15.
   (र) वही, पृष्ठ 162 पर कमलेश्वर का लेख।

लिए उपयुक्त मानते हैं। कुछ पुराने कहानी-लेखकों के अस्वीकारात्मक प्रश्न के अलावा आज लगभग 1950-51 नई कहानी के प्रथमोन्मेष के लिए सर्वस्वीकृत हो चुका है। चूंकि 'नये होते रहने की प्रक्रिया' नयी कहानी की कालजयी प्रकृति बन चुकी है और 'आने वाले समय में नये की तलाश ही उसे फिर-फिर जीवंत संदर्भों से जोड़ेगी'[7] अतः इसके अंतिम दिन की संभावना मुद्दत तक दिखायी नहीं देती।

'नई कहानी' नाम की प्रथम शुरुआत के संबंध में कमलेश्वर ने 'कल्पना' में छपे दुष्यंतकुमार के लेख का जिक्र किया है[8] और नामवर सिंह ने 'अनुबंध' की ओर से 'नयी कहानी' पर आयोजित गोष्ठी में बोलते हुए यह नाम देने के लिए अपने को गुनहगार बतलाया है।[9] किन्तु दोनों ही उद्धरणों में समय का उल्लेख न होने से (और दोनों में से किसी के भी समय की जानकारी न कर पाने से) निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, चाहे नाम इन दोनों में से जिसने भी दिया हो पर यदि इन लोगों ने नाम न दिया होता तो भी इसे यही नाम मिलता। क्योंकि लोग नाम के लिए इसी 'पैटर्न' पर सोच ही नहीं रहे थे, ऐसा कोई नाम दिये जाने की आवश्यकता भी महसूस कर रहे थे, इतिहास-काल की यह मांग थी....और इस दिशा में नई कविता के नाम-पैटर्न ने नाम तलाश के सवाल को सही उत्तर भी दे दिया.... और आश्चर्यजनक रूप से देखा गया कि इस नाम के अतिरिक्त उसे और कोई नाम दिया ही नहीं जा सकता।[10]

अभिधान की सार्थकता

कहानी को लेकर तत्कालीन बहसों में शुरुआत जैसी निश्चयात्मकता नाम के संबंध में दिखायी नहीं पड़ती। हालाँकि 'नयी कहानी' नाम अब सर्वमान्य हो गया है लेकिन इसके प्रयोग और समर्थन को लेकर उन दिनों खींच-तान, उठा-पटक होती रही। समकालीन लेख-चर्चाओं में 'नयी कहानी' नाम का प्रयोग सुविधानुसार कहानीकारों-आलोचकों दोनों ही ने किया।[11] समर्थन के संबंध में विद्वान् समीक्षकों-लेखकों के तीन वर्ग दिखायी पड़ते हैं—

(1) वे लोग, जो 50-51 से शुरू होने वाली कहानी को 'नयी-कहानी' और उससे पहले की कहानियों को प्रवृत्तिगत अंतर के कारण 'पुरानी कहानी' नाम देते हुए

(ल) नई कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 29.
(व) 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' में संकलित बच्चनसिंह का निबंध, पृष्ठ 219.

7. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 86.
8. वही, भूमिका से।
9. 'नई कहानी—दशा, दिशा, संभावना' में संकलित श्री सुरेन्द्र का लेख, पृष्ठ 60.
10. वही, पृष्ठ 61-62.
11. कहानी : नयी कहानी—नामवर सिंह, पृष्ठ 54.

नयी कहानी की आवश्यकता-औचित्य को अत्यंत स्पष्टता और गहराई के साथ सिद्ध करते हैं तथा बिना हिचक इसी नाम का व्यवहार भी करते हैं। इनमें मोहन राकेश, हरिशंकर परसाई, शिवप्रसाद सिंह,[12] और कमलेश्वर[13] तथा नामवर सिंह[14] प्रमुख हैं। इनके अलावा ममता कालिया, श्रीराम तिवारी, रमेश बक्षी, नित्यानंद तिवारी भी इसी नाम को स्वीकारते हैं।

(2) वे विद्वान्, जो 'नयी कहानी' नाम को अनुचित नहीं समझते, पर किन्हीं कारणों से उसे अलग नाम देना संगत मानते हैं। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय सांप्रदायिकता और दलबद्धता से बचने के लिए 'नई' न कहकर 'स्वातंत्र्योत्तर' कहना चाहते हैं।[15] राजकमल चौधरी परंपरा का विकास मानने के कारण 'नई कहानी' नाम से सहमत नहीं होना चाहते[16], श्रीकांत वर्मा नई न होने की शिकायत करते हुए इस नाम का निषेध करते हैं[17], राजेन्द्र यादव 'नयी' शब्द भविष्य में गलतफहमी पैदा कर सकता है, इसलिए 'आज की कहानी' नाम देना चाहते हैं[18], हृषीकेश भी 'आज की कहानी' कहने के पक्ष में हैं[19], परमानंद श्रीवास्तव 'आज की कहानी' के साथ कोष्ठक में 'नयी' शब्द का भी प्रयोग करते हैं और कहीं-कहीं 'नयी कहानी' के साथ 'आज' शब्द को कोष्ठक में लिख देते हैं[20] और डॉ० इन्द्रनाथ मदान 'नयी कहानी' का प्रयोग करते हुए भी 'काश, इसे यह नाम न दिया गया होता' कहकर निषेधाभास कराते हैं।[21]

(3) वे लोग, जो 'नयी कहानी' नाम से परोक्षतः विरोध करते हैं या प्रत्यक्षतः इनकार करते हैं—उपेन्द्रनाथ अश्क के लिए यदि मोहन राकेश नये हैं तो जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय और वे स्वयं नये क्यों नहीं हैं[22], वे अच्छी-बुरी के नाते भी इसे

---

12. 1957 में इलाहाबाद साहित्य सम्मेलन में पठित निबंध के आधार पर—'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' के पृष्ठ 15 पर उद्धृत डॉ० देवीशंकर अवस्थी की भूमिका से।
13. 'नई कहानी की भूमिका', पृष्ठ 56, 57, 129.
14. कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ 56, 59, 60, 176, 230.
15. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, पृष्ठ 84-88
16. 'नयी कहानी के विविध प्रयोग'—डॉ० शशिभूषण शीतांशु के पृष्ठ 31 पर उद्धृत।
17. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 152.
18. वही, पृष्ठ 98.
19. वही, पृष्ठ 74.
20. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया, पृष्ठ 258.
21. हिन्दी कहानी : अपनी जबानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 36.
22. हिन्दी कहानियाँ और फैशन—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ 69.

अस्वीकारते हैं[23], जैनेन्द्र जी शाश्वत मूल्यों और आत्मानुभूति के पुराने साहित्य की परंपरा से कटने को भ्रष्ट होना कहते हुए नयी कहानी को भोगवाद की कहानी मानते हैं[24], शिवदानसिंह चौहान 'नयी कहानी' को शब्द-चमत्कार, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना कहते हुए 'नयी कहानी' शब्द के मतलब तक को समझने से इनकार करते हैं[25] और निर्मल वर्मा 'नयी कहानी' को विरोधाभास मानते हुए इसकी बात को कहानी की मृत्यु बताते हैं।[26]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीसरे वर्ग में निर्मल वर्मा को छोड़कर सभी पुरानी पीढ़ी के लोग हैं जिनकी भन्नाहट उनके साहित्यिक अस्तित्व के संकट से प्रसूत है। अतः 'गुजरे वक्तों के हैं ये लोग, इन्हें कुछ न कहो' के साक्ष्य पर यदि इन्हें छोड़ दें तो हम पाते हैं कि दूसरे वर्ग के विद्वानों को 'नयी कहानी' के नाम से कोई विरोध नहीं है पर व्यक्तिगत आग्रहमूलकता या अतिचैतन्यता-सतर्कता के कारण वे लोग द्वैध की स्थिति में हैं। इस तरह प्रथम वर्ग अपनी रचनाओं-विचारों के विश्वसनीय तर्कों के कारण सहज ही स्वीकृति पाने की स्थिति में खड़ा हो जाता है और इतिहास साक्षी है कि वह प्राप्य नयी कहानी को मिला। अब तो शायद किसी को भी इस अभिधान में संदेह नहीं रहा। आज तो नाम को लेकर बहस-मुबाहसों की बात तक दिमाग में नहीं आनी चाहिए 'क्योंकि' यह नाम इधर की कहानी-उपलब्धियों को सही अर्थ में वहन करता है—कि इसका पर्याय भी नहीं खोजा जा सकता।[27]

यह तो रही—'नयी कहानी' नाम के प्रयोग और समर्थन की बात। इसकी सार्थकता को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग विशेषताओं के कारण स्वीकारा। मोहन राकेश के लिए यदि नयापन सांकेतिकता में है तो राजेन्द्र यादव के लिए व्यक्तिगत सामाजिकता में, शिवप्रसाद सिंह के लिए जातीय जीवन के चित्रण में है तो इन्द्रनाथ मदान के लिए आधुनिकता को प्रक्रियात्मक रूप में अपनाने में। इसी तरह नित्यानंद तिवारी के अनुसार नवीनता आज की दृष्टि और संदर्भ की है, श्रीराम तिवारी के अनुसार परिवेश निरूपण की, कमलेश्वर और रमेश बक्षी के अनुसार नयापन दृष्टि सापेक्षता में है, ममता कालिया के अनुसार बात को नये ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता में, जैनेन्द्र के अनुसार फैशन और वर्तमानकालिकता में, विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार बाह्य आवश्यकता और कहानी की आंतरप्रेरणा की सर्जनात्मकता में, मारकण्डेय के अनुसार अछूते जीवन-पहलू की वर्जनात्मकता में, सुरेश सिन्हा के

---

23. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ 94.
24. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 46 पर उद्धृत।
25. 'नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना' में संकलित निबंध—'नयी कहानी', पृष्ठ 8 के आधार पर।
26. 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति'—सं० देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 179.
27. नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना—श्री सुरेन्द्र, पृष्ठ 61-62.

अनुसार मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक स्तरीयता में।[28] इनमें कमलेश्वर का संस्पर्श बहु आयामी है। पुस्तक पढ़ कर लगता है कि नयी कहानी भानुमती का पिटारा है जिसमें संसार की सब विशेषताएँ उपलब्ध हैं, मोहन राकेश ने सम्पूर्ण हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में इसी बात को नकारा था।[29] वे दृष्टिसापेक्षता पर जोर तो डालते हैं, पर अन्य अनगिनत मुद्दों की भी बात करते हैं। असल में कहानी और उपन्यास लिखने के बाद जो बहुत कुछ कहने को रह जाता है, उसी की पूर्ति का प्रयास है—उनकी पुस्तक 'नयी कहानी की भूमिका।' फिर कहने के लिए तो दुनिया के जाने कितने विषय हैं और चूंकि वे संपूर्ति करने ही चले हैं तो जितना कुछ जीवन में है, उसे जहाँ तक वे रेखांकित कर पाये, सब कुछ को संपूर्ति में खतिया डाले। इसलिए कमलेश्वर के अनुसार 'नयापन' इतने संक्षेप में बतला पाना असंभव है। नामवर जी की पहुँच कुछ और गहरी है। उनके लिए नयापन कभी नये कथाकारों के देहाती चित्रण में है,[30] कभी दिशा को, अनदेखी स्थिति को इंगित करने में है[31] तो कभी कहानी का संकेत बन जाने में।[32] इस तरह वे 'नयी' की सार्थकता के लिए कब किस विशेषता की तलाश कर लेंगे, कहना मुश्किल है।

उक्त उल्लेख से एक बात तो जाहिर है कि 'नयी कहानी' नाम की सार्थकता एक में अनेकता को समाहित करने या नामवर जी के शब्दों में पिण्ड में ब्रह्मांड देखने में ही है, यदि इसे विशेषता माना जा सके और यह निश्चय ही नयी कहानी के लिए गौरव की बात है।

प्रवर्तक का प्रश्न

आरंभिक समय-सीमा और अभिधान के बाद अब प्रश्न है—प्रवर्त्तक का, अध्यक्ष का, नेता का—आंदोलन का सबसे अहम मसला। इस संदर्भ में जितने लेखकों-आलोचकों के लेख पढ़ो उतने विचार—सब अपने बचाव और दूसरों पर तोहमत लगाने के लिए कमर कसे। तीन-चार दशक की कथा-यात्रा के चश्मदीद अश्क जी इसे भैरवप्रसाद गुप्त, मारकण्डेय और नामवर की गुटबन्दी बताते हैं और इस आंदोलन को पूर्वांचली लेखकों द्वारा छेड़ा गया करार देते हैं। उनके कथनों के साक्ष्य पर उस दौरान ग्रामकथा-नगर-कथा को लेकर जो दलबन्दी हुई, भैरव और मारकण्डेय के उकसाने पर लिखे गये नामवर के निबंधों के कारण हुई।[33] अश्क जी

---

28. कहानी के बदलते प्रतिमान—रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 13.
29. एक और जिन्दगी—मोहन राकेश, पृष्ठ 8.
30. 'नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना' में संकलित डॉ० इन्द्रनाथ मदान के निबंध, पृष्ठ 165 से उद्धृत।
31. नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना, पृष्ठ 166 से उद्धृत।
32. वही, पृष्ठ 168.
33. 'हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय' और 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन'—उपेन्द्रनाथ अश्क—के साक्ष्य पर।

की इन बातों के उत्तर में नामवर जी अलग-अलग लेख लिखते रहे और (अपने ग्रुप की 'माइक' के रूप में) कभी अश्क की बातों का खण्डन करते, कभी कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव या मोहन राकेश की खबर लेते रहते। इस प्रयास में वे कभी भैरवप्रसाद गुप्त को नये कहानीकार होने का प्रथम श्रेय देते हैं[34] तो कभी निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' को नयी कहानी की प्रथम कृति बताते हैं और इन सभी घोषणाओं द्वारा खुद को नयी कहानी-लेखन के सूत्रधार के रूप में पेश करने का मंसूबा बाँधते नजर आते हैं।

इसी बीच 'संकेत' ग्रुप से अलग होने के कुछ दिनों बाद कमलेश्वर इलाहाबाद से दिल्ली आते हैं और राजेन्द्र कलकत्ते से। मोहन राकेश वहाँ इसके पहले से ही मौजूद थे। इसी प्रकार एक तीसरा गुट सक्रिय हो जाता है और इसके साथ ही नयी कहानी का त्रिवेणी-संगम इलाहाबाद न रहकर दिल्ली हो जाता है। ये लोग एक दूसरे के बारे में दोस्ताना चुहल के तहत ऐसा माहौल बना देते हैं कि लोगबाग इन्हें ही कहानी का प्रवर्त्तक मानने लगते हैं,[35] यद्यपि प्रत्यक्षतः कमलेश्वर इसे 'बिच्छुओं की पाँत' कहकर किसी एक को श्रेय देने की प्रवृत्ति का खण्डन भी करते हैं।[36] राजेन्द्र यादव स्थान-भेद के बावजूद मोहन राकेश (दिल्ली), मारकण्डेय-कमलेश्वर (इलाहाबाद), रेणु-शिवप्रसाद सिंह (पूर्वी उत्तर प्रदेश की प्रेमचंदीय भूमि) और निर्मल वर्मा व खुद को राष्ट्रीय अस्मिता की खोज में लगा हुआ बताते हैं[37] पर नयी कहानी आंदोलन में 'हम तीनों कैसे आ गये', नहीं समझ पाते। वे तीनों के इस आ जाने के इस्तेमाल को स्वीकारते हैं, हमदम सीरीज के चत्मकार को कबूल भी करते हैं पर 'इसके पीछे खामखा दूसरों को छेड़कर दुष्ट मजा लेने वाली कमलेश्वर की फतवेबाजियाँ थीं या राकेश के शतरंजी पैंतरे से लैस गुरुगंभीर मुखोटोमैनिया या मेरे तथाकथित गंभीर, सैद्धांतिक लेख या पढ़ने का रौब' में से किसी एक को बता सकना मुश्किल महसूस करते हैं।[38] शायद इन सबके माध्यम से घुमा फिराकर श्रेय का सेहरा तीनों के सर पर रखना चाह रहे थे लेकिन उसी लेख की शुरुआत में वे किसी भी आंदोलन को वास्तविकताओं और सामाजिक सचाइयों की समाप्ति तथा वक्तव्यों की

---

34. कहानी : नयी कहानी—नामवर सिंह, पृष्ठ 119.
35 (अ) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प—डॉ० शिवशंकर पाण्डेय, पृष्ठ 59.
(ब) मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर नयी कहानी के तीन तिलंगे माने जाते हैं।
—हिन्दी कहानी : पहचान और परख—सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 232.
36. नई कहानी की भूमिका, पृष्ठ 43.
37. प्रेमचन्द की विरासत—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 94.
38. 'प्रेमचन्द की विरासत'—राजेन्द्र यादव—में संकलित निबंध—'आंदोलन और हिन्दी कहानी', पृष्ठ 94-95.

कुतुबनुमाई भाषा बता चुके थे अतः इस लड़ाई को भैरव-नामवर और अश्क के बीच बताकर खुद तीनों को कहानी लेखक और शगल के लिए लड़ाई में शामिल होने वाला कह देते हैं और तान तोड़ते हैं अंत में नामवर और भैरव पर—उनकी बखिया उधेड़कर। ठीक ऐसा ही फलसफा कमलेश्वर भी बयान करते हैं—'समीक्षा-क्षेत्र में दलबन्दी हुई।'[39] वे अपने को भी इसका आंशिक गुनहगार मानते हैं; पर समीक्षा की दायित्वहीनता दिखा कर अपने गुनाह को 'जस्टीफाई' भी कर देते हैं और समस्त गुटबाजी को एक आलोचक (नामवर सिंह) की देन बताते हैं[40]।

इन सबके बीच कहानी-लेखन और मूल्यांकन लोगों की मुख्य प्रवृत्ति नहीं रह गयी थी। समीक्षा बेहद आत्मपरक (सब्जेक्टिव) हो गयी थी और इन सबका दारो-मदार माध्यम के रूप में पत्रिका और उसके संपादकत्व पर आ टिका था। अपने उक्त लेख में राजेन्द्र यादव ने इस सचाई को दूसरों के संदर्भ में बता दिया है—'कथाकारों (इशारा भैरवप्रसाद गुप्त की तरफ है) ने नतीजा निकाला कि आंदोलन का अर्थ है—पत्रिका....व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से आक्रांत जिस भी लेखक के पास जितनी बड़ी पत्रिका हुई, उसका आंदोलन भी उतना ही बड़ा हो गया....लड़ाई अच्छे-बुरे लेखन को नहीं, लेखन से प्राप्त होने वाली सुविधा-सम्मान और सेहरों पर आ टिकी'[41] पर यह सब इन लोगों के संदर्भ में भी उतना ही सच है—कमलेश्वर-राकेश भी तो संपादक रहे हैं। क्या यह अपने आईने में दूसरों की तस्वीर देखना नहीं है?

इस प्रकार ये सब लोग एक दूसरे पर झंडा बरदार बनने की ख्वाहिश का इल्जाम लगाते हुए अपने को साफ-पाक बनाये रखने और अंदर से युग प्रवर्तक का ताज पहनने का मोह-संवरण न कर पाने की अजीब-सी हालत में पड़े थे जिससे इनके कथनों में दो मुँहापन साफ झलकता है। इस लड़ाई का जिक्र तमाम विद्वानों ने आक्रोश या खेद के साथ किया है।

काश! ये व्यक्तिगत और दलगत आरोप-प्रत्यारोप इस दौर में न आये होते, फतवेबाज वक्तव्यों के बदले सृजन ही आंदोलन बन गया होता (जैसा भक्ति और खड़ी बोली आदि के संदर्भ में हुआ था) या समीक्षा किन्हीं स्वस्थ परिवर्तनों के दिशा-संकेत के लिए लिखी गयी होती (जैसी पंतजी ने 'पल्लव' की भूमिका में छायावाद के लिए लिखी थी) तो शायद पाठक के सामने आज यह जटिलता न आती और आंदोलन का एक स्वस्थ रूप हमारे सामने होता।

इस समस्त फिरकेबंदियों के बीच फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह,

---

39. नयी कहानी की भूमिका, पृष्ठ 91.
40. वही, पृष्ठ 90.
41. 'प्रेमचंद की विरासत'—राजेन्द्र यादव—में संकलित निबंध—'आदोलन और हिन्दी कहानी', पृष्ठ 95.

अमरकांत, भीष्मसाहनी, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा जैसे कुछ लेखक इस नेतापद की उम्मीदवारी से दूर रहे, इसलिए उन्हें कोई दल बनाने की जरूरत नहीं पड़ी। हाँ, संपूर्ण ग्राम कथा को आंचलिक खाने में डालकर 'हेय' समझने की प्रवृत्ति पर डॉ० शिवप्रसाद सिंह को कलम उठानी पड़ी थी जिसे उन्होंने अपने गंभीर विश्लेषण द्वारा स्पष्ट भी कर दिया है। खैर, अब उस बाढ़ के थम जाने पर जब गँदला पानी उपेक्षा की गलियों में सूख गया है तब इन खेमेबाज शिविरों की चकाचौंध से दूर रहने वाले लोगों को इनका प्राप्य मिलने लगा है। अब लिखी जाने वाली पुस्तकों में इनके लेखन का सही मूल्यांकन हो रहा है।

एक बात और—

इन आंदोलनों के गड्डलिका प्रवाह से दूर डॉ० बच्चन सिंह शिवप्रसाद सिंह की पहली कहानी 'दादी माँ' से नयी कहानी की शुरुआत मानते हैं। उसी अंक में छपी राजेन्द्र यादव की कहानी 'खेल-खिलौने' के मुकाबले 'दादी माँ' को लोगों द्वारा मिली खुली दाद को डॉ० नामवर सिंह भी स्वीकारते हैं।[42] चूँकि नयी कहानी के उन्मेष में ग्रामगंधी कहानियों ने ही सर्वप्रथम नयेपन की ताजगी दी[43] और उनमें 'दादी माँ' ने लोगों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट किया, साथ ही इत्तफाक से नयी कहानी और शिवप्रसाद सिंह के लेखन की शुरुआत का समय भी एक ही है। यदि इन सब बातों को ध्यान में रखकर निःसंग रूप से मूल्यांकन किया जाये तो 'दादी माँ' को तत्कालीन नये उन्मेष की पहली (नयी) कहानी माना जा सकता है। किन्तु यह संदर्भ तमाम घोषणाओं, नारेबाजियों से उस मुहिम पर पहुँच गया है जहाँ इस ढर्रे की बात अपना अर्थ खो चुकी है। अस्तु,

वे सभी कहानीकार नयी कहानी के प्रवर्त्तक हैं जो तत्कालीन परिवेश के रू-बरू होकर अपने-अपने स्तर पर स्वस्थ दृष्टि से सृजन में तल्लीन रहे।

(ब) नयी कहानी

पूर्व वर्णित आंदोलन की चख-चख से मन बिदकता है और ऐसा लगता है कि ये फिजूल की चर्चाएँ गैरजरूरी रूप से आयीं लेकिन इस प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा के बीच एक से एक शक्तिशाली और उत्कृष्ट कहानियाँ हिन्दी में उन दिनों लिखी जाती रहीं.... हिन्दी जगत् रचनात्मक हलचलों से भर उठा।[44] स्पष्ट है कि तत्कालीन सशक्त सृजन लेखकीय संवेदन के साथ-साथ यत्किंचित् रूप से ही सही, एक दूसरे की प्रतिक्रिया का परिणाम है और इसीलिए आंदोलन के रचनात्मक (विध्वंसात्मक के विलोम के रूप में) पक्ष का प्रमाण थी। खैर,

स्वतंत्रता के बाद की कहानी ने सभी रूपों में अपने को पहले की कहानी से

42. कहानी—नयी कहानी—नामवर सिंह, पृष्ठ 231.
43. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 29, 34.
44. प्रेमचन्द की विरासत—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 100.

पूरी तौर पर बिलगा लिया। चूँकि कहानी अपने आंतरिक मूल्यों को लेकर बदल रही थी और यह बदलना बेहद तीव्र और व्यापक था इसलिए इसे विकास का नाम नहीं मिला—इसे नया ही कहा गया।[45] इन कहानीकारों ने नये को सृजन की पहली और अनिवार्य शर्त[46] मानी तथा पुराने से नये के अंतर को कहानीकारों की उम्र, रचना के देशकाल व कथ्य के चुनाव आदि के आधार पर नहीं, वरन् वैचारिक दृष्टि[47] के बिन्दु पर स्वीकारा—इसमें....सब कुछ है पर उसे देखने की निगाह बदल गयी है।[48] इस बदलाव को हम विस्तार से देखेंगे—

नयी कहानी और पुरानी कहानी का अंतर

नयी कहानी का पुरानी कहानी से अंतर विविधस्तरीय है। सबसे पहली बात दृष्टि की है। पुरानी कहानी में दृष्टि भोथरी हो गयी थी, नवविकसित विसंगतियों से भरे जीवन के प्रश्न अनतराशे रह जाते थे जिसे नयी कहानी की परिवर्तित दृष्टि ने तराश कर जवाबदेही से कतराती कहानी को जीवन के रू-ब-रू ला खड़ा किया। पहले का लेखक दृश्य को सँवारने की रंगीनी में दृष्टि खो देता था लेकिन नया कहानीकार विकृत विरूप दृश्यों में स्वस्थ दृष्टि का संचार कर देता है। इसी आधार पर 'कफन', 'पूस की रात' आदि बहुत पहले की कहानियाँ भी नयी हैं। वहाँ दृश्य एकदम फूहड़ है—चाहे पत्नी-बहू के कफन के पैसों की शराब पीकर गिर जाने का दृश्य हो या कुछ क्षणों की आरामदेह नींद के लिए नष्ट-प्राय फसल की चिंता तक कर देने का; लेकिन इनमें सामाजिक-आर्थिक वैषम्य को उजागर करती हुई दृष्टि एकदम नयी है जिसमें चौतरफे शोषण में पिसते आदमी का विद्रोह निहित है। इसी से वे कहानियाँ समय के अंतराल को लांघकर नयी कहानी के समकक्ष खड़ी हो जाती हैं जिसमें वही दृष्टिभंगी बहुतायत से दिखायी पड़ती है। मोहन राकेश ने जोर देते हुए इसी 'दृष्टि' को 'सांकेतिकता' नाम दिया है और इसे नयी-पुरानी कहानी के मूल विभाजक तत्व के रूप में बतलाया है।[49] इन्द्रनाथ मदान ने भी 'दृश्य' और 'दृष्टि' के लिए 'वस्तु' और 'संकेत' शब्दों का प्रयोग किया है—'वस्तु मॉरबिड' हो सकती है लेकिन संकेत 'मॉरबिड' नहीं होने चाहिए।[50] ये संकेत 50 के पूर्व की कुछ कहानियों में (जिन्हें नयी कहा जाता है) जहाँ दिखायी पड़ते हैं, कथानक प्रधानता के

---

45. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 70.
46. वही, पृष्ठ 55.
47. (अ) वही, पृष्ठ 26.
    (ब) 'नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति' में संकलित रमेश बक्षी का निबंध, पृष्ठ 108.
48. प्रेमचंद की विरासत—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 90.
49. 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति में संकलित निबंध, पृष्ठ 92.
50. हिन्दी कहानी : अपनी जबानी—इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 27.

कारण उद्देश्य कहे जाते हैं लेकिन यही नई कहानियों में अन्विति के साथ एकाकार होकर समाये रहते हैं जिससे ये कहानियाँ खुद भी संकेत बन जाती हैं।

उस कालावधि में (50 के पहले) कहानी कुछ उस प्रकार के दौर से गुजर रही थी जिससे द्विवेदी युग में कविता को पवित्रता-नैतिकता के बंधनों से बँधकर गुजरते हुए स्थूल और इतिवृत्तात्मक बन जाना पड़ा था। पुरानी कहानी शाश्वत जीवन मूल्यों के आग्रह से ग्रस्त होकर रह गयी थी। नैतिकता, भाग्यवाद, हिन्दूवाद, दुखवाद आदि की दार्शनिक-आध्यात्मिक परिणतियों से निर्मित लेखक की पूर्वग्रह-युक्त मानसिकता कहानी को जड़ बना चुकी थी, वह झूठे आदर्शवाद की शिकार हो गयी थी। लेखक के रूढ़ संस्कारों से परिचालित पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, प्रेमी-दोस्त, गुण्डा-वेश्या आदि सभी के संबंध, फर्ज और प्रवृत्तियाँ तयशुदा थीं, सृजन बनी-बनायी लीकों में भटक गया था जिससे कहानी, कहानी न रहकर 'फार्मूला' बन गयी थी। नयी कहानी ने उसे इस फार्मूला-बद्धता से निकाल बाहर किया। फलतः वायवी विचारों-भावनाओं से मंडित कठपुतली जैसे चरित्रों के अवतार के स्थान पर जीवन-संघर्षों से जूझते, हारते-जीतते, रोते-गाते, चहचहाते-बिलबिलाते हर तरह के पात्र कहानी में जनमने लगे। लेखकीय आग्रह से ग्रस्त कहानियों का पर्दा गिर गया और जीवनपरक सहज वृत्तियों से संवलित कहानियाँ उसकी स्थापन्न हुईं। लेखकीय आग्रह के संदर्भ में इस बदलाव को मन्नू भंडारी की 'मैं हार गयी' कहानी में देखा जा सकता है। उसके नायक लेखक की मानस-संतान बनने से साफ मुकर जाते हैं। वह हाड़-मांस से संवलित इंसान की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं से निर्मित अपने परिवेश की सचाइयों के तहत जीते हैं। इस तरह नयी कहानी में लेखक और कहानी के परम्परागत सत्य झूठे पड़ गये हैं और जीवनसत्य प्रमुख हो गया है। कहानी की दिशा साहित्य से जीवन की ओर न रहकर जीवन से साहित्य की ओर हो गयी है[51] और चूँकि जीवन का कोई शाश्वत मूल्य नहीं होता, उसकी गति रूढ़ नहीं होती इसीलिए पुरानी कहानी जहाँ रूढ़-शाश्वत जीवनमूल्यों की कहानी है तो वहीं नयी कहानी निरंतर परिवर्तमान और गतिशील मूल्यों की।

पुरानी कहानी की प्रकृति तथाकथित मनोविश्लेषण पर आधारित अंतर्मुखी है और नयी कहानी सामाजिक स्थितियों से उद्वेलित मनुष्य की मनःप्रवृत्ति का विश्लेषण करती हुई बहिर्मुखता की पक्षधर है। वह गलदश्रु कंठ से समष्टिगत भावना को अवरुद्ध करके वैयक्तिक भावों का अश्रुप्रवाह है और यह बौद्धिक विश्लेषण से 'बैलेन्स्ड' जन-जन की भावनाओं का ऐसा विशाल नद है जिसमें तमाम कुरूपताओं, गंदगियों, सड़े-गलों को बहा देने की शक्ति है। पुरानी कहानी के कथ्य की हैसियत जीवन से दूर रहनेवाले शासक-उपदेशक की-सी है जबकि नयी कहानी का कथ्य जीवन के यथार्थ परिवेश में शासित, हारे हुओं के संघर्ष की साखी है। उसका परिवेश

51. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 28.

वास्तविक है पर कथ्य अवास्तविक—सुडौल आँखें, पर रोशनीविहीन और इसका परिवेश अवास्तविक भले हो लेकिन कथ्य एकदम सच—'भोलाराम का जीव' की तरह। इन्हीं कारणों से जहाँ पुरानी कहानी में आरोपित जीवनमूल्यों के वाहक उपजीवी पात्रों की भीड़ खड़ी हो जाती है वहीं नयी कहानी में भोग्यमान को भोगते हुए जीवन के केन्द्रीय पात्र पूरी अर्थवत्ता के साथ सजीव हो उठते हैं। उसमें सिद्धांतों के चौखटे में फिट करने के लिए पात्र गढ़े जाते हैं और इसमें सजीव चरित्र अपने आप 'आइडिया' में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार पुरानी कहानी में विवेच्य के चुनाव और चित्रण के दौरान सत्य उपेक्षित हो गया था, सुंदर के माध्यम से अपने परिणाम में शिवत्व का आग्रह प्रबल और नयी कहानी शिवत्व के अभाव-संहार से प्रेरित होकर मात्र सत्य के प्रति प्रतिबद्ध हो गयी, सुंदर की तो परवाह इसने कभी की ही नहीं। जब सत्य ही विकृत हो तो सुंदर की सुधि किसे ?

पुरानी कहानी की 'ट्रेजिडी' थी कि उसे काव्यालोचन से आयत्त कुछ खास तत्त्वों पर आधारित शास्त्रीय मानदण्डों द्वारा परखा जाता था जिससे जाने-अनजाने सभी कहानियों में वे तत्व रचनाकार की मानसिकता पर 'हॉबी' रहते थे। इसलिए जहाँ पुरानी कहानी सीधी-सपाट-इकहरी-स्थूल और खण्डों में विभक्त दिखती है वहीं नयी कहानी सूक्ष्म और संश्लिष्ट हो गयी है। इसने उन साँचों को झटके से तोड़कर अपनी मानसिकता को निरंकुश और आजाद कर लिया है। पुरानी कहानी में आदि-मध्य-अंत सब निश्चित रहता है क्योंकि वह भविष्य के प्रति गणितीय नियमों के तहत उन्मुख थी जबकि वर्तमान पर केन्द्रित होने के कारण नयी कहानी में सब कुछ अनिश्चित। कुल मिलाकर पुरानी कहानी की रचना प्रयोगशाला में तैयार किये जाते घोल की तरह है जिसमें मिलाए जाने वाले तत्व और उनकी मात्रा निश्चित होती है जबकि नयी कहानी खुले अंबर के नीचे बंजर-सी बना दी गयी धरती में पड़े बीज की अंकुरण प्रक्रिया है जिसका बाहर आना तो उसकी जिजीविषा पर निर्भर है लेकिन लहलहा जाने पर बंजर को उपजाऊ सिद्ध करने का सबूत बन जाता है। इस प्रकार 'नयी कहानी' पुरानी कहानी का नया रूप नहीं, कथात्मक गद्य का एक नया क्षेत्र है जिसमें युग की सभी वस्तुपरक एवं काव्यात्मक अनुभूतियों को लेकर रचना के प्रयोग किये जा रहे हैं।[52]

(स) नयी कहानी : शिवप्रसाद सिंह का योगदान

प्रेमचंदोत्तर कहानी के अध्ययन में व्यक्तिवादी और समाजवादी कहानियों के बाद नयी कहानी की चर्चा की जाती है, फिर अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी और समांतर कहानी आदि की। इस क्रम में शिवप्रसाद सिंह का नाम प्रायः नहीं आता। मारकण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु के साथ इन्हें एक अलग ही श्रेणी में डाल दिया जाता है—आंचलिक कहानी में जिसका उल्लेख नयी कहानी के पहले किया जाता

---

52. नयी कहानी : दशा, दिशा संभावना में संकलित मोहन राकेश का लेख, पृष्ठ 71.

है।[53] यह अक्सर आलोचना-शोध प्रबंध संबंधी पुस्तकों में देखने को मिलता है। हालाँकि शिवप्रसाद सिंह आंचलिक कहानीकार नहीं हैं (जिसका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा)। इससे यह भ्रांति उपजती है कि यह आंचलिक कहानी नयी कहानी से भिन्न है। लेकिन तत्कालीन (नयी कहानी के उन्मेषकालीन) प्रमुख नये कहानीकारों ने अपनी कहानी-आलोचना संबंधी पुस्तकों में इन कहानीकारों का उल्लेख नयी कहानी के अन्तर्गत ही किया है और आंचलिकता को नयी कहानी के उन्मेष की एक धारा स्वीकार किया है[54]—और जैसा कि अन्य तमाम उल्लेखों के साक्ष्य पर 'नयी कहानी की शुरुआत' शीर्षक के अंतर्गत इस प्रबंध में स्पष्ट किया गया है कि नयी कहानी की शुरुआत ही उन्हीं कहानियों से हुई, जिनके आधार पर बाद में आंचलिक कहानी नाम प्रकाश में आया। इस प्रकार यह मूलतः नयी कहानी का ही एक सशक्त पक्ष है—अलग परिवेश के चित्रण के रूप में ('आंचलिकता और ग्रामकथा' द्रष्टव्य)।

स्वयं शिवप्रसाद सिंह भी इस गलत खानेबंदी को समझते हैं पर उन्हें इसकी परवाह नहीं है—'मेरी कहानियाँ नयी कहानी नहीं कही जा सकतीं तो न कही जायें। मुझे इसके लिए चिंता नहीं। आलोचकों से मिथ्या स्वीकृति पाने की मुझे परवाह नहीं....मेरा एक मत है, एक विचारधारा है। मेरी कहानियों के चरित्र, वातावरण, उद्देश्य; इसी विचारधारा के भीतर से उठें, ऐसा मेरा प्रयत्न रहा है। अब तक यह बात मेरे पाठकों और समीक्षकों को स्पष्ट न हो सकी तो यह मेरी दुर्बलता है।'[55]

यह लेखक की विनम्रता है और अब तो यह बात समीक्षकों को स्पष्ट भी होने लगी है। अद्यतन लेखन में डॉ० शिवप्रसाद सिंह और उन कहानीकारों को नयी कहानी में अंतर्भुक्त किया जा रहा है, बातें स्पष्ट हो रही हैं, पर इसी बात को और अधिक साफ करने तथा बीच के लेखन से उपजी उस भ्रांति के जड़-मूलोच्छेदन के प्रयास के रूप में हम नयी कहानी में शिवप्रसाद सिंह के योगदान की चर्चा करेंगे।

नयी कहानी के प्रायः सभी लेखकों ने, चाहे जिन परिस्थितियों—कारणों से, अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कहानी-लेखन के अलावा समीक्षाएँ भी लिखी हैं और निश्चय ही इन समीक्षाओं ने कहानी को समझने-समझाने में उल्लेखनीय भूमिका अदा की है। इस प्रकार समीक्षकों और कहानीकार समीक्षकों ने नयी कहानी की संपूर्णता में परख और मूल्यांकन करते हुए इसकी प्रकृति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। कथाकार के रूप में डॉ० शिवप्रसाद सिंह के लेखन में वे प्रवृत्तियाँ किस

---

53. (अ) हिन्दी कहानी में प्रगति-चेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम।
(ब) हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय।
54. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 78.
55. चतुर्दिक—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 205.

प्रकार उद्घाटित-प्रभावित हुई हैं आदि मुद्दों के संदर्भ में ही नयी कहानी में डॉ० सिंह के योगदान का मूल्यांकन संभव और संगत होगा। अतः पहले नयी कहानी की प्रकृति का उल्लेख आवश्यक है—

नयी कहानी की प्रकृति

विभिन्न विद्वानों के मत से यदि नयी कहानी की प्रकृति-प्रवृत्ति का एक मानक विवरण दिया जाये तो वह कुछ इस प्रकार होगा—

(1) **ग्रामीण चित्रण और जातीय साहित्य—**कमलेश्वर, डा० शीतांशु इसके समर्थक हैं और शिवप्रसाद सिंह इसके प्रवर्तक कहे जा सकते हैं।

(2) **केन्द्रीय व्यक्ति की तलाश—**कमलेश्वर के अलावा राजेन्द्र यादव ने इसी को व्यक्तिगत सामाजिकता और डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने मैं की खोज कहा है और इसे नयी कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति माना है।

(3) **यथार्थ की अभिव्यक्ति—**नयी कहानी पर लिखने वाले सभी विद्वानों ने इसे स्वीकारा है।

(4) **परंपरावाद की अस्वीकृति**—कमलेश्वर, डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इसे स्पष्टतः स्वीकारा है—मोहन राकेश, परसाई ने एक खास अर्थ में। आलोचकों में डॉ० शिवशंकर पाण्डेय और डॉ० शीतांशु ने इसका उल्लेख किया है पर शीतांशु ने इसे 'परंपरा का अस्वीकार' बताया है जिससे 'परंपरा' का अर्थ संकुचित सीमित हो गया है। बात एक खास अर्थ में आंशिक सचाई लिए है। पर नयी कहानी की प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती।

(5) **जीवन के प्रति आस्था**—कमलेश्वर, रमेश बक्षी के अलावा डॉ० शिवप्रसाद सिंह इसे लेखन का मूल उत्स मानते हैं। इसको डॉ० शीतांशु और डॉ० शिवशंकर पाण्डेय का भी समर्थन प्राप्त है।

(6) **आधुनिकता**—डॉ० सिंह और कमलेश्वर ने अलग-अलग संदर्भों, अर्थों और अपनी-अपनी मान्यताओं के मुताबिक इसका ग्रहण-मूल्यांकन किया है और डॉ० शीतांशु डॉ० इन्द्रनाथ मदान तथा डॉ० शिवशंकर पाण्डेय ने इसका उल्लेख किया है।

(7) **विविधता**—नयी कहानी की प्रमुख प्रकृति है। अलग-अलग रूप में गतिशीलता, प्रयोग क्षेत्र आदि को लेकर कमलेश्वर और डॉ० शीतांशु ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

(8) **सांकेतिकता**—मोहन राकेश, कमलेश्वर, हरिशंकर परसाई, परमानंद श्रीवास्तव, इन्द्रनाथ मदान, डॉ० शिवप्रसाद सिंह द्वारा उल्लिखित।

(9) **अनुभव की प्रामाणिकता, लेखकीय प्रतिबद्धता और बौद्धिक संचेतना**—कमलेश्वर, रमेश बक्षी, नित्यानंद तिवारी, डॉ० शीतांशु और डॉ० पाण्डेय ने इसका प्रमुख रूप से समर्थन किया है। परसाई जी ने प्रतिबद्धता को लेखकीय प्रयोजन के रूप में स्वीकारा है।

(10) **शिल्प के नये आयाम**—का जिक्र प्रायः सभी विद्वानों ने किया है जिसमें मोहन राकेश, परसाई, कमलेश्वर, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, परमानंद श्रीवास्तव और डॉ० शीतांशु का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

अब हम पहले इन प्रवृत्तियों के आलोक में लेखक के रूप में डॉ० शिवप्रसाद सिंह के योगदान की चर्चा करेंगे और इसके बाद समीक्षक रूप की—

लेखक के रूप में

कहना नहीं है कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह का कथा-क्षेत्र भारतीय जीवन का वह विस्तृत फलक है जिसे ग्राम कहते हैं। नयी कहानी की शुरुआत ही ग्रामगंधी कहानियों से हुई। हमारा देश उस समय जिन स्थितियों से गुजर चुका था, उनमें स्वतंत्रता और विभाजन बहुत प्रमुख थे और इन दोनों के परिणाम में हमारे लिए अपनी इयत्ता को प्रतिष्ठित करने का उत्तरदायित्व सर्वोपरि हो गया था। इसके लिए हमें उस निजता की तलाश थी, जिससे वह मानस प्रत्यक्ष हो सके जो अनेकानेक बहुरंगी प्रभावों के बीच भी बच गया था, जो सबसे अलग-थलग कुछ और नहीं, मात्र भारतीय था। तत्कालीन साहित्य—मुख्यतः कविताओं और कहानियों—में इसी तलाश के लिए 'गाँवों की ओर प्रयाण हुआ था' अखैर प्रायः सभी कहानीकार कुछ प्रमुख रूप से और कुछ प्रच्छन्न रूप से इस प्रयाण में शामिल हुए लेकिन शिवप्रसादजी के लिए यह प्रयाण बिल्कुल नहीं था—यह तो उनके जीवन की ऐसी हकीकत है जिससे वे चाहकर भी अलग नहीं हो सकते।[56] इसीलिए तो इस ग्राम-जीवन पर आधारित इस लेखन को 'जातीय साहित्य' सबसे पहले कोई और नहीं, सिर्फ शिवप्रसाद सिंह ही कह सके। इनका पूरा कथा-साहित्य ही इसी जातीय-संदर्भ का साहित्य है। इसे कमलेश्वर नयी कहानी से जुड़ा हुआ पाते हैं[57] और इसी को नयी कहानी का मूलस्रोत मानते हैं।[58] यही दिसम्बर 65 के कलकत्ता समारोह में शरद जोशी और राजेन्द्र अवस्थी की बात का नुकता था[59] और अन्य पचासों आधारभूत कोणों के साथ इसका भी उस समारोह में जमकर विशद विवेचन हुआ था।[60] 'नयी कहानी ने शुरू से ही जातीयता (इण्डियननेस) की प्रवृत्ति को प्रमुख माना है क्योंकि जातीय परिवेश से कटकर सच्चे साहित्य का सृजन नहीं हो सकता। वही तो लेखक की चेतना का मूल स्रोत है और उसके समयबोध का प्राथमिक आधार।[61]

इस प्रकार यह ग्रामीण-चित्रण पर आधारित जातीय साहित्य नयी कहानी

56. मेरी प्रिय कहानियाँ—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—भूमिका, पृष्ठ 6.
57. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 71.
58. वही, पृष्ठ 35.
59. वही, पृष्ठ 49.
60. वही, पृष्ठ 52.
61. वही, पृष्ठ 49.

की प्रमुख प्रवृत्ति ठहरती है और डॉ० सिंह इसके सर्वप्रमुख उन्नायक-सर्जक-उद्घोषक। इन्होंने इसके जरिये लोकमानस के संघर्षों को उजागर करके उसकी चेतना को जागरूक बनाने की सफल कोशिश की है। दो-चार अपवादों को छोड़कर इनकी सारी कहानियाँ ग्रामजीवन पर आधारित जातीय साहित्य की कहानियाँ हैं। अतः शेष प्रवृत्तियों के आकलन, प्रभाव, परिणाम को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

एक बार मुक्तिबोध जी ने साहित्य में संदर्भों से जुड़ी मूर्ति का सवाल उठाया था।[62] यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी जिसे 'निजता की खोज', 'मैं की तलाश' के रूप में नयी कहानी ने जोरदार प्रस्तुति के साथ पूरा किया। इसी तलाश के रूप में शिवप्रसाद सिंह का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह भी कहा जा सकता है कि इनका पूरा कहानी-लेखन ही चरित्रों के माध्यम के भारतीय व्यक्तियों की खोज है। इसी को कमलेश्वर ने 'केन्द्रीय व्यक्ति की तलाश' का नाम दिया है—नयी कहानी ने केन्द्रीय व्यक्तियों की तलाश की और उन्हें ही पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया....व्यक्ति की निजता को समादर मिला।[63] फलतः ऐसे सैकड़ों केन्द्रीय व्यक्ति नयी कहानी में उभर आये—'तीसरी कसम' का हीरामन, 'गुलकी बन्नो' की गुलकी, 'चीफ की दावत' के शामनाथ, 'बदबू' का कामगर, 'वापसी' के गजाधर बाबू, 'कस्बे का आदमी' के छोटे महाराज, 'तीसरे आदमी' की शकुन, 'गर्मियों के दिन' के वैद्यजी, 'टूटना' का किशोर, 'दाम्पत्य' के राजनाथ और उर्मिला आदि—जो अपने जीवन-संदर्भों से जुड़े, जिन्दगी के बीचो-बीच से उठे आम आदमी हैं। यह शृंखला शिवप्रसाद सिंह के यहाँ गुण-परिणाम दोनों में ही सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण है। इनमें दीन-हीन, गरीब, अंधविश्वासी पर मानवीय स्नेह और प्रकृति की सुषमा से गमकते, निर्बल, दुखी पर आत्मवान, हर तरह के लोग जीवन की धुरी से जुड़े संघर्षरत इन्सान हैं—'हीरों की खोज' के बोधन तिवारी, देऊ दादा, दादी माँ, उपधाइन मैया, 'कर्ज' का जगपती, 'पेटमैन' का सिजोगी, 'गंगा तुलसी' की माँ, 'कलंकी अवतार' के रोपन बारी आदि 'नयी कहानी' ने अपने समाज के आर्थिक और नैतिक रूप से प्रताड़ित, दलित, बुझे और टूटे हुए पात्रों को ही सहानुभूति और संवेदना दी थी....लोकजीवन से सीधा संबंध जोड़ा था।[64] इस संदर्भ में डॉ० सिंह के यहाँ तमाम रोते-विलखते, उपेक्षित, निरीह पात्र भारतीय समाज व्यवस्था के ढाँचे को नापैद करते हुए कभी अपनी स्थिति से विरोध-विद्रोह की मुद्रा में खड़े होते हैं तो—'आर-पार की माला' के रज्जब-जुम्मन, 'संपेरा' के बक्कस-बसीर, 'पापजीवी' के बब्बर-बदलू आदि—तो कभी दमन-चक्र की कठोरता तले अपनी लाचारी या अंतरतर की मानवता के वशीभूत होकर उस विरोध के बाअसर न होने की नियति को

62. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 76 से उद्धृत।
63. वही, पृष्ठ 75.
64. वही, पृष्ठ 71.

सामाजिक यथार्थ के तहत स्वीकार करते उपस्थित होते हैं—मास्टर सुखलाल, 'उस दिन तारीख थी' के देवीसिंह, 'मुर्गे ने बाँग दी' का मंगरू लोहार, 'माटी की औलाद' का टीमल कुम्हार, 'खेल' का किशन, 'बड़ी लकीरें' का 'मैं' आदि।

इसी के समानांतर नारी-चरित्रों में निजता की खोज भी नयी कहानी की त्वरा का महत्वपूर्ण 'कर्व' है। उन्हें भी नयी कहानी ने जीवन के केन्द्र से उठाकर उनके 'निज', 'मैं' की तलाश की। नयी कहानी की नारी अपने में पूर्ण है—वह न सती है न वेश्या—वह केवल नारी है[65] सामान्य नारी—किसी भी आग्रह से मुक्त, अपनी शक्तियों-सीमाओं के अंतर्गत अपने वजूद को समझने—स्थापित करने वाली, अपनी सहज वृत्तियों से संचालित-संवलित। उषा प्रियंवदा और मन्नू भंडारी ने नयी कहानी में नारीत्व के सार्थक अस्तित्व की खोज की तो कृष्णा सोवती ने उसे स्वाभिमानी, विद्रोही, खुले-दोटूक व्यक्तित्व की गरिमा से मंडित किया। 'हार', 'जीती बाजी की हार', 'यही सच है', 'मछलियाँ', 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' आदि कहानियों की नायिकाएँ इसकी सबूत हैं। कमलेश्वर ने 'देवा की माँ' में उसे स्वतंत्र अस्तित्व-स्वाभिमान संपन्न रूप दिया तो मोहन राकेश ने 'उसकी रोटी' में पुरुष मुखापेक्षी, पति की प्रतीक्षा में रत दिखाया। शिवप्रसाद सिंह ने इस क्रम में भी स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इनके यहाँ सामाजिक स्थिति में अपने अस्तित्व को सहेजती, नारीत्व की सार्थक मसृणता को संजोए नन्हो सहुआइन, इच्छित स्त्रीत्व की माँग के खिलाफ विवशताओं में पिसती-अत्याचारों को झेलती 'बरगद का पेड़' की शीला, 'महुए के फूल' की चंपा, 'आर-पार की माला' की नीरू, 'बेहया' की सुभागी, 'टूटे तारे' की श्यामा, 'अंधकूप' की सोना भाभी, 'अरुन्धती' की बड़की बहू; अपनी स्थितियों से खुला विद्रोह करती 'उपहार' की गुलाबो, स्वयं की परवाह किये बगैर पुरुषों की बेशर्मी का पर्दाफाश करती 'पोशाक की आत्मा' की कुसुम और पति के समक्ष अपने अधिकार के लिए बगावत पर उतारू 'भग्न प्राचीर' की सुशीला आदि नायिकाएँ अपनी स्थितियों के बीच से उपजी-उभरी निजी संदर्भों को रेखांकित करती जीवन की केन्द्रीय पात्र हैं जो नयी कहानी का नेतृत्व करने की क्षमता रखती हैं।

इस प्रकार उन सभी पात्रों की यह लंबी श्रृंखला केन्द्रीय पात्रों की तलाश की प्रकृति के रूप में नयी कहानी में शिवप्रसाद सिंह के बहुमूल्य योगदान को ही सार्थक नहीं करती वरन् नये कहानीकारों में उन्हें एक विशिष्ट दर्जा भी देती है।

केन्द्रीय पात्रों का यह रूपायन वास्तव में पात्रों की तलाश नहीं थी, यथार्थ की तलाश थी।[66] नयी कहानी का यथार्थ 'पूस की रात', 'कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवा सेर गेहूँ' की परंपरा का यथार्थ है जो कहानी की संश्लिष्टता से उद्भूत होती हुई व्यंजना में निहित है, न कि चित्रण की वास्तविकता या कहानी के 'फार्म'

65. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 141.
66. वही, पृष्ठ 71.

पर। इसीलिए शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का यथार्थ उनका ग्रामीण परिवेश नहीं है वरन् उनके प्राण में निहित संस्कारजन्य मानसिकता के दोहन से उत्पन्न वह त्रासद स्थिति है जिनसे इन कहानियों के चरित्र निर्मित होते हैं। 'नयी कहानी का यथार्थ कोई स्थिर तत्त्व नहीं है, निरंतर गतिशील है....विचार, परिवेश, भौतिक आधार और संक्रमण होते रहने की वह तरल स्थिति ही यथार्थ की स्थिति है।'[67] इसी के मुताबिक शिवप्रसाद सिंह के कहानी-लेखन में भी यथार्थ के कई रूप देखने को मिलते हैं जिनमें प्रमुख हैं—सामाजिक यथार्थ जो कहानी में व्यक्ति के माध्यम से उभरा है और जिसे राजेन्द्र यादव ने नयी कहानी की समूहगत सामाजिकता को व्यक्तिगत सामाजिकता के रूप में देखना कहा है।[68] इन कहानियों में पात्र को विविध परिवेश की विभिन्न स्थितियों में रखकर उस पर सामाजिक गतिविधियों के प्रभाव का अंकन हुआ है। इसी के साथ ही सामाजिक प्रभाव के अंतर्गत बनते-बिगड़ते व्यक्तित्वों की आंतरिक छटपटाहट में मनोविश्लेषणात्मक यथार्थ भी स्थान ग्रहण करता है—नन्हों, 'बेहया', 'अरुन्धती' आदि में। इसके अलावा 'माटी की औलाद', 'मुर्गे ने बाँग दी', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'अंधकूप' आदि में विशुद्ध सामाजिक यथार्थ की तस्वीर बन पड़ी है।

वैसे तो शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ अधिकांशतः मनःप्रवृतियों के विवेक की निर्णयात्मकता में ही जीती हैं पर कई स्थलों पर ये चित्र एक ऐसे यथार्थ का रूप ले लेते हैं जिसे मात्र मानवीय यथार्थ ही कहा जा सकता है—अगर इसे स्वीकार किया जाये तो। 'पापजीवी', 'सँपेरा' आदि में ऐसी ही भावनात्मक सचाइयाँ यथार्थ रूप में उद्घाटित हुई हैं। वस्तुतः डॉ० सिंह की कहानियों का उपजीव्य मानवता का पीड़ित मर्म ही है जो सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रक्रिया से प्रसूत ये कहानियाँ तमाम उपेक्षित-अछूते समुदाय का दर्पण बन गई हैं। इनमें उनके हालात के रू-ब-रू जीने की कोशिश है पर कामयाबी का धरातल अभी जमाने का यथार्थ नहीं बन पाया है अतः बिलबिलाना ही इनकी नियति है—तिउरा, कबरी, आदि की तरह।

यथार्थ चित्रण की यह परंपरा नयी कहानी की नितांत अपनी परंपरा है—वैसे यह कहानी परंपरावाद के अस्वीकार की है। परंपरावाद से हमारा तात्पर्य है—

(1) जीवनक्षेत्र में प्रचलित उन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक रूढ़ियों से, जो समकालीन जीवन की गत्यात्मकता में फिजूल तथा खोखली पड़ जाती हैं और—
(2) साहित्यिक क्षेत्र में उन प्रवृत्तिमूलक व 'पैटर्नाइज्ड' सृजन से, जो जीवन के गतिशील पक्ष को चित्रित करने में अक्षम साबित हो जाता है।

कुछ विद्वानों ने नयी कहानी को परंपरा (परंपरावाद नहीं) से अस्वीकार की

---

67. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 83.
68. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सं० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 99.

कहानी बताया है। डॉ० शशिभूषण 'शीतांशु' ने इस प्रसंग में राजेन्द्र यादव, रमेश बक्षी और देवीशंकर अवस्थी के विचारों का उल्लेख किया है।[69] उनके निर्देशित स्थलों में राजेन्द्र यादव और रमेश बक्षी ने परंपरा का अर्थ बहुत सीमित कालावधि के अर्थ में लिया है—नयी कहानी-उन्मेष के ठीक पहले के अर्थ में—सन् 1940-50 के लेखन (अज्ञेय, जैनेन्द्र, छाप साँचे) के लिए। रमेश बक्षी ने इस काल की परंपरा से नयी कहानी के विरोध को स्वीकारा है, विकास पर अपना एतराज दाखिल किया है[70] और राजेन्द्र यादव ने विकास या विरोध दोनों को ही स्वीकार कर परंपरा और प्रभाव के सुदूर पीछे तक देखने की बात की है।[71] ध्यातव्य है कि इस उल्लेख में डॉ० शीतांशु ने मोहन राकेश और हरिशंकर परसाई के मतों का खंडन किया है।[72] जबकि मोहन राकेश ने भी यादव की तरह दूर की परंपरा को स्वीकारने का संकेत दिया है[73] और परसाई जी ने तो शुद्ध रूप से कहानी-विधा की परंपरा की बात की है।[74] रह गये स्व० देवीशंकर अवस्थी जिन्होंने कहानी-लेखन के पुरानेपन को परंपरा कहा है,[75] जिसका साफ अर्थ कहानी की कथ्यगत प्रवृत्तिमूलकता और शिल्पगत घटक-बद्धता से है। इस प्रकार 'परंपरा' शब्द की व्यापक-प्रचलित धारणा के अर्थ में उक्त लेखकों ने इसका प्रयोग किया ही नहीं। इन्होंने पररंपरा की बात एकदम संकुचित अर्थ में की है वरना नयी कहानी के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। परंपरा से पूर्णतया विच्छिन्न होकर कुछ नहीं हो सकता—लेखन तो बिल्कुल ही नहीं। हाँ, परंपरा के ग्रहण में स्वस्थ-जीवन्त और अस्वस्थ-मृत का फर्क करना ही 'जेनुइन' लेखन की शर्त है। कमलेश्वर ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ लिखा है—'नयी कहानी की आलोचना ने यह गलती की थी कि परंपरा के जीवंत तत्त्वों से रिश्ता कायम नहीं किया था, जिसकी क्षति रचनाकार को उठानी पड़ी और तब कुछ रचनाकारों ने ही परंपरा के संगत तत्त्वों को स्वीकारा था।'[76] डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इसी को 'जो अनावश्यक है, टूट रहा है, ह्रासोन्मुखी है, उसे छोड़ दें और जो स्वस्थ है, नया है, विकासशील है, उसे ग्रहण करें'[77] कहकर हर देश-काल में लेखकों के सम्मुख परंपरा के चुनाव और त्याग का स्वस्थ उत्तर दे दिया है। बहरहाल,

---

69. नई कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृ० 52.
70. नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० 107.
71. वही, पृ० 98.
72. नई कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृ० 52.
73. नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति—देवीशंकर अवस्थी, पृ० 94.
74 वही, पृ० 56.
75. वही, पृ० 15.
76. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 121.
77. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 140.

परंपरावाद का अस्वीकार नयी कहानी की एक महत्त्वपूर्ण प्रकृति है और शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कहानियों में परंपरा के स्वस्थ-नये जीवंत रूप को आयत्त करते हुए मूलतः जीवन में परंपरा के नाम पर अस्वस्थ-मृत-प्राचीन रूढ़ियों अंधविश्वासों को तिरस्कृत कर इस प्रकृति को सबब-सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यह कार्य कस्बाई परिवेश में कमलेश्वर में 'राजा निरबंसिया', 'देवा की माँ', 'कुछ नहीं कोई नहीं' आदि में किया है और राजेन्द्र यादव ने यही 'बिरादरी बाहर' और 'तलवार पंचहजारी' आदि में तथा तमाम दूसरे नये कहानीकारों ने भी इसे अपने-अपने परिवेश-प्रवृत्तियों में अपनाया है। डॉ० सिंह ने अपने ग्रामीण परिवेश में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़िगत रीति-रिवाजों के अंधानुकरण का जोरदार विरोध किया है—'रेती' की गंगा भाभी, नन्हों की नन्हों सहुआइन में जहाँ यह विरोध मूकता-शालीनता लिए है, 'भग्न प्राचीर' की सुशीला में दृढ़ता और 'कर्मनाशा की हार' के भैरों पाण्डे में विचारोत्तेजकता, वहीं 'पोशाक की आत्मा' में किन्हीं भी मान्यताओं से पोषित परंपरा-वाद को भस्म करने के लिए अंगारक लावों की तरह उबल पड़ा है और 'आदिम हथियार' में तो विरोध बेपरवाही व उपेक्षा के साथ ठेंगा दिखाकर निकल जाता है। इस प्रकार नयी कहानी की परंपरावाद के अस्वीकार की आवाज में वे कहानियाँ एक बुलंदगी लाकर अविस्मरणीय योगदान की भूमिका अदा करती हैं।

चाहे यथार्थ का चित्र हो या परंपरावाद का विरोध, परिवेश ग्रामीण हो या नगरीय, पर पात्रों के माध्यम से लेखक की जीवन के प्रति आस्था व प्रतिबद्धता नयी कहानी का एक प्रमुख स्वर है—उसकी यात्रा जीवन से साहित्य की ओर है।[78] जीवन के समग्र के प्रति यही आस्था नयी कहानी की सिद्ध नैसर्गिक शक्ति है[79] क्योंकि अपनी जिन्दगी के प्रति कहानी की संसक्ति कविताओं आदि की अपेक्षा ज्यादा है।[80] इसका प्रमाण वे तमाम कहानियाँ हैं जो इस दौर में लिखी गयीं—'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन', 'चीफ की दावत', 'सेलर', 'भोलाराम का जीव', 'एक और जिन्दगी' आदि। यही आस्था शिवप्रसाद जी की कहानियों की प्रेरणाशक्ति है। विभिन्न जीवन-संदर्भों में भी यह आस्था अडिग रहती है—'मंजिल और मौत' में बौडम की जिजीविषा इसका ज्वलंत उदाहरण है। बुआ, दादी, दादा, 'कबूतरों का अड्डा' की माँ आदि तो हैं ही, पर परिस्थितियों की भयंकर मार से टूटे 'उस दिन तारीख थी' के देवीसिंह, 'चितकबरी' के रोपन साहु, 'उसकी भी चिट्ठी आयी थी' के विमल सिंह, बिन्दा महाराज, 'पर कटी तितली' की रानी, 'खैरा पीपल कभी न डोले' का कैरा, 'अँधेरा हँसता है' के अर्जुन पाण्डे, 'चेन' का रिक्शावान, 'धरातल' की मुसम्मात नैना आदि अनेक लोग इसी आस्था के कारण जीवन से बेतरह जुड़े हुए

---

78. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 35, 38, 44.
79. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृ० 54.
80 आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 207.

लोग है क्योंकि लेखक को स्वयं 'मनुष्य और उसकी जिन्दगी के प्रति मोह है, अपने प्रयत्न के प्रति आस्था है', [81] न कि किसी अमूर्त विचार या अदृश्य शक्ति के प्रति। इसी आस्था को क्षमता बोध-अस्तित्वबोध का नाम देकर नयी कहानी में समाविष्ट बताया गया है।[82] यही अस्तित्वबोध कभी-कभी जीवन में आत्यंतिक संत्रास (मृत्यु-बोध) के संदर्भ में भी उपजता है और तब इसे भी प्रकारांतर से अस्तित्ववाद ही कहा जाता है। नयी कहानी में इसके प्रभाव का उल्लेख आजकल किया जाता है। शिवप्रसाद सिंह की 'मुरदासराय' क्षमताबोध, अस्तित्ववाद आदि के प्रभाव की सर्वोत्कृष्ट कहानी है।

संपूर्ण नयी कहानी की 'एप्रोच' आधुनिकता से अनुप्राणित है। नयी कहानी आधुनिकता से जन्मी है न कि इसमें उसका समावेश मात्र है।[83] डॉ० शिवशंकर पाण्डेय ने आधुनिकता या समसामयिकता को परंपरावहेलना, प्रयोगधर्मिता, वैज्ञानिक दृष्टि, यांत्रिक सभ्यता, धर्मनिरपेक्षता, बौद्धिक जटिलता, व्यक्तिवादी जीवनपद्धति, मनोविश्लेषण, प्रकृतिवाद, युगीन संत्रास, अस्तित्ववादी विचारणा, नये नैतिक मान, निम्न-मध्यवर्गबोध आदि में देखा है।[84] कमलेश्वर के अनुसार नयी कहानी के उन्मेष में आधुनिकता दो रूपों में व्यक्त हुई है—(1) फैशन के रूप में—निरर्थक विजातीय संस्कारों से ग्रस्त और (2) सार्थक बोध के रूप में—समाज के नये संदर्भों की खोज में संलग्न,[85] जिसे उन्होंने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हल करने के दौरान विज्ञान चेतना, संकटबोध, मृत्यु-बोध, संत्रास और दृश्य-अदृश्य जगत् की धारणाओं के बीच होते परिवर्तनों से निर्मित समाज-व्यवस्था में आँका है।[86] असल में आधुनिकता के संदर्भ में नयी कहानी पर लिखने वालों तथा अन्य विद्वानों द्वारा भी इतने विचार व्यक्त किये गये हैं कि प्रायः हर कहानी में आधुनिकता का संस्पर्श देखा जा सकता है—'हर कहानीकार अपने संदर्भ में आधुनिक संवेदना को व्यक्त कर रहा है और उसकी राह से गुजरकर ही उसे पहचाना जा सकता है।'[87] अतः शिवप्रसाद सिंह की कहानियों की आधुनिकता

---

81. 'कर्मनाशा की हार'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—विकल्प, पृ० 6.
82. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृ० 64.
83. वही, पृ० 54.
84. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प—डॉ० शिवशंकर पाण्डेय, पृ० 65 और ठीक यही बात इसी शब्दावली में रघुवरदयाल वार्ष्णेय को पुस्तक—हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान में भी मिलती है जो डॉ० पाण्डेय की पुस्तक से तीन साल पहले की लिखी है।
85. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 68.
86. वही, (आधुनिकता और प्रामाणिकता के संदर्भ में कहानी)
87. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति में संकलित—डॉ० इन्द्रनाथ मदान के निबंध से, पृ० 187.

को पहचानने के लिए उनकी राह से गुजरना पड़ेगा। उनकी राह ग्रामीण जीवन से होकर निकलती है जो आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कहीं ज्यादा उर्वर और उपयुक्त क्षेत्र है।[88] अगर इन्हें काट देने से आधुनिकता आ सकती हो तो वे उसका स्वागत करेंगे पर....'आधुनिकता बिना जमीन के नहीं आती। हमारे गाँव का जीवन परंपरा और आधुनिकता की कशमकश से भरा हुआ है।'[89] आधुनिकता का भारतीय रूप इन्हीं (ग्रामीण जीवन के विविध चरित्रों के) वैविध्यपूर्ण जीवन विन्दुओं के भीतर से उनके संघर्ष द्वारा उन्मथित होकर उदित होगा।[90] और इनके कथालेखन में यह उदित हुआ है—भैरो पाण्डे मानवीय प्रेम संबंधी व अशरफ चाचा के धर्म-ईश्वर संबंधी विचारों में, नैना भाभी के पारिवारिक रिश्तों, हकों व ग्रामवासियों के साथ संबंधों में; सुशीला देवी (भग्न प्राचीर) की प्रतिक्रिया में। इनमें जहाँ भारतीय जीवन में आधुनिकता के स्वस्थ और गतिशील मूल्यों के गंभीर संकेत मिलते हैं वहीं 'हाथ का दाग', 'कहानियों की कहानी' और 'तो' आदि में आधुनिकता का विद्रूप भी देखने को मिलता है। आधुनिकता के बाह्य रूपों का उदय भी देखा जा सकता है—'खैरा पीपल कभी न डोले' के परिवेश की तब्दीली में 'तकावी', 'बड़ी लकीर' आदि की परियोजनाओं में, 'पापजीवी' के विकसते औद्योगीकरण में और बेल-भदूर के अंगूठे की जगह लक्खीलाल की परेता मशीन में। गाँव के रूटीन और साधनहीन जीवन के बीच आधुनिक विचारों का प्रवेश एकदम मंद है अतः बहुत-सी कहानियों में आधुनिकता की कसमसाहट तो है लेकिन वहाँ की स्थितियों के यथार्थ के कारण उभर नहीं पायी है, पर रोपनबारी (कलंकी अवतार), अवधू (एक यात्रा सतह के नीचे), शोभा बुआ (हत्या और आत्महत्या के बीच) के अंतर्द्वन्द्वों; हरू (खैरा पीपल कभी न डोले) की गतिविधियों (Attitudes); तिउरा (धारा), कबरी (इन्हें भी इंतजार है), बिन्दा महाराज की स्थितियों आदि में इसे समझा जा सकता है।

नयी कहानी के विषय, परिवेश, संकेत, प्रयोग तथा जीवन के समानांतर कहानी की गतिशीलता-नितनूतनता आदि के बहुआयामी संस्पर्शों के कारण इसमें इतनी विविधता आयी[91] कि यह भी इसकी एक प्रकृति बन गयी है। हर कहानीकार के कहानी साहित्य में भी यह विविधता देखी जा सकती है। डॉ० सिंह की कहानियों का सर्वेक्षण करते हुए अर्थ-श्रम और सेक्स के शोषण, रूढ़ियों-अंधविश्वासों के विरोध, नारी स्थिति के विभिन्न रूप, मानवीय भावनाओं-रिश्तों के बीच मनुष्य के अस्तित्व का मूल्यांकन और उपेक्षित कबीलों-जनजातियों की सामाजिक स्थितियों तक के विविध परिदृश्य 'बायस्कोप' की रीलों की तरह स्मृति-पटल पर घूम जाते हैं, जो नयी कहानी

---

88. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 126.
89. सारिका—संपादक—कन्हैयालाल नंदन, अंक 292, पृ० 27.
90. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 128.
91. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 81.

में लेखक के सार्थक योगदान का प्रमाण है।

सांकेतिकता नयी कहानी में (वैचारिक) दृष्टि के अर्थ में ली गयी है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान और मोहन राकेश के मतों का उल्लेख करते हुए इसका विवेचन 'नयी पुरानी कहानी के अंतर' शीर्षक के अंतर्गत पर्याप्त रूप में किया गया है। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में सांकेतिकता रूपाश्रयी रुझानों के तहत प्रकट होती है। अक्सर यह कहानियों के अंत तक आते-आते किसी प्रतीक के माध्यम से खुलती है—'केवड़े का फूल', 'महुए का फूल', 'अँधेरा हँसता है', 'किसकी पाँखें', 'चेन', 'कर्मनाशा की हार' आदि इसके मुख्य उदाहरण हैं। यही 'पोशाक की आत्मा', 'भग्न प्राचीर', 'भेड़िए', 'उपहार', 'अंधकूप' आदि में 'व्यंग्य-विद्रोह' बनकर उभरती है और 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'नन्हों', 'सुबह के बादल', 'खेल', 'धारा', 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'जंजीर, फायरब्रिगेड और इंसान' आदि की संपूर्ण अन्विति में व्याप्त होकर पौ फटते उजास की तरह प्रस्फुटित होती है।

उक्त प्रवृत्तियों के अलावा अनुभव की प्रामाणिकता, लेखकीय प्रतिबद्धता और बौद्धिक संचेतना भी नयी कहानी की प्रकृति के महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जिसका सीधा संबंध लेखक के विश्वास, उसकी आंतरिक प्रवृत्ति और मानसिक चेतना से है। डॉ० शिव-प्रसाद सिंह की प्रतिबद्धता अपने चौतरफे जीवन के विविध रूपों के प्रति—'नये कहानीकार की प्रतिबद्धता का अर्थ (इसीलिए) जीवन से प्रतिबद्धता का है'—और बौद्धिकता, यथार्थ व विश्वसनीयता के समांतर चित्रण में संयम के प्रति। शिवप्रसाद सिंह के व्यक्तिगत जीवन और विषय के प्रति संसक्ति (आसक्ति नहीं) के संबंध को देखकर आसानी से जाना जा सकता है कि उनका लेखन अपने जिए हुए जीवन से होकर पुनः गुजरना है, अतः अनुभव की प्रामाणिकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

शिल्प के नये आयाम नयी कहानी की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति ही नहीं, उसकी प्रकृति की नियामक भी है। नयी कहानी को अपनी तात्कालिक परंपरा से कथ्य की तरह शिल्प में भी शून्य ही मिला क्योंकि दार्शनिक, अमूर्त्त व व्यक्ति-वादी भावभूमियों के अनुरूप उसका शिल्प भी अन्तर्मुखी, सपाट, सीमित और जड़ हो चुका था। अतः नयी कहानी की बहुविधि प्रयोगधर्मा, सामाजिक भूमि को खोदने में वह अक्षम हो चुकी थी। इसीलिए नयी कहानी को अपने माध्यम की तलाश खुद करनी पड़ी—'क्या कहा जा रहा है' उसी ने यह तय किया कि कैसे कहा जाये।[92] उससे नयी कहानी का पूरा कलेवर ही बदल गया। वह अभिनव व्यक्तित्व धारण करके गति को आकार देने लगी।

भाषा—हर क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तित जिन्दगी को भाषा देना जोखिम का काम था। इस खतरे को उठाते हुए नये कहानीकारों ने भाषा की जो जमीन तैयार की, वह किताबी भाषा नहीं रह गयी, मनुष्य की हर वृत्ति, हर संवेदन के

92. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 177.

साथ प्रस्फुटित हुई ।'[93] शिवप्रसाद सिंह ने गाँवों की जिन्दगी में से मृतप्राय भाषा के जीवित कण उठा लिए और पूर्ण रचाव-कसाव के साथ नये जीवन-संदर्भों में उनका सर्जनात्मक उपयोग किया । लोकप्रचलित शब्दों मुहावरों को नया अर्थ मिला । इन सबसे उनकी भाषा पात्र-स्थिति—कथ्यानुरूप परिवर्तित विविध रूपों में सहजबोधगम्य बन गयी । कुछ खास मौकों पर तो 'डॉट्स'....के प्रयोग से डॉ० सिंह की भाषा सूक्ष्म, अकथनीय को भी वाणी देने में समर्थ हो सकी है, जो नयी कहानी की अपनी विशेषता है और जो बहुत पहले नहीं थी । यह सब कुछ इस कालावधि की भाषा ली शक्ति-सामर्थ्य के परिचायक है ।

शैली—नयी कहानी ने जिस शैली को जन्म दिया वह कथ्यसापेक्ष विलीन शैली है ।[94] इसीलिए इस दौर में जितनी कहानियाँ हैं उतने तेवर भी देखे जा सकते हैं । अकेले डॉ० शिवप्रसाद सिंह में—

यह कथ्य के अनुरूप अनेक बाने धारण कर प्रकट हुई । बिम्ब, प्रतीक, उपमान, प्रकृति चित्रण आदि से भावों का स्पष्टीकरण और कथ्य की सांकेतिकता को मदद मिलने लगी । फ्लैशबैक, चेतना प्रवाह, दोहरे कथा-शिल्प से विषय की साफगोई और संप्रेषणीयता का सहज संतरण होने लगा । लोक प्रचलित कथाओं-उक्तियों, रीति-रिवाजों-पर्व-त्योहार-आयोजन, के चित्रण, गीत पंक्तियों, समसामयिक चर्चाओं से कहानियों में विश्वसनीयता और प्रभावोत्पादकता बहुत बढ़ने लगी ।

इन तमाम प्रयोगों से कहानी की आत्मा एकदम अभिनव संस्कार ग्रहण करके नयी हो उठी ।

इस प्रकार नयी कहानी की संपूर्ण प्रकृति के अंतर्गत उक्त कहानियों के उल्लेख से इनमें शिवप्रसाद सिंह का योगदान स्पष्ट है । ग्रामजीवन पर लिख कर भी ये किसी भी तरह नयी कहानी से दूर नहीं हैं बल्कि भारतीय जीवन के अधिकांश को समेटने के कारण इसके तथाकथित पुरोधाओं से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण श्रेय के हकदार हैं । फणीश्वरनाथ रेणु, मारकण्डेय के साथ इन्हें अलग खाते में डालना नयी कहानी की ही नहीं, संपूर्ण साहित्य की प्रवृत्तियों के लिए भी असंगत होगा । इस वर्ग को अलग करने का अर्थ होगा—नयी कहानी का ग्रामजीवन से विच्छिन्न हो जाना जो नयी कहानी भी बर्दाश्त नहीं कर पायेगी ।

इस तरह का विभाजन करके जो मूल्यांकन हो गये हैं, वे साहित्य में अस्वस्थ प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं । अतः उनका मार्जन करके उस दौर की कहानी के सही मूल्यांकन की आवश्यकता है, तभी इन तमाम लेखकों के साथ न्याय हो सकेगा ।

(2) समीक्षक के रूप में

लगभग सभी नये कहानीकारों की नयी कहानी पर लिखी समीक्षाओं, समीक्षा-

---

93. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 177.
94. वही, पृ० 165.

पुस्तकों को देखकर रीतिकाल लक्षण-ग्रंथों की याद आये बिना नहीं रहती। किसी न किसी रूप में सभी नये कहानीकारों को समकालीन आलोचना से असंतोष रहा है कि नयी कहानी का सही मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है जिसके बहाने उन सब लोगों ने आलोचना को ढाल के रूप में अपनाया जिसकी ओट में अपने कौशल को छिपाया जा सके अन्यथा आलोचनाओं को लेकर वे इतने 'कांशस' (concious) सजग क्यों रहते ? दूसरी तरह से इनकी आलोचनाएँ अपने आप में कथा-लेखन की अक्षमता का प्रमाण भी बन जाती हैं वरना ये बातें फन की शक्ल में भी तो कही जा सकती थीं। बहरहाल, जो भी हो, लिखी हैं सभी ने आलोचनाएँ, जिनमें कमलेश्वर की 'नयी कहानी की भूमिका' और राजेन्द्र यादव की 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' पुस्तक के रूप में हमारे सामने हैं और बाकी लोगों के पत्र-पत्रिकाओं में छपे या पुस्तकों में संकलित लेख मिलते हैं। शिवप्रसाद सिंह की पुस्तक 'आधुनिक परिवेश और नवलेखन' ऐसे ही विभिन्न विषयों पर लिखे गये समीक्षात्मक लेखों का संकलन है।

समीक्षक के रूप में शिवप्रसाद सिंह का लेखन तो प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है, पर चूँकि यहाँ बात सिर्फ नयी कहानी की समीक्षा तक ही सीमित रखनी है, इसलिए हम उक्त पुस्तक में संकलित उन लेखों को ही आधार मानकर चलेंगे, जो शुद्ध रूप से नयी कहानी से संबद्ध हैं। इस पुस्तक में नयी कहानी से सम्बन्धित कुल आठ लेख हैं, बाकी कविता या अन्य समसामयिक विषयों पर। नवलेखन पर दो बहुत अच्छे लेख हैं पर उनमें नयी कहानी की चर्चा बरायनाम ही है। इसके अलावा उन आठों लेखों में से भी तीन लेख कहानी-संग्रहों और कहानीकारों पर आधारित हैं जिनमें नयी कहानी की प्रवृत्तियों-उपलब्धियों के मूल्यांकन सम्बन्धी कोई चर्चा नहीं मिलती, अतः इन्हें भी बाद करके शेष पाँच को आधार मानकर यदि हम नयी कहानी में शिवप्रसाद सिंह के योगदान को रेखांकित करें तो मुख्य रूप से उसे इन चार रूपों में अलग-अलग विभाजित करके देख सकते हैं—

(1) विवादास्पद मुद्दों का निराकरण

शिवप्रसाद सिंह के नयी कहानी सम्बन्धी इन समीक्षात्मक लेखों को पढ़ने से लगता है कि नयी कहानी-समीक्षा में आये भटकावों और विवादों के स्पष्टीकरण की गरज से ही ये लेख लिखे गये हैं और यही बात लगभग बहुतेरी आलोचनाओं के लिए भी लागू हो सकती है। कुछ प्रमुख मुद्दे ये हैं—

(अ) आंचलिकता व ग्रामकथा बनाम नगरकथा

ग्राम कथाकार होने से डॉ० सिंह इस विवाद से सीधे सम्बद्ध थे, अतः इस बाबत कुछ न कुछ कहना इनके लिए तो लाजमी और अपरिहार्य था ही, पाठकों के लिए भी अपेक्षित था। और कहना नहीं होगा कि इनकी कहानी-समीक्षा के पचहत्तर प्रतिशत अंश इसी विवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप स्पष्टीकरण के लिए ही लिखे गये हैं। आगे इस पर एक अलग से ही अध्याय में हम चर्चा करने वाले हैं अतः प्रसंगानुकूल

यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि डॉ० सिंह ने इस विवाद का स्वस्थ व प्रामाणिक विवेचन करते हुए ये निष्पत्तियाँ दी हैं—

(1) ग्रामकथा व नगरकथा का विभाजन गलत है। दोनों ही जीवन में व्याप्त संघर्ष कहानीकार के लिए चुनौतीपूर्ण है, हाँ, गाँवों में संभावनाएँ ज्यादा हैं। उनमें से किसी को भी स्वीकारना लेखक के लिए हेठी की नहीं गौरव की बात है। पर यह स्वीकार सतही नहीं होना चाहिए।

(2) आंचलिकता नयी कहानी की एक प्रवृत्ति है। यह भारतीय संदर्भों में आन्दोलन हो ही नहीं सकती।[95]

(3) हर आंचलिक कहानी ग्रामकथा होती है, पर सभी ग्राम-कहानियाँ आंचलिक नहीं होतीं अर्थात् आंचलिकता ग्रामकथा की एक विशिष्ट प्रस्तुति है।

(ब) 'नयी कहानी' नाम का विवाद

'नयी कहानी' नाम हिन्दी की आधुनिक कहानी के लिए कुछ वर्षों से दिया जाने लगा है। पर अपने अत्यल्प जीवनकाल में ही यह नाम एक बहुत बड़े विवाद को जन्म दे चुका है।....अभी तक तो पुराने ढंग के आलोचक और पुराने खेवे के साहित्य-कार ही इस 'नयी' विशेषण से चौंकते रहे हैं, अब कुछ नये कवि और नये कथाकार भी इसका विरोध करने लगे हैं।[96] इस सन्दर्भ में लेखक ने सभी आरोपों प्रत्यारोपों का उल्लेख किया है[97]—उन्हें एकांगी जानते हुए भी। इसके बाद नयी कहानी की ग्राम-नगर दोनों जीवन पर आधारित कहानियों की देनों का वर्णन करते हुए उसके शिल्प तत्वों के विविध प्रयोगों का उल्लेख किया है।[98] फिर नये कवियों द्वारा उठाये गये सवालों का उत्तर देते हुए कविता-कहानी की प्राकृतिक भिन्नता तथा सर्वमान्य-सार्वभौम प्रवृत्तियों से कला के सभी क्षेत्र-विधाओं के समान रूप से प्रभावित होने व कलाओं को खानों में बाँटकर न देखने की बात कही है। इन सबके बावजूद इस तरह के व्यवहार (आरोप) करने वालों के बारे में लेखक का मत है कि वे कहानी-'कल्चर' से वंचित लोग हैं जिनकी कहानी पाठ-प्रक्रिया के अधूरे ज्ञान या अज्ञान से ही इन भटकावों को बल मिलता है।[99]

---

95. आंचलिकता और आधुनिक परिवेश—लेख के आधार पर।
96. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 160.
97. वही, पृ० 161.
98. वही, पृ० 163-64.
    (अ) ग्रामकथा आज की हिन्दी कहानी की सशक्त प्रवृत्ति है, इसकी देन को नकारा नहीं जा सकता। (ब) कस्बे और शहर के लोगों पर लिखी ये कहानियाँ मानवीय संवेदनाओं की रंगत में डूबी हुई हैं। (ब) मैं तो यह कहना चाहूँगा कि उसके नयेपन का बहुत बड़ा आधार इसी शिल्प-प्रयोग में निहित है।
99. वही, पृ० 164-165.

इन सब तथ्यों के उल्लेख से बातों को स्पष्ट करते हुए लेखक ने इस विवाद की निष्पत्ति यों दी है—कि इन आधारों पर कहानी को 'नयी' न मानना....निश्चय ही दृष्टिदोष है।[100]

(स) व्यक्तिगत आक्षेपों के विवाद

खेमों और गुटों के आरोप-प्रत्यारोप के अलावा नयी कहानी-आलोचना में कुछ व्यक्तिगत रागद्वेषपूर्ण आक्षेप भी देखने को मिलते हैं। जहाँ गुटपरस्ती से अलग रहते हुए डॉ० सिंह ने उस मोर्चे पर स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया वहीं इस स्तर पर प्रायः अपेक्षित हिस्सा भी लिया है। अपवादस्वरूप मात्र राजेन्द्र यादव के 'गुजरते साये' और अमृतराय के 'नास्टैलिनिया' से ग्रस्त होने वाली बात की बाबत ये तटस्थ रह सके हैं और प्रारंभिक ग्राम कहानियों में दादा-दादियों से हटकर 'मैं' की स्थिति के अंकन की महत्ता को रेखांकित किया है[101] अन्यथा राजेन्द्र यादव के दोहरी कहानी शिल्प संबंधी आरोप[102] का मुँहतोड़ जवाब दिया है। 'दादावादी' वाले आक्षेप पर मोहन राकेश की 'मिस पाल' व राजेन्द्र यादव की 'एक कमजोर लड़की की कहानी' संबंधी बयानों में स्पष्टतः व्यक्तिगत आक्षेप के स्वर हैं।[103] 'कथा समारोह' वाले लेख में कमलेश्वर व लक्ष्मीनारायण लाल पर भी इनकी तिर्यक् दृष्टि देखी जा सकती है।[104] इन सबमें जरूर ही कोई न कोई बात होगी, किसी ने पहल की होगी और यह श्रृंखला चल पड़ी होगी—शायद ग्राम-नगरवाली किताब के ही ये सब परिशिष्ट हों, पर ये सब हुए। इनके क्या परिणाम और असर होते हैं पाठकों पर, इस संबंध में क्या कहा जा सकता है पर साहित्यकारों में यह परम्परा चिरकाल से चली आ रही है—कालिदास भी 'मेघदूत' में दिगनांग नामक किसी कवि के प्रति हिकारत भरा वाक्य लिखते हैं, पंत-निराला का विवाद विख्यात है ही। फिर नये कहानीकारों ने यदि इसे प्रगति-पथ पर आगे बढ़ाया—कमलेश्वर इसके अगुआ रहे—जैनेन्द्र कुमार, नामवर और शिवदान सिंह चौहान आदि के साथ और डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इसमें थोड़ा सक्रिय हिस्सा लिया तो क्या हर्ज है ? इस तरह तत्कालीन कहानीकार-आलोचना में भी इनका योगदान स्पष्ट है।

(2) जातीयता : पहचान का एक आधार

नयी कहानी की आलोचना के क्षेत्र में डॉ० शिवप्रसाद सिंह का सबसे महत्त्व-पूर्ण व सर्जनात्मक प्रदेय यह है कि उन्होंने 'जातीयता' के रूप में कहानी की पहचान का एक आधार प्रस्तुत किया। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—'जातीय

100. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 164.
101. वही, पृ० 151-206.
102. वही, पृ० 154.
103. वही, पृ० 149.
104. वही, पृ० 168-69.

साहित्य का अर्थ है किसी देश का वह साहित्य जो असली अर्थों में वहाँ का साहित्य कहा जा सके। जिसमें उस देश की जनता के दुःख, संघर्ष, इच्छाओं-आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयत्न किया गया हो....।'[105] इस संदर्भ में संकोच प्रकट करते हुए उन्होंने शहरी जीवन पर लिखे गये कथा साहित्य के एक हिस्से को जातीय साहित्य से अलहदा बताया और नारी-समस्या का उदाहरण लेकर 'एक कमजोर लड़की की कहानी'—राजेन्द्र यादव व अनिता चटर्जी की कहानी का उदाहरण देते हुए अपनी मान्यता की अत्यंत सुन्दर ढंग से पुष्टि की है। साथ ही नगर-कस्बे पर लिखी ऐसी कहानियों का भी उदाहरण दिया जो साहित्य की निधियाँ कही जा सकती हैं। ग्राम-कथाओं में भी इसी तरह दोनों तरह के उदाहरणों से लेखक ने कलाकार की समर्थता को वरेण्य माना है जो अपने पात्र की बेबसी और त्रुटियों के बीच भी उसे पाठकों की सहानुभूति दिला पाती है।[106]

पर दुर्भाग्य, कि इस स्वस्थ मूल्यांकन दृष्टि को भी आरोपों का शिकार होना पड़ा। इस जातीय शब्द को बड़े गलत अर्थ में लिया गया जिसके लिए लेखक को पुनः अपने बाद के निबंध 'नयी कहानी : रचना और विरचना' में इस बात का स्पष्टीकरण देना पड़ा। आलोचकों के जंगली रास्तों से हटकर देखने पर 'जातीयता' का यह आधार और इसमें निहित दृष्टि पाठक को नयी कहानी के पाठ और मूल्यांकन की एक सही समझ देती है।

(3) नयी कहानी की विशिष्टताओं के संकेत

अपनी समीक्षाओं में जिन सारी विशिष्टताओं के उल्लेख से डॉ० सिंह ने नयी कहानी के स्पष्टीकरण में योगदान किया है उनमें मुख्य हैं—

रचना प्रक्रिया के प्रति सचेत होकर नये कहानीकारों द्वारा तत्कालीन स्थितियों के अंकन से—

(1) कहानी के बँधे-बँधाये साँचे टूटे।

(2) निजता, व्यक्तिगत इंद्रियबोध को महत्त्व मिला—जीवन को गहराई से देखा गया।

(3) भाषा निरंतर जिन्दगी के करीब होती गयी।[107]

(4) सामाजिक बिखराव को वाणी मिली—'सन् 55-56 तक की कहानियों में निहित आस्था की हरारत धीरे-धीरे उतरने लगी।'[108]

(5) ऐतिहासिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की खोज हुई।[109]

---

105. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 146.
106. वही, पृ० 149.
107. वही, पृ० 210.
108. वही, पृ० 212.
109. वही, पृ० 205-6.

(6) कहानीकारों में चरित्रों के प्रति संसक्त तटस्थता के भाव से निजी अनुभूतियों का साक्ष्य उपस्थित हुआ ।[110]

(7) नयी कहानी में कथन नहीं, पुनरुज्जीवन होने लगा ।[111]

(8) नई कहानी में प्रेमचंद की मनोवैज्ञानिक यथार्थ-चित्रण की परंपरा को बढ़ावा मिला है ।[112]

(9) नयी कहानी में प्रकृति, रूमानियत और लोकतत्त्वों का सफल प्रयोग भी हुआ है ।[113]

इनके अलावा छिटफुट अन्य तमाम विशिष्टताओं के संकेत भरे पड़े हैं जिनसे नयी कहानी की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हुई हैं ।

(4) नयी कहानी की सीमाओं के संकेत

खुद नयी कहानी के एक सशक्त हस्ताक्षर होते हुए भी शिवप्रसाद जी ने नयी कहानी की सीमाओं के भी खुले संकेत दिये हैं—'यद्यपि आज हिन्दी कहानी जीवन के कहीं ज्यादा निकट है, पर अब भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ प्रबल दिखाई पड़ती हैं जो नाना प्रकार की कलाबाजियों की आड़ में हमारी जिन्दगी की गलत तस्वीर प्रस्तुत करने का काम भी कर रही हैं—'[114]

(1) कहीं-कहीं लेखक पात्रों के साथ तटस्थता के संबंध की रक्षा नहीं कर पाये हैं ।[115]

(2) आधुनिकता को कुछ लेखकों ने फार्मूला के आधार पर उपस्थित करने का प्रयत्न किया है ।[116]

(3) कहीं-कहीं लेखक सेक्स की विकृतियों में डूबने लगा है ।[117]

(4) कुछ शहरी कहानियाँ तमाम बारीकियों के बावजूद कथ्य में भोंडी, अभारतीय, सेक्सी तथा खल्वाट होती रहीं ।[118]

ग्रामीण कहानियों में

(5) गाँव के सभी भले-बुरे पक्ष उभर कर नहीं आये हैं ।[119]

---

110. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 207.
111. वही, पृ० 208.
112. वही, पृ० 137-387.
113. वही, पृ० 139-40.
114. वही, पृ० 145.
115. वही, पृ० 163.
116. वही, पृ० 163.
117. वही, पृ० 163.
118. वही, पृ० 150.
119. वही, पृ० 153.

(6) जीवन की गहराई पूरे आयाम के साथ चित्रित नहीं हो पायी है।[120]

(7) कुछ लेखक ग्रामीण जीवन के ऊपरी रूप पर ही उलझकर रह गये हैं—वे अनावश्यक, आउट ऑफ डेट थीम पर लिख रहे हैं।[121]

(8) कुछ ग्राम कथाकार फैशन और प्रचार के मोह से ग्रस्त होकर 'फोक आर्ट' के नमूने, भदेस शब्दों के इस्तेमाल, बोलियों के अनमेल प्रयोग तथा ऊपर के जीवन की बातें करते रहे हैं।[122]

(9) कुछ लोग अजीबोगरीब प्रभाव डालने के लिए अंध-विश्वासों की शरण लेकर आज के जीवन में न पाये जाने वाले चरित्रों को प्रकट करते रहे।[123]

(10) कुछ ग्राम कहानियों में जीवन को राजनैतिक चश्मे से देखा गया है।[124]

(11) ग्राम जीवन की कहानियों में 'ब्रह्मशक्ति जगाने वाले तांत्रिकों' व 'शवसाधना' करने वाले बाबाओं का प्रवेश लेखकों की सामाजिक चेतनाहीनता व अजागरूकता का परिचायक है।[125]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी आलोचनाओं में डॉ० सिंह ने जिन विवादास्पद मुद्दों को उठाया, उन्हें सही परिणति तक ले गये। जितने आक्रोश से वे नगरकथा की कमियों पर प्रहार करते हैं, उससे कहीं ज्यादा वे ग्राम कथा की खामियों को भी उधेड़ते हैं—यहाँ तक कि अपनी कहानियों के दोषों को भी उद्धृत करते हैं।[126] डॉ० शिवप्रसाद सिंह का यह एक अभिनव रुख है कि ग्राम कथाकार होने के बावजूद वे उस गुटबंदी से अलग रहकर निष्पक्ष और तटस्थ मूल्यांकन करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति तो उस दौर में लिखने वाले किसी और में दिखायी नहीं पड़ती। अकेले शिवप्रसाद सिंह ने उन तमाम विचारों को यदि इस खूबी और धैर्य से न निपटाया होता तो शायद नयी कहानी पर से उस धुंधलके को छँटने में जाने कितना समय लगता जो गुटपरस्ती के आगोश में छा गया था।

● ●

120. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० 153.
121. वही, पृ० 153.
122. वही, पृ० 163.
123. वही, पृ० 151.
124. वही।
125. वही।
126. वही, पृ० 151.

अध्याय—दो

कहानियों का परिवेश

(अ) आंचलिकता और शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के साथ यह 'ट्रेजेडी' है कि इनके लेखन में जो है वह तो अदेखा-अनुल्लिखित रह गया और जो नहीं है या अवांतर रूप में से एक अंशमात्र है उसे 'स्टंट' बनाकर प्रचारित किया गया। आंचलिकता का प्रश्न भी इनके संदर्भ में और कुछ नहीं, बस यही है। नयी कहानी की समस्त भावधारा के समर्थ लेखक के रूप में ग्राम जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति इनकी कहानियों में स्पष्ट है पर विडंबना यह कि नये कहानीकारों में उल्लेख तो दूर की बात, उनकी ग्राम कहानियों पर आंचलिकता की मुहर मारकर तथाकथित 'पोश' लोगों में उन्हें 'अछूते' करार दे दिया गया। दरअसल, शुरू में तो लोग संपूर्ण ग्राम कहानी के साथ ऐसे ही पेश आये लेकिन जल्दी ही असलियत समझ में आ गयी याने ग्रामकथा का कुछ नहीं बिगड़ा और तब विवाद खत्म करते हुए दोनों की एकता की घोषणा कर दी गयी,[1] पर साथ ही यह भ्रम फैला दिया गया कि आंचलिक कथा और ग्राम कथा एक ही है।[2] इस तरह चोरी तो छूटी पर आंचलिकता की तुम्बी फेरकर अपने आहत 'अहम्' को सहलाया जाने लगा—दुनाली के निशाने का नाम बदल दिया गया।

ऐसा नहीं है कि 'आंचलिकता' कोई अजूबा तत्त्व ईजाद किया गया। वह तो अपने स्वरूप में चिरकाल से साहित्य में मौजूद था पर खतरनाक वे स्थितियाँ रहीं जिनके चलते सन् 1957-58 के आसपास इसे हथियार के रूप में अपनाया गया।[3] ऊपर से ग्राम-नगर की कहानियों की एकता का पुल बन गया पर नीचे से इसी आंचलिकता के नाम पर उस अलगाव की नदी बहती रही, दुलत्तियाँ झाड़ी जाती रहीं और एक प्रकार की साजिश का माहौल बना रहा जिसके सबसे बड़े शिकार शिवप्रसाद सिंह

---

1. (अ) एक दुनिया समानांतर—राजेन्द्र यादव—'शहर और गाँव की कहानियों में बाँटकर एक गलत किस्म का आंदोलन खड़ा कर दिया गया', पृ० 41.
   (ब) नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—'यह अच्छा ही हुआ कि गाँव, कस्बा और शहर की कहानियों का विभाजन मिट गया।' पृ० 24 और पृ० 25-26 पर भी उल्लेख।
2. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ० विवेकी राय, पृ० 442-43.
3. वही, पृ० 442.

हुए। बड़े मजे की बात है कि जिस फणीश्वरनाथ रेणु ने स्वतः ही अपने उपन्यास को सहर्ष आंचलिक की संज्ञा दी थी, उन्हें भी तब आंचलिकता की ये परिभाषाएँ नहीं मालूम थीं—'आंचलिक उपन्यास का लेबल चिपकाते समय मुझे इसकी इतनी बड़ी परिभाषा नहीं मालूम थी। बाद में आलोचनाओं को पढ़कर मैंने परिभाषाएँ सीखीं।'[4] जाहिर है कि आलोचनाओं ने इसे इरादतन तत्कालीन स्थितियों के मुताबिक विश्लेषित किया होगा। इसकी चर्चा के लिए पहले हिन्दी साहित्य में आंचलिकता के विकास और उसकी अवधारणा को देखना पड़ेगा और फिर हम इस संदर्भ में शिवप्रसाद सिंह की कहानियों को परखेंगे जिस प्रकार नयी कहानी के संदर्भ में परखा जा चुका है। अंतर सिर्फ इतना है कि वहाँ भाव का अभाव मान लेने की वजह से बात करनी पड़ी थी और यहाँ अभाव होते हुए भी भाव उपस्थित कर दिया गया है। अस्तु—

कथा-साहित्य में आंचलिकता का उन्मेष : विकास और प्रेरक संदर्भ

ऊपर कहा जा चुका है कि आंचलिकता हिन्दी कथा साहित्य में दीर्घ काल से वर्तमान है। वह चर्चा का विषय इसलिए नहीं बन पायी कि रचनाएँ छिटफुट आती रहीं। डॉ० बदरीदास ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास पृष्ठभूमि और परंपरा' में आंचलिक कृतियों की एक सूची दी है जिसमें 1893 में लिखित भुवनेश्वर मिश्र की 'घराऊघटना' से लेकर 1914 में लिखी मन्नन द्विवेदी की रचना 'रामलाल' तक सात पुस्तकों का उल्लेख है।[5] इसके अलावा प्रतापनारायण टंडन आंचलिकता के उन्मेष को 1926 (शिवपूजन सहाय की पुस्तक देहाती दुनिया) से मानते हैं[6] और डॉ० सत्यपाल चुघ निराला जी की रचना 'बिल्लेसुर बकरिहा' से। इन सबको एक श्रृंखला में रखकर देखा जाये तो जाहिर होता है कि आंचलिकता का विकास कथा साहित्य के विकास के समानांतर ही प्रच्छन्न रूप में चलता रहा। उसकी कोई परंपरा या धारा नहीं बन सकी थी या यूँ कहिए कि लेखक या कोई एक लेखक भी सिर्फ इसी विषय पर अपना संपूर्ण ध्यान केन्द्रित नहीं कर रहा था। शायद तत्कालीन स्थितियों में इसकी कोई माँग ही नहीं उभर रही थी।

सन् 1952-53 में 'आंचलिकता' शब्द कथा साहित्य की एक समसामयिक धारा के लिए प्रयुक्त होने लगा पर इसे ठोस आधार मिला 'मैला आंचल' के प्रकाशन (1957) के साथ[7] जब फणीश्वरनाथ रेणु ने भूमिका में इसके आंचलिक होने की घोषणा की। समसामयिक धारा के रूप में आंचलिकता के उन्मेष को लेकर अनेक

---

4. सारिका—अक्टूबर, 1961—आंचलिकता पर एक बातचीत।
5. हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परंपरा—डा० बदरीदास, पृ० 368-373.
6. हिन्दी उपन्यास कथा—डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० 290.
7. 'कल्पना' मार्च, 1965 में प्रकाशित डॉ० शिवप्रसाद सिंह का लेख, पृ० 28.

परिवेश सम्बन्धी और प्रासंगिक कारण बतलाये गये। नेमिचन्द्र जैन ने इस उन्मेष को अनिवार्यता माना और शहरी जीवन की घुटन-कुण्ठा से उकताने पर नये साहित्यकारों द्वारा गाँवों के अपेक्षाकृत सहज और अकृत्रिम जीवन के प्रति झुकाव को इसका कारण बताया।[8] चूंकि भारत के अलावा अमरीका व योरप आदि में आंचलिकता का प्रवाह अत्यन्त वेग के साथ प्रस्फुटित हो चुका था, अतः इस संदर्भ में उसके प्रभाव का उल्लेख तो अक्सर किया गया पर डॉ० सुभाषिनी शर्मा ने इसके उदय को स्पष्टतः आंदोलन द्वारा विश्व साहित्य से संबद्ध मान लिया।[9]

ध्यातव्य है कि उक्त दोनों ही बातें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के कथन में समाविष्ट हैं पर उन्होंने उदाहरण के तौर पर इनका उल्लेख किया है, उनका मन्तव्य ऐसा बिल्कुल नहीं था। उन्होंने तो हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यासों की अगली कड़ी कहा है।[10]

विश्वसाहित्य से संबद्धता का खंडन नागरी प्रचारणी सभा के इतिहास में स्पष्ट रूप से यह कहकर किया गया कि यदि हार्डी मार्कट्वेन आदि के प्रभाव से ही आंचलिकता आनी थी तो पहले क्यों नहीं आयी। यह देश की मिट्टी फोड़कर उपजी है।[11]

डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इस सन्दर्भ में एक सम्पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया जो देश-विदेश दोनों की स्थितियों के प्रामाणिक विवेचन पर आधारित है।[12] उनके अनुसार अमरीका और योरप में आंचलिकता का उदय एक तरफ सार्वभौम सभ्यता और संस्कृति के अन्वेषण के उद्देश्य से हुआ और दूसरी तरफ नागरिक जीवन, मशीनी सभ्यता की एकरसता के विरोध में। उन्होंने हिन्दी में आंचलिकता का उद्देश्य लाना कठिन बताया क्योंकि यहाँ आंचलिकता एक स्थिति बनकर रह गयी। इसके कारण इस प्रकार हैं—

---

8. विवेक के रंग—सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 207.
9. स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उन्यास—डॉ० सुभाषिनी शर्मा, पृष्ठ 10.
10. सारिका—अक्टूबर 1961—आंचलिकता पर एक बातचीत से—यूरोपीय कथाकार जब यूरोप के नागरिक जीवन का चित्रण करते-करते थक गये तब एशिया और अफ्रीका की जातियों को लेकर उपन्यास लिखने लगे जो आंचलिक कहलाए। ....हिन्दी के आंचलिक उपन्यास यथार्थवादी उपन्यासों की अगली कड़ी है।—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।
11. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (चतुर्दश भाग)—काशी ना० प्र० सभा, पृष्ठ 274-75.
12. कल्पना—1965, (मार्च) में छपे शिवप्रसाद सिंह के निबन्ध—'आंचलिकता और आधुनिक परिवेश', पृष्ठ 30-31.

(1) यहाँ के ऋतु-उत्सव-त्योहार, तीर्थयात्राएँ, जीवन-मरण आदि से सम्बन्धित प्रथाएँ प्रायः एक जैसी ही सर्वत्र विद्यमान हैं जिससे शुद्ध रूप से आंचलिकता को प्रश्रय यहाँ नहीं मिल सकता।

(2) अमरीका की तरह यहाँ प्रत्येक क्षेत्र की भिन्न राजनीति, भिन्न राजनीतिक पार्टियाँ और समस्याएँ नहीं थीं जिनके कारण राजनीतिक रूप से भी भारत में आंचलिकता को सही जमीन नहीं मिल पायी।

(3) चूंकि औद्योगीकरण का वीभत्स रूप यहाँ अब भी नहीं आ पाया है (1965 का लेख है), अतः प्रतिक्रियात्मक रूप हिन्दी में नहीं।

इस प्रकार विश्वसाहित्य से प्रभावित होने या शहरी जीवन की प्रतिक्रिया वाले तर्क पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं।

हिन्दी में आंचलिकता का उन्मेष ऐतिहासिक आवश्यकता से प्रेरित था[13] जिसका सर्वाधिक सशक्त पक्ष स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की स्थितियों[14] में भारतीय निजता की खोज की मानसिकता[15] से सम्बद्ध है। आचार्य वाजपेयी की तरह डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने भी इसे यथार्थबोध की चेतना से निःसृत माना[16] जिसका सम्बन्ध सामाजिक स्थितियों के साथ ही अपने पूर्वकालीन कथा-साहित्य की प्रतिक्रिया

---

13. 'आंचलिकता की ओर कथाकारों का यह प्रत्यावर्तन ऐतिहासिक आवश्यकता से प्रेरित था।' आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना—डॉ० लक्ष्मण दत्त गौतम, पृष्ठ 378.

14. (अ) 'स्वतन्त्रता मिली तो इन्हें स्वस्थ नागरिकता की भूख जागी। अपने कण-कण को महत् बनाकर उजागर करने का प्रयास शुरू हुआ। हमारी आंचलिकता के मूल में भी वे ही बातें हैं'—ज्ञानोदय—समकालीन कथा विशेषांक—सन् 1964, पृष्ठ 196—मधुकर गंगाधर के लेख से उद्धृत।

(ब) स्वतन्त्रता के बाद लोगों का ध्यान गाँवों की तरफ गया—सारिका—अक्टूबर 1961 में राजेन्द्र अवस्थी का वक्तव्य, पृष्ठ 3.

(स) आंचलिकता का उद्‌भव स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त घोषित गणतंत्रात्मक आस्था से सम्बद्ध है—लक्ष्मणदत्त गौतम, पृष्ठ 374.

(द) स्वाधीनता आन्दोलन के सिलसिले में महात्मा गांधी आदि नेताओं द्वारा 'गाँवों की ओर लौटने' का जो नारा दिया गया, स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य में उसी का एक आवर्तन आंचलिकता की प्रवृत्ति के रूप में प्रतिफलित हुआ।'—स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 429-30.

15. कल्पना-मार्च 1965, डॉ० शिवप्रसाद सिंह का लेख—आंचलिकता और आधुनिक परिवेश, पृष्ठ 31.

16. हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 275.

से भी है। तत्कालीन लेखन की दो प्रमुख धाराओं में से मनोवैज्ञानिक कथासाहित्य अपनी व्यक्तिवादिता में सिमटकर फार्मूलाबद्ध बनकर रह गया था और प्रगतिवादी कथा-साहित्य उद्बोधन और प्रचार की प्रधानता छोड़कर कभी मानवीय जीवन को गहराई से न देख सका। इससे कथा-साहित्य में एक गतिहीनता की स्थिति आ गयी थी। जनमानस इससे निजात की तलाश में था[17], जिसे आंचलिक कथाकारों की आत्मानुभूति ने अपने अंचलों की विशिष्टताओं में पाया[18]और वह नवीन चेतना का परिचायक सिद्ध हुआ।[19]

इसी आत्मानुभूति की बात को डॉ० धर्मवीर भारती ने संवेदना और रागात्मकता कहते हुए सुन्दर ढंग से पुष्ट किया है—'आंचलिक कथाओं के चरित्र जिस राग से अवतरित हुए हैं, वह हिन्दी कहानी की अभूतपूर्व संवेदना थी।'[20]

'आंचलिकता' की अवधारणा

उक्त तमाम प्रेरणाओं-प्रतिक्रियाओं से आंचलिकता की धारा तो फूट चली, पर साहित्य में उसे किस रूप में लिया गया, उसे किन-किन अर्थों का व्यंजक माना गया, आदि बातों को स्पष्ट करने के लिए हमें मुख्यतः तीन बातों पर विचार करना होगा—

(1) स्वरूप
(2) आंचलिकता : शहरी और ग्रामीण
(3) आंचलिकता और स्थानीय रंग।

शास्त्रीय दृष्टि से आंचलिकता देशकाल, वातावरण आदि के अन्तर्गत उपकरण रूप में समाविष्ट होती है। इसलिए एक तरह से वे सभी कृतियाँ आंचलिक हैं जो पाठक के अपने निवास क्षेत्र (वातावरण-देश) के बाहर के जीवन को चित्रित करती हैं।[21] परन्तु स्वातंत्र्योत्तर युग में यह प्रवृत्ति इतने कलात्मक और वैचारिक समन्वय के साथ विकसित हुई कि इसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाने लगा। यह अंचल विशेष का भूगोल नहीं, भूगोल की परिधि में वहाँ का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करती है।[22]

'अंचल' शब्द का अर्थ होता है—जनपद या क्षेत्र। देश का वह भाग या

17. कल्पना—मार्च—1965, डॉ० शिवप्रसाद सिंह का लेख—आंचलिकता और आधुनिक परिवेश, पृष्ठ 31.
18. हिन्दी कहानी : बदलते-प्रतिमान—डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 109
19. स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास—डॉ० सुभाषिनी शर्मा, पृष्ठ 12-13.
20. विवेक के रंग—सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 334-35.
21. सारिका—अक्टूबर 1961 में आचार्य वाजपेयी का कथन।
22. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 107.

प्रांत जो सीमा के पास हो, नदी किनारे की भूमि, तट-किनारा या क्षेत्र अंचल कहलाता है।[23] 'हिन्दी साहित्य कोश' (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा) के अनुसार 'कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश विशेष का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है और उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक कहा जाता है।' इस प्रकार 'अंचल' शब्द का अभिप्राय किसी देश या प्रदेश के विशिष्ट भूभाग से है जिसका जीवन उसकी समस्त विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाता है। 'आंचलिक कहानियों में व्यक्ति वही होते हैं, निर्णयिक स्थितियाँ वही होती हैं, केवल सांकेतिक धरातल बदला हुआ होता है। आंचलिक कहानीकार का दायित्व दुहरा होता है। एक ओर उसे आंचलिकता का बोध देने वाले तत्वों—पात्र, वातावरण, भाषा आदि का संभार करना पड़ता है, दूसरी ओर व्यक्ति सत्यों के जरिए यथार्थ की बुनावट करनी पड़ती है।'[24] फिर भी डॉ० इन्द्रनाथ मदान आंचलिक कहानी को कहानी का कोई भेद न मानकर एक विशिष्ट व्यंजना मानते हैं।[25] आंचलिक भूखंड की अपनी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताएँ होती हैं जो इनके विशिष्ट रीति-रिवाज और जीवनमापक ढंग को जन्म देती हैं।[26] आंचलिकता को परिभाषित करते हुए प्रायः सभी विद्वानों ने विस्तार से इसका उल्लेख किया है—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय आंचलिकता वहाँ मानते हैं जिनमें किसी विशेष जनपद, अंचल के जनजीवन का समग्र चित्रण होता है। समग्र का अर्थ है—भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनिमय। संक्षेप में आर्थिक जीवन, उस आर्थिक जीवन पर आधारित वर्गों और जातियों के परस्पर संबंध, संस्कृति, धार्मिक विश्वास, विवाह-मृत्यु आदि आचार, चरित्र और आदतें, मनोरंजन, व्यसन, कला, भोजन-पान, स्वास्थ्य, शिक्षा-दीक्षा तथा जीवनदर्शन।[27] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार आंचलिकता के साधन तत्व हैं—विशेष जनपद की संस्कृति का चित्रण, आस्था, रूढ़ि, संदेह, आत्मविश्वास का यथातथ्य अंकन, लोकजीवन, गीत-नृत्य, लोक-भाषा, मुहावरे का उपयोग आदि।[28] डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय उन विशेष जनपदों, भूखंडों की स्वतंत्रता पर बल देते हुए लिखते हैं—'किसी पर्वत शिखर पर बसे, किसी नदी-तट पर स्थित, सागरतट पर फैले ग्राम, जिनकी बोली, उत्सव-त्योहार, रहन-सहन, संस्कार, लोककथाएँ—लोकगीत समान हों, एक सी समस्याओं

---

23. राष्ट्रभाषा कोश—'अंचल' शब्द का औपन्यासिक अर्थ।
24. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय, पृष्ठ 87-88.
25. हिन्दी कहानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान (डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम—पृष्ठ 374 से उद्धृत)।
26. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 111.
27. हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति—डॉ० ह० के० कड़वे के पृष्ठ 21-22 से उद्धृत।
28. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 275.

से त्रस्त हों, वे ग्राम अंचल की संज्ञा से अभिहित किये जा सकते हैं।'[29] डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इस पर विस्तार से सोचा है। उनकी बात अपने में इतनी परिपूर्ण है कि आंचलिकता के संबंध में और कुछ कहने को शेष नहीं बचता—क्षेत्र या अंचल उस भौगोलिक खंड को कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों के रहन-सहन, प्रथाएँ, उत्सवादि, आदर्श और आस्थाएँ, भौगोलिक मान्यताएँ तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ परस्पर समाज और दूसरे देश के निवासियों से इतनी भिन्न हों कि इनके आधार पर एक क्षेत्र या अंचल विशेष इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत हो। इस प्रकार के अंचल या क्षेत्र के जीवन को हम आंचलिक कह सकते हैं।[30]

उक्त परिभाषाओं से जाहिर है कि किसी भी रचना के आंचलिक होने में उस भूखंड में व्याप्त विभिन्न तत्वों, जिनकी मौलिकता अन्य क्षेत्रों से अलग सिर्फ अपनी हो, का समावेश ही प्रमुख माना जाता है। इन तत्वों को श्रेणीबद्ध रूप से एक नजर देख लेने पर आंचलिकता का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

(क) भौगोलिक स्थिति

वर्ण्य अंचल की भौगोलिक स्थिति ही उसे बाहरी प्रभावों से दूर और कृत्रिमता से परे रखती है जिसके कारण वहाँ का जीवन आम सामाजिक जीवन से भिन्न और विशिष्ट होता है। अब तक जिन अंचलों का चित्रण हिन्दी साहित्य में उपलब्ध है, उनके आधार पर हम क्षेत्रीय परिवेश को इन रूपों में विभाजित कर सकते हैं—[31]

1. अविकसित जंगली आदिवासी क्षेत्र
2. प्रादेशिक रूपाभा
3. पार्वतीय जनजीवन
4. नदी-समुद्रतटीय जीवन
5. शरणार्थी कॉलोनी और नागर आंचलिकता

(ख) पिछड़ापन

शहर और विकासमान भूखंडों से दूर रहने के कारण कोई भी सुधार-योजना आदि वहाँ तक पहुँच नहीं पाती। ये क्षेत्र बिल्कुल ही पिछड़े रह जाते हैं। गंदगी-जहालत से भरे अस्वास्थ्यकर वातावरण इन्हें और भी निरीह बना देते हैं।

(ग) विशिष्ट सामाजिक जीवन

विस्तृत सामाजिकता से दूर रहने के कारण इनका संपूर्ण जीवन एक खास दायरे में बँधकर रह जाता है। इसलिए आंचलिक लेखन में इनके जीवन की मान्यताएँ,

---

29. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 109.
30. कल्पना—मार्च 1965, पृष्ठ 29.
31. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 119-22.

संस्कार, रीति-रिवाज, अंधविश्वास—भूतप्रेत, जादू-टोना, परस्पर संबंध—विवाह-मृत्यु-संबंधी आचार आदि के चित्रण बहुतायत से छाये रहते हैं। यही इन्हें विशिष्टता देते हैं।

(घ) सांस्कृतिक चिंतन

इसके अंतर्गत उस अंचल में प्रचलित मेले, त्योहार, खान-पान, रहन-सहन, लोकगीत-लोकनृत्य, राजा-रानी, इतिहास-पुराण की लोककथाएँ, किंवदन्तियाँ आदि प्रमुख रूप में उपस्थित रहते हैं।

(च) यथार्थपरक दृष्टि

इसमें आर्थिक आधार, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनिमय, शिक्षा-दीक्षा, समस्याएँ आदि के दिग्दर्शन होते हैं।

(छ) धार्मिक विश्वास

मान्यताएँ, देवी-देवता, पूजा-पाठ आदि के चित्रण।

(ज) भाषा

विशिष्ट अंचल में प्रचलित भाषा का व्यवहार आवश्यक है पर उसे सामान्य बोध के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत कर पाना कलाकार की कसौटी होती है। यहीं असली-नकली की पोल खुल जाती है।

स्वरूप-वर्णन के बाद आंचलिकता की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए शहरी-ग्रामीण आंचलिकता का विश्लेषण करना आवश्यक है जो इस संदर्भ में बड़े विवाद का मुद्दा बन चुका था।

प्रसिद्ध कथाकार श्री राजेन्द्र अवस्थी ने स्पष्ट कहा—वास्तविकता यह है कि अंचल एक देहात भी हो सकता है, शहर भी, शहर का एक मुहल्ला भी और इन सबसे दूर सघन वन की उपत्यकाएँ भी।[32] इसका आधार यह रहा कि आंचलिकता के स्वरूप में किसी विशिष्ट भूभाग के चयन और वहाँ के जीवन में व्याप्त उक्त सभी पहलुओं का चित्रण ही रेखांकित होता है तो फिर शहर के भूभाग भी उसमें समा ही सकते हैं। किन्तु वे इस मान्यता को, अंत तक बरकरार नहीं रख पाये। उसी लेख में आगे चलकर उन्होंने स्वीकार कर लिया कि 'शहरों' ने हमारी संस्कृति को कभी प्रभावित नहीं किया और न उनके बल-बूते पर विशिष्ट सांस्कृतिक धारा बन पायी। इसी प्रकार डॉ॰ कांति वर्मा ने भी शहरी जीवन पर आधारित कथाओं को आंचलिकता के अंतर्गत समेटने का प्रयास किया किन्तु उदाहरण देते हुए उन्हीं 13 पुस्तकों का उल्लेख कर पाये जो ग्राम-जीवन पर आधारित हैं।[33] श्री हीराप्रसाद भी ऐसे ही विरोधाभास के शिकार हुए। उन्होंने व्यवस्था तो दी कि 'आंचलिक उपन्यासों का कथांचल

---

32. सारिका—अक्टूबर 1961—आंचलिकता पर एक बातचीत, पृष्ठ 3.
33. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ॰ रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 110 से उद्धृत।

गाँव ही हो, ऐसा अनिवार्य नहीं। किसी बड़े शहर के 'सबर्ब' को कथाक्षेत्र बनाने वाले उपन्यासों में भी आंचलिकता हो सकती है, पर ग्रामांचल पर आधारित कृतियों की कलात्मक संभावनाओं को देखते हुए उन्हें भी आगे जोड़ना ही पड़ा 'फिर भी हिन्दी में आंचलिक जीवन पर आधारित कला का व्यापक और संभावनापूर्ण रूप हमें विशुद्ध रूप से ग्रामीण उपन्यासों में ही मिलता है।'[34] डॉ० सुभाषिनी शर्मा ने अपनी पुस्तक में उक्त विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए लिख दिया है कि 'हिन्दी में ग्रामांचलाधारित कृतियाँ ही आंचलिक मानी जाती हैं पर अब शहरी चित्रण भी आंचलिकता माना जाने लगा है।'[35]

अब कुछ उन विद्वानों के मतों का उल्लेख भी समीचीन होगा जो इनके विपरीत मात्र ग्रामांचलाधारित कृतियों को ही आंचलिक मानते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का स्पष्ट मत है कि नगर-चित्रण आंचलिक उपन्यास की परिभाषा की सीमा में नहीं आ सकते। वह वैचित्र्य, वह व्यवहार, सभ्यता के दोषों से रहित वह आदि-मानव प्रकृति, जो आंचलिक उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु हैं, नागरिक चित्रण में नहीं आ सकतीं। इन असभ्य पिछड़ी जातियों के जीवन में एक नैसर्गिक प्राणशक्ति का बाहुल्य होता है। नागरिक जीवन की कृत्रिमता की तुलना में वह जीवन अधिक ग्रंथि-हीन, स्वच्छंद और सशक्त है।[36] डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय की मान्यता है—शहरी जीवन कृत्रिम होता है, नवीनता का ग्रहण वहाँ विकृति के रूप में होता है। अतः इसमें सभ्यता तो आती है, पर संस्कृति मर जाती है जबकि आंचलिकता में संस्कृति जीवित रहती है····इसमें प्राचीनता का सहज रूप विकसित होता है। नवीनता के आरोपण को वह उखाड़ फेंकती है....अंचलों की मीठी कसक वहाँ की रग-रग में समाहित होती है। इसीलिए वहाँ के प्रत्येक उपादान चाहे वे भूतप्रेत हों, अन्याय-पाप हों या कसक-पीड़ा हों, सभी हमें संतोष प्रदान करते हैं। नागरिक उपन्यास इन सभी विशेषताओं से परे हमें कटु अनुभव प्रदान करते हैं। इसलिए शहर को तो हम अंचल में समेट ही नहीं सकते।[37] डॉ० आदर्श सक्सेना स्वीकारते हैं कि 'शहर भी विशिष्ट संस्कृति को जन्म देते हैं।' वे 'बहती गंगा'—रुद्र—का उदाहरण देते हैं लेकिन वे उसे आंचलिक कहने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं—'शहरी अंचल पर लिखे उपन्यास सफल नहीं हो सकते' क्योंकि उन पर जैसे-जैसे वाह्य प्रभाव पड़ते हैं, वैसे-वैसे इनकी विशिष्टता सांस्कृतिक तत्त्व (आंचलिकता के निर्णायक तत्त्व) समाप्त होते जाते हैं।[38]

34. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 110 से उद्धृत।
35. स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास, पृष्ठ 11-12.
36. सारिका—अक्टूबर 1961—आ० नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ 13.
37. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 110-11.
38. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि—डॉ० आदर्श सक्सेना, पृष्ठ 27.

पूर्वोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि आंचलिकता का सर्वाधिक निर्णायक तत्व वहाँ की संस्कृति का चित्रण है और वह भी ऐसी जो अन्य स्थानों से भिन्न व कुछ खास हो। वह चिरकाल से अपरिवर्तनीय होती है—सलिल-तैल समान जमाने की गति के प्रभाव से विलग। उसमें वहाँ के रहनेवालों के सहज जीवन का उन्मुक्त स्पंदन इतना जीवंत होता है कि आधुनिकता के बाह्य प्रभाव अपना-सा मुँह लेकर रह जाते हैं। उनकी निर्द्वन्द्व प्रकृति में संत्रास-घुटन-मानसिक तनाव आदि अपना स्थान ही नहीं खोज पाते। शहरी अंचल इनसे प्रभावित हुए, इससे घुले-मिले बिना नहीं रह पाते। इसीलिए वे बदलकर कृत्रिम बन जाते हैं। इससे कथाकार बच नहीं पाता। पं० उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर-लहरें और मनुष्य'—के सभी प्रमुख पात्र अपनी मौलिक संस्कृति को छोड़कर सभ्यता के नद में बह जाते हैं। ऐसी रचनाएँ शुद्ध आंचलिकता की सीमा में नहीं आतीं। किन्तु स्वतंत्रता के बाद कथा साहित्य में इस शब्द का जो अर्थ विस्तार कर दिया गया है, उसमें तो अधिकांश रचनाएँ कहीं न कहीं आंचलिकता की परिधि में आ जाती हैं और हम फिर आचार्य वाजपेयी की बात—एक तरह से सभी रचनाएँ आंचलिक होती हैं—पर आ जाते हैं।

इतना सब होने के बावजूद एक बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि शहरों के 'सबर्ब' इलाकों में कुछ जातियाँ अपना सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बनाए रखती हैं। सभ्यता से प्रभावित लोग उनसे कटकर शहर में जा मिलते हैं पर वह अंचल बना रहता है, उनकी अपनी रीति-नीति, रहन-सहन में कहीं कुछ नहीं बदलता। यदि वहीं ध्यान केन्द्रित करके रचनाकार सृजन में प्रवृत्त रह सके तो आंचलिक कृति की हर संभावना वहाँ मौजूद है। आचार्य वाजपेयी संकेत करते हैं—यदि सामर्थ्यवान लेखक हो तो नगर या नगर का कोई हिस्सा इसमें समाये बिना नहीं रह सकता।'[39] हकीकत ये भी है कि यदि समर्थ रचनाकार हो तो आंचलिक सृजन में शहर भी समाये बिना नहीं रह सकते। आदर्श सक्सेना कहते हैं—आंचलिकता का नागरी परिवेश से उतना ही अंतर है जितना आँचल का साड़ी के छोर से। रमणी की कलापूर्ण साड़ी का मूल्य माँ के आँचल की तुलना में नगण्य होता है।'[40] पर बात है काम लेने की—कब रमणी माँ बनकर अपनी कलापूर्ण साड़ी को पवित्र आंचल में बदल देती है, पर्यवेक्षक 'काहु न लखा रहे सब ठाढ़े' स्थिति में ठगे-से रह जाते हैं।

वैसे भी 'अंचल' का अर्थ न सिर्फ गाँव है और न नगर ही। कोई भी ऐसी कहानी जो अंचल विशेष की सामान्य प्रवृत्तियों को परिवेश की व्यापकता देती है और चित्रित करती है, आंचलिक है। यह अंचल ग्राम्य भी है, नगर भी, मुहल्ले का भी है और कस्बाती भी।'[41]

---

39. सारिका—अक्टूबर 1961, पृष्ठ 14.
40. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि का विकास, पृष्ठ 27.
41. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 134.

डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम इन सबसे परे हटकर एक पते की बात करते हैं—वास्तविकता यह है कि आंचलिक दृष्टि से विरोध गाँव और नगर में नहीं है, वरन् परम्परासंपन्न जनपद और नये उगते औद्योगिक क्षेत्र में है। उन्होंने 'बहती गंगा' और 'सेठ बांकेमल' के उदाहरण से सिद्ध किया है कि लखनऊ और बनारस जैसे नगरों के स्पंदन के कारण उनकी आंचलिकता में किसी भी आलोचक ने संदेह नहीं किया। अतः आंचलिकता का उपजीव्य मिट्टी की सहज गंध है, भले ही वह नगर की हो या गाँव की।[42]

असल में मिट्टी की सहज गंध को नजर अंदाज करके मात्र बाह्य चमक-दमक वाली शहरी जिन्दगी को प्रकाश में लाने के पीछे लेखकीय मानसिकता है। शहरी जीवन पर लिखने वाले लेखक गाँव से शहर आये लोग हैं जो कहीं न कहीं वहाँ से ऊबे-उकताए, हारे हुए लोग हैं। अतः वे उस जीवन से नाक-भौं सिकोड़ कर 'इम्पोर्टेड' सभ्यता में नकुरा रगड़-रगड़ कर छींकते हैं और संत्रास-घुटन-विसंगति की बात करते हैं। मसलन राजेन्द्र यादव कहते हैं—"उन्होंने (आंचलिक जीवन पर लिखनेवालों ने) खेत-खलिहान, हल-बैल, गाँव-सिवान के लिए मन में उठनेवाले मासूम मोह को ही चुना, जिसे अपने स्तर पर शहर के कहानीकार पहले छोड़ आये थे।"[43] क्या कहना पड़ेगा कि गाँव की जिन्दगी छोड़ आने (पाये ही कब थे?) और शहर के कहानीकार बन जाने में कितना गर्व महसूस किया जा रहा है। ऐसे लोग मासूम मोह छोड़कर जो मोह पाल रहे हैं, वह कमजोर लड़कियों की भूठी चाय में कितना स्वस्थ रूप लेकर उभरा है।

इनसे अलग कुछ शहर के लोग, जो ग्रामांचल पर हाथ आजमाने चले, शहरी मनःस्थितियों में आकण्ठ निमग्न विचारों को आंचलिक परिवेश की अरगन पर फैलाने लगे। फलतः 'जिस-तिस जगह की बोली-बानी, वेश-भूषा, रीति-रिवाजों' का उल्लेख कर 'जो मन में आये, लिख दिया जाये' वाला नुस्खा अपनाया गया।[44] इस प्रकार आंचलिक कथा-साहित्य में धीरे-धीरे धरती की सोंधी गंध से कटकर फैशन का शिकार बन गयी।[45]

इस तरह लेखकों की अधकचरी चेतना से आंचलिकता की अवधारणा में बहुत भटकाव आया। मूल जीवन में पैठ न होने से लोग-बाग प्रचलित स्थानीय रंगत को साधन (Instrument) बनाकर आंचलिक लेखक का बाना धारण करने में लग गये और सतही आलोचनाओं में इन्हें ही 'आंचलिक' करार दे दिया गया। लेकिन वस्तुतः दोनों में फर्क बहुत ज्यादा है। आंचलिकता विशिष्ट भूभाग के जनजीवन के प्रति

42. आधुनिक कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, पृष्ठ 377.
43. एक दुनिया : समानांतर, पृष्ठ 81-82.
44. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय वर्मा, पृष्ठ 87.
45. कल्पना—मार्च 1965, पृष्ठ 28.

एक निश्चित दृष्टिकोण है जबकि स्थानीय रंग किसी भी कृति का बाह्य परिधान है। अंचल के विशिष्ट वातावरण के बीच उकेरे गये जनजीवन का आत्मीय चित्रण आंचलिकता है पर स्थानीय रंग किसी भी क्षेत्र के बाहरी वातावरण की पहचान मात्र कराता है। स्थानीय रंग को हम मात्र आंचलिक कथा तक ही सीमित नहीं रख सकते और न इसे आंचलिकता का मानदंड ही बना सकते। यह वातावरण का एक अंग मात्र है जो नेत्रेन्द्रियों को आस्वाद दिलानेवाला वस्तुगत तत्त्व है, बुद्धिगम्य है।[46] इसीलिए वर्ण्य भूभाग के जीवन से अपरिचित लेखक भी इसे अपना लेते हैं परन्तु आत्मीय परिचय के बिना दृष्टि नहीं ला पाते। चूँकि तत्कालीन लेखन में आंचलिकता की हवा चल पड़ी थी, अतः नगरेतर भूभागों की समस्त रचनाओं में चित्रित स्थानीय रंगों में आंचलिकता देखी जाने लगी। डॉ० शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं—स्थानीय रंगों से भीगी रचनाओं के साथ शुद्ध ग्रामकथाएँ भी शामिल कर ली गयीं....स्थानीय रंग को भ्रमवश आंचलिकता का पर्याय मान लिया जाता है पर यह आंचलिकता से भी ऊपरी वस्तु है। यह ग्रामजीवन में भी होता है, नगर जीवन में भी। कोई भी लेखक चाहे वह उस धरती से उत्पन्न हो, न हो, थोड़े से परिचय के आधार पर स्थानीय रंग ले आ सकता है। स्थानीय रंग आंचलिक कथा में पर्याप्त मात्रा में होता है,[47] पर यह है आंचलिकता से सतही चीज। इसकी विशेषता है कि इसमें नये या अपरिचित दृश्य खोजे जाते हैं....स्थानीय रंगकार किसी ग्रामदृश्य के प्रति पर्यटक का दृष्टिकोण उपस्थित करता है....स्थानीय रंग का अर्थ हुआ—किसी कथा के मूल तत्व के रूप में नहीं, वरन् सजावट के रूप में उस कथा के लिए दृश्य, भाषा, वेश, आचार-विचार और व्यवहार का सटीक विस्तृत वर्णन देना।[48] इसके विपरीत आंचलिक कथा साधारण मनुष्य की सभी परंपराओं को अपनाकर उनके गतिशील जीवन के संघर्ष को भी स्वीकारती है। स्थानीय रंग हमेशा ही मोहक, रूमानी और विचित्रता में विश्वासी होता है।[49] कथा में इसके अनुपात को समझे बिना अपरिपक्व रचनाकार कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाता। आंचलिक कथाकार को गंभीर जीवनबोध की कहानियाँ लिखने के लिए स्थानीय रंगों के मोहक जाल में नहीं फँसना चाहिए।[50]

इस प्रकार स्पष्ट है कि उक्त सभी मुद्दों को लेकर आंचलिकता के संबंध में संदेह और गलतफहमियाँ बहुत ज्यादा रही हैं। लेकिन तत्कालीन एकरसता में

---

46. Glenn Clark—A manual of the short story Art-72—उपन्यास-कला-जालादि विश्वामित्र, पृष्ठ 80 से उद्धृत।
47. कल्पना—मार्च 1965, पृष्ठ 32.
48. उपन्यास : तत्त्व एवं रूपविधान—श्रीनारायण अग्निहोत्री, पृष्ठ 134 से उद्धृत सीताराम चतुर्वेदी का कथन।
49. कल्पना—मार्च 1965—शिवप्रसाद सिंह का लेख, पृष्ठ 36.
50. वही।

डूबी कहानियों को पढ़कर पाठक वर्ग ऊब गया था। इसलिए उसे इस लेखन में ताजगी मिली, जिससे आंचलिकता की लोकप्रियता बढ़ने लगी। बस क्या था, जिसे देखो, अपने लेखन को भुनाने के लिए अंचल की ओर भागा जा रहा है। आंचलिक लेखन रचना न रहकर व्यापार या धंधा बन गया।[51] सामाजिक यथार्थ को वहन करने की क्षमता रखनेवाली धारा फैशन-फार्मूलों में उलझकर लगातार नीचे की ओर फिसलती हुई मात्र शिल्प होकर रह गयी—आंचलिकता की भूमि शिल्प की भूमि है।[52] समीक्षाओं में इसे शिल्प के अंतर्गत ही रखा जाने लगा।[53] शिल्प के रूप में ही सही, समीक्षा में तो इसे याद भी किया जाता है, पर लेखन में तो वह मर ही गयी और बकौल नागार्जुन उसकी मौत पर फातिहा पढ़ने की जरूरत नहीं है।[54]

आंचलिकता बनाम ग्रामकथा और शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ

'ग्रामकथा' शब्द नगरकथा और फिर आंचलिकता के कारण ही प्रकाश में आया अन्यथा ग्राम कहानियाँ तो कथा साहित्य की शुरुआत से ही लिखी जा रही हैं और मौखिक रूप से तो शायद सिर्फ ग्राम कहानियाँ ही कही-सुनी जाती रही होंगी। लेकिन ये सब चर्चाएं 1950-52 के पहले नहीं थीं वरना प्रेमचंद को भी सिर्फ कथाकार न कहकर ग्रामकथाकार ही कहा जाता। जिस प्रकार नगरकथा को नारेबाजी न हुई होती तो ग्रामकथा के विवेचन की जरूरत न पड़ती, उसी प्रकार यदि आंचलिकता फैशन न बन गयी होती तो ग्रामकथा और आंचलिकता के अंतर के संबंध में इसका फिर पृथक् विश्लेषण न करना पड़ता।

वस्तुतः जिस समय आंचलिकता का सितारा चमका, उससे पहले से ही स्वातंत्र्योत्तर काल में भी ग्रामकहानियाँ और उपन्यास लिखे जाते रहे, जो कथा-साहित्य की जड़ता को तोड़ते हुए शुद्ध रूप से मनुष्य-केन्द्रित होकर प्रेमचंद की परंपरा को स्वस्थ विकास की ओर ले जा रहे थे। नागार्जुन के उपन्यास, मारकण्डेय और शिवप्रसादसिंह की कहानियाँ इसकी सबूत हैं। लेकिन आंचलिकता के उन्मेष के साथ इन्हें भी इसके विश्लेषण के अंतर्गत समेट लिया गया। चूंकि हिन्दी में अधिकतर ग्रामाधारित रचनाएँ ही आंचलिक मानी जाती रहीं और शुरू-शुरू में उनसे स्वस्थ-गंभीर यथार्थ का चित्रण अपेक्षित था, इसलिए उक्त लेखक भी शुरू में कोई मतवैभिन्य नहीं दिखा पाये। फिर भी ये लोग बातों-आंदोलनों की चीख-पुकार से ज्यादा महत्व

---

51. कल्पना—नवलेखन विशेषांक-1—अगस्त-सितंबर 1969, पृष्ठ 51—शिवकुमार मिश्र का लेख।
52. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 132.
53. स्वातंत्र्योतर कथा-साहित्य और ग्रामजीवन—विवेकी राय की पुस्तक में।
54. कल्पना—नवलेखन विशेषांक—अगस्त-सितंबर 1969, पृष्ठ 52—शिवकुमार मिश्र के लेख से उद्धृत।

फक्त लेखन को देते थे, जब तक कि उसकी प्रवृत्ति-असर पर आँच न आये। अतः वे लोग बिना इस प्रवाह में बहे, अपने ढंग से सृजन में रत रहे। इधर आंचलिक लेखन में उद्घोषक रेणु जी अपने अनुभवों, जीवन दृष्टि और अभिव्यक्तिक्षमता के कारण एक हद तक संभावनाओं (यथार्थ जीवन के चित्रण) की तुला पर सफल रहे और शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी आदि कुछ लोगों ने इसे विकास भी दिया। पर जब प्रतिष्ठा-पिपासुओं का गड्डलिका प्रवाह घुमड़ा और आंचलिकता का सितारा चार दिनों चमककर गर्दिश में घिरने लगा तब भी ये ग्रामीण लेखक उसी प्रकार तटस्थ-निःसंग होकर लिखते तो रहे लेकिन अब वे आंचलिकता में शुमार किये जाने पर चुप न रह सके—'मुझे इस शब्द को सुनकर पहले भी हँसी आती थी, अब भी आती है, पर पहले इसे सुनकर माटी की सोंधी गंध से नाक भर जाती थी और अब सुनता हूँ तो लगता है कि किसी चिड़िया बेचनेवाले की दुकान में आ गया हूँ या किसी 'विलेज क्यूरियो शॉप' में।'[55] इस प्रकार जो लोग आंचलिकता की उन्मेषकालीन स्थितियों की सचाई में ही भटके रह गये, उसके त्वरित बदलाव-भटकाव को समझ नहीं पाये, उन्हीं के लिए डॉ० शिवप्रसादसिंह आंचलिक हैं वरना लेखन की विशिष्टताओं-प्रवृत्तियों-प्रभावों में फर्क कर पानेवाले के लिए ऐसा कहने में जुर्म का-सा अहसास होगा।

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रभावित आंचलिकता की अवधारणा जिसका वर्णन पीछे किया गया है, के मुताबिक, शिवप्रसाद सिंह की कोई भी कहानी शायद ही फिट बैठती हो। बेशक, इनकी कहानियों का उपजीव्य ग्रामीण जीवन है, अतः गंवई माहौल इनमें पर्याप्त मात्रा में चित्रित हुआ है, पर वहाँ की स्थानीय रंगत-चाकचिक्य में लेखक डूब नहीं गया है, परिवेश-प्रथाओं के चित्रण में उलझ नहीं गया है, वरन् इनके माध्यम से जीवन तल में उतर कर उसने समस्याओं का अवगाहन किया है। उसे कभी इस अवगाहन से उबर-उतराकर सतह पर हाथ-पाँव मारने की फुर्सत नहीं रही। इसीलिए लेखक ने 'बहुत बार कहा कि भाइयो, मैं आंचलिक नहीं हूँ, मुझे इस पंगत में मत बिठाओ....मेरे पास इंसान के रंग-विरंगे चरित्रों की समस्याएँ और उनकी गहराई को ही समझने का पूरा समय नहीं है, फिर यह चिड़ियाखाना और टेपरिकार्डर मैं कहाँ तक ढोता फिरूँगा।'[56]

शिवप्रसाद सिंह के लेखन में आंचलिकता उद्देश्य बनकर कभी नहीं आयी वरन् उसका उपयोग सोद्देश्य रूप में किया गया —मैंने इस आंचलिकता को हमेशा 'डेकोरेशन पीस' की तरह इस्तेमाल किया है।[57] और ग्राम कथा को आंचलिकता से पृथकाने वाला सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु यही है। ग्राम कथा में आंचलिक तत्त्व (जिनका विस्तृत

---

55. चतुर्दिक—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 203.
56. वही।
57. वही।

उल्लेख पीछे किया गया है) साधन बनकर आते हैं जबकि आंचलिकता में वे ही साध्य होते हैं।[58] इसीलिए इसकी पूर्ण समझवाले सभी जहीन समीक्षकों-रचनाकारों ने शिवप्रसाद सिंह को ग्राम कथाकार माना है।[59] यहाँ तक कि प्रायः इनसे बिदकने वाले राजेन्द्र यादव भी कह जाते हैं कि 'जहाँ फणीश्वरनाथ रेणु की आंचलिकता, मारकण्डेय, शिवप्रसाद सिंह और अवधनारायण सिंह के ग्राम हैं....।'[60] ऐसा इसलिए हुआ कि फणीश्वरनाथ के लेखन पर आंचलिक तत्त्वों—याने शिल्प तत्त्वों, क्योंकि आंचलिकता शिल्प-शैली ही बनकर रह गयी—का इतना मोटा गझिन पर्दा (जो कहीं-कहीं लबादा बन गया है) है कि उसके भीतर निगाह पैठ ही नहीं पाती। हम रेणुजी की कहानियों पर निगाह डालें तो सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि उनमें विशिष्ट जीवनांचल में प्रचलित लोकतत्वों की भरमार है और इसीलिए ऐसा लगता है कि अक्सर उन्होंने इन्हीं तत्वों को रूपायित करने के लिए कहानी लिखी है। लोकमत में वे इतने गहरे डूबे हैं कि एकाकार होकर निकले हैं। उनके सृजित पात्र इसीलिए इतने लोकाश्रित हैं कि उनसे शुद्ध स्थानीय भाषा बुलवाये बिना काम ही नहीं चलेगा। यह कहानी की आंतरिक अनिवार्यता बन जाती है। फर्ज करें कि हीरामन (तीसरी कसम) अपनी पूरी भाषा तो क्या सिर्फ 'हिस्स' बोलना छोड़ दे तो शायद वह श्री-हीन लगने लगे। उनके पात्रों की बोली-ठोली, हास-परिहास आदि एक-एक हावभाव में आंचलिकता इतनी रसी-बसी है कि उसके बाहर किसी परिवेश में वे खप ही नहीं सकते। इसके विपरीत डॉ० सिंह और अन्य ग्राम कथाकारों में ऐसी कोई खास बात नहीं। उनके पात्र किसी अन्य परिवेश में भी अपनी भाषा में अपने को संप्रेषित (कम्युनिकेट) कर सकते हैं, कहीं का भी व्यक्ति उन्हें आसानी से समझ सकता है—उनमें अनगढ़ता का नाम नहीं। पर ये ग्राम से अलग भी नहीं क्योंकि पर्याप्त मात्रा में ग्रामीण शब्द इसमें प्रयुक्त हैं। ये जहाँ पाठक को गाँव में खींचते रहते हैं वहीं इतर ग्रामीण पाठकों

---

58. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया—डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 275.

59. (अ) आंचलिकता के दुर्बल उपचार से रहित, शुद्ध आज का नवपरिवर्तित ग्राम-जीवन आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में शिल्प की ताजगी के साथ शिवप्रसाद सिंह के द्वारा अंकित किया गया। ...उनका समूचा साहित्य नये गाँवबोध का दस्तावेज है।

—स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 432.

(ब) ध्यातव्य है कि शिवप्रसाद सिंह, मारकण्डेय, लक्ष्मीनारायण लाल जैसे कथाकारों की कहानियों में आंचलिकता का शिल्पप्रयोग नहीं है। ये सबके सब ग्राम कथाकार हैं। अतः शिवप्रसाद सिंह को सबसे बड़ा आंचलिक कथाकार कहना उचित और युक्तिसंगत नहीं है।

—नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 135.

60. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 44.

को बाध्य भी नहीं करते। इसीलिए यह लेखन (भाषा) एक जगह की न होकर सब जगह की—आंचलिक ही न रह कर सार्वजनीन हो जाती है।

भाषा के अलावा रेणु व अन्य आंचलिक कथाकारों में कितने लोकगीत लोक-नृत्य-कथाएँ भरी पड़ी रहती हैं। 'तीसरी कसम' से यदि लोककथाओं-गीतों को बाद कर दिया जाये तो क्या बचता है? और इसी से लगने लगता है कि यही कहानी का उद्देश्य तो नहीं। 'रसप्रिया' कहानी तो बिदापत गानेवाले की जीवनी पर ही लिखी गयी है जो स्पष्टतः साध्य है। डॉ० सिंह में कहीं भी इस रूप में इनका समा-वेश नहीं मिलता। जहाँ कहीं लोककथा या गीत (नृत्य तो हैं ही नहीं) आये हैं, वे कहानी की किसी माँग की संपूर्ति के लिए। नन्हों चमटोल में भजन सुनने जाती है। वहाँ गादी लगाने और भजन गाने की लोकरीति है, पर यह प्रसंग नन्हों के निश्चय को कितना बल प्रदान करता है। वह रामसुभग को फटकार देती है। उसमें 'जो तुम तोरहु, हम नहिं तोरहिं, तुम सों तोरि कवन सों जोरहिं' का भाव प्रेरणा बनकर आ गया है। दूसरे, कहानी के अगले मोड़ का यही तो कारण है, जब देर से आने के कारण रामसुभग उसे डाँटता है और फिर इसी वाकिये के कारण घर छोड़कर चला जाता है। इस प्रकार कथानक और मुख्य चरित्र के बदलाव की पृष्ठभूमि के रूप में इसका प्रयोग कहानी की सशक्त रचना-प्रक्रिया का नमूना है। इसी तरह 'चक डोले चकबेनिया डोले, खैरा पीपल कभी न डोले', बच्चों द्वारा खेल में गायी जानेवाली पंक्ति है जो उस प्रदेश के बच्चे आज भी गाते हैं—एक अंचल-प्रचलित तत्व। पर पूरी कहानी के साथ मिलकर यह पंक्ति खैरा पीपल के प्रतीक और गुण के साथ अव-रुद्ध परंपरा का कितना सटीक संप्रेषण करती है। इसी पंक्ति से पीपल तले बच्चों का मंसायन गुंजायमान दिखाकर पुनः उनका इसे भूल जाना भी मानवीय प्रवृत्ति और चेतना की तमाम विरोधी प्रकृतियों का व्यंग्यात्मक संकेत करता है। ये सब लेखकीय जागरूकता, कलात्मक सजगता के परिचायक हैं, आंचलिकता के दिग्दर्शक नहीं।

कहीं-कहीं तो इस तरह के अनिवार्य प्रसंगों को भी लेखक टाल देता है जहाँ कोई आंचलिकताबद्ध कलाकार जाने कितने गीत-नृत्य पेश कर देता। मसलन 'बेहया' कहानी की नायिका नाचने-गाने वाली है। इसमें ऐसा कुछ दिखाना—और ज्यादा भी दिखाना कहानी की दृष्टि से असंगत नहीं होता, पर लेखक हमेशा इससे बचता रहता है। सिर्फ एक बार रामायण की दो पंक्तियाँ गवाकर फिर स्वभावतः अपने मूल विषय पर लौट आता है क्योंकि उसका उद्देश्य प्रचलित लोकगीतों का दिग्दर्शन नहीं है और न ही 'ता-दिन-ता-दिन...' के स्वरसंगीत का प्रदर्शन। उसे मालूम है कि ऐसा करने से सुभागी का दर्द गहरा नहीं पाता और पाठक (लेखक और सुभागी भी) उन्हीं गीत-नृत्यों में रम जाते। 'रसप्रिया' के साथ यही होता है—संवेदना की एक लहरदार सरसराहट के अलावा समूची वेदना काफूर हो जाती है।

जहाँ तक लोककथाओं की बात है, बहुत कम ही प्रयुक्त हुई हैं, पर जहाँ हुई हैं पूर्ववत् कहानी की सोद्देश्यता-स्पष्टता का साधन बनकर। 'अरुन्धती' में लोचन

चुरुला की कहानी कहता है—लेखक ने कहानी में भी इसे लोककथा नाम ही दिया है। इसमें यह कथा एकाधिक दृष्टि से प्रासंगिक है। पहले तो बड़की बहू इसे सुनकर ही पहली बार जान पाती है कि छोटे सरकार (उनके पति) भी लोगों की बातों पर यकीन करके उसके ऊपर संदेह करते हैं। यह तो हुई कहानीपन की संगति, जो निश्चय ही कलात्मक है वरना इस संदेह की अभिव्यक्ति और तमाम तरह से हो सकती थी। दूसरे, यह छोटी-सी मात्र एक पृष्ठ में समाप्य कहानी पूरी मूल कहानी का प्रतीकात्मक दर्पण है। दोनों के अंत में परस्पर विरोध है—लोककथा में राजा को रानी मार डालती है, यहाँ छोटे सरकार हीरा को मारते हैं और अंत में इसी सदमें की वजह से वह दुर्घटना में मर जाता है। इसी विरोध में लोककथा और जीवनकथा का अंतर भी व्यंजित हो जाता है। और भी देखिये—चुरुला रानी सूअर चराकर भी खुश है पर बड़की बहू खानदान की इज्जत बचाकर (गर्भ गिरवाकर) भी फूट-फूटकर रोती है। यह अंतरतम से उठे मानवीय भावों और वर्णनामूलक समाज के आरोपित मूल्यों का फर्क है। इस तरह यह अकेली लोककथा कहानी को कितनी-कितनी व्यंज-नाओं से भर देती है।

लोककथाओं के ही लगभग समानगुणधर्मी लोक-प्रचलित विश्वासों की बातें शिवप्रसाद सिंह के यहाँ पर्याप्त मात्रा में हैं। लेकिन ये रचनाएँ भी पाठक के मन में कहानी के अलावा अपनी अलग पहचान नहीं बना पातीं—कहानी के साथ अनिवार्य रूप से संपृक्त रहती हैं। कहीं ये विश्वास प्रतीक-बिम्ब बनकर आते हैं तो कहीं कहानी के अर्थ-उद्देश्य को स्पष्ट करने के माध्यम बनकर। तारों को टूटते देखकर थूंकने का विश्वास गाँवों में प्रचलित है जिसे लेखक 'टूटे तारे' कहानी में इस तरह प्रयुक्त करता है कि वह प्रतीक के रूप में कहानी की आत्मा बन जाता है—इसे निकालकर हम कहानी को ही खो देंगे लेकिन यह उद्देश्य नहीं है और न ही इतना ज्यादा इसका उल्लेख ही हुआ कि हम कहानी की समस्या भूल जायें। ऐसे बहुत से प्रयोग शिव-प्रसाद सिंह की कहानियों में संसक्ति बनकर आये हैं, लेखकीय आसक्ति नहीं।

इनके अलावा जिस ध्वनि-नाद-संगीतात्मकता, जो मात्र गीत व वाद्ययंत्रों की ही नहीं, जीवन के उपादानों की भी है; को लेकर रेणु जी ने अपनी कहानियों को 'ठुमरी धर्मी' कहा जबकि संकलन में इस नाम की कोई कहानी नहीं है; उसकी तो डॉ० सिंह की कहानियों में कोई छाया तक नहीं है। इस तरह ग्राम कथाकार के लिए स्थानीय रंगत नहीं, जीवन-व्यापी दुखदर्द का चित्रण अभिप्रेत होता है—वह फालतू लटकों से बचता है। इसीलिए शिवप्रसाद सिंह आंचलिक नहीं हैं क्योंकि उन्होंने आंचलिक परिवेश के बावजूद समग्र जीवन की पीड़ा को पहचाना है।[61] उक्त तत्वों के प्रयोग को लेकर वे खुद कहते हैं—आंचलिकता से मैंने क्या लिया—प्रकृति, उदास और मायूस जो मेरे चरित्रों के नीचे स्थित है। लोककथाएँ, सिर्फ इसलिए कि वे

---

61. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय वर्मा, पृष्ठ 88-89.

कहीं न कहीं प्रतीक-बिम्ब से जुड़ी हैं, जो मेरी अभिव्यक्ति को उपयुक्त संकेत दे पायेंगी। घर, आंगन, चहारदीवारी और जंगले, जो मनुष्य के मन के प्रतिबिम्ब हैं और मानसिक द्वन्द्व के समय इनसे छनकर ही वे आवाजें आती हैं जो इंसानियत का संकेत देती हैं।'[62]

इस अंतर को श्री शंकर पुणताम्बेकर ने साफ पहचाना है। वे लिखते हैं—'शिवप्रसाद सिंह की कहानियों पर आंचलिकता का लेबल इसलिए नहीं चिपकाया जाना चाहिए कि उनकी आंचलिकता में वे ही सारी बातें—जर्जरता, दीनता, शोषण, अनाचार, अत्याचार और इनके साथ-साथ सड़े-गले रीति-रिवाज, अंधविश्वास और जर्जर मान्यताएँ—विद्यमान हैं जो देश के किसी भी जंगल में उतनी ही भयानकता के साथ देखी जा सकती हैं।[63]

उक्त शिल्पगत प्रयोगों को साध्य रूप में ग्रहण करने के कारण आंचलिकता की भूमि शिल्प की है और वह प्रयोग रूपतः स्वीकृत है जबकि ग्रामकथा में ये तत्त्व साधन रूप में आते हैं लेकिन उसकी भूमि विषय की है, वह प्रयोग नहीं है।[64] ग्राम-कथा सबल थीम—'स्ट्रांग कंटेंट' का आंदोलन है।[65] यह थीम विशिष्ट भूभाग की सीमा में बँधती नहीं, जो आंचलिक का खास गुण है, सार्वभौम होती है। 'रसपिरिया' बजानेवाला बिहार के उस इलाके के अलावा शायद ही कहीं मिले पर ग्रामकथा के पात्र कहीं भी सहज ही देखे जा सकते हैं—कभी-कभी अपने देश के बाहर तक भी उनकी पहुँच-पकड़ चली जाती है। शिवप्रसाद सिंह के प्रायः सभी पात्र कबरी, तिउरा, नन्हों, बिहरिया, सुभागी, नीरू, बदलू, बशीर आदि ऐसे ही सार्वदेशिक पात्र हैं जिनकी समस्याएं सार्वभौम हैं। भिन्न नाम, समान प्रवृत्तियों के साथ ये देश के किसी भी कोने में देखे जा सकते हैं। लेखक ने इन सार्वभौम लोगों को एक विशिष्ट भूभाग, जो प्रायः गाँव होता है, से इसलिए चुना है कि वह इन्हें अच्छी तरह जान पाया है और यह विश्वास भी है कि मेरी अनुभव-परिधि बढ़ेगी तो वह भी आयेगा जिसे आज आंचलिक नहीं कहा जाता।[66] यह ग्रामकथाकार का मात्र स्वीकार नहीं, गतिशील चेतना का परिचायक है। किसी विशिष्ट अंचल, वहाँ के लोगों की प्रवृत्तियों को ही व्यक्त करने की रूढ़ जड़ता उसमें नहीं है। ग्रहीत गाँव-पात्र तो मात्र 'टोकेन' हैं, जिन्हें लेखक ने अपनी विचारधारा की पुष्टि के लिए चुना है, आंचलिकता लाने के लिए नहीं। मात्र आंचलिकता का मोह लेखक को मुख्य समस्याओं से परांगमुख

---

62. चतुर्दिक—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 203-4.
63. समीक्षा—जुलाई-अगस्त 1978, पृष्ठ 34.
64. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 132.
65. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 146-47.
66. चतुर्दिक—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 104.

और जनमानस को भावुक, रूमानी, अतीतोन्मुखी बनाने का कार्य करता है।[67] इसके कारण आंचलिक कथाओं में आधुनिक संवेदना की तीखी अभिव्यक्ति भले न हो पाये, ग्रामकथाएं आधुनिक संवेदना की सबल माध्यम हो सकती हैं।[68] 'बिन्दा महाराज', 'कर्मनाशा की हार', 'सुबह के बादल', 'आदिम हथियार' आदि तमाम कहानियों को आधुनिक संवेदना से हीन कैसे कहा जा सकता है ? लेकिन उस दौर में यह गलती हो गयी, बल्कि यूँ कहें कि ग्रामकथा को हीन बताने के लिए जानबूझकर कर दी गयी।[69] अगर ग्रामकथा को भी आधुनिकता के संदर्भ में आंका जाता तो नगरकथा के विभाजन की आवश्यकता उसी तरह न पड़ती जिस तरह 'नयी कहानी' नाम की।[70] और यह किया गया नगरकथा लिखने वाले लोगों की तरफ से—'अनुचित हुआ नगरकथा का आंदोलन और वह भी इसी त्वरा में जैसे ग्रामकथा-आंचलिक कथा दोनों के सिर से आधुनिकता का सेहरा समेटकर झटपट नये सिर पर स्थापित कर लिया जाय।'[71]

आंचलिक कथा में लोकतत्वों पर दृष्टि टिकी होने के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में उनकी पुनरावृत्ति पाठक के मन में ऊब पैदा करती है क्योंकि उसमें एकरसता आ जाती है। ग्रामकथा में विविधता होती है क्योंकि उसमें संबद्ध जीवन की समस्याओं के विविध रूपों का आकलन उसे हमेशा नयी बनाये रहता है। शैलेश मटियानी की 'तैंतीस कहानियाँ' तैंतीस दिन में पढ़ना भी एक खिन्नता की-सी मानसिकता उत्पन्न कर देता है जबकि शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में ग्रामजीवन की अनेक समस्याओं के बीच डूबते-उतराते रहने के कारण उत्सुकता बनी रहती है। शिवप्रसाद सिंह ने आंचलिक परिवेश के बावजूद समग्र जीवन की पीड़ा को पहचाना और उस सतही चित्रण से यथासंभव बचते रहे जिसके कारण शैलेश मटियानी की कहानियाँ निहायत रूमानी लगती हैं।[72]

इतने सब जाहिर संकेतों, स्पष्टीकरणों के बावजूद कुछ नमूने पेश हैं। जिनसे कहानी-पाठ और आलोचकीय दृष्टिकोण का खुलासा स्वयं हो जायेगा—

(1) प्रबुद्ध कथाकार श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने बहुचर्चित कहानी 'नन्हों' में यह दोष बताया कि इसमें आंचलिकता नहीं है।[73]

---

67. कल्पना—मार्च 1965—शिवप्रसाद सिंह का लेख, पृष्ठ 38-39.
68. वही, पृष्ठ 35.
69. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 146.
70. इंद्रनाथ मदान का कथन—स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 441 से उद्धृत।
71. वही।
72. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय, पृष्ठ 89.
73. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ 178.

(2) आज के नाम कमानेवाले आलोचकों में गिने जानेवाले श्री मधुरेश जी ने लिखा—'ग्रामीण यथार्थ के अंकन के अपने सारे आग्रहों के बावजूद न तो वह मारकण्डेय जैसी वैचारिक तेजस्विता लेकर चलते दिखायी देते हैं और न ही रेणु की तरह कहानी में लोकतत्वों के समुचित उपयोग के बावजूद आंचलिकता के प्रति एक स्वतंत्र आंदोलन का उत्साह लेकर चलते दिखायी देते हैं। इसीलिए न वह मारकण्डेय के ग्राम-कथा आंदोलन में पूरी तरह खप पाते और न ही अपनी घोषित अनांचलिकता के कारण रेणु की तरह आंचलिक कहानीकारों का एक अलग वर्ग बना पाते हैं।'[74]

दोनों ही उल्लेखों में शिकायत का मुद्दा कमोबेश एक ही है। यदि अश्क जी किसी रेलयात्री की कमजोरी यह बताते हैं कि वह डिब्बे के अंदर नहीं देखता तो मधुरेश जी का कहना है कि वह डिब्बे में देखनेवालों के साथ नहीं है या उन्हें लेकर वर्ग बनाने का उत्साह नहीं दिखाता, गोकि डिब्बे के अंदर देखना यात्री होने की कोई अनिवार्य शर्त हो।

'अश्क' जी के उक्त कथन के मुताबिक शायद आंचलिक होना कहानी की अनिवार्य विशेषता है जिसके बिना वह कहानी नहीं हो सकती। जो खुद कह रहा हो कि मुझे आंचलिक कठघरे में मत खड़ा करो, मैं आंचलिक नहीं हूँ, उसके संदर्भ में ऐसा वक्तव्य कितनी उपहासास्पद स्थिति पैदा कर देता है।

उसी प्रकार मधुरेश जी भी शायद किसी को तब तक कहानीकार नहीं मानेंगे जब तक वह, इस या उस, किसी खेमे का सक्रिय सदस्य न हो या फिर किसी स्वतंत्र आंदोलन का उत्साह लेकर न चलता हो। 'घोषित आंचलिकता' के बाद फिर आंचलिक कहानीकारों का वर्ग न बनने पर शिकायत का क्या अर्थ ?—बेसिर पैर की बात। अंतर्विरोधों से भरा यह वाक्य समीक्षक की ही स्थिति ज्यादा विचित्र बनाता है, कहानीकार की कम। आंदोलनों-वर्गों से परे स्वतंत्र लेखन यदि कहानीकार की स्थिति को विचित्र बनाता है तो इस आलोचना की बलिहारी ही मानी जायेगी। साहित्य में वर्गगत-दलगत राजनीति का ऐसा खुला पोषण अन्यत्र दुर्लभ है।

मधुरेश जी की आलोचना का एक और कमाल देखना हो तो उक्त कथन के रू-ब-रू रखकर यह वक्तव्य भी देखिए जो उसी लेख के अंत में आता है—

शिवप्रसाद सिंह आंचलिकता के प्रति किसी प्रकार का कोई उत्साह नहीं दिखाते। कदाचित् वह उन थोड़े से लेखकों में हैं जो उसकी अतिरंजनाओं को जल्दी ही समझ लेते हैं। यही कारण है कि रेणु से भिन्न वह अपने लिए एक स्वतंत्र राह बनाने की कोशिश में लगे रहते हैं।[75]

---

74. दस्तावेज-10—मधुरेश—कहानीकार शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 52.
75. वही, पृष्ठ 61.

अब कोई उनसे ही पूछे कि इन दोनों वक्तव्यों में क्या साम्य है, या दोनों में कौन सा वक्तव्य उनके दिमाग की उपज है ? खैर,

इस प्रकार यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि सभी ग्रामकथाएँ आंचलिक होती हैं और उनमें आधुनिकता का समावेश नहीं होता अन्यथा 'कफन', 'पूस की रात', 'सवा सेर गेहूँ', और 'गोदान' तक आंचलिक ही नहीं आधुनिकता से रहित हो जायेंगी क्योंकि ये भी ठेठ ग्राम जीवन पर आधारित रचनाएँ हैं। पर मैं समझता हूँ कि ऐसा मानने के लिए कोई तैयार नहीं होगा और इसीलिए शिवप्रसाद सिंह, मारकण्डेय, नागार्जुन, रामदरश मिश्र, अवधनारायण आदि लोग आंचलिक नहीं ग्राम कथाकार हैं। यह परिधि बहुत विस्तृत है। 'गुलकी बन्नो' के धर्मवीर भारती, 'देवा की माँ', 'राजा निरबंसिया', 'कस्बे का आदमी' के कमलेश्वर, 'दोपहर का भोजन' के अमरकांत, 'आर्द्रा' के मोहन राकेश, 'धरती अब भी घूम रही है' के विष्णु प्रभाकर, 'रानी माँ का चबूतरा', 'सजा' की मन्नू भंडारी आदि तमाम लोग इस परिधि के सशक्त हस्ताक्षर हैं।

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ग्राम कथा ज्यादा व्यापक और उपयुक्त शब्द है, आंचलिकता एक प्रवृत्ति मात्र है। ग्राम कथाएँ सभी आंचलिक नहीं होतीं[76] पर प्रत्येक आंचलिक कथा (यदि नागर जीवन पर आधारित नहीं है) ग्राम कथा होती है।[77] आंचलिकता हिन्दी में 1950-52 से ही मुखर या वाचाल, जिसे एक हद तक बड़बोली कह सकते हैं, हो पायी और साठोत्तरी दौर तक आते-आते (बड़बोलेपन के कारण ही) समाप्तप्राय हो गयी। ग्राम कथाएँ तो कथा साहित्य की शुरुआत से ही अपनी महत्ता लिए मौजूद रहीं। चूँकि तब नगर-कथा जैसा कोई विभाजन आंदोलन बनकर नहीं आया था, इसलिए अलग से इनकी चर्चा नहीं होती थी। जब से साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से 'डिवाइड एण्ड रूल' की हरकत लिए साहित्य में लेखक-पाठक के बीच तीसरों का प्रवेश हुआ, इस तरह की व्यर्थ चर्चाओं में समय-प्रतिभा की बर्बादी हुई और उसका परिणाम सबको भुगतना पड़ा। बहरहाल,

(ब) कहानियों में परिवेश-विधान

मनुष्य द्वारा जीने के लिए किया जाता संघर्ष रचना में किस हद तक वास्तविक है, इसे साबित करने के लिए हर समर्थ लेखक जीवन और रचना को परिवेश से जोड़कर अपने दायित्व और रचना धर्म का निर्वाह करता है।[78] नये दौर की कहानियों में अभी कुछ खास विशेषताओं में से एक यह परिवेश भी है जो इसे पुराने

---

76. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—पृष्ठ 143 पर 'आज की कहानी : प्रगति और परिमिति'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह के लेख से।
77. कल्पना—मार्च 1965—शिवप्रसाद सिंह के लेख, पृष्ठ 32 से।
78. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय, पृष्ठ 66.

दौर की कहानियों से अलग करता है—पुराने दौर में जहाँ व्यक्ति और समाज को अपने आप में देखने की प्रवृत्ति वर्तमान थी, वहीं आज उसे उसके परिवेश में देखने और मूल्यांकित करने की प्रवृत्ति व्याप्त है।[79] फिर नयी कहानी तो व्यक्ति के माध्यम से परिवेश और परिवेश के माध्यम से व्यक्ति को पाने की प्रक्रिया है[80] और यही प्रक्रिया शिवप्रसाद सिंह की कहानियों की जान है। व्यक्ति याने चरित्र, इनकी रचना-प्रक्रिया में पहले आते हैं पर बकौल लेखक ही, चरित्र का तात्पर्य उन परिस्थितियों के रूपों का विश्लेषण है जिनसे मानव-सत्य आवेष्टित है[81] याने व्यक्ति के माध्यम से परिवेश और परिवेश के माध्यम से व्यक्ति को पाने की प्रक्रिया। डॉ० सिंह के लिए प्रेरणा और प्रभाव सापेक्ष्य शब्द हैं। वे मानते हैं कि इनके अस्तित्व या प्रकार का बोध साहित्यकार की अपनी परिस्थितियों के बोध से उपजता है। आज के प्रत्येक साहित्यकार के मन में संक्रमण-काल से गुजरते हुए अपने समाज का भरपूर असर पड़ रहा है[82] और इससे पहले शायद कभी इतनी जरूरत नहीं थी कि लेखक अपने साहित्य को अपने युग की परिस्थितियों से जोड़े।[83] इस तरह शिवप्रसाद जी की कहानियों में व्यक्त परिवेश (और व्यक्ति का परस्पर संबंध) इनके कहानी-लेखन की आधारशिला है जो नयी कहानी की प्रवृत्ति ही नहीं, लेखक की प्रेरणा बनकर युगीन आवश्यकता की पूर्त्ति भी करता है।

निर्विवाद रूप से शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का परिवेश स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण परिवेश है। किन्तु स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण परिवेश के अध्ययन के लिए हम जो भी किताब उठाते हैं, उनमें वर्णित परिवेश और डॉ० सिंह की कहानियों के परिवेश में कोई समानता नहीं मिलती। इनकी कहानियों में वह सब कुछ नहीं मिलता जो आजादी के बाद देश के महान नेताओं के आदर्श और उनकी लोकमंगलकारी प्रज्ञा के फलस्वरूप स्वतंत्र भारत की प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था के संविधान में गाँवों के लिए बनायी गयी विभिन्न स्कीमों-परियोजनाओं के रूप में लागू किये गये और जो वहीं से उठाकर अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नागरिकशास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान-संबंधी पुस्तकों में लिपिबद्ध (रेकार्ड) कर दिये गये या जो साहित्येतिहास की छोटी-बड़ी सभी पुस्तकों में युगीन परिवेश और प्रेरक परिस्थितियों के नाम पर पन्ने भरने के रूप में इस्तेमाल किये गये और जो आंदोलनों और नारों के प्रवाह में तर जाने के लिए कागजी नौका के रूप में सृजन के आयाम बने। यहाँ वह राजनीतिक रंगत भी नहीं मिलती जिसमें पार्टियों की नारेबाजियों, झंडे फहराते वोट माँगनेवालों की रेल-पेल और सभा-

79. नई कहानी की मूल संवेदना—श्री सुरेश सिन्हा, पृष्ठ 39.
80. नयी कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 44.
81. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 192.
82. कस्तूरी मृग—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 169.
83. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 8.

सोसाइटियों की चीख-चिल्लाहट मची रहती है। विभाजन और दंगे के फलस्वरूप आते-जाते धूरि-धूसरित काफिलों के स्वर, बिछुड़ते-टूटते लोगों के आर्त्तनाद भी यहाँ सुनने को नहीं मिलते—राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संदर्भ तो दूर की बात।

इसलिए यह सब कुछ देखने-पढ़ने की उम्मीद रखनेवाले को प्रथमतः निराशा ही हाथ लगेगी क्योंकि यहाँ तो गाँवों का वही असली रूप मिलेगा जो वैज्ञानिक और संवैधानिक विकास के तमाम आधुनिक स्रोतों को मुँह चिढ़ाता, उनसे अछूता और इसीलिए आज की सभ्य दुनिया से उपेक्षित पड़ा है। वास्तव में जिस सुदूर (इण्टीरियर) ग्रामीण क्षेत्र की जिन्दगी इन कहानियों का उपजीव्य बनी है, उसकी व्यावहारिक सचाई ही उसमें खुलकर चित्रित हुई है। तत्कालीन परिवेश का जो आकलन पुस्तकों में हुआ है, वह महज कागजी योजनाओं को आधार मानकर लिखा गया है। शहरी क्षेत्रों में आये परिवर्तनों को आधार मानकर लिखा गया है। शहरी क्षेत्रों में आये परिवर्तनों को संपूर्ण देश का परिवेश बनाकर चित्रित किया जाता रहा। राष्ट्रीय उपलब्धि (आजादी) के स्वाभिमान और जोश में लोग कुछ दिनों तक विस्तृत ग्रामीण क्षेत्र की असली स्थिति का बयान करने से कतराते रहे जो ग्रामवासियों के संपूर्ण संघर्ष और देश की संवैधानिक उपलब्धि की बहुत बड़ी विडंबना रही। राष्ट्रनायकों के आवाहन पर जो अपार जनसमूह बिना आगा-पीछा सोचे प्राणपण से जिस आन्दोलन में कूद पड़ा, उसकी सफलता चंद लोगों की मुट्ठी में बन्द हो गयी और सहसा वे चंद लोग देश की उन्नतिशीलता का प्रतिनिधित्व करने लगे। इस विडंबना को डॉ० सिंह का रचनाकार एक क्षण के लिए भी भुला नहीं पाता और चूँकि उसका निजी जीवन उसी परिवेश का एक हिस्सा है अतः उसे झुठला भी नहीं पाता। इसीलिए वह ग्रामीण थाली में खयाली पुलाव नहीं परोसता, वहाँ के माँड़भात[84] खाती जिन्दगी के परिवेश को ही अपना विषय बनाता है।

परिवेश के विविध रूप

इस प्रकार समस्त आधुनिक बदलावों से दूर पड़ा गाँव डॉ० सिंह की लेखकीय चेतना का केन्द्र रहा है। इसके परिवेश के संबंध में विचार करते हुए हमें सबसे पहले यह याद रखना होगा कि हमारा ग्रामीण समाज मूलतः संस्कारों से परिचालित होता है। निर्णय करना मुश्किल है कि उनके संस्कार परिवेश का निर्माण करते हैं या परिवेश में संस्कार फलते-फूलते हैं। शायद दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः परिवेश के सभी पक्षों को उनके संस्कारों के आधार पर ही समझा जा सकता है। ये संस्कार समाज और संस्कृति में एकदम खप गये होते हैं पर राजनीतिक और आर्थिक संदर्भ इससे उतने प्रभावित नहीं होते—हालाँकि ये उन पर भी हाथ मारने से बाज नहीं आते लेकिन मूलतः बदलती राजनीति और अर्थनीति संस्कारों को छोड़कर ही अपनी राह बनाती हैं। इसीलिए शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के मेरुदण्ड उनके सामाजिक और

---

84. मुरादसराय—(तकावी), पृष्ठ 157.

सांस्कृतिक परिवेश ही हैं जिनसे गाँव साकार हो उठा है। राजनीतिक-धार्मिक-आर्थिक परिवेश का विश्लेषण अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। अस्तु,

1. सामाजिक परिवेश

गाँवों में प्रचलित लगभग सभी सामाजिक पहलू डॉ० सिंह की कहानियों में मिलते हैं। उन्होंने इन पर चिंतन किया है और समकालीन परिवेश में आनेवाले प्रायः सभी पक्ष एक स्वस्थ लेखकीय दृष्टि का संकेत करते हैं।

वर्ण-व्यवस्था—जाति-प्रथा

प्राचीन काल में कर्मों को आधार मानकर बनायी गयी वर्ण-व्यवस्था अब जातीयता पर आकर टिक गयी है। गाँवों में स्थान-जाति से अलग आदमी का अस्तित्व नहीं होता।[85] वहाँ की सामाजिक संरचना का सबसे प्रधान अंग 'जाति' ही है। अपने को श्रेष्ठ दिखाने की प्रवृत्ति से परिचालित हमारा समाज अनेक जातियों-उपजातियों में बँटकर रह गया है। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में लोहार (मंगरू—मुर्गे ने बांग दी), कोहार (टीमल—'माटी की औलाद') और बारी (रोपन—'कलंकी अवतार') आदि के कर्मों और समाज में उनकी जरूरत-दर्जा यथातथ्य रूप में देखे जा सकते हैं। इनके संस्कारगत बंधन इतने दृढ़ हैं कि ये उससे छूटने की बात भी नहीं सुनना चाहते। इन्हें प्रजा कहा गया है।

इनके अलावा नट (जुम्मन—'आर-पार की माला', बब्बन, बदलू—'पापजीवी'), कुंजड़ (तिउरा—गोदुवाँ-धारा), मुसहर (कबरी-मंगरा—'इन्हें भी इंतजार है') और चमारों (हरू—'खैरा पीपल कभी न डोले') (बच्चन—'उपहार') आदि अस्पृश्य जातियों का वर्णन पूरी तल्लीनता के साथ हुआ है। ये सिर्फ जातिगत अभिशाप को भोग रहे हैं। इनकी स्थिति समाज में नितांत तिरस्करणीय है। मंगरा के माध्यम से अस्पृश्यता की समस्या बड़े तार्किक ढंग से उठायी गयी है।[86] ये मजदूर वर्ग में आते हैं।

वर्णसूचक जातिप्रथा से अलग एक और वर्ग है—किसानों का। इसमें हर जाति के लोग सम्मिलित हैं—ठाकुर भी, देवीसिंह (उस दिन तारीख थी)। इनके हाल प्रजावर्ग और मजदूर वर्ग से जरा भी अच्छे नहीं हैं। ये बड़े जमींदार की भी चपेट खाते हैं और प्रकृति की भी। आजादी के बाद अछूतों और पिछड़ी जातियों को लेकर तमाम तरह की सरकारी-गैरसरकारी सुविधाएँ दी गयीं पर ये किसान तो सदा ही उपेक्षित रहे। उलटे आजादी के बाद एक तेहरा शोषण भी चला इनका। लेखक ने अपने एक निबंध में इसका खुला विवेचन किया है और बड़े विस्तार तथा गहराई में

---

85. 'भेड़िये', पृष्ठ 112.
86. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 73.

जाकर किसानों की समस्या को उठाया है।[87] लड़ाई के मौके पर उन्होंने (प्रधान मंत्री ने) किसानों से ही खून और पसीना दोनों मांगा है...(तमाम नामों के उदाहरण देकर)...ये सभी तो किसान हैं। (और फिर सवालिया लहजे में असली बात पर उतरते हुए)....क्या देश की सरकार से पूछा जाये कि पिछले अट्ठारह वर्षों में आपने इन किसानों के लिए क्या किया ?—ये निरंतर प्रतीक्षा करते रहे कि इनके भी दिन लौटेंगे। एक न एक दिन शासक यह जानेंगे कि किसान भी भारत का ही एक दीन-हीन जनसमूह है जिसकी भी कुछ आकांक्षाएँ और कामनाएँ होती हैं।...यदि वाकई हमें किसान से खून और पसीना दोनों चाहिए तो हमें इतना ख्याल तो करना ही पड़ेगा कि वे इन दोनों को दे सकने की स्थिति में तो रहें। जाहिर है कि कहानियाँ लिखते समय ये सभी बातें लेखक की चेतना से टकराती रहीं जिसका परिणाम इन कहानियों के किसानों की दयनीय स्थिति में देखा जा सकता है। मजदूरों और प्रजा-वर्ग के लोगों के मुकाबले सामाजिक दर्जा भले इनका थोड़ा ऊँचा हो पर स्थितियाँ ज्यादा ही नाजुक हैं।

जमींदार

ऊपर उल्लिखित सभी जातियों-समूहों के मुकाबले जमींदारों का दूसरा वर्ग है। संख्या में ये गिने-चुने ही होते हैं पर कई-कई गाँवों पर इनका दबदबा होता है। ये सवर्ण जाति के लोग होते हैं—अक्सर ठाकुर या ब्राह्मण। प्रजा और मजदूर वर्ग के लोग इन्हीं की सेवा में मजदूरी करते हैं। कुछ संक्षिप्त वर्णनों के अलावा (उपधाइन मैया, घूरे (सुबह के बादल), भैरो पाण्डे (कर्मनाशा की हार) आदि) ब्राह्मण भी प्रायः जमींदार के रूप में चित्रित हैं, ठाकुर तो जमींदार हैं ही। ये हमेशा इतर जनसमूह को सताते रहते हैं। इनसे वर्गसंघर्ष का माहौल बना रहता है। लेकिन परिवेश के मुताबिक कभी यह संघर्ष होता नहीं। पुस्तकों में उल्लेख मिलता है कि स्वतंत्रता मिलने पर जमींदारी-उन्मूलन का आदेश आया। इसके बाद इस वर्ग द्वारा इतर वर्ग का शोषण समाप्त हो गया।[88] किन्तु शिवप्रसाद सिंह इसकी व्यावहारिक मीमांसा करके बताते हैं कि इसमें कोई फर्क नहीं आया। 'महराज यानी रामसुभग तिवारी इस गाँव के जमींदार हैं। हैं नहीं, थे क्योंकि कागज में लिखा है कि जमींदारी टूट गयी, पर हैं ही कहना ज्यादा ठीक है। उनका चार सौ बीघे पक्के का सीर अब भी होता है।'[89] ठाकुर भेदूसिंह जमींदारी टूटने के कारण रोपन का खेत बेदखल नहीं कर पाते, नीलाम करते हैं—बस नाम का फर्क आया है।[90] वही ब्राह्मण जमींदार

87. आधुनिक परिवेश और नवलेखन (मान्य-पंथाः)—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 20-21.
88. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—चतुर्दश भाग—(ना० प्र० स०) संपादक—हरवंशलाल शर्मा और कैलाशचंद्र भाटिया, पृष्ठ 20.
89. कर्मनाशा की हार (माटी और औलाद)।
90. भेड़िए (कलंकी अवतार)।

आजादी के बाद ठीकेदार बनकर मजदूरों का शोषण करते हैं।[91] इस तरह जमींदारी टूट गयी पर लेखक के शब्दों में जमींदारी व्यवस्था की तलछट अभी पड़े हैं—उतने ही बदबूदार-सड़े हुए। इन्हें बदलना जरूरी है।[92] पर ये बदलेंगे तो दूसरा नाम धर-कर फिर वही काम करेंगे। ये यथार्थ स्थितियाँ हैं जिन्हें इतिहास लिखनेवाला गटक जाता है पर जहीन लेखक के गले में ये मछली की तरह अंटक जाती हैं।

परिवार : संयुक्त और विभक्त

संयुक्त परिवार हमारे समाज का आदर्श रहा है पर समय के बदलते परिप्रेक्ष्य में परिवार टूटता जा रहा है। ये दोनों ही स्थितियाँ इन कहानियों में देखी जा सकती हैं। वैसे तो लेखक संयुक्त परिवार का आग्रही लगता है पर समय के आगे दुराग्रही नहीं बनता। फलतः 'वशीकरण', 'बीच की दीवार' में तो आग्रह निभाता है—भाभी और भाई को मिलाए रहता है, पर 'तकावी' में विभक्त स्थिति को स्वीकारना ही पड़ता है—डंड़वारी पड़ जाती है। यूँ आज के व्यक्ति-स्वातंत्र्य वाले जमाने में संयुक्त परिवार का बने रहना मुश्किल हो गया है, अवैज्ञानिक सिद्ध किया जा चुका है पर कहीं-कहीं सहनशक्ति और आपसी प्रेम-व्यवहार के बूते पर गाँवों में यह सुलभ भी है। लेखक को काम्य है ही। सो, 'भेड़िए' के तीनों भाई मिलकर ही रहते हैं। उनके आपसी विचार-व्यवहार आठवें दशक में भी संयुक्त परिवार का नमूना पेश करते हैं।

नारी-स्थिति

नारियों की स्थिति के संबंध में भी लिखा जाता है कि संयुक्त परिवार के विघटन का प्रभाव नारी-जीवन पर बहुत पड़ा। वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी हुई, उसमें स्वाभिमान और आत्मगौरव जागे। शिवप्रसाद सिंह की इक्की-दुक्की नारियाँ ही इस कथन के उपयुक्त बैठती हैं—'नन्हों', 'धरातल' की मैना आदि, पर ये भी मात्र प्रयत्नोन्मुख हैं वरना अधिकांश कहानियों की नारियाँ आम स्थितियों की व्यावहारिक सचाई के आलोक में उक्त कथन का मखौल ही उड़ाती हैं। हकीकत यही है कि कुछ विशिष्ट स्थितियों को छोड़कर नारी के आम हालात नितांत गर्हणीय ही हैं। आजादी के पहले 1917 में मत देने का अधिकार, 1919 में सरोजिनी नायडू, एनीबेसेंट, श्रीमती हीराबाई आदि के प्रयत्नों से राजनीतिक अधिकार पा लेने से लेकर 1937 में स्त्री-पुरुष के बुनियादी अधिकारों की समानता की घोषणा तक के बीच और बाद में भी अनेक 'ऐक्ट' पास हुए, घोषणाएँ हुईं पर परिवेश की यथार्थ स्थिति को बतानेवाली शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के साक्ष्य पर वास्तविकता यही है कि राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध ये उत्थान संवैधानिक सफलता के बावजूद अपने व्यावहारिक रूप में उतने ही व्यर्थ रहे जितना आम आदमी के लिए आजादी। इन कहानियों के नारी पात्रों की जमात इसी सचाई को अनावृत करती है।

---

91. कर्मनाशा की हार (पापजीवी)।
92. भेड़िए (तो)।

दहेज

दहेज की भयानक बीमारी हमारे सामाजिक परिवेश में फैली है। यह समाज के बहुत बड़े अंश को आजीवन तड़पने पर मजबूर कर देती है या थका-थका कर मौत की गोद में डाल देती है। नन्हों, सोना भाभी (अंधकूप), शोभा बुआ (हत्या और आत्म-हत्या के बीच), सत्ती (महुए के फूल) आदि तमाम पात्र इसी की शिकार बनकर रह गयी हैं। शोभा बुआ तो शायद दहेजविरोधी कानून बनने के बाद की उपज हैं। पर यहाँ कानून की परवाह कौन करता है ? इसी सबको हमने डॉ० सिंह की कहानियों के मुकाबले कागजी परिवेश कहा है।

विवाह

विवाह, संबंधों के बनने और जोड़ने का अनिवार्य सूत्र है। अब इसका रूप इतना विकृत हो गया है कि यह समाज के खोखलेपन का प्रमाण बन गया है। सामाजिक उत्तरदायित्व के नाम पर यह अबोध बच्चों के पैरों की बेड़ी बनकर रह गया है। कहानियों के सभी युवक-युवतियाँ इस बंधन में कसे-फंसे छटपटा रहे हैं। 'बरगद का पेड़' की शीला, 'महुए के फूल' की सत्ती, 'केवड़े का फूल' की अनिता, नन्हों, सोना भाभी (अंधकूप), अवधू (एक यात्रा सतह के नीचे) आदि सबके सब चिल्ला-चिल्लाकर इसके खोखलेपन की घोषणा कर रहे हैं। 'बड़ी लकीरें' का 'मैं' तो साफ-साफ कहता है—वह (उसकी पत्नी) बिना किसी के भेजे मेरे पास नहीं आयी है। सिर्फ उसके आंचल का खूंट मेरी चादर के खूंट से जुड़ा था। वह मेरे अस्तित्व से जुड़ी ही कब ?[93] गाँवों में होनेवाली धर्म-विहीन शादियों की असलियत शत-प्रतिशत यही है, पर हमारी समाज-व्यवस्था का यह बड़ा ही मजबूत अंग है। कुल-खानदान की मान-मर्यादा, जातिगत कठोरता इसके खोखलेपन के मुख्य कारण हैं। अब जब परिवेश कुछ बदले हैं, अंतरजातीय विवाह कर लेने की हिम्मत आयी है पर उसे समाज की स्वीकृति तो जातिगत गुटबंदी के मोहरे बनने पर ही मिलती है (आदिम हथियार)। इसका स्वस्थ रूप देखने के लिए शायद अभी सदियों इंतजार करना पड़े।

पंचायत

पंचायतें पहले भी होती थीं और तब मात्र जमींदार की इच्छा ही अंतिम फैसला हुआ करती थी। 'कर्मनाशा की हार' में इसकी एक झलक देखी जा सकती है। अब आजादी के बाद पंचायत गाँवों में एक वैधानिक संस्था के रूप में स्थापित की गयी। सरपंच, प्रधान, ग्रामसभा के सदस्य आदि एकदम वैधानिक तरीके से चुने और मनोनीत किये जाते हैं। पर कोई सार्थक परिणाम निकलता नहीं दिखा अभी तक। वैसी ही दहपेल मची है। 'आदिम हथियार' में ठाकुर और उनके 'होशियार गैंग' के नेतृत्व में हुई पंचायत इसका बेहतरीन नमूना है। ये पंचायतें जनकल्याण

---

93. भेड़िए (बड़ी लकीरें), पृष्ठ 17.

के नाम पर संपूर्ण ग्रामीण परिवेश को विषाक्त कर रही हैं। 'भेड़िए' के मोतीलाल और 'बड़ी लकीरें' के मेवालाल इसके प्रत्यक्ष सबूत हैं। पंचायत जब लहरी सिंह (बीच की दीवार) को वैधानिक ढंग से उनका हिस्सा दिला देती है तो भी वह कोरी कानूनी कार्यवाही ही बनकर रह जाती है क्योंकि ऐसा फैसला तो 'कोर्ट' भी दे सकता था। पंचायतें व्यावहारिक सचाइयों के आधार पर निर्णय लेने के लिए बनायी गयी हैं। जिस पर यह फैसला भी एकदम अर्थहीन साबित होता है। कुल मिलाकर पंचायतें भी हमारे सामाजिक परिवेश में उड़ते गर्दगुबार की खानें ही साबित हुई हैं।

रूढ़ियाँ

यूँ तो विवाह, दहेज आदि सबके रूप रूढ़ियों से अलग नहीं कहे जा सकते पर इनके नाम अलग जरूर हैं। इनके अलावा भी बहुत सारी कोरी रूढ़ियाँ ग्रामीण परिवेश में समाज की रूपरेखा तय करती हैं। 'रेती' और 'कर्मनाशा की हार' ऐसी ही रूढ़ियों पर आधारित परिवेश प्रधान कहानियाँ हैं। 'कर्मनाशा की हार' में नरबलि देकर बाढ़ से गाँव की रक्षा करना ऐसी ही रूढ़ि है। 'रेती' की रूढ़ि इससे भी प्रबल और आम (कॉमन) है। बच्चा न होने का सारा दोष नारी के सर पर मढ़ना और उसके जीवन को निहायत कदर्थ बना देना इस परिवेश में अभिशाप बन गया है। पुरुष पर इसके लिए शक ही नहीं किया जाता। उसे सर्वकाल स्वस्थ और संतानोत्पत्ति के योग्य मान लेना भी संबद्ध रूढ़ि का पहलू है। आदर्शमय सुखांत के मोह में लेखक लिजलिजी काव्यात्मकता पर कहानी को खत्म करके समस्या के अपेक्षित असर को गहराने नहीं देता, कम कर देता है। कमलेश्वर ने इसी परिवेशगत एकांगी मानसिकता के संदर्भ को लेकर 'राजा निरबंसिया' लिखी जो इन भावुक मोहों से बचकर समस्या पर केन्द्रित रहने से ख्याति पा सकी और 'रेती' ज्यादा सामाजिक संसक्ति के बावजूद अचर्चित रह गयी। ये रूढ़ियाँ तर्क से बिल्कुल अछूती होती हैं। भैरो पाण्डे और 'रेती' का 'मैं' इसे तार्किक आयाम देने की कोशिश करते हैं। इस तरह की और तमाम रूढ़ियाँ ग्रामीण परिवेश में भरी पड़ी हैं।

2. सांस्कृतिक परिवेश

भारतीय संस्कृति के अक्षय भण्डार ग्राम ही हैं। ग्रामीण के संस्कारों में आज भी संस्कृति के मूल रूप देखे जा सकते हैं। अगर ग्राम-संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहा जाये तो बेजा न होगा। पर अब नगरों से प्रक्षेपित सभ्यता के कारण वहाँ भी संस्कृति के मौलिक रूप नष्ट होते जा रहे हैं। शायद इस संक्रमण से उबरकर एक नयी संस्कृति उभरे। फिर भी गाँवों की मौलिक संस्कृति के कोश अभी निःशेष नहीं हुए हैं। आधुनिक सभ्यता के धक्कों से अप्रभावित संस्कृति के अविरल अनाविल रूप शेष रह गये हैं और सच पूछा जाये तो ये ही ग्रामीण परिवेश का निर्माण करते हैं। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में ये तत्त्व इन रूपों में देखे जा सकते हैं—

उत्सव-त्योहार

गाँवों में मनाए जानेवाले अनेक उत्सव-त्योहारों में हमारी संस्कृति सुरक्षित है। इन कहानियों में प्रमुख रूप से औरतों के त्योहारों का चित्रण हुआ है जो सर्व-काल अपरिवर्तित रह गये हैं। 'रेती' में मातृनवमी का विस्तृत वर्णन मिलता है—सामने घाट पर बड़ी भीड़ थी। श्वेतकेशी बूढ़ियों, पीली साड़ियों में सिकुड़ी बहुओं और रंगीन फूलों से बाल सजाये चंचल लड़कियों का रेला लगा था। सूरज के गोले ने जैसे ही पानी की सतह को छुआ, औरतों की जमात पानी में कूद पड़ी। आज जिउतिया है, मातृनवमी, पुत्रवती नारी का महत्वपूर्ण पर्व।

ए चील, किनारे खड़ी एक बूढ़ी औरत आकाश में मँडराते पक्षी की ओर हाथ उठाकर चिल्ला उठी—'जाकर राजा रामचन्द्र से कह देना कि रामू की माँ ने आज खरजिउतिया का व्रत किया था।' आकाश में पक्षी का चक्कर जारी रहा। बूढ़ी औरत हर लड़के का नाम ले-लेकर उसकी माँ के व्रत की बात बताती रही। पक्षी जैसे चक्कर दे-देकर उन नामों को घोख रहा था, उसे राजा रामचंद्र के सामने पूरी तालिका जो पेश करनी थी।'[94] 'उपधाइन मैया' में जन्माष्टमी और 'खैरा पीपल कभी न डोले' में होली के संकेत हैं पर इनके मनाए जानेवाले रूपों पर चर्चा नहीं हुई है। चमटोल में लगायी जानेवाली गादी चमारों का धार्मिक-सांस्कृतिक समारोह है। इसकी चर्चा दो कहानियों—'नन्हों' और 'खैरा पीपल कभी न डोले' में हुई है। 'कार्तिक पूर्णिमा' को गादी लगती है। बीच चौकी पर सतगुरु की तस्वीर फूलमालाओं से सजाकर रखी थी। अगरबत्ती के धुएँ से चमरौटी की गंदी हवा भी खुशबूदार हो गयी थी। कीर्तनमंडली बैठी हुई थी। गाँव की औरतें, बच्चे-बूढ़े इकट्ठे होकर भजन सुन रहे थे।[95]

इनके अलावा बच्चों के जन्म-विवाहादि के मौके पर मनाए जानेवाले उत्सव भी हमारी ग्रामीण संस्कृति के उल्लेखनीय तत्व हैं। नन्हों के विवाह का उत्सव जहाँ पूर्व रूढ़िग्रस्तता लिए अपने अनगढ़ रूप में वर्णित हुआ है वहीं तकावी में विवाह का चित्रण कुछ आधुनिक तत्वों (जिनमें भदेसपन भी भरा है) के मेल का भी जिक्र करता है। विवाह में खान-पान और तौर-तरीकों का सारा वर्णन ग्रामप्रचलित संस्कृति के रूप में पेश किया गया है। बच्चे का जन्मोत्सव 'बिन्दा महाराज' के नाच-गान और गाँव की सभी औरतों के खोंइछे (आंचल) चावल से भरे जाने में देखा जा सकता है। इस मौके पर औरतें सोहर गाती हैं (बेहया)।

भरे-पूरे घर का वृद्ध मरता है तो उत्साह में उत्सव मनाये जाते हैं। 'दादी माँ' के वृद्ध, 'किसकी पांखें' के बुढ़ऊ, 'इन्हें भी इंतजार है' के बाबा आदि के श्राद्ध-कर्म उत्सव के रूप में मनाये जाते हैं। दाह-कर्म से लेकर तेरहवें दिन के भोज तक के सारे कर्म

---

94. कर्मनाशा की हार—(रेती), पृष्ठ 179.
95. इन्हें भी इंतजार है (नन्हों), पृष्ठ 21.

सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करते हैं। इन सारे उत्सवी आयोजनों को एकत्र देखना हो तो रोपन बारी के कर्मों को याद कर लेना काफी होगा—'उन्हें (रोपन को) किस लड़के के जनम, जनेऊ या शादी-व्याह का व्योरा नहीं मालूम ?...जूठी पत्तलें उठाते-उठाते कमर दुखने लगती। गाँव के एक-एक घर को बुलौवा पहुँचाते-पहुँचाते रोपन पचास को पहुँच गये।...बरखी, किरिया-करम, पिण्डदान में भी रोपन सबसे आगे रहते।[96]

नौटंकी (नाटक)

इन सभी उत्सवों पर आवश्यक रूप से नाच-गान, नौटंकी, ड्रामा आदि का आयोजन होता है। रामनवमी पर लगनेवाले मेले में भी ये आयोजित होते हैं। 'बहाव वृत्ति' में नाटक का आयोजन पूरे गाँव की सहमति से पंचायत द्वारा किया जाता है। बिहरिया (बहाव वृत्ति) के अलावा मास्टर सुखलाल 'ड्रामा-शो' के अधिकारी जानकार हैं। 'कर्मनाशा की हार' और 'तो' कहानियों में भी नौटंकी के दृश्य सोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। मंच-सज्जा और साज-बाज, पहनावे-पर्दे आदि के वर्णनों में लेखक का मन खूब रमा है। इसलिए कहानियों में अनेक ऐसे चित्रण सांस्कृतिक परिवेश के दर्पण बन गये हैं।

क्रीड़ा

बच्चों द्वारा खेले जानेवाले विभिन्न प्रकार के खेलों में सांस्कृतिक परिवेश की झलक दिखायी पड़ती है। शाम होते ही खैरा पीपल के नीचे बच्चों का हुजूम जुटता। चाक-चकई का खेल ही इस कहानी का अंतः सूत्र है। होला-पाती, सतपरवा, कबड्डी आदि बच्चों के खेल अनेक स्थलों पर आये हैं। सयानों के खेल के रूप में दंगल को लिया जा सकता है। लेखक का यह बड़ा प्रिय प्रसंग है। 'देऊ दादा', 'अंधेरा हँसता है', 'आखिरी बात' आदि अनेक कहानियों में इनके आयोजन और वर्णन के प्रसंग आये हैं। जुम्मन, बब्बर, बदलू का यह पेशा ही था और भोलू चौधरी (अंधेरा हँसता है), देऊदादा, हमीदा, देवा, मदन (आखिरी बात) आदि नामी-गरामी पहलवान हैं ही। इन पहलवानों के शारीरिक गठन, खान-पान, रहन-सहन का भी पहलवानोचित वर्णन मिलता है। लेखक के मन में पहलवानी इस कदर समायी है कि वह आलंकारिक रूप में भी फूट पड़ी है—'फुन्नन मियाँ ने हरखू पंडित की ओर यों देखा जैसे दो-एक दिन धूल लपेटकर रियाज ठोंकनेवाले घमण्डी छोकरे को चारों खाने चित्त पटककर कोई बड़ा पहलवान मुस्करा रहा हो।'[97]

लोककथा

लोककथाओं में ग्रामीण संस्कृति का बड़ा मार्मिक रूप देखा जा सकता है। लेखक की कहानियों के सांस्कृतिक परिवेश-निर्माण में इनका आकलन मात्र रंजक ही

96. भेड़िए (कलंकी अवतार), पृ० 4-5
97. इन्हें भी इंतजार है (आखिरी बात), पृष्ठ 106.

नहीं, कलात्मक भी है। 'महुए के फूल', पूरी की पूरी कहानी लोककथा में से ही निकली है—एक जमाना था जब इस पगडंडी पर सत्ती और चंपा की कहानियाँ ही चलती थीं जो सब यह पगडंडी अपने दिल में छिपाये निश्चेष्ट पड़ी है।[98] लगता है लेखक ने इसे ही अपनी कल्पना-शक्ति से उघाड़ दिया है। इसके भीतर फिर महुए और साँप की संवादात्मक लोककथा है। 'बरगद का पेड़' में दादी भी लोककथा सुनाती है। अरुन्धती में चुरुला की कहानी लोककथा का अद्भुत रूप प्रस्तुत करती है। रात में कहानी सुनने के लिए जुटा मजमा ग्रामीण संस्कृति का नमूना बन गया है। बहुत दिनों के बाद आकर घायल लड़के को उठा लेनेवाली 'उपधाइन मैया' लेखक को किसी लोककथा की देवी की तरह लगती हैं।

लोकगीत

ग्रामवासी अपने दुःख-सुख, उछाह-अवसाद को गीतों में व्यक्त करते हैं। जब जैसा अवसर होता है, उसी के मुताबिक उनके राग फिजा को चीरते हुए बड़ा ही सुहाना वातावरण निर्मित करते हैं। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में ऐसे प्रसंगों के साथ बड़े मर्मस्पर्शी और व्यंजक लोकगीत पिरोये हुए मिलते हैं। लोककथा कहते हुए लोचन बीच-बीच में लोकगीत का पुट देता है—

> 'हे-ए-ए........।'
> सबकी नगरिया चुरुला बंसिया बजवले, बाबुरे
> मोरी नगरी... काहे न सुनवले मधुबैन, मोरी नगरी....
> सबकी नगरिया रनिया, बंसिया बजवली, बाबुरे
> तोरी नगरी पहरा परेला दिन रैन, तोरी नगरी[99]

उसके आरोह-अवरोह को लेखक ने सटीक पकड़ा है, ठेक, स्वरलहरी सबमें लोकधुन की खनक मिलती है।

चमारों की गादी पर भी गीत गाये जाते हैं—

> एही पार गंगा, ओही पार जमुना
> होए-ए-ए
> बिचवा में साहब क डेरा
> बिचवा में साहब क डेरा ।।।....[100]

शैली, पुनरावृत्ति और शब्दों पर दबाव की लयात्मकता यहाँ भी भरपूर निभायी गयी है। उत्सव-त्योहारों में प्रायः हर मौके के गीतों की बानगियाँ देखी जा सकती हैं। बाबा के श्राद्ध के अवसर पर भी कबरी-मंगरा को गाते-बजाते-नाचते दिखाया गया

---

98. आर-पार की माला (महुए के फूल), पृष्ठ 30
99. मुरदासराय (अरुन्धती), पृष्ठ 26.
100. इन्हें भी इंतजार है (खैरा पीपल कभी न डोले), पृष्ठ 222.

है।[101] बच्चे के जन्म पर बिन्दामहाराज तो फिल्मी गीता गाता है, पर सुभागी (बेहया) की बेटी तारा के पुत्र-जन्म पर सोहर भी सुना जा सकता है—

रिमिकि-झिमिकि देवा बरिसइं हो
कि मोतियन ओरी चूवैं हो-ओ-ओ[102]

इन लोककथाओं और आयोजनों के अलावा ग्राम-मन के तमाम क्षणों की अभिव्यक्ति लोकगीतों में हुई है। उमंग में उठे गाड़ीवानों के लहरे दूर-दूर तक के ग्रामप्रांत को रसमय बना देते हैं—

अमवा के डारी में मोजरि फूलेले
गुलरी फुलेले हड़फोर
गोरिया की छतिया जोबनवा फुलेला
कि फाटेला करेजवा रे मोर।[103]

जांते पर बैठी औरतों के गीतों में बंधी लोकमन की वेदना तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक उन्हीं रूपों में व्यक्त होती रहती है। तभी तो जो गीत 'गबन' की जालपा-रतन मिलकर गाती हैं, वही फुलमतिया भी गाती है—

मोहे जोगिनी बना के कहाँ गइले रे जोगिया[104]

प्रताड़ना से संतप्त गंगा बहू (रेती) की वेदना भी गीतों में ही फूटती है।

इस प्रकार विविध रूपों के लोकगीत प्रसंगानुकूल ग्रामीण परिवेश के निर्माण में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

लोकाचार

इन गीतों, कहानियों के अलावा अनेक छोटे-छोटे कार्य हैं जो लोकाधारित ही नहीं, लोकाश्रित हैं। वहाँ सही-गलत का सवाल बिना उठाये उनका पालन करना पड़ता है। ऐसे कितने ही लोकाचार ग्रामीण संस्कृति के परिचायक होते हैं। शादी के बाद दूल्हन-दूल्हे का मूंज की रस्सी से नदी के दो किनारों को बांधना ऐसा ही लोकाचार है[105] जो विशिष्ट क्षेत्र की संस्कृति का रूप है। नयी बहू के हाथों बनाया खाना खाते समय बड़ों को 'थाली छेकाई' में उपहार देने[106] की प्रथा लोकाचार ही है। नन्हों को मुँह देखाई के लिए पैसे दिये जाते हैं। तारों के टूटने पर हँसने के बजाय थू-थू करने का नियम की लोकाचाराश्रित ही है (टूटे तारे)। तुलसी-पूजा और व्रतोपवास

---

101. इन्हें भी इंतजार है—शीर्षक कहानी, पृष्ठ 71.
102. वही (बेहया), पृष्ठ 48.
103. वही (कर्ज), पृष्ठ 234.
104. कर्मनाशा की हार (शीर्षक कहानी), पृष्ठ 22.
105. 'आरपार की माला' कहानी के आधार पर।
106. इन्हें भी इंतजार है (कर्ज) कहानी के आधार पर।

के जाने कितने लोकाचार गाँवों में प्रचलित हैं। इनके इतने-इतने प्रयोग कहानियों में हुए हैं कि सबको खोजकर इकट्ठा करना और उल्लेख कर पाना मुश्किल है।

इस प्रकार लोकाश्रित गीत, नृत्य, कथाएँ, आचार सब मिलाकर समूचे सांस्कृतिक परिवेश को जीवंत बना देते हैं।

टोने-टोटके

यदि ग्रामजीवन में व्याप्त टोने-टोटके, मंत्र-दुआ आदि का उल्लेख न हो तो सांस्कृतिक परिवेश अपूर्ण ही रह जायेगा। इन्हें धार्मिक अंधविश्वासों का बज्र ठेठ रूप कहा जा सकता है। ये कहानियाँ इन्हें आँखों से ओझल नहीं होने देतीं। शीला (बरगद का पेड़) और दादी माँ जान के बदले जान देने के प्रतीक रूप में अपने प्रिय बीमार को बचाने के लिए गंडा बाँधती हैं। भुआंखा और हाड़गोदाम वाले पीर के गंडे की बात हो चुकी है। झुगिया (बड़ी लकीरें) झब्बू के साथ काम करने से छुट्टी पाने के लिए गुरया गुसाईं को मुर्गा चढ़ाने की बात करती है। बेटी को बीमारी से बचाने के लिए बदलू (पापजीवी) देवी को खप्पर-पूजा देना चाहता है। बीमार को बचाने के लिए देऊ पंडित जड़ी और मंत्रों का प्रयोग करते हैं। मंत्रों द्वारा सांप को वश में करने का विस्तृत वर्णन 'संपेरा' में हुआ है, लहरी सिंह भी इसी खेल में पूरा बचपन सर्फ कर देते हैं। जयकरन को साँप काटने पर मरने से बचाने के लिए 'देऊ दादा' मंत्रसिद्ध धन्नू भगत को बुलाने जाते हैं। गंगा भाभी (रेती) लाख उपाय करने पर भी निपूती ही रहती है तो सारी आपदाओं की जड़ मानी जाती है क्योंकि गाँववाले अपनी गंदगी को तो कभी देखते ही नहीं, बस भूत-पिशाच, जादू-टोना ही उनके लिए सारी आपत्तियों से बचने के उपाय हैं।[107] ये अज्ञान ही सही, ग्राम-जीवन के अविभाज्य पहलू हैं।

आर्थिक परिवेश

कहा जा चुका है ग्राम-जीवन संस्कारों से परिचालित होता है और अर्थ तंत्र संस्कारों से उतने प्रभावित नहीं होते। इसीलिए गाँवों में नयी 'टेक्नालोजी' पर आधारित आर्थिक संदर्भ उतने देखने को नहीं मिलते। अतः यहाँ भी डॉ० सिंह की कहानियों में पारंपरिक संदर्भों से प्रभावित आर्थिक परिवेश ही देखने को मिलता है। और इस रूप में वहाँ आर्थिक वैषम्य से रिरकती जिन्दगी बहुत स्पष्ट परिलक्षित होती है। डॉ० सिंह ने इसका उल्लेख कम, विश्लेषण ज्यादा किया है जिसके दौरान वे कारण-प्रक्रिया और परिणाम के मिलेजुले रूपों में संपूर्ण भारतीय ग्रामीण समाज के आर्थिक परिवेश का चरमराता ढाँचा खड़ा करने में पूर्ण सफल रहे हैं। इसके कारण प्राकृतिक हैं और प्रक्रिया सामाजिक, पर हम परिणामों से अपनी बात शुरू करें—

गरीबी-मँहगाई

ये ग्रामजीवन के शाश्वत मूल्य हैं। संपूर्ण ग्रामीण परिवेश में इनका निरंकुश

107. कर्मनाशा की हार (रेती), पृ० 183.

साम्राज्य छाया हुआ है। न खाने को भरपेट अन्न न तन ढँकने के पर्याप्त वस्त्र। मटरू (आरपार की माला) के घर तीन दिन तक फाँके चलते हैं। लोगों के शादी-ब्याह अगले साल के लिए टाल दिये जाते हैं और मनाया जाता है कि घर का कोई बूढ़ा इस साल न मरे तो अच्छा नहीं तो श्राद्ध कहाँ से करेंगे।[108] गरीबी की मार से जर्जर 'चितकबरी' के रोपन साहु, 'मुर्गे ने बाग दी' के मंगरू आदि की विभीषिकाएँ देखते नहीं बनतीं। मँहगाई के प्रभाव से ही नन्हों की दुकान में अक्सर सब्जियाँ बासी पड़ी रहतीं क्योंकि अनाज से बराबर के भाव खरीदने वाले अच्छे गृहस्थ मेहमान के आने पर ही इस तरह का सौदा किया करते। इन सबके परिणामस्वरूप भिखारियों-मँगतों की संख्या में वृद्धि हुई जा रही है। किसान हो या मजदूर सबके सब कर्ज से लदे हैं। कहीं बनिए का कर्ज है तो कहीं सरकार का। इनके कर्जों और उधारों की क्या चर्चा की जाये—'माँग लायेंगे कहीं से जिन्दगी भी ये उधार' कहना ही उपयुक्त लगता है।[109] 'उपहार' के बच्चन, 'आर-पार की माला' की नीरू-मटरू, 'खेल' के किशन 'कर्ज' के जगपती और 'जेन' के रिक्शावान की पूरी जिन्दगी उधार ही तो है। इन्हें नगदी में परिणत करने के कोई आसार भी इस परिवेश में नहीं हैं। आजादी के बाद का तत्कालीन देश ही विदेशों के हाथों उधार रहा जब डॉ० सिंह ने पूरी कालावधि को 'शर्मनाक भिक्षा काल' की संज्ञा दी थी।[110] आज भी यह परिवेश कहाँ बदला है ?

प्राकृतिक प्रकोप

इन हालात के लिए प्रस्तुत कहानियाँ बहुत हद तक प्राकृतिक प्रकोपों को जिम्मेदारी ठहराती हैं। हमारी खेती अभी तक बहुत कुछ (और तब 1950-65 तो पूर्ण रूप से) प्रकृति के मातहत है और उसका हाल यह कि कभी चैत के महीने में ही बादल छहरा उठते हैं। खलिहान में रखी फसल सड़कर काली हो जाती है और कभी सावन बीते भी फुहार नहीं पड़ती....इस साल चढ़ते आषाढ़ पानी बरसा तो सबने चैन की साँस ली, पर जो बरसा सो बरसा, फिर तीन महीने तक आसमान में सफेद चित्ती भी न पड़ी।[111] और यही हाल लगातार कई-कई साल तक चलते रहते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् भी देश सचमुच ही कई लंबे-लंबे अकालों से गुजरा था। अतः इन कहानियों में इस तरह के तमाम वर्णन तत्कालीन वास्तविक परिवेश को ही उजागर करते हैं। अब कुछ साधन हो गये है, पर इनके होने का भी क्या, चन्द्रप्रभा का बाँध सूखा है, लतीफशाही की तलहटी की माटी उभर आयी है। नहरें

---

108. इन्हें भी इंतजार है (शीर्षक कहानी), पृष्ठ 75.
109. इन्हें भी इंतजार है (नन्हों), पृष्ठ 13.
110. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 42.
111. आर-पार की माला (मुर्गे ने बांग दी), पृष्ठ 128.

वीरान हैं, माइनर और गुल छूछे हैं। सारे सीवान में सिर्फ झनझन क्वारी धूप है।[112]

कभी पानी बरसा ही नहीं और कभी बरसा तो बाढ़ आ गयी और सारी खड़ी फसलें उसके मुँह में।[113] सूखे-दाहे से बचे तो फागुन के तेज पछुवे दाने को खोखला कर देते हैं।[114] इस प्रकार 'फसलों के घर लू-पालाओं मौसम की आवारगी' का खेल निरंतर चलता रहता है।

खेती ऐसे खत्म होती है और खाने को मिलता नहीं। उधर महामारी[115], हैजे[116] आदि के प्रकोप आए दिन पड़ते ही रहते हैं। इन सभी प्राकृतिक प्रकोपों का सीधा असर आर्थिक स्थिति पर पड़ता है जिससे सबके हाल खस्ता हुए रहते हैं।

शोषण की प्रक्रिया

आर्थिक वैषम्य, गरीबी-मँहगाई के लिए शोषण की प्रक्रिया दैवी प्रकोपों से कम जिम्मेदार नहीं है। मुख्य रूप से जमींदाराना शोषण इन कहानियों में दिखायी पड़ता है, पर आजादी के बाद जमींदारी उन्मूलन के गर्भ से निकले ठाकुर, ठेकेदार, सेठ-साहूकार भी कम नहीं दिखते। ये तो अवाम के लिए काफी थे ही पर आजाद भारत की सरकार ने सेवा के नाम पर अनगिनत सफेदपोश सरकारी लुटेरे नियुक्त कर दिये हैं। लालफीताशाही किसी को चैन नहीं लेने देती, इसके कुचक्र में सारा देश रिरिया रहा है, कहीं त्राण नहीं। सरकारी तंत्र का हर पुर्जा अपने-अपने स्तर पर लूट-खसोट में मग्न है। 'भेड़िए' की कहानियों में इन स्थितियों का बेबाक वर्णन देखा जा सकता है। गाँव के लेखपाल, प्रधान, सरपंच से लेकर मंत्री तक यह शृंखला इतनी मजबूत है कि कोई भी विधान इसे टस से मस नहीं कर सकता। गाँवों में मंत्री तक के एकदम बड़े स्तर की सीधी प्रक्रिया जाहिर नहीं होती, पर संबंधित अफसर-चकबंदी अधिकारी (सी० ओ०), इन्जीनियर, ओवरसियर आदि किसानों का भयंकर शोषण कर रहे हैं।

आर्थिक वैभव के अन्य पहलू

इसके अंतर्गत बेरोजगारी को प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। पढ़े-लिखे युवक बिना काम के भटक रहे हैं। उनकी कुंठाएं परिवार समेत उन्हें निगलती जा रही हैं। 'बड़ी लकीरें', 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'ताड़ी घाट का पुल', आदि कहानियों के नवजवान इसी के शिकार होकर पड़े हैं। दिनों-दिन इनकी भयंकरता बढ़ती जा रही है। बढ़ती आबादी भी इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष है। रोपन साहु

112. भेड़िए (बड़ी लकीरें), पृष्ठ 14.
113. कर्मनाशा की हार (रेती), पृष्ठ 182.
114. मुरदा सराय (तकावी), पृष्ठ 155.
115. आर-पार की माला (उपधाइन मैया), पृष्ठ 134.
116. इन्हें भी इंतजार है (शीर्षक कहानी), पृष्ठ 72.

(चितकबरी) की आय का कोई जरिया नहीं, पर इनके 6-6 बच्चे घर को चलनी किये दे रहे हैं।

इस प्रकार गाँव की स्थितियों में आर्थिक परिवेश को उभारने वाले सभी महत्वपूर्ण संदर्भ इन कहानियों में अच्छी तरह से चित्रित हुए हैं।

4. धार्मिक परिवेश

भारतीय हिन्दू-समाज जन्म से लेकर मृत्यु तक धार्मिक संस्कारों में जकड़ा हुआ है। आलोच्य काल विकासमान नये मूल्यों और संस्कारबद्ध प्राचीन मूल्यों की टकराहट का युग रहा है। 'पापजीवी' का बदलू प्राचीन धार्मिक मूल्यों के प्रति अंधश्रद्धा के कारण विश्वस्त है कि जंगल काटने वालों से बरम बाबा बदला जरूर लेंगे, पर जब उन्हें कुछ नहीं होता तो वह निराश जरूर होता है, पर बरम बाबा के अस्तित्व से इनकार तब भी नहीं करता—मान लेता है कि वे बूढ़े हो गये हैं।[117] इस प्रकार धार्मिक परिवेश ग्राम समाज में व्याप्त अंधविश्वासों के रूप में ही उभरा है क्योंकि वह मात्र उसी रूप में शेष रह गया है, उसका असली रूप तो लुप्त हो गया है। चूँकि ये सब तमाम रूपों में साहित्य में बहुत-बहुत अभिव्यक्ति पा चुके हैं अतः प्रस्तुत कहानियों में लेखक का ध्यान इस पर कम ही रहा। असल में डॉ० सिंह का उद्देश्य विविध परिवेशों का निर्माण तो कभी रहा नहीं, अपनी बात को कहने के लिए जो परिवेश उपयुक्त पड़ता वह सहज ही स्थान पा लेता और यहाँ पुनरावृत्ति ही होती, सो उस पर केन्द्रित होना उतना जरूरी भी नहीं रहा।

'किसकी पाँखें' में एक बहुत जरूरी संदर्भ उठाया गया है जो नवपरिवर्तित स्थितियों की उपज है। विभाजन के कारण हिन्दी और इस्लाम धर्म (वालों) के बीच वह कट्टरता फिर से आ गयी है जो बहुत दिनों के मुसलमान शासन के दबाव, अंग्रेजी राज्य में दोनों की समान स्थिति और फिर आजादी के लिए लक्ष्य की एकता के दौरान भाईचारे में बदल गई थी। अशरफ चाचा और धरमू सिंह भाई थे, बुढ़ऊ धरमू सिंह के ही पिता नहीं, अशरफ के भी पिता थे। बुढ़ऊ की लाश पर अशरफ चाचा भी ऐसे ही रोये थे जैसे उनके ही बाप मरे हों। 'मैं' तो उन्हें 'अशरफ' नहीं 'अशरफ चाचा' ही कहता है। विवाह, मरनी-करनी आदि में घर का सारा काम अशरफ चाचा ही संभालते। तब बुढ़ऊ पंडित देवी-पूजा में उनका भी पैसा लेते। मनुष्य ने जाति और धर्म का भेद मिटा दिया था। पर इस बदली हुई नयी स्थिति में जब बुढ़ऊ और बुढ़ऊ-पंडित मर गये तो उनका लड़का ज्ञानू पंडित उनसे चंदा नहीं लेता और म्लेच्छ कहता है। यह मानसिकता निश्चित रूप से तत्कालीन परिवेश की उपज है जिसे लेखक ने बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति दी है।

हाँ, लोकजीवन में बहुत गहरे तक जड़ें जमाए कुछ आचार आज भी पूर्व प्रचलित हैं क्योंकि आम आदमी ज्ञानू की तरह शहर से अच्छी पढ़ाई करके नहीं आया

117. कर्मनाशा की हार (पापजीवी), पृष्ठ 45.

है इसलिए उस पर ये सब ताजे प्रभाव अपना असर नहीं डाल पाये हैं। इसीलिए झम्मन चौधरी (आठवें दशक में भी) 'पतोहू के लिए लड़का होने के वास्ते हाड़गोदाम वाले पीर का गंडा ले आते हैं।'[118] इसे वे फौजी सिपाही नवजादिक लाल के हाथ में शुभकामना स्वरूप बाँधकर पाकिस्तान को हराना चाहते हैं। इस तरह के छोटे-छोटे तमाम प्रसंगों में आधुनिक परिवेश साकार होता गया है।

यहाँ गाँवों में 'ईश्वर मर गया' और 'भाग्यवाद' या 'नियतिवाद' जैसी पारंपरिक धारणाओं की व्यर्थता वगैरह की पहुँच बिल्कुल नहीं है। अतः इस तरह के चित्रणों की बाबत सोचना ही असंगत है। शहरों में धार्मिक रीति से विवाहादि की परंपराएँ टूटी हैं, 'कोर्ट मैरिज' होती है, तलाक होते हैं पर यहाँ तो शादी अब भी जन्म-जन्मांतर के बंधनों की पोषक ही है। पति के घर से नारी की लाश ही बाहर निकलती है। यहाँ यौन-पावित्र्य आज भी धार्मिक नैतिकता का मानदंड है। रंजना इसीलिए आजीवन 'प्रायश्चित' की आग में जलने के लिए छोड़ दी जाती है।

इस तरह धर्म की पारंपरिक धारणाओं के प्रति जहाँ नये मूल्यों के उन्मेष से संघर्ष दिखायी पड़ता है वहीं तमाम संदर्भों में वे आज भी संपूर्ण ग्रामजीवन पर अपना वर्चस्व कायम किये हुए हैं। इसके अनेक छोटे-बड़े संदर्भ धार्मिक परिवेश की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत करने के सार्थक प्रयत्न बन गये हैं।

5. राजनीतिक परिवेश

जैसा ऊपर किये गये उल्लेख से स्पष्ट है कि डॉ० सिंह की कहानियों में राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चलने वाली राजनीति का रंग बहुत कम है (नहीं के बराबर)। हाँ, इसका बड़ा गंभीर, विस्तृत और वैज्ञानिक विश्लेषण उन्होंने अपने कुछ निबंधों में किया है जो समय-समय पर प्रकाशित होते रहे तथा 'आधुनिक परिवेश और नवलेखन' में संकलित हैं। युद्ध की विभीषिका, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष आदि सामयिक विषयों पर इनके विश्लेषणात्मक विचार ललित निबंधों के संग्रहों में देखे जा सकते हैं—शिखरों का सेतु, चतुर्दिक और कस्तूरीमृग में। किन्तु इस (राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय) फलक पर इन विषयों को लेकर कहानियाँ नहीं दिखतीं। कारण का भी उल्लेख हो चुका है कि जिस सुदूर गाँवों की ये कहानियाँ हैं, वहाँ ये संदर्भ कोई मायने नहीं रखते। वहाँ के लोग आज भी (लेखनकाल में) निजंधरी कहानियों और परियों वाले काल्पनिक लोक से एकदम बाहर नहीं निकल पाये हैं। वे तो महात्मा गांधी तक को अपने उसी मानसिक लोक में खींच ले जाते हैं—दादा, तुम भी बच्चों जैसी बातें करते हो। तुमने सोचा होगा, गांधी बाबा का चरखा भी बुढ़िया नानी की तरह लकड़ी का चरखा है। अरे दादा, उस चरखे की बात न पूछो। उसमें सब मिलाकर बारह डंडे लगे हैं, हर डंडे से एक-एक टेलीफून लगा है, वहाँ से बारह देशों को सुरंगें जाती हैं। गांधी बाबा ने इधर से घंटी बजायी कि आँख झपकते देर नहीं, इधर से जापान, उधर

118. भेड़िए (एक वापसी और), पृष्ठ 64.

से जर्मनी, उधर से रूस, उधर से अमरीका फौज लिए अंग्रेजों पर टूट पड़ेंगे।[119] यह देवीचंद का कथन है जो गाँव का गांधीवादी (टोपीवाला) नेता है। अब इस तरह के क्षेत्र को उपजीव्य बनाकर लिखी गयी कहानियों में राजनीतिक परिवेश कहाँ तक उचित और संभव होगा ? देवीचंद वाली कहानी 'शहीद दिवस' एकमात्र राजनीतिक परिवेश पर आधारित कहानी है। इसमें आजादी के लिए बगावत का झंडा उठाने वाला देवीचंद है पर लेखक सेठ गिरधारीदास की कारस्तानी दिखाने के लिए कहानी लिखता है। इनके माध्यम से आजादी के बाद का घिनौना परिवेश उभारा गया है। सचमुच के जहीन, क्रांतिकारी देवीचंद को राजद्रोही, लूट-पाट करने वाला अपराधी साबित करने के लिए सेठ गिरधारीदास ही मुखबिर बनते हैं। इसी के कारण देवीचंद को हवालात की सजा मिलती है और सेठ गिरधारी स्टेशन के मालगोदाम से लूटे सामान को खरीदकर ब्लैक करने के सही जुर्म से छूट जाता है। आजादी मिलने पर यही सेठ गांधी निर्माण दिवस, 30 जनवरी को शहीद दिवस मनाने वाले जुलूस के साथ प्रसिद्ध समाजसेवी के रूप में पूजे जाते हैं। इस माहौल ने ऐसे ही शहीद पाले हैं। राजनीति पैसेवाले दुधारू सेठ-साहूकारों के हाथों का खिलौना बनकर रह गयी है। कहना न होगा कि बड़ी 'जेनुइन' स्थिति का खुलासा इस कहानी ने पूरी संजीदगी के साथ किया है।

इसके अलावा 'एक वापसी और' में युद्धकालीन (पाकिस्तान युद्ध) परिवेश देखने को मिलता है पर उसमें लेखक का ध्यान गाँववालों की ईर्ष्या-द्वेष-संपन्न मानसिकता और निंदक प्रवृत्ति पर ज्यादा केन्द्रित है। गँवई राजनीति जरूर थोड़ा खुलकर चित्रित हुई है जो मुख्यतः गुटबंदी के रूप में भेड़िए, बड़ी लकीरें, आदिम हथियार आदि में देखी जा सकती है।

निजी परिवेश का अवधान और कहानियों का परिवेश

1. निजी परिवेश की संलग्नता का साक्ष्य

उक्त वर्णित विविध परिवेश संस्कारों से परिचालित ग्रामीण जीवन की सही पहचान इसलिए करा पाते हैं कि शिवप्रसाद सिंह का प्रारंभिक जीवन—बचपन से किशोरावस्था तक—ऐसे ही गाँव में बीता, उसकी कड़वी सचाइयों को देखते-भोगते ही वे बड़े हुए। गाँव के संपूर्ण दुख-दर्द, अभाव उनके मन के भीतरी प्रकोष्ठ में संस्कार बनकर बीज रूप में विद्यमान रहे और जब राष्ट्रीय स्तर पर अनुकूल स्थितियाँ आने पर भी वह जीवन उपेक्षित रहा तो वे ही संस्कार असह्य होकर ही कहानियों में बहने लगे—प्रसाद के 'आँसू' की तरह। उस तरह इन कहानियों का परिवेश और लेखक का निजी परिवेश एक दूसरे से कतई भिन्न नहीं पड़ते और इसीलिए ये परस्पर नितांत संबद्ध और संपृक्त होकर अपने सह अस्तित्व से रचना को सार्थकता प्रदान

---

119. कर्मनाशा की हार (शहीद दिवस), पृष्ठ 127.

करते हैं । निजी परिवेश की संसक्ति से संवलित कहानियों के परिवेश का एक उदाहरण लेखक ने खुद ही दिया है—एक जंगल में मेरी छावनी थी, चाचा वहाँ का कामकाज संभालते । आस-पास मीलों तक ढाक वन, जंगली पेड़, कंटीली झाड़ियाँ । अगहर का नाला बरसात में उत्तरी सीमांत को नीची-ऊँची पहाड़ियों के शक्ल में ढाल देता । इस छावनी के इर्द-गिर्द मुसहर, कुंजड़, नटों के खेमे पड़े रहते । यायावरीय कबीले, विचित्र तरह की पोशाकें, विचित्र लहजे । इनके साथ पशु-पक्षियों की पूरी जमात होती । खुद मेरे गाँव में भी अक्सर इनके दौरे होते रहते । दोपहर को पीपल और बरगदों के नीच बैठकर मैं इनके परिवार को, इनकी आशाओं-आकांक्षाओं, प्रेम-कटुता को, आचार-व्यवहार को घण्टों देखता रहता । सुडौल, गठीले बदन के पट्ठे, सांप, नेवले, तीतर, कुत्ते, लद्दू भैंसे । लड़कियों की चुलबुलाती अदाएँ, दोपहर को सुनसान दरवाजे पर खड़े होकर रोटी माँगती हँसोड़ नट्टिनें, गुदना गोदती, मूँगे गुरिया बेचती इधर-उधर घूमतीं । शाम को दरवाजों पर बैठकर नट आल्हा की दम लगाते हुए सुस्ताते ।[120] खेद व्यक्त करते हुए लेखक आगे कहता है कि यह सब कुछ इतना-इतना देखा है कि चाहकर भी उसे आरपार की माला, पापजीवी, इन्हें भी इंतजार है, संपेरा आदि में कहाँ बाँध पाया । यह सारा तिरस्कृत उपेक्षित जीवन मेरे लिए कभी रहस्य न रहा । मेरे सामने वह नट-कन्या के आँचल के दाग की तरह या चोली में छिपी अफीम की पोटली की तरह स्पष्ट था[121] क्योंकि इन कहानियों का परिवेश उनके घर का निजी परिवेश ही है । निज के अनुभव से निःसृत होकर रूप ग्रहण करती इन कहानियों की बिल्कुल सहज, पर संश्लिष्ट अभिव्यक्ति संभव हो सकी है । लेखक ने सृजन के लिए इस जीवन को चुना ही इसलिए क्योंकि उसने इसे संपूर्णता में जिया और जाना है । परिवेशगत सचाइयों ने कहानियों के हर अंश को यथार्थ से संतुलित किया है । कहीं-कहीं तो वह इस कदर घटनाओं में घुल-मिलकर कथ्य का रूप ले लेता है कि बड़े-बड़े लोग भी उसे नहीं समझ पाते, भटक जाते हैं । 'नन्हों' कहानी के अंत में एक वाक्य आता है—नन्हों ने दरवाजा तो बंद कर लिया, पर सांकल न लगा सकी । डॉ० मदान जैसे समीक्षक तक ने इसे नन्हों की भावात्मक दुविधा के रूप में विश्लेषित किया ।[122] असल में उसका सांकल न लगा पाना उस परिवेश का संकेत है जिसमें नारियों की स्थिति पुरुष सत्ता के संरक्षण से पूर्णतः अलग हो जाने जैसी नहीं है । नन्हों की भावात्मक दुविधा तो रूमाल लौटाते वक्त ही खतम हो गयी थी । सांकल न लगा पाना नारी का अपने पैरों पर खड़ी होने—कमजोर न रहकर शक्ति-संपन्न बनने—की स्थिति को यथार्थ से संतुलित करता है जो अभी गाँवों में आयी नहीं है । यहाँ परिवेश बड़ी बारीकी से कथ्य में लय हो गया है । यह बारीक संदर्भ

120. चतुर्दिक—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 202.
121. वही, पृष्ठ 203.
122. हिन्दी कहानी (अपनी जबानी)—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 150.

परिवेश की निजी समझ के बिना संभव नहीं।

इस तरह लेखक ने अनदेखे परिवेश—महानगरों आदि—पर कहानियाँ लिखकर आधुनिक (माडर्न) लेखकों की 'लिस्ट' में शामिल होने का मोह नहीं पाला है। उसका महानगरों वगैरह में आना-जाना जरूर हुआ है पर वह जब तक परिवेश की गहराइयों में पैठकर उसके साथ निजी जैसा महसूस नहीं करता, रचना के परिवेश रूप में उसका इस्तेमाल नहीं करता। 'बिना दीवार घर' में राजस्थान की कुछ बातें, चित्रण-प्रवृत्तियाँ आयी हैं, पर उतनी ही जितनी शोध के दौरान वहाँ रह कर पचा ली गयी हैं। इस तरह कहानियों का सारा परिवेश बेहद जाना-पहचाना है और इसीलिए कहानीपन के साथ लेखक का बर्ताव (ट्रीटमेण्ट) बिल्कुल 'होमली'—घर-जैसा है।

2. लेखक के मानसिक गाँव का अवधान

वैसे हर लेखक के सृजन में किसी न किसी रूप में उसके वास्तविक परिवेश का अवधान किया जा सकता है। ऐतिहासिक-पौराणिक कथानक को आधार मान कर लिखे गये आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में उनका अपना ही परिवेश देखा जा सकता है। अनेक संदर्भों के उल्लेख से डॉ० नामवर सिंह ने अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' में इसे प्रमाणित भी किया है। इसी वास्तविकता के आधार पर लेखक का एक मानसिक परिवेश भी बनता है जो बार-बार रचनाओं में आता रहता है। इस मानसिक परिवेश का खाका खींचना एक रोचक कार्य हो सकता है और इसी के माध्यम से वास्तविक भूमिका का अवधान भी संभव हो सकता है। यदि डॉ० सिंह की कहानियों के आधार पर इसका संधान करें तो बहुत से चित्रण इस कार्य में मदद करने के लिए सुलभ होंगे। शायद देखा जाये तो थोड़े-से हेरफेर के साथ किसी न किसी रूप में यह उनका अपना गाँव भी होना चाहिए।

स्थानीय ढाँचे में उनके मानसिक गाँव की तहसील, ब्लॉक या ऐसे ही कुछ का नाम 'सैयद राज' है जहाँ से शंकर सिंह 'तकावी' लाते हैं। वहाँ थाना भी है, जहाँ सुहेलसिंह (भेड़िए) रपट लिखाते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' में बुझारथ का थाना भी सैयदराज है। यह जिला नहीं है क्योंकि देवी सिंह का मुकदमा शायद जिले स्तर पर चल रहा है। वे बनारस आते-जाते हैं जो लेखक का सचमुच कार्यक्षेत्र ही है। वहाँ कचहरी, पुल, वरुणा नदी आदि का तो वर्णन सहज होगा ही। उनके गाँव के भी एक तरफ कोई नदी बहती है जिसके किनारे विसू महाराज और गोलू का धंधा चलता है, कमली नहाती है (ताड़ी घाट का पुल)। मंगरा जहाँ से कफनखसोटी करता है, वहाँ किनारे का उल्लेख है जो किसी नदी का ही होना चाहिए (इन्हें भी इंतजार है)। सुनील (गंगा-तुलसी) भी नदी तक घूमने या नहाने जाता है। इसका प्रतीकात्मक नाम कर्मनाशा है जिसमें बाढ़ आने पर गाँव डूबने की आशंका होती है। शादी के बंधनों पर जिसके पाटों को मूंज की रस्सी से बाँध कर दूल्हा-दूल्हन अपने संबंधों की मुहर लगाते हैं, उस नदी का नाम गंगा बताया गया है (आर-पार की माला)।

बौडम गंगा में ही नहाता है (मंजिल और मौत) जिसके किनारे टेसू और झरबेरी के झाड़ हैं। नदी तक आने के लिए पगडंडी है। उसके किनारे खेती-बारी भी होती है (रेती)। इन सबसे इतना जाहिर होता है कि गाँव की सिवानें नदी तक फैली हुई हैं। वह गाँव से बहुत दूर नहीं होनी चाहिए।

नदी पर पुल भी है—ताड़ी घाट का पुल। सीपिया नाले का पुल भी शायद यही हो (किसकी पांखें)। अलग-अलग वैतरणी में आये पुल को सीपिया नाले का पुल ही कहा गया है पर लेखक के गाँव के नाले का असली नाम अगहर का नाला है।[123] गाँव में पोखर-तलैया भी है। तलैया ठाकुर की है जो सिंचाई के काम आती है (हीरो की खोज)। पोखर गाँव से बिल्कुल करीब है क्योंकि गाँव की औरतें तक उसमें नहाने जाती हैं—शीला (बरगद का पेड़), बड़की बहू (अरुन्धती)।

गाँव के पूरब बंसवार है (इन्हें भी इंतजार है)। उत्तर की तरफ मुरदासराय है जो 'मुरदासराय' में तो गाँव से दूर बतायी गयी है पर 'रागगूजरी' में गाँव के पास ही है। दिशा दोनों में उत्तर ही है, इसलिए मानस-गांव की मुरदासराय चाहे जहाँ कहीं से ली गयी हो, वह गाँव के उत्तर ही है। अगहर का नाला भी उत्तर ही है। उत्तर-पूरब साफ हो गये तो नदी पश्चिम में है (मंजिल और मौत)। तलैया की दिशा का ज्ञान नहीं हो पाता। गाँव के पास पीपल का वर्णन बहुत आया है। पीपल और नदी कथ्य की तमाम सांकेतिकता से भरे पड़े हैं पर गाँव की चौहद्दी के अवधान के संदर्भ में पीपल को गाँव के दक्खिनी छोर पर बताया गया है (खैरा पीपल कभी न डोले)। लेकिन जब कैरा घर छोड़कर चलता है तो पीपल उसके दरवाजे के सामने पड़ता है और अक्सर घरों के दरवाजे दक्षिण नहीं होते। इस तरह दिशा-ज्ञान का भ्रम तो है, पर वर्णन को सही मान लें तो वह गाँव के दक्षिण में ही है। यह पीपल डॉ० सिंह के सर्जक को बहुत प्रिय है।

सिवानों में 'नरवन' (तकाबी) का नाम बहुत आता है। यह कोई गाँव का इलाका भी हो सकता है। देवताचक ऐसा ही इलाका है (आरपार की माला)। वर्णित गाँव से कुछ दूर पर का गाँव 'कुसेरा' है (बेहया, देऊ दादा)। उक्त सब कुछ एकाधिक बार चित्रित होता है। इससे डॉ० सिंह के रचना-गाँव का एक खाका अवश्य मिलता है जिसके लिए उन्होंने लिखा है, 'मेरे गाँव के चारों ओर का सिवान अपनी खूबसूरत चौहद्दी के लिए मशहूर है।'[124]

गाँव से होकर रेलवे लाइन जरूर जाती है। शोभा बहू (हत्या और आत्महत्या के बीच) वहीं आत्महत्या करती है। कहीं थोड़ी ही दूर पर स्टेशन भी अवश्य है। वहाँ कबरी-तिउरा भीख माँगती है, गाँव से आने-जाने वाले लोग इस स्टेशन से होकर ही आते-जाते हैं। अर्जुन पाण्डे स्टेशन पर काम करते हैं (अंधेरा हँसता है),

123. चतुर्दिक—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 202.
124. आरपार की माला (महुए के फूल), पृष्ठ 30.

'पेटमैन' कासिजोगी भी। 'मरहला' कहानी का फाटक यदि स्टेशन पर ही है तो वह भी गाँव की सिवान से सटा हुआ ही है क्योंकि खुनखुन आते-जाते बैलों के लिए फाटक खोलने आता है। यूं स्टेशन (रेलवे विभाग) की इतनी बातें कहानियों में आयी हैं जिससे ऐसा विश्वास होने लगता है कि लेखक को जरूर इससे किसी न किसी रूप में कभी जुड़ा रहा होना चाहिए। 'मरहला', 'पेटमैन' और 'अँधेरा हँसता है' तो पूर्ण-रूप से स्टेशन के माहौल पर ही लिखी कहानियाँ हैं। स्टेशन का जिक्र तो बहुतेरी कहानियों में आया है।

3. कहानियों में निर्मित परिवेश

लेखक के निजी परिवेश के अलावा हर कहानी में कथ्य की अनुकूलता के मुताबिक उसका अपना अलग परिवेश भी बनता है। इन्हें लेखक के संपूर्ण परिवेश के अंतर्गत छोटा-छोटा अलग परिवेश कहा जा सकता है। इसीलिए एक कहानी का परि-वेश दूसरी कहानी के परिवेश से मेल नहीं खाता। मसलन 'मुरदासराय' और 'रागगूजरी' दोनों में मुरदासरायें हैं पर उनमें समानता खोज पाना मुश्किल है क्योंकि दोनों के पात्र और कथ्य नितांत भिन्न भूमियों पर खड़े हैं। प्रायः लेखक ने इस तरह की स्थितियों का बड़ा सही-सहज और संगत वर्णन किया है। 'टूटे तारे' में तारा छत पर जहाँ बैठी है उसी कोने में ईंट की दीवार कुछ झुकी हुई दिखायी गई है जो बाद में लुढ़ककर (कूदकर नहीं) गिर जाने के सही उपयोग में आती है। पाठक को तब इस दूसरे उप-योग का पता भी नहीं चलता। इसी प्रकार 'अरुन्धती' में बैलों की गोंठ और खिड़की को कहानी सुनने और मजमा देखने का बड़ा उपयुक्त स्थल बना दिया गया है। 'शाखामृग' में लक्खीलाल की औरत को भागने के लिए दीवार के छेद का निर्माण औचित्य के अलावा हास्य-विनोद का प्रसंग लाकर कहानी को रोचक बना देता है। पर 'प्रायश्चित्त' और 'पोशाक की आत्मा' में लेखक चूक गया है। माहौल को रोचक तो क्या विश्वसनीय भी नहीं बना पाया। जिस खिड़की से दो आँखें रंजना को डॉक्टर के साथ बिस्तर पर क्रीड़ारत या डॉक्टर को निकल कर जाते देखती हैं, उसका खुली रहना भला कैसे संभव हो सकता है? देखकर भी चुप रह जाने या चुपचाप देखते रहने में पति की मानसिकता या प्रतिक्रिया ही अविश्वसनीय नहीं है, छोटी-सी बात पर इतनी आसानी से समर्पित हो जाना या बर्दाश्त कर लेना, गोया वह हाड़-मांस, दिल-दिमाग की औरत न होकर रबर की गुड़िया हो, भी उतना ही असहज है जितना खिड़की खुली छोड़ देने में डॉक्टर की बेवकूफी। मौके का इस तरह फायदा उठाने वाले से ऐसी गफलत की बिल्कुल आशा नहीं की जा सकती। मुझे नहीं लगता कि जल्दबाजी या कोई और बात इसे संगत बना सकती है। यहाँ लेखक इस तरह अपने कथ्य को उगलने में मोहाविष्ट या उतावला हो गया है कि उसके मुताबिक स्थितियों का निर्माण करने में बुरी तरह अनवधानता का शिकार हो गया है। 'पोशाक की आत्मा' में नारी का 'सेक्सुअल' शोषण करने वालों के प्रति लेखक का आक्रोश इतना

उफन गया है कि मुँहतोड़ बदला लेने की धुन में अपनी पात्र की प्रतिक्रिया दिखाते हुए वह यह भी भूल गया कि पाठक यह कैसे जान पायेंगे कि कुसुम के बाप ने फोटो निकाले। नाजायज संबंध में रत बेटी के बाप द्वारा फोटो निकालने की स्थिति को शहर वगैरह के माहौल में संतुलित करने की कोशिश एक बार कर सकते हैं (वैसे यह असंभव ही है) पर इतना चालाक डॉक्टर क्या इतना मूर्ख है कि फोटो निकालने की जगह खुली छोड़ेगा ? सलाह देना न माना जाये, जिसका पाठक को कोई अधिकार नहीं है तो मैं कहना चाहूँगा कि स्वचालित कैमरा की बात लेखक के मन में क्यों नहीं आयी जिसे समय निकालकर कुसुम से किसी उचित जगह पर रखवाया जा सकता था। इस तरह दोनों में ही कथ्य की अतिशय बेताकी में कहानी का परिवेश-निर्माण असंगत हो गया है। दोनों में ही कथ्य स्त्रियों को लेकर ही है। लगता है कि नारियों के प्रति लेखक का झुकाव कुछ भावुक किस्म का है।

किन्तु इस संदर्भ (टूटे शीशे की तस्वीर) को लेकर मधुरेश के एतराज में कुछ वजनदार तत्व देखने को नहीं मिलता। वे घर के परिवेश के साथ उस घर में टेली-फोन होने की बात गले से नीचे नहीं उतार पाते।[125] असल में यहाँ दिल की अतल गहराइयों में बैठा बहन-भाई के प्रेम का कथ्य इतना सबल (स्ट्रांग) है कि वह घर के परिवेश का मोहताज नहीं होता और कहानी में इसका कोई खास वर्णन भी नहीं हुआ है। फिर टेलीफोन होने के लिए छोटा घर किस तरह अनुपयुक्त हो जाता है। बहुतेरे छोटे-मोटे क्लर्क या प्रेस-रिपोर्टर के छोटे घरों में भी टेलीफोन होता है। देश में फैले सारे भ्रष्टाचार और मँहगाई के बावजूद टेलीफोन लेना आज भी अपेक्षाकृत सस्ता और आसान है। इस तरह परिवेश को लेकर यह एतराज का मुद्दा हो ही नहीं सकता। हाँ, यदि यही बात गाँव में दिखायी गयी होती तो भारी भूल कही जाती और तब जोरदार एतराज का मौका मिलता। लेकिन ऐसी अनवधानता शायद प्रस्तुत कहानियों में कहीं नहीं मिलेगी।

परिवेश : स्थूल और सांकेतिक

स्थूल

गाँव की अछोर हरियाली में डूबी सीमांत-फसलों के रंग-बिरंगे गलीचे बिछा-कर किसी अनागत की प्रतीक्षा में डूबी धरती, सरसों, जलकुंभी और झरबेरी जंगली फूलों से मदहोश वातावरण के बीच अपनी सामान्य जिन्दगी के लिए संघर्षरत किसान आलोच्य कहानियों के अविभाज्य अंग हैं।[126] फिर भी इस परिवेश के स्थूल चित्रण में कहानीकार की कोई खास दिलचस्पी नहीं लगती, यह लेखक की प्रवृत्ति ही नहीं है। इसलिए परिवेश का स्थूल चित्रण ज्यादा नहीं मिलता। जो मिलता है, वह भी

125. दस्तावेज—अंक-10 में प्रकाशित लेख—कहानीकार शिवप्रसाद सिंह—मधुरेश, पृष्ठ 55.
126. मेरी प्रिय कहानियाँ—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 6.

सप्रयोजन ही होता है। अक्सर यह ग्रामीण परिवेश की पहचान करानेवाले कार्य-व्यापारों, उपकरणों और प्राकृतिक माहौल के वर्णनों में देखा जा सकता है। ये कहीं भी बैठकर कहानी पढ़ते पाठक को गाँव में खींच ले जाते हैं। कुछ बानगियाँ लीजिए—रग्घू के साथ बैठे 'देऊ दादा' अलाव तापते-तापते बातें करते हैं, ताड़ी घाट के पुल में गाड़ीवान लोग उपलों के अहरे बनाकर खाना पकाते हैं, कर्ज में जगपती बैलों के गले में घंटियाँ बाँधकर गाड़ीवानी करता है, बुआई का मौसम आते ही 'मरहला' में हल-बैल लिए किसान सुबह ही सुबह जाते हैं तो भी घंटियों की झंकारें गूँजती हैं। आसाढ़, कातिक-अगहन में मंगरू (मुर्गे ने बाँग दी) के दरवाजे पर हल लिए किसान जुटते हैं, सिंचाई के लिए कुओं पर पुर चलती है (हीरों की खोज, स्त्रीलिंग प्रयोग लेखक ने किया है), तालाबों में दोनें लगी जाती हैं और पहले सिंचाई कर लेने की होड़ लगी रहती है (हीरों की खोज)। टीमल खेतों से मिट्टी लाकर बरतन बनाता है, उन्हें आंवा लगाकर पकाता है (माटी की औलाद)। नीरू खेतों में से भैंस के लिए मटर और घास लाती है (आर-पार की माला), सत्ती-चंपा महुए बीनने जाती है (महुए के फूल)। तालाब में नहाने और कुएँ से पानी लेने के दृश्य तो आम हैं।

इनके अलावा भी बहुत-बहुत ग्रामीण उपकरण-कार्य और गतिविधियाँ एक क्षण के लिए हमें अपने परिवेश से कटने नहीं देतीं। ग्रामीण प्रकृति-लहलहाती फसलें, पुरवा-पछुवा के झकोरे, रिमझिम बारिश, तपती दोपहर, चिलचिलाती धूप, उजास सुबहें, रंगीन शामें, कहीं काली-अंधियारी तो कहीं दूधिया चाँदनी वाली रातें-भी हमें कदम-कदम पर गाँवों के बीच बाँधे रहती हैं। लेखक कहानियाँ लिखते समय अक्सर शहर में बैठा होता है, पर उसका मन भी इन सबके लिए तड़पता रहता है। सो, कहानियों में उसका रस लेने से किसी भी अवसर पर चूकता नहीं। 'दादी माँ' में यह हुड़क साफ देखी जा सकती है—'मुझे' लगता है जैसे क्वार के दिन आ गये हैं। मेरे गाँव के चारों ओर पानी ही पानी हिलोरें ले रहा है। दूर के सिवान से बहकर आये हुए मोथा और साई की अधगली घासें, घेऊर और बनप्याज की जड़ें तथा नाना प्रकार की बरसाती घासों के बीच सूरज की गरमी में खौलते हुए पानी में सड़कर एक विचित्र गंध छोड़ रहे हैं। रास्तों के कीचड़ सूख गये हैं और गाँव के लड़के किनारों पर झाग भरे जलाशयों में धमाके से कूद रहे हैं। अपने-अपने मौसम की अपनी-अपनी बातें होती हैं। आसाढ़ में आम और जामुन न मिले; चिंता नहीं, अगहन में चिउड़ा और गुड़ न मिले, दुख नहीं, चैत के दिनों में लाई के साथ गुड़ की पट्टी न मिले, अफसोस नहीं; पर क्वार के दिनों में इस गंधपूर्ण झागभरे जल में कूदना न हो तो बड़ा बुरा मालूम होता है। मैं भीतर हुड़क रहा था।[127] पर यह हुड़क कहानी में बड़ी प्रासंगिक है, थोपी या जोड़ी हुई बिल्कुल नहीं। ग्रामीण परिवेश के स्थूल चित्र गंवई लोगों की बातों-कार्यों से भी प्रकट हुए हैं—परसडीहा के इस पुरवे में सुबह

---

127. आरपार की माला (दादी माँ), पृष्ठ 40-41.

सदा ही एक ढंग से आती । पूरब की बंसवारियों को चीरकर सूरज की किरणें गाँव के पूरबी भाग पर अपना अधिकार जमातीं और घरों से निकल कर औरतें जूठे बर्तनों को संभाले अपने-अपने दरवाजे आ बैठतीं । दरवाजे पर बैठ कर बरतन साफ करने में दुहरा लाभ था । सामने बैठी पड़ोसिन से इस-उसके बारे में तीन-पाँच जोड़ने का मजा और गंदा पानी आंगन में न गिराकर सार्वजनिक गली में बहाने का सुख ।[128] शुरू की कहानियों में जब लेखक का लगाव बहुत ताजा (फ्रेश) था, ये चित्र बहुत मिलते हैं पर जैसे-जैसे ये संपर्क पुराने होते गये हैं, मन की हुड़क कम होती गयी है । धीरे-धीरे इन चित्रों में कमी आयी है । किन्तु ग्रामीण परिवेश के ये अविभाज्य अंग हैं। इनके बिना कहानी का अस्तित्व संभव नहीं । इसलिए हल-बैल, खेत-खलिहान आदि रूपों में स्थूल परिवेश संपूर्ण कहानी-यात्रा के अनिवार्य पाथेय हैं ।

सांकेतिक

स्थूल परिवेश के चित्र तो खोजने पड़ते हैं पर सांकेतिक परिवेश तो कहानियों की निधि हैं । इसके अंतर्गत सभी गतिविधियाँ और उपकरण वही रहते हैं पर कहानी में उनके प्रयोग किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति के संकेत बन जाते हैं । लेखक सजग करता है कि इन्हें पढ़ते समय यदि आप पूर्ण सजग और चौकस न रहे तो इनके (कहानियों के) बहुत से अंश आपके लिए अपने अंदरूनी अर्थ को आंचल में समेटे अबूझे ही रह जायेंगे ।[129] बहुत से स्थलों पर परिवेश की सांकेतिकता के प्रतीकात्मक प्रयोग भी हुए हैं जिसका अध्ययन हम 'शिल्प' के अंतर्गत करेंगे, यहाँ सिर्फ प्रतीकेतर सांकेतिकता के संबंध में विचार किया जायेगा ।

लेखक ने सांकेतिक परिवेश को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मेरी कहानियों के परिवेश केवल गँवई धरती की रंग-बिरंगी, सोंधी गंध में डूबे हुए रूमानी साज-सज्जा भर नहीं हैं बल्कि वे संकेतार्थ द्वारा बदलते हुए समय और बंद मुट्ठी से धीरे-धीरे रिसते हुए कालप्रत्यय की बालुका की तरह बिखरती स्थितियों के परिचायक भी हैं ।"[130] इसके प्रमाणस्वरूप 'नन्हों' कहानी से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं—'एक-एक अक्षर को उचारने में पहाड़-सा समय लग गया । चबूतरे के पास कलसी के नीचे पानी गिरने से जमीन नम हो गयी थी । जौ के बीच गिरे-जाने कबके, इकट्ठे एक में सटे-हुए उजले-हरे अंखुए फूटे थे । नन्हीं सहुआइन उन्हें देखती रही बड़ी देर तक । ये पंक्तियाँ सिर्फ परिवेश के एक छोटे से दृश्य को ही उजागर नहीं करतीं, बल्कि प्रेम की व्यथा से भरी नन्हों की मानस कलसी के नीचे अनजान में उग आयी अनेक भावनाओं की ओर भी संकेत करती हैं ।[131] इस तरह ये अंखुए सिर्फ कलसी के पास

---

128. भेड़िए (कलंकी अवतार), पृष्ठ 4.
129. मेरी प्रिय कहानियाँ—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 7.
130. वही, पृष्ठ 7.
131. वही, पृष्ठ 7.

नहीं हैं, नन्हों के भीतर भी कहीं हैं।[132] नन्हों से ही एक और दृश्य का सांकेतिक प्रयोग लेखक ने उद्धृत किया है—'कई महीने बीत गये। बरसातें आयीं और गयीं, पानी सूख गया, बादलों का घिरना बंद हो गया। बौछारों से टूटी जर्जर दीवारों के घाव भर गये। नयी मिट्टी से सज-संवर कर ये पहले जैसी ही लगने लगीं।' इस प्रसंग में कहीं नन्हों का जिक्र नहीं है,[133] पर बौछारों, बादल घिरने, दोवारों के घाव भरने और उनके नयी मिट्टी से सजने-संवरने की सांकेतिकता स्पष्ट है। ठीक ऐसा ही प्रयोग 'मुरदासराय' कहानी में देखा जा सकता है। सूरदास-सुलक्खी के संबंधों की चर्चा के बाद हरिचरन अपने भाईसाहब से मिलने और गठरी को लेकर शंकास्पद बातों के जिक्र से कुछ दिनों 'एक यात्रा सतह के नीचे' में जलकुम्भी के प्रयोग को भी ऐसे ही परिवेश की सांकेतिकता का माध्यम बनाया गया है—जलकुम्भी की एक कोंढी जो अवधू के मन की अभेद परतों में एक बार ऐंठकर रह गयी थी,[134] आगे चलकर उसी के फूल लहरों के अथाह निथरते-थमते वृत्तों में अलग हजारों-हजार जलकुम्भी के फूल बंद-मुकुलित कोढियों के साथ हिलते हुए[135] उसके मन की हलचल-व्याकुलता का सूक्ष्म संकेत करने लगते हैं और फिर मानसिक उथल-पुथल की अंतिम स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते हवा की थिरकन से पानी की सतह पर वृत्त बनने-गिरने लगे। हलचल तेज होगी तो सतह में दिये जलकुम्भी के फूल फिर अपनी गरदन उठाकर हिलकोरे खाने लगेंगे और तब पूरा तालाब एक अजीब तरह की धुंधुआती आग में जल उठेगा[136] के रूप में ये फूल की शृंखला में आये दृश्य पूरी जिन्दगी को मन की अंधी परतों में सिमटकर तड़पते रह जाने के संकेत करने लग जाते हैं।

बदलते परिवेश के स्वर

यूं तो जो गाँव लेखक के मन में बसा है, जो उसे लिखने के लिए उत्प्रेरित करता है, वह उसके बचपन का गाँव ही है, पर बुद्धि ने उसे मान्य (रेक्मेंड) भी किया है क्योंकि उसे ज्ञात है कि अभी कोई खास परिवर्तन आया नहीं है। फिर भी कुछ बदलावों की तरफ लेखक की दृष्टि गयी है। उन्हें उसने अपनी लेखनी में बाँधने की कोशिश की है। इस दृष्टि से 'खैरा पीपल कभी न डोले' कहानी सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है। ये बदलाव शुभ भी हैं और अशुभ भी। शुभ बदलावों में पहले वाले के प्रति लेखक की तिर्यक् दृष्टि देखी जा सकती है और बदलावों के अशुभ रूप पर मर्माहत वेदना भी। पहले जहाँ यह धारणा थी कि पट्टी के घराने की बहू बच्चा जनने अस्प-

---

132. मुरदासराय (कुछ न होने का दुख), पृष्ठ 21.
133. वही, पृष्ठ 21.
134. मुरदासराय (एक यात्रा सतह के नीचे), पृष्ठ 110.
135. वही, पृष्ठ 116.
136. वही, पृष्ठ 121.

ताल जाये, इससे तो अच्छा है कि वह चिल्ला-चिल्ला कर जान दे दे,[137] वहीं अब सुरेश अपनी पत्नी को लेकर निर्द्वन्द्व शहर जा सकता है। अब गाँव से होकर बस आती-जाती है। सो, इसका असर यह भी हुआ कि घर जाने पर सुरेश की पत्नी जिसके सामने शायद पड़े भी न, वह आज उससे बेहिचक बात कर सकता है क्योंकि यहाँ तो वह घर की बहू नहीं, बस की मुसाफिर है।[138] बस आने-जाने से जहाँ इस प्रकार की वर्जनाओं की पकड़ ढीली हुई है, वहीं दूसरी तरफ अंधकार बढ़ने लगा है। बस का ड्राइवर गाँव की छोटी जाति की गरीब की लड़कियों को छोटी-मोटी चीजें देकर फुसलाता है और उन लड़कियों के लिए तो बस इतना बदलाव काफी है—(कैरा के शब्दों में)

काशी जी में लगली बिजुरी के रोशनियाँ
पिया देखाई देता ना
हो पिया देखाई देता ना।......।......।।[139]

गाँव के किनारे अब खैरा पीपल नहीं रहा, वहाँ सिक्चन्न साहु की चाय की दुकान है जो कैरा को बहुत देर तक आश्रय नहीं दे पाती, वह कुछ देर खड़े होकर गाँववालों को देखता है और फिर बस आने पर उसमें बैठकर चला जाता है जिसका असर लेखक ने मातृहृदय की व्याकुलता से थरथराती आँखों की शून्यता में देखा है।[130] पीपल की शीतल छाया की जगह आज काई लगे करकट की छाँव में प्रौढ़, आवारे, कामचोर छोकरे गंदी गालियों से मन को संतोष देने वाले बुड्ढे जमे रहते हैं,[141] अब छोकरों की नाजुक हथेलियाँ जिस्म के घेरे बनाकर 'चाक डोले चकबंबा डोले' का खेल नहीं खेलतीं। जाहिर है कि यह परिवेश की तब्दीली के विद्रूप चित्र हैं। इनमें लेखक के क्षुब्ध मन की झलक देखी जा सकती है।

आजादी मिलने के बाद के परिवर्तनों के कुछ चित्र दिखते हैं। जमींदारी टूटने पर अपेक्षित लोग खुश हुए थे कि अब जमींदारी की धौंस नहीं रही, वे आराम से खा-कमा सकते हैं पर जब बदलू ने एक दिन देखा कि परसिया वाली सड़क के किनारे ईंटें गिर रही हैं और देखते ही देखते ठीकेदार के आदमियों ने जंगल को अपने कब्जे में ले लिया। बँगला बन गया, नौकर-चाकरों की भीड़ लग गयी[142] और परिवेश की इस बदली से उसके कमाने-खाने के साधन बंद हो गये। इस तरह बदले परिवेश आम आदमी के लिए प्रायः हानिकारक ही साबित हुए हैं। लेखक की दृष्टि ऐसे ही

137. इन्हें भी इंतजार है (खैरा पीपल कभी न डोले), पृष्ठ 215.
138. वही, पृष्ठ 217.
139. वही, पृष्ठ 219.
140. वही, पृष्ठ 226.
141. वही, पृष्ठ 216.
142. कर्मनाशा की हार (पापजीवी), पृष्ठ 45.

बदलावों पर टिकी है जो उनके लिए काम्य न होने पर भी हमारे समाज में स्थान ग्रहण करते जा रहे हैं।

पर जहाँ तक ग्राम कहानीकार की हैसियत से गाँवों में आये परिवेशगत परिवर्तनों को कहानियों में उतार लेने की बात है, लेखक बहुत ही कम बदलावों को रेखांकित कर सका है। इसमें या तो संपूर्ण परिवेश के आकलन की तरफ उसकी दृष्टि ही अधिक नहीं गयी या फिर उन्हें वह अपनी जेहन में उतार ही न सका। शुरू की कहानियों में परिवेश के चित्र बहुत मिलते हैं, पर नवीन बदलाव के दृश्य बहुत कम। इससे लगता है कि लेखक के बचपन के अनुभवों की थाती उनमें लगती रही, पर नवीन बदलावों के समय लेखक शहर में स्थापित हो चुका था अतः निकट संपर्क में न रहने से वे स्वाभाविक रूप से आ न सके वरना पूरी कहानी के दौरान भेड़िये—1975 तक रहट जैसे सामान्य सिंचाई के साधन कहीं नजर नहीं आते—पंपिंग सेट वगैरह की तो बात ही क्या। 'हीरों की खोज' में पुर और दोने चलती हैं पर इधर की कहानियों में इस तरह के प्रसंगों को कहानी में उठाया ही नहीं गया है। दूसरे किस्म के विकास भी गाँवों में बदलते परिवेश की स्थितियों के जन्मदाता बने—जैसे चुनाव—एम० एल० ए०, एम० पी० या सरपंच का, ब्लॉक खुले जिनमें बी० डी० ओ०, ग्राम सेवक आदि के आने से इन दिनों गाँवों में बहुत-से परिवर्तन आये हैं पर इनका कहानियों में अभाव मिलता है। इसलिए लेखक के उस कथन 'मेरी कहानियाँ समय और निरंतर बदलते भारतीय परिवेश के साथ कथ्य में बदलती रही हैं'[143] के साथ पूर्ण रूप से सहमत होने में संकोच का अनुभव होता है। गाँव के परिवेश पर आधारित कहानियों में ये सब तबदीलियाँ तो अपेक्षित हैं ही जो भारतीय परिवेश की व्यावहारिक सच्चाइयाँ हैं। हाँ, हरित क्रांति या मजदूर क्रांति जैसे नारों-वादों की अपेक्षा करना असंगत होगा जो एक तो वहाँ आये ही नहीं, दूसरे फैशन के रूप में चलते नारों-वादों-संप्रदायों को स्वीकार करने की लेखक की प्रवृत्ति ही नहीं रही।[144]

सरकारी योजनाएँ

यह सही है कि शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ गाँवों में आये नये विकास को बहुत विस्तार और गहराई में जाकर नहीं पकड़तीं पर सरकार द्वारा लागू की गयी बहुतेरी योजनाओं के खोखलेपन को अपने ढंग से उजागर करती हैं जिससे संबंधित परिवेश साकार हो सका है। अब तक ये विकासात्मक निर्माण महज कागजी रहे, डॉ० सिंह ने एकाध वर्णनों के सिवा इन्हें नहीं छुआ—मुरदासराय—1966 तक। इसमें 'तकावी' में सूखे से ग्रस्त किसानों की सहायता के रुपये बाँटने का चित्र मिलता है जिसमें इसके व्यावहारिक पक्ष का ऋणात्मक पहलू दिखाया गया है। वसूली का

143. मेरी प्रिय कहानियाँ—(भूमिका), पृष्ठ 9.

144. वही, पृष्ठ 9.

तरीका देखकर शंकरसिंह को लगता है कि पुराने सेठ-महाजन ही अच्छे थे, औरत जाति से इस तरह बात तो नहीं करते थे।[145]

सरकारी योजनाओं की बातें 'भेड़िये' में कुछ ज्यादा मिलती हैं—बेशक उनके व्यावहारिक रूप के ऋणात्मक पक्ष के उद्देश्य से ही। यही इन योजनाओं का सही रूप भी है जिससे प्रस्तुत कहानियाँ संक्षिप्त, पर यथातथ्यता (इक्जैक्टनेस) लिए हुए हैं। तकावी के लिए प्रधान की दस्तखत और मुहर चाहिए, इसके लिए लोगों को उनके पास जाना ही पड़ता है और तब बदली परिस्थितियों के ये 'मगरमच्छ' सीधे-सादे किसान को लील जाते हैं। तकावी धरी-की-धरी रह जाती है, बैलों का गोंठ हाथ से निकल जाती है।[146] सरकार ने चकबन्दी शुरू की तो यही मगरमच्छ शरीफ किसानों की अच्छी चक खुद ले लेते हैं और अपनी दूर की खराब चक उन्हें दे देते हैं।[147] सी० ओ० और ए० सी० ओ० (चकबन्दी अधिकारी) और (सहायक चकबन्दी अधिकारी) अलग घूस लेकर चक बनाते-बिगाड़ते हैं।[148]

सरकार ने नहरें निकालीं कि सिंचाई आसान और सस्ती हो जायेगी पर उसका नतीजा यह कि सालों ने गरमी में ही पूरा जलखाता मछली मारने के लिए खाली कर दिया। वैसाख में इस साल नहर लबालब भरी रही....पर किसे मालूम था कि ई सब अकाल का लच्छन है।[149] इस तरह भादों-क्वार में जरूरत के समय पानी नहीं मिला और फसलें गायब। इसी तरह की एक और 'सूखे में टेस्ट वर्क के लिए सरकार ने सवा लाख की स्कीम भेजी थी। काम था गाँव के छवरे को खुली सड़क में बदलना, नहर से निकलने वाले चकनालों और नालियों को वजूद में लाना ताकि जब चंद्रप्रभा और लालफीताशाह के बाँधों में पानी हो तो नहर सब कुछ समेटकर पिछले वर्षों की तरह सीवान के भीतर से जाती हुई भी उसे असिंचित न रहने दे। चकनालों और नालियों का ऐसा जाल छा जाये कि गाँव के सीवान की चप्पा-चप्पा धरती पानी से अघा जाये'[150]....लेखक को लगा कि इस साल के बाद कभी सूखा नहीं आयेगा पर अंदर की अंतड़ी यह कि मोतीलाल प्रधान और उनकी चंडाल-चौकड़ी—मेवालाल, झब्बूलाल, रामखेलावन और श्रीकांत के कुचक्र में पड़कर यह सब कुछ स्वार्थों और लूटखसोट के नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह जाता है। ऐसी ही गैंग पोखरी की मछलियों को बेच और ग्राम समाज के लगान के

145. मुरदासराय (तकावी), पृष्ठ 155.
146. भेड़िये (शीर्षक कहानी), पृष्ठ 31.
147. वही, पृष्ठ 28.
148. वही, पृष्ठ 28.
149. भेड़िए (तो), पृष्ठ 48.
150. वही (बड़ी लकीरें), पृष्ठ 18.

पैसे भी डकार जाती है ।[151] इस प्रकार सरकारी योजनाओं से गाँवों में जिस परिवेश का निर्माण हुआ है, वह उसे राहु-केतु की तरह ग्रसता जा रहा है ।

इन विषयों को ही आधार बनाकर कुछ अद्यतन लेखकों ने बड़ी मर्म-स्पर्शी कहानियाँ लिखी हैं जिनमें इनके स्वरूप पूरे विस्तार और बारीकी से अंकित किये गये हैं, पर डॉ० सिंह ने इन्हें कथ्य के दौरान प्रच्छन्न रूप से आकलित किया है । यहाँ भी हमारा पूर्वानुमान बदस्तूर है कि शायद अधुनातन स्थितियों से लेखक का वह निजी संपर्क नहीं रहा । ऐसा लगता है कि गाँव से आते-जाते लोगों या समाचार-पत्रों की खबरों के आधार पर लेखक अपनी कल्पना और पर्याप्त अभ्यासार्जित लेखन क्षमता के बल पर इस सब कुछ का उल्लेख करता है । इससे अब गाँव का वैसा परिवेश हमारे सामने साकार नहीं हो पाता जैसा 'खैरा पीपल कभी न डोले' आदि कहानियों में होता है, वह संश्लिष्टता भी अब नहीं दिखती । ये मात्र सहायक बनकर रह गये हैं या बनाकर पेश किये गये हैं ।

●

151. भेड़िए (बड़ी लकीरें), पृष्ठ 29.

अध्याय—तीन
कहानियों का कथ्य

'कथ्य' की संकल्पना

कथ्य अपने शाब्दिक रूप में 'कथनीय'—कहने योग्य अर्थ का संवाहक है। पर लेखन के संदर्भ में इसका सीधा संबंध उस घनीभूत मूल संवेदना से है जिससे प्रेरित और जिसके वशीभूत होकर लेखक कलम उठाने पर मजबूर होता है। इसी संवेद्य प्रेरणा को अवाम तक पहुँचाना ही लेखक का मंतव्य रहता है और रचना से होकर गुजरते हुए इसी को पा लेना पाठक का अभिप्रेत। इस प्रकार 'कथ्य' ही सृजन का वह महत्त्वपूर्ण आयाम है जहाँ सर्जक और पाठक एक साथ खड़े होते हैं। यह बात दूसरी है कि वहाँ खड़े होकर भी पाठक अपने ढंग से अपनी सूझ-बूझ से उस बिन्दु को व्याख्यायित करने, सही-गलत ठहराने के लिए पूर्ण स्वतंत्र रहता है और यह स्वतंत्रता भी कथ्य की महत्ता को विस्तार देती है। पाठक का लेखकीय मूल संवेदना तक पहुँचना यदि लेखक की सफलता है तो स्वतंत्र व्याख्या के दौरान 'कथ्य' का बहु-आयामी विस्तार लेखन की सार्थकता।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में यह बिन्दु (कथ्य) विविध रूपी संदर्भों के बहु-आयामी संस्पर्शों से जुड़ा हुआ है, जो जीवन के विविध पक्षों के साथ लेखकीय संसक्ति का द्योतक है और लेखन में कथ्य संबंधी विविध प्रयोगों का प्रवर्त्तक।

कथ्य-संबंधी विविध प्रयोग

1. प्रयोग का स्पष्टीकरण

प्रयोग की चेतना

सृजन के दौरान विभिन्न परिस्थितियों-मनस्थितियों के घात-प्रतिघातों को झेलते हुए हर लेखक प्रायः कथ्य के तमाम रूपों में अपने को अभिव्यक्त करता है, पर उसे प्रयोग नहीं कहा जा सकता। वह इन रूपों-प्रकारों से भिन्न होता है। 'प्रयोग' उस व्यक्तिगत मानसिकता से भी भिन्न होता है जिसमें लेखक की प्रत्येक रचना उसके लिए एक प्रयोग होती है। वस्तुतः समीक्षा के अन्तर्गत जिस अर्थ में रचना को प्रयोग कहा जाता है याने समाज के लिए रचना का 'प्रयोग' बन जाना बिल्कुल अलग चीज है। एक तरह से इस 'प्रयोग' को 'कथ्य' की नवीनता के संदर्भ में ग्रहण किया जा सकता है और मोटे तौर पर इससे 'एक्सपेरीमेंट' की ध्वनि ही निकलती है। समाज में बहुतेरी बातें सृजन का आयाम बन सकती हैं, हर रचनाकार बनाता ही है, पर किसी दौर में किसी विशिष्ट प्रतिभा द्वारा ऐसी समस्याओं को लेकर आवाज़ उठा दी

जाती है जो समकालीन या उससे पूर्व के दौरान में एकदम उपेक्षित रह गयी होती है। इनका चित्रण संबंधित लेखक के लिए कई बार बड़े जोखिम का काम साबित हो सकता है क्योंकि समाज के ठेकेदारों द्वारा बनायी गयी तमाम मान्यताओं, रीति-रिवाजों के प्रति, अवान्तर कारणों से ही सही, आम जनता में श्रद्धा का भाव रहता है और जीवन में प्रचलित इन नियमबंधों के खिलाफ आवाज़ उठाने पर, उनके अनैतिक होने के बावजूद, वे तथाकथित रहनुमा किसी भी हद तक जा सकते हैं—तुलसी तक के साथ ब्राह्मणों द्वारा किया गया व्यवहार सर्वविदित है। सामाजिक परंपराओं और साहित्यिक मान्यताओं के चलते ऐसे लेखन का उपेक्षित हो जाना भी लेखक को समाप्त कर सकता है। इन सबके बावजूद, ऐसे प्रयोग ही लेखक की जीवंतता, प्रतिभा के परिचायक भी साबित होते हैं।

1975 में प्रकाशित 'मुरदाघर' (जगदंबाप्रसाद दीक्षित) की 'थीम' एक प्रयोग साबित हुई और 'मित्रो मरजानी' (कृष्णा सोबती) अपने कथ्य और प्रस्तुति दोनों को लेकर एक बेहद खतरनाक प्रयोग के रूप में सामने आयी थी। इसी तरह मनोरंजन और तिलस्म से उठाकर कहानी को जीवन के आदर्शों तक लाने वाली प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियाँ और फिर उस धारा को छोड़कर 'कफन', 'पूस की रात' 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि के यथार्थ भी अपने सामयिक चलन के खिलाफ ऐसे ही अभिनव और 'रिस्की' प्रयोग थे। समकालीन प्रचलित (साहित्यिक और सामाजिक) प्रवाह से उलटी लहर होने के बावजूद बदले जीवन के अनुरूप होने के कारण ये सफल रहे। इस तरह के तमाम लोग अपने-अपने युग में ऐसे प्रयोग करते रहे पर उनकी दृष्टि हमेशा इस निरीक्षण पर टिकी रही कि उनके ये प्रयोग किस हद तक समाज के लिए कारगर हो पा रहे हैं—उस डाक्टर की तरह जो अपने मरीज के लिए नित नयी-नयी दवाओं के प्रयोग चिकित्सा के दौरान करता रहता है।

ठीक इसी तरह डॉ० शिवप्रसाद सिंह भी अपने समाज का अध्ययन करते हुए समकालीन अहम समस्याओं पर गौर करते रहे, उन्हें अपनी संतुलित दृष्टि से परखते रहे और इस जाँच-परख से एक निश्चित नजरिया अख्त्यार करने के बाद वे एक-एक स्थिति को लेखन में उतारते रहे। समकालीन दौर में इस प्रक्रिया से गुजरते हुए लिखी गयी उनकी हर कहानी प्रयोग रही, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता, लेकिन उन कहानियों को नजरअंदाज भी नहीं किया जा सकता जो सबसे अलहदा और अभिनव रूप में लेखक की प्रयोगधर्मी चेतना को उजागर-स्थापित करने में पूर्ण सक्षम हैं। इन कहानियों को हम अलग शीर्षकों के अंतर्गत विस्तार से देखेंगे पर इससे पहले इस प्रयोग की प्रस्तुति के उस मार्मिक प्रसंग की चर्चा प्रासंगिक ही नहीं, जरूरी भी है जिसने इस प्रयोगधर्मी चेतना तक पहुँचाने के लिए गवाक्ष का काम किया—

'धारा' और धारा के भीतर-बाहर

'धारा' लेखक की एक महत्वपूर्ण कहानी है जो 'मुरदासराय' संकलन में संगृहीत है। यह संकलन डॉ० सिंह के संपूर्ण लेखन को दो युगों में विभाजित करता

है याने प्रथम युग के सीमांत पर स्थित है और इसमें संकलित यह कहानी इनके संपूर्ण कहानी-लेखन के द्विपक्षीय विभाजन का संकेत बन गयी है।

'धारा' आज हमारे देश के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के इस प्रवाह का प्रतीक है जो औद्योगीकरण, पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरणों आदि के फलस्वरूप आधुनिकता के नाम पर व्यापता जा रहा है। इस प्रवाह में घुलमिल गये लोग धारा के भीतर के लोग कहे गये हैं। इनकी अपनी रीति-नीति है, विचार-व्यवहार है जो एक मजबूत गुंजलक के रूप में समाज पर छा गये हैं और 'धारा' के भीतर आने की प्रक्रिया में रत लोगों को अपनी अजगरी गिरफ्त में कसे हुए हैं। मजा तो यह है कि ये लोग बाकी लोगों को अपनी चाकचिक्य भरी सभ्यता से लुभा-लुभाकर उकसाते भी हैं।

वस्तुतः इन ग्रसित लोगों, जो न धारा के भीतर पहुँच पाये और न बाहर रुक सके, की जिन्दगी ही इस संदर्भ में डॉ० सिंह के लेखन का मुख्य वर्ण्य रही है। इसके अंतर्गत उन स्थितियों को उजागर किया गया है जिनके तहत धारा के बाहर वालों को भीतर आने के लिए अनेकानेक प्रलोभनों से प्रेरित (उकसा) कर विवश तो किया जाता है पर उन्हें 'धारा' में मिलने भी नहीं दिया जाता। फलतः उनके प्रयत्न मृग-मरीचिका बनकर रह जाते हैं। 'धारा' कहानी की मुख्य पात्रा तिउरा इसी में उलझकर बिखर गयी है। देवनाथ उसे लालच देकर, सब्ज-बाग दिखाकर घर से बाजार तक तो लाता है, साड़ी-जंफर से सजाता भी है, पर जब वह उसकी बाहें थाम कदम-से-कदम मिलाकर 'धारा' के भीतर की तरफ चलने को उद्यत होती है तो एक मामूली-सा झटका देकर बगलिया जाता है और धारा—जीवन के मुख्य प्रवाह के—भीतर जाती तिउरा छिटककर दूर जा पड़ती है। अब उसकी पहली जगह भी छूट चुकी है जिसके लिए लेखक ने धारा से मिलता-जुलता एक और सांकेतिक शब्द दिया है—परती याने अनुपजाऊ क्षेत्र। उसका परिवार जीवन के उर्वर क्षेत्र से अलग तो पहले से था ही—धारा के बाहर, पर माँ-भाई का एक सहारा तो था, आते-जाते उन पर लोगों की दृष्टि तो पड़ती थी लेकिन परती को छोड़कर उर्वर में उपजने का उसका प्रयत्न उसे ऐसे प्लेटफार्म पर छोड़ देता है जो परती ही नहीं, पत्थर है, जहाँ कोई परिचित नजर भी नहीं मिलती।

तोड़ने-जोड़ने-बिखेरने की नीयत से टूटने-जुड़ने-बिखरने की यह नियति समाज के लिए कोई नयी बात नहीं, पर डॉ० सिंह की समकालीन लेखनधारा ने चाहे किन्हीं कारणों से इसे नजरअंदाज कर रखा था (पूर्ववर्ती धारा ने तो किया ही था), वह धारा के भीतर की जिन्दगी (की रंगीनियों) में खो गयी थी। जीवन के रेशमी ताने-बाने आधुनिकता मान लिये गये थे और इनकी महीन बुनावट अपने सतरंगी रूपों में तत्कालीन प्रयत्नों की सीमा बन गयी थी। ऐसी स्थितियों में डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अपनी इस प्रतीकात्मक 'थीम' को माध्यम के रूप में अपना कर अत्यंत जोरदार

ढंग से यह सवाल उठाया कि धारा में कूदने वाला हर कोई पार ही तो नहीं लगता और जो नहीं लगे, उनकी जिन्दगी क्या कम आधुनिक है ?[1] और यहीं यह भी सवाल उठता है कि पार न लगने वालों को बाँहों में थामे, उनकी असफलताओं के कारणों को निबेरते हुए, उनके प्रयत्नों की सार्थकता के प्रति उन्हें आश्वस्त—सचेत करना, ढाढ़स बँधाना या कम से कम कुछ नहीं तो लोगों तक पहुँचाना ही; क्या कम आधुनिक (दृष्टिसंपन्न) लेखन है—अपेक्षाकृत उनके जो पार लगने वालों की जमात में बहते हुए अपनी तैयारी का झंडा फहराने के लिए कमलनालों को थामे खड़े हैं ?

पर डॉ० सिंह की जहनियत को इस दूसरे सवाल के लिए फुर्सत नहीं है। उसने तो धारा में कूदने वालों की इतनी बड़ी दुनिया देखी है, उनके दर्द से इतनी भींगी है, व्यग्र हुई है कि जब तक उन्हें पूरे वजूद में—अंतर्बाह्य प्रयत्नों के साथ— सबके सम्मुख हू-ब-हू लाकर खड़ा नहीं कर देती, उसे चैन नहीं। इसीलिए तो तिउरा के समानधर्मी जीवन की एक लंबी कतार इनके लेखन में मौजूद है और उसी के एक खास अंश को हमने प्रयोग नाम दिया है।

'धारा' में कूदने वाला हर कोई पार ही नहीं लगता, सवाल को लेखक ने एक और स्तर पर भी उठाया है—इसी कहानी में। कहानी का 'मैं' बड़ी मेहनत-तरद्दुत के बाद शहर में नौकरी पा जाता है। गाँव का निश्चित ठिकाना छोड़ अब उसे वहीं बसना है। 'मैं' के पिता इस एक जगह से विस्थापित होकर दूसरी जगह शहर में स्थापित होने की उसकी सफलता से जितने खुश हैं, 'मैं' उतना ही संजीदा है। शहर में नौकरी पाने को 'आधुनिक सभ्यता की नयी उपलब्धि' मानकर जो पिता आज बेहद खुश है, वे ही तो बिना नौकरी वाले अपने इसी बेटे को अब तक उपेक्षित प्राणी मानते थे, लिहाजा घर से बाहर-बाहर रहकर किसी तरह उसे दिन गुजारने पड़ते थे। इस तरह वह नौकरी पाने पर थोड़े ही यहाँ से टूट रहा है, जब यह नया ठिकाना नहीं था तब भी तो उसका यह पुराना ठिकाना टूट ही चुका था। इसीलिए पिता बाहर वाली जिन्दगी को नयी जिन्दगी कहते हैं पर लेखक (मैं) को तो वह जीवन भी नया ही लगता है जिसमें बिना नौकरी वाले अपने बेटे के लिए जगह ही नहीं थी। यदि शहर की नई सभ्यतासंपन्न जिन्दगी—धारा के भीतर—का आश्रय छूटा तो क्या उसे इस पुराने (निश्चित ?) ठिकाने पर पनाह मिलेगी या तिउरा की तरह उसे भी किसी प्लेटफार्म या सड़क के कोने की ही तलाश करनी पड़ेगी ? अपने ही घर में बेकार-फालतू हो जाने, निरादृत होकर शहर की तरफ भागने वालों की समस्या का यह एक आंतरिक और यथार्थ परिप्रेक्ष्य है।

असल में यह सवाल तिउरा वाले से तनिक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उपेक्षित-अनाम जातियों के लिए ही धारा (से और धारा) में बहाव की बात चिंता

1. 'मुरदासराय'—शिवप्रसाद सिंह—'कुछ न होने का कुछ' शीर्षक भूमिका से—पृष्ठ 15.

का विषय नहीं है वरन् तथाकथित नये जीवन की तरफ लालायित नजरों से जीभ लपलपाने वालों की मानसिकता को लेकर आम जीवन के संदर्भ में भी उतना ही मौजूं है। और इन सबके लिए प्रयुक्त यह प्रतीक संकेत 'धारा' अत्यंत सटीक व्यंजना में समर्थ है।

यह तो हुई धारा के बाहर या अंदर आने के लिए उत्सुक लोगों की बात; पर बाहर-अंदर के बीच कसमसाते लोगों को सामने लाने में धारा के भीतर वालों की भूमिका उस रंगमंच से कम महत्वपूर्ण नहीं, जिसके बिना दिग्दर्शक अपने नेपथ्य को प्रस्तुत कर ही नहीं सकता। देवनाथ और उसकी आढ़त वाले काम के बिना लेखक भी तिउरा की व्यथा को मुखरित नहीं कर पाता। ठीक ऐसे ही गाँव छोड़ने और शहर में बसने के बीच लेखक 'मैं' की टीसती पीड़ा भी पिता की मानसिक पृष्ठभूमि में ही सार्थक हो पाती है। पिता की मानसिकता धारा के भीतरवालों के साथ जुड़ी हुई है। इस प्रकार लगभग सभी प्रयोग-धर्मी कहानियों में इन दोनों ही (धारा के भीतर-बाहर के) लोगों की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का एक दूसरे के पूरक में इस्तेमाल हुआ है, पर इनमें धारा के बाहर वालों के दोहरे दर्द ही कहानी के प्राण हैं।

प्रयोग की भूमि

जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है कि धारा के बाहर वालों के खास समुदाय को यहाँ प्रयोग नाम दिया गया है। असल में डॉ० सिंह की कहानियों में 'प्रयोग की अनुभूति उन क्षेत्रों की अन्वेषण प्रवृत्ति है, जिन्हें अभेद्य या निरपेक्ष या अन्वेषणेतर मान कर छोड़ दिया गया था।'[2] स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् प्रजातांत्रिक प्रभावों और मानवीय पक्ष के उभार के कारण समत्व की जो लहर आयी, उसे हिन्दी कथाकारों ने भी आत्मसात् किया और हिन्दी कथा साहित्य में दलितोन्मेष अथवा लघुमानवोत्थान की प्रवृत्ति प्रारंभ में तीव्रगति से विकसित हुई।[3] साहित्य में खास करके कविता में, 'मामूली आदमी की प्रतिष्ठा' का स्वर गूँज उठा। कहानी के संदर्भ में डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं, 'आज के कहानीकारों ने बहुत से उपेक्षितों को अपनी संवेदना दी है। एक जमाने में जिस प्रकार वेश्याओं और पतिताओं के उद्धार का उत्साह था, उसी प्रकार आज के कुछ कहानीकारों ने कंजड़ों, नटों, मुसहरों, मीरासियों, हिजड़ों, रमंतू नर्तकों आदि यायावरीय मनुष्यों का उद्धार किया है जिसके लिए शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ दर्शनीय हैं।[4] यह पूरा जनसमुदाय साहित्य से कटकर बहिष्कृत रहा। किसी भी लेखक-कवि (इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़कर) ने इन अभिशप्तों को अपनी संवेदना से सिक्त नहीं किया। प्रेमचंद जी से भी यह क्षेत्र नजरअंदाज रह गया।

2. हिन्दी साहित्य कोश—भाग 1—प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 486.
3. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 301.
4. कहानी-नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ 64.

किस तरह, क्यों रह गया ? के संबंध में क्या कहा जा सकता है। हाँ यह जरूर है कि उन्होंने भारतीय ग्रामीण समाज के दर्द को पहली बार इतने विस्तृत फलक पर उठाया था और इतनी सारी बातें उनके सामने थीं कि उस समय यह जीवन गौण था क्योंकि तब तो पूरा गाँव ही अनछुआ था। यही क्या कम है कि प्रेमचंद जी ने 'कीन्हें प्राकृत जनगुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' से खींचकर साहित्य (सरस्वती) को घीसू, माधव, हल्कू-गोबर तक पहुँचाया और कविता में यही काम दिल खोलकर निराला जी ने किया।

हाँ, आजादी के बाद जब हर क्षेत्र में सर्वांगीण प्रगति के द्वार खुलने की घोषणाएँ हुईं, तब भी ये समाज तथा साहित्य के रहनुमाओं की आँखों से ओझल ही रह गये। इसीलिए पचासोत्तरी कहानी के पुरोधा भी अपनी यात्राओं को जीवन से साहित्य की ओर ले जाने तथा समूहगत सामाजिकता के स्वीकार की घोषणाओं के बावजूद इन्हें भूल गये या भुलाते रहे। बहुतेरे वक्तव्यों द्वारा ग्रामीण लेखकों के सम्राट् पद पर अपने को सुशोभित करने वालों के रथ भी इन्हें अनदेखा करके निकल जाते रहे। ऐसे में यह वर्ग सचमुच साहित्य में भी 'अछूत' ही रह गया होता, यदि शिवप्रसाद सिंह ने साहित्य की बहती गंगा में नहाकर मुक्ति पाने की परवाह किये बगैर भरपूर स्नेहसंवेदना के साथ इन्हें बाँहों में न भर लिया होता।

इस संदर्भ से जुड़ी कहानियों की शुरुआत डॉ० सिंह ने अपने पहले संग्रह की शीर्षक कहानी 'आर-पार की माला' में ही कर दी है। इसके बाद इस प्रयोगात्मक 'थीम' को लेकर लिखी गयी कहानियों में 'पापजीवी', 'संपेरा', 'बिन्दा महाराज', (कर्मनाशा की हार में संकलित) और तीसरे संग्रह की शीर्षक कहानी 'इन्हें भी इंतजार है' के साथ उसी में संकलित 'टूटे तारे', 'बेहया', 'आँखें', 'खैरा पीपल कभी न डोले' तथा 'धारा' (मुरदासराय में संकलित) आदि प्रमुख रूप से उल्लेख्य हैं। इनके अंतर्गत नटों, मुसहरों, कंजड़, डोम-धरिकार आदि निकृष्ट समझी जाने वाली जातियों, हिजड़ों, वेश्याओं आदि के जीवन स्तर, समाज में उनकी स्थिति, तौर-तरीके, रहन-सहन, वेश-भूषा, बातचीत आदि का चित्रण तो हुआ ही है, जिनसे हमारे सामने उनकी यथार्थ स्थिति का खुलासा हुआ है, पर इससे आगे बढ़कर समाज व्यवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण भी आक्रोशजन्य प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त हुआ है, जिससे वह चुभन सीधे हमारे मर्म तक पहुँचती है। लेकिन इस असह्य आधिभौतिक संतापों के बीच वह मानवीय करुणा का भाव इनकी थाती है जिसके लिए वे अपनी जान दे देते हैं, पर किसी भी मूल्य पर उनका हनन करना अंतरतर से कबूल नहीं कर पाते।

प्रयोग के रूप—हम विस्तार से इन्हें इन शीर्षकों के अंतर्गत देखेंगे—

कबीलों की जिन्दगी पर कहानी लिखने का प्रयोग—

ये काफिले या कबीले में चलने वाले लोग हैं। इनके पास घर नहीं होता, कहना इनके सन्दर्भ में सही नहीं है, इनकी जाति का अपमान है। इनकी पहचान और

जातिगत मान-मर्यादा तो घर न बनाने में ही है। जुम्मन का विश्वास है—'घर बनाना कुंजड़ के लिए मौत से भी बुरा है।'[5] इसका ये लोग व्यावहारिक जीवन में पूर्ण निर्वाह करते हैं। इसीलिए 'आर-पार की माला' का असली नट मटरू नहीं, जुम्मन है। वही विवेच्य जीवन का प्रतिनिधित्व भी करता है। लेखक ने कहानी में इन्हें कुंजड़ नाम दिया है। इनके जातिगत भेदों-उपभेदों को निबेरना गौण है, पर ये जातियाँ हैं सही अर्थों में खानाबदोश। 'छः-सात भैंसों, बीसों मुर्गियों, कुत्तों, तीतल, नेवलों वाले इस कुनबे का मालिक जुम्मन हो या गुदड़ों, बोरों, पिंजड़ों को भैंसों पर लाद, अधपके खाने की हंड़िया हाथ में लिए, पीछे चलती नट्टिनों वाले घर का मालिक बक्कस, जमींदार की फटकार भरे आदेश के सामने 'अभी सरकार' कहते हुए 'देखते ही देखते आँखों से ओझल हो जाने में ही खैर' है वरना 'लगता है सीधे नहीं जाओगे, कुछ और करना होगा' के जुबानी तेवर को लागू कर देने में क्या पलक झपकने से ज्यादा देर लगती है[6]।

यह पलायन इस जाति का सहज स्वीकार नहीं, व्यवस्थाजन्य स्थितियों के तहत जिये जाते जीवन की अनिवार्य विवशता है जिसे लेखक ने संबंधित कहानियों में उन स्थितियों के तहत परत-दर-परत उघाड़ा है जिनकी जड़ें व्यवस्था में बहुत गहराई तक जमी हुई हैं और इन हालात के लिए जो मुकम्मल जिम्मेदार ठहरती हैं। वस्तुतः जुम्मन और बक्कस दोनों में विरोध और प्रतिशोध की भावना प्रबल है। उनमें आत्म-सम्मान कूट-कूट कर भरा है और यह इनकी यायावरीय प्रवृत्ति का वरदान है। ये लोग एक जगह से दूसरी जगह भ्रमण करते रहते हैं—जंगल के बीच या पेड़ के नीचे, जहाँ भी शाम हो जाये वहीं सुबह। आसपास के गाँवों में घूम घूमकर पुरुष ढोलक की थाप पर आल्हा (जगनिक के काव्य 'परमाल रासो' का गायन) सुनाते हैं, गाँव के नवचों को कुश्ती लड़ाना सिखाते हैं, दंगल कराते हैं। औरतें ढोलक बजा-बजा कर या गोदना गोदकर[7] पैसे और अनाज लाती हैं। यही इनकी जीवन पद्धति है जिसे हम चाहें तो पेशा भी कह सकते हैं। पहनावों से ये कुछ खास लेन-देन नहीं रखते। खाने का अच्छा जुगाड़ करना इनका प्रथम उद्देश्य होता है। लेकिन लाख कोशिशों के बावजूद रूखा-सूखा के अलावा इन्हें मिलता ही क्या है। फिर भी यदि जुम्मन का हाल बुढ़ाई में भी यह है कि 'लंगोट कस ले तो जांघों में मछलियाँ तैर जायें' तो इसका एकमात्र कारण है इस जाति का निगम होकर निर्बन्ध फिरना—स्वच्छंद जीवन। पर यह रह पाता कहाँ है? व्यवस्था के नाग फुँफकारते हैं और बेटे के साथ मँगनी करके भी जुम्मन बहू नीरू को घर नहीं ला पाता। बाप-बेटे को ठाकुर के इशारे पर पुलिस हवालात में बन्द कर देती है और पूरा कुनबा बर्बाद। जमींदार-परस्त व्यवस्था

---

5. आर-पार की माला—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 148.
6. पूरा वाक्य 'आर-पार की माला' और 'संपेरा' में आये शब्दों से संगठित।
7. 'कर्मनाशा की हार', पृष्ठ 108 के आधार पर।

में पुलिस ठाकुर के और उनकी निगाह नीरू पर। फिर उसे ले जाने वाला जेल नहीं तो कहाँ जायेगा ? यह है व्यवस्था का अभिशाप, जिसे जुम्मन की जीवन-पद्धति की पृष्ठभूमि में कहानीकार व्यंजित करना चाहता है। इसी वजह से ये जातियाँ कहीं बसना नहीं चाहतीं, पर घर-बार, खाना-पीना तक की तिलांजलि देकर भी बच कहाँ पाती हैं ? हाँ, बचा लेती हैं अपना स्वाभिमान जो निष्क्रिय रहकर तटस्थ-मूक विद्रोह के रूप में कोई मायने नहीं रखता। जुम्मन जेल से लौटकर मँगनी के अपने रुपये वापस ले लेता है क्योंकि ठाकुर से उसका दूसरा कोई लाग-लपेट नहीं। कल से वह दूसरे इलाके में विचरण वृत्ति से जी लेगा। इसी को चाहे तो हम जातीय शान कह सकते हैं। यह इनकी जातिगत विशिष्टता तो है ही जो बिहार-पूर्वी उत्तर प्रदेश के इलाके में पर्याप्त देखने को मिलती है। यही मटरू में नहीं है, रह ही नहीं पाती क्योंकि उसने घर बना लिया है, ठाकुर की कृपा से खेत मिला है, मोके-झोंके की मदद से राशन आता है और यह सब यूँ ही तो होता नहीं। इसके लिए काफी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है—'जमींदार की दो औरतें हैं, पर उनसे मन नहीं भरता। बाप नौकर है तो बेटी 'नौकरानी'[8]। प्रचलित व्यवस्था के अंग हो जाने के कारण वे इसे बरदाश्त कर लेते हैं—बिना रंज-ओ-गम के। और हो भी तो उसे कम से कम जाहिर नहीं करते—मंगनी के दो सौ रुपये माँगने पर मटरू का व्यवहार इसका सबूत है। इस तरह कहानी में इनके खानाबदोशी जिन्दगी के स्वीकार का इतिहास भी चित्रित हुआ है जिसे नकार कर जुम्मन का-सा स्वाभिमान भी, निष्क्रिय ही सही, इनमें रह नहीं पाता।

संपेरा के बक्कस-बशीर में यह आत्मसम्मान क्रियाशील जरूर होता है, पर नितांत वैयक्तिक स्तर पर, जिसकी कोई सामाजिक संबद्धता नहीं है। इसीलिए बक्कस-बशीर का प्रतिशोध तो करते हैं पर विद्रोह बिल्कुल नहीं। यह स्वाभाविक भी है। जो समाज छोड़ चुका हो या समाज का परित्याग जिसकी जातीय परम्परा बन गया हो, वह इस स्तर पर गतिशील हो भी कैसे सकता है ? इसीलिए यह कथाकार की दृष्टिगत संकीर्णता या सामाजिक असंबद्धता नहीं है वरन् इस जाति के यथार्थ जीवन के प्रति 'बैलेन्स्ड' प्रतिबद्धता है।

बक्कस-बशीर का प्रतिशोध (आत्मसम्मान के लिए गतिशीलता) बैर-भाव से प्रेरित है और उनका तरीका जातीय जीवन के अंधविश्वासों पर आधारित है, इसीलिए नितांत अवैज्ञानिक भी है। दूसरे यदि यह कारगुजारी (बलात्कार से बचने के लिए अफीम खाकर आत्महत्या) खुद की बेटी के साथ न होकर किसी और के साथ हुई होती तो शायद ये भी जुम्मन की तरह तटस्थ ही रह गये होते। कुल मिलाकर ये जुम्मन से जरा भी आगे नहीं बढ़ते। लगता है प्रकारांतर से उसी 'थीम' को ज्यादा संलग्न बनाकर लेखक ने इनके जीवन के दूसरे पक्षों-विश्वासों को उजागर किया है।

---

8. आर-पार की माला—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 152.

इसीलिए यहाँ औरतों द्वारा अफीम के धंधे और पुरुषों द्वारा साँप के तमाशे दिखाने को मुख्य घटना के रूप में लिया है। इन दोनों घटनाओं की कहानी को बड़ी जरूरत थी या यूँ कहें कि इसी पर कहानी टिकी हुई है। कम्मो बलात्कार से बचने के लिए अफीम खाकर ही मरती है पर उसकी आत्महत्या से कहानी का कोई भी सत्य उजागर हुआ हो, ऐसा लगता नहीं, वरन् खाकर तुरत मर जाने में अविश्वसनीयता जरूर आ गयी है। यदि पवित्रता या सतीत्व की बात थी, जो अमूमन इनकी जातीय प्रसिद्धि नहीं है (वैसे पतन भी नामजद नहीं है) तो इसे पूर्व योजना के आधार पर नियोजित करना संगत होता। वैसे इस तरह की अचानक आ गयी विवश स्थिति में सतीत्व की बात इसलिए और बेमानी हो जाती है कि उस भयावहता (बलात्कार से ठीक पहले) में लाचारी, बेबसी, निरीहता, दयनीयता का भाव सर्वोपरि होता है न कि चरित्र पर कलंक लगने या शारीरिक-मानसिक यंत्रणा से बचने के विचार। इससे उस समय की मानसिकता भी असहज हो गयी है। इसके विपरीत बलात्कार से गुजरकर उस आत्मदाह की भयंकर मानसिकता में आत्महत्या करने की घटना ज्यादा सहज होती और अफीम वाले अपवाद प्रसंग से बचा भी जा सकता था। तब यह पाठक के लिए भी ज्यादा कसकपूर्ण, करुण और व्यंग्य होती तथा बदलू के प्रतिशोध की लपट में रंचमात्र भी कमी नहीं आती—याने कहानी का लेखकीय मकसद फौत नहीं होता। इस तरह कहानी का यह मुख्य प्रसंग असहज भी हो गया है तथा जातिगत आधार के लिए निरस्त भी। ब्रहरहाल,

व्यक्तिगत स्तर पर ही सही, पर इस जाति में प्रतिशोध की भावना रह तो गयी है। औरों की तरह 'हम सताये जाने के लिए ही बने हैं' की जड़ता का भाव कर्त्तव्य बनकर तो नहीं आ गया है। स्वमान की इसी चेतना के कारण ही इनका जीवन वरेण्य है—अपेक्षाकृत मटरू जैसे लोगों के, जिनकी चेतना ही मर गयी है।

रहन-सहन और जातीय शान-सम्मान के अलावा इन कबीले वालों की एक और खास विशेषता है, जो इन्हें बहुत-बहुत ऊँचे उठा देती है जहाँ वे न नट हैं, न पिता, न पति, न किसी के दुश्मन। व्यक्तिगत राग-द्वेष-रहित शुद्ध रूप में मानव मात्र रह गये, जिसके लिए गालिब अपनी शायरी में तरसते रहे—'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसां होना'। बाह्य दुनिया से अलग-थलग यह उनकी मानसिक दुनिया, अंतरतर का, कोमल भाव है जो ठाकुर की पत्नी-बच्चे के प्रति करुणा से द्रवित हो बदले के भाव को ही नहीं छोड़ता, अपनी जान भी सहर्ष दे देता है—'वे बेकसूर हैं बाबा'। इस सचाई को बाहर लाना डॉ० सिंह की एक खास विशेषता है जिसमें जीवन का अदृश्य, अनकहा भी छिप नहीं पाता—'जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी' बन जाता है।

अछूत जातियों पर कहानी लिखने का प्रयोग—

इसके अंतर्गत प्रमुख रूप से दो जातियों का जिक्र आता है—मुसहर और डोम। ये कबीले वालों से सिर्फ इस मायने में भिन्न हैं कि इनके पास रहने के निश्चित

ठिकाने हैं पर हाल उनसे ज्यादा ही खराब है। एक बार फिर जुम्मन के शब्दों में कहें तो इन लोगों ने भी घर बनाकर सचमुच ही अपने हक में मौत से भी बुरा कर लिया है। जातीय या व्यक्तिगत सम्मान तो क्या, समाज में इनकी कोई पूछ-पहचान तक नहीं है। भुखमरी-जलालत का क्या कहना ! कोई निश्चित ढंग का काम भी नहीं इनके लिए—

मुसहर हैं जो गोखुरू कुई के फूल, कमलगट्टे, पलाश के पत्तों के दोने और जंगल से काटकर लकड़ियाँ बेचते हैं, खेतों में चूहों की मादों से अनाज निकाल लाते हैं और अपना गुजर-बसर करते हैं। कहानी में तालाब से घोंघे, साँप, मेढक आदि भी पकड़ लाने का जिक्र है, पर इनका क्या करते हैं, मालूम नहीं।[9]

दूसरे डोम हैं जो बाँसों की डलिया-मौनी-कुरुई-दौरी आदि बना कर बेचते हैं। किसी के घर काम-परोजन पड़े या तर-त्योहार के दिन खाना पाते हैं। लेकिन ये धंधे इतने परमुखापेक्षी-पराश्रित हैं कि जमींदार-ठाकुर की कोपदृष्टि जब चाहे इनका तालाब-जंगलों-खेतों में फटकना बंद कर दे; कुछ काटना-बीनना तो दूर। डलिया-मौनी आदि की खरीद-फरोख्त भी मंहगाई-अकाल-सूखा आदि से उत्पन्न खस्ता हालत के कारण कभी भी बंद हो जाती है। और इन सबके बीच छटपटाते विवश इन लोगों की परिणति बब्बर और मंगरा ('पापजीवी' और 'इन्हें भी इंतजार है' के पात्र क्रमशः) में होती है। बब्बर चोरी-चमारी में लग जाता है और मंगरा कफनखसोटी करने लगता है। इन बुरे धंधों के साथ शुरू होता है—दारू पीने और नशे में परिवार को मारने-पीटने का सिलसिला—

मंगरा घर आता था रोज दारू पीकर, धुत पड़ा रहता, राकस की तरह देखता था, लाल-लाल टेस आँखें[10] और बब्बर को नशे की लत थी, इसी नशे में वह अपनी पत्नी और लड़के को बुरी तरह पीटता था, बदलू भी 'देसी के अद्धे के जुनून में मुसहरिन पर सूखे रेंड़ की तरह खड़खड़ा उठता—कहाँ है रे टूरी, ला तो टांगा, साली की बोटी-बोटी छिनगा दूँ।' जीते जी यही किल्लत उठाते-उठाते आखिरी हश्र में बब्बर 'पता नहीं कैसे बीमार था या क्या, जेल में ही मर गया। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ, असलियत भला कौन जाने'। पर मंगरा के हैजे से मरने पर तो लेखक को लगने लगता है कि 'वह मरा नहीं, उसने खुद को मार डाला।'[11]

यही है इनका जीवन। सदियों से पीढ़ियाँ गुजरती जा रही हैं, पर इनके हालात में कोई परिवर्तन नहीं—आजादी के बाद भी। तब तो जमींदार नाराज होकर खेत-खलिहानों में जाना बंद कर देता था लेकिन अंधविश्वासों के तहत ही सही, जंगलों से बदलू को अपना गुजर करने भर को मिल जाता था। अब तो सरकार ने

9. पापजीवी—(कर्मनाशा की हार) पृष्ठ 39-40 के आधार पर।

10. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 72.

11. वही, पृष्ठ 73.

उन्हें भी कटवाकर ठेकेदारों के लिए बंगले बनवा दिये। तब तो चोरी के कारण बब्बर को मरना पड़ा था, अब तो अपना ही पैसा माँगने पर बदलू की गति बन जाती है। इस तरह बड़ी सूक्ष्मता से स्पष्ट हो जाता है कि आजादी के बाद भी इनके लांच्छित जीवन की धारणा खत्म नहीं हुई, बढ़ती ही गयी—शोषण-दमन तो बढ़ा ही।

इस कहानी में एक संवेदनात्मक संस्पर्श का बारीक सूत्र जुड़ा हुआ है। बदलू बचपन में अपने बाप बब्बर के पकड़े जाने पर जो पूछता है, वही उसकी लड़की टूरी बदलू से पूछती है—'बब्बू, ई का कियो ?' टूरी बीमार है, पानी तक अपने पिता बदलू से माँगती है, पर उसका जंगल तक आकर यह पूछना, पाठक का दिल दर्द से नहा उठता है। यह टूरी-प्रसंग कई कारणों से कहानी की जान है। बदलू को जिस प्रश्न का उत्तर अपने बाप से नहीं मिला, टूरी के प्रश्न से मिल गया। व्यवस्था की क्रूरता-नृशंसता तब उसने नहीं देखी थी। आज उसने टूरी को अपने बदन से परे ढकेल कर वही किया जो उसके बाप बब्बर ने किया था। कहानी के प्रारंभ में टूरी के प्रति बदलू का प्यार हम देख चुके हैं। फिर वही जब ऐसा करता है तो व्यवस्था के प्रति असहाय आक्रोश का वेग, जो उसके अंदर उफन रहा था, समझा जा सकता है। टूरी के प्रति गहन प्यार, पत्नी के कहे वचन आदि संवेदनाओं से अभिभूत बदलू द्वारा ठेकेदार का हाथ पकड़ने की संगति भी इसी संवेदनात्मक प्रसंग से खुलती है। वरना यह भी असहज लग सकता था। पीढ़ियों के बाद भी इस प्रश्न का अनुत्तरित रह जाना जड़-बद्धमूल समाज-व्यवस्था का संकेत भी है। यह छोटी सी घटना इतने सारे संदर्भ संकेतों से भरी है जो किसी भी कथाकार के लिए कथानक-संयोजन का उत्कृष्ट नमूना बन सकती है। पर न जाने कैसे कई पीढ़ियों के कथाकारों के रहनुमा समझे जाने वाले अश्क जी ने इस प्रसंग को लेकर यह सवाल उठाया कि बीमार लड़की वहाँ तक कैसे आ पहुँची ? निश्चय ही इस बड़े कथाकार ने किंचित् अनवधानता से कहानी पढ़ी होगी वरना इतने सटीक प्रसंग को वे अविश्वसनीय कैसे कहते।[12] साधारण सी बात है कि चेचक से कराहती लड़की बाप के सिरहाने बैठे रहने पर उससे पानी माँगेगी ही। पर 'बाप को बांध कर मारा जा रहा है', सुनकर तो असाध्य रोगी, तक जिसकी खटिया कटी हो, वहाँ कैसे भी करके पहुँच जायेगा। बात ही ऐसी है। पर मनुष्य-स्वभाव की इतनी साधारण-सी बात को न समझकर ऐसा बचकाना सवाल उठाने पर ऐसा लगने लगता है कि विद्वान् लेखक से पढ़ते हुए अनवधानता नहीं हुई है। अवांतर रूप से पूर्वग्रही दृष्टि से पढ़ने के कारण ऐसा किया गया है। खैर,

'इन्हें भी इंतजार है' सही अर्थों में डोम जातियों के साथ हुए अन्यायों-उपेक्षाओं की सशक्त अभिव्यक्ति बनकर प्रयोगधर्मा रचना-कर्म को सार्थक करती है। इसमें परिवेश इस कदर खुलकर उभरा है कि इन जातियों के प्रति समाज की बेरुखी, लांच्छना पूरी संजीदगी और तीव्रता के साथ प्रकट हुई है। कहानी के मुख्य पात्र मंगरा की

12. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ 179.

मानसिकता पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य को नंगा कर देती है। हम जिन चीजों से वंचित रखकर उन्हें अभावों से भर देते हैं और उसी को नियम बना देते हैं, फिर कालांतर में उसी के लिए पूरी जाति को दोषी भी ठहराते हैं, उनका तिरस्कार करते हैं। डोम मजूरी में पका अन्न ही लेते हैं, कच्चा अनाज कभी नहीं लेते क्योंकि चूल्हा-चक्की उनके लिए अपमान की बात है।[13] सामाजिक विकास को दृष्टि में रखें तो थोड़ी-सी बुद्धि रखने वाला भी कह सकता है कि यह शुरुआत देने वाले वर्ग से ही हुई होगी, फिर धीरे-धीरे नियम बन गया होगा और एक दिन ऐसा भी आया जब कहा जाने लगा—'डोमों को जूठा खाने की आदत है'। इस तिरस्कार-लांछना के बारे में पूछने पर हिकारतभरी ग्लानि से दिया गया मंगरा का उत्तर सब कुछ साफ कर देता है—'पीसने-कूटने को कुछ हो भी सरकार कि खाली चक्की ही चलाते रहें...कुएँ पर कोई जाने नहीं देता, माँग के पीवें तो लोग यह भी कहेंगे कि डोम तो खींचकर पानी पीते नहीं....हम कहाँ जाएँ सरकार, हमारी देह में तो ऐसी छूत भरी है कि कोई खाद-गोबर फेंकने का काम भी नहीं देता'।[14] मंगरा ने इसी जाहिर समझ के कारण ही कफनखसोटी करके हैजा बुला लिया। इसके दूरगामी परिणाम इस जाति को मंगरा की औरत कबरी और उसके बच्चे की सांसतों के रूप में सहने पड़ते हैं। कबरी स्टेशन पर भीख माँगकर बच्चे को जिलाना चाहती है। गाड़ी के डिब्बे—याने धारा—में घुसते देख (धारा के) भीतर वाले धक्का दे देते हैं और वह गिरकर घायल हो जाती है। बच्चा निमोनिया से मर जाता है और वह पागल होकर प्लेटफ़ार्म के दूसरे छोर पर—धारा के बिल्कुल बाहर—'पुल पर ले जाने वाली सीढ़ियों के पास बैठे अंधे, अपाहिज, गूँगे, अपंग भिखारियों की भीड़ में मिल गयी।'[15] इस परिणति को कबरी-मंगरा के प्रेमपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि में देखें तो समझते देर नहीं लगेगी कि यह व्यवस्था किस तरह इंसान को पंगु बनाकर रख दे रही है।

व्यवस्था के इसी साजिश भरे शिकंजे की उलझी कड़ियों को खोलती हुई एक जोरदार कहानी 'धारा' भी है जो कुंजड़ों को लेकर लिखी गयी है। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इन कहानियों में इस वर्ग की सारी समझ-संवेदना को निष्क्रिय तथा आक्रोश को बेबसी में नपुंसक होता हुआ दिखाया गया है। यही दंश इनके जीवन को उजाड़ देता है, बर्बाद कर देता है।

इन्हीं के समानांतर हरिजनों पर लिखी कहानियाँ भी उल्लेख्य हैं— 'उपहार' और 'खैरा पीपल कभी न डोले'। ये भी अछूत माने जाते हैं पर डोमों-मुसहरों के मुकाबले इनका जीवन ज्यादा स्थायी इस मायने में है कि जहाँ डोमों को काम नहीं मिलता, मुसहर बदनाम हैं, वहीं ये मुश्तकिल रूप से ठाकुरों के यहाँ काम करते हैं, पर

13. इन्हें भी इंतजार है—पृष्ठ 73.
14. वही, पृष्ठ 73.
15. वही, पृष्ठ 76.

इसीलिए इनके अभिशाप भी स्थायी और मुश्किल हैं इसी को आज 'बंधुआ मजदूरों' (बॉण्डेड लेबरर्स) के नाम से बहुत बड़े पैमाने पर उठाया जा रहा है। इस प्रवृत्ति के खिलाफ कानून भी १९७६ में बना[16] पर डॉ० सिंह ने आजादी के बाद छठें दशक में इसे पूरी गंभीरता से उठाया था, गोकि यह नाम उन्होंने नहीं दिया था। इन्हें आवश्यक रूप से मालिक ठाकुरों के अतिरिक्त नियम कानूनों की बंदिश में रहना पड़ता है। उल्लंघन करने पर पूरा ठाकुर वर्ग सजा देने निकल पड़ता है—हरू चमार, लोचन बाबा (ठाकुर) को देख कर खाट पर से नहीं उठा था तो 'खान्दान की दो दर्जन लाठियाँ चमारों को ठीक करने के लिए निकल पड़ी थीं।....हरू और भीखम पर बड़ी मार पड़ी थी।....[17] खाने-पीने, रहने-सहने के जो हालात हैं, सो तो हैं ही अपने ही घर खाट पर बैठने की यह कीमत, उनके गर्हित-जीवन की दयनीयता का नमूना है। इसी तरह जब मुस्तैदी से काम करने वाले बच्चन (उपहार) को ठाकुर बिना पूछे कोड़े से सड़सड़ मारने लगते हैं तो बेबसी के ऊपर नृशंसता का यह नंगा नाच अपने में बेमिसाल साबित होता है। तभी तो शिवप्रसाद सिंह चौहान लिखते हैं—'आपने जीवन के जिन मार्मिक प्रसंगों को चुना है, उनसे भारतीय जीवन की ये हक़ीकत कितनी पीड़ाजनक मालूम देती है।'[18]

जन-जातियों पर कहानी लिखने का प्रयोग—

इसके अंतर्गत उन जातियों पर लिखी कहानियाँ आती हैं जो समाज में स्वीकृत हैं। ये जातियाँ डोम-मुसहरों की तरह अछूत बनाकर न तो दूर फेंक दी गयी हैं और न ही चमारों की तरह घर में रखकर प्रताड़ित की जाती हैं। इनके काम मूलतः उच्च जातियों के लिए सुख-सुविधाएँ मुहय्या करने (सेवा करने) को ध्यान में रखकर तय किये गये हैं, जो निश्चित हैं। पर मजदूरी अनिश्चित है क्योंकि वह बबुआनों की मर्जी पर आधारित है। इस तरह मुख्य दरवाजे पर तो 'नो एण्ट्री' का बोर्ड नहीं है इनके लिए; पर अंदर पहुँचने पर घुमा फिराकर इन्हें भी उसी 'सेल' में बंद कर दिया जाता है जिसमें अछूत जातियाँ। सिद्धांततः समाज में इन्हें स्वीकारा गया है, पर व्यवहार में वही उपेक्षा, प्रताड़ना, अभिशाप। मैं तो कहूँगा इनके हालात दुगुने खराब हैं। समाज में प्राप्त स्तर को छोड़कर ये न तो नटों की तरह विरोध कर सकते और न श्रम पर भरोसा करने वाली गुलाबो की तरह दो रोटी और कहीं कमा लेने का मंसूबा ही बाँध सकते। फलतः अपने श्रम और तकनीक को उच्चवर्ग के हाथों गिरवी रखकर ये जन-जातियाँ मात्र उपजीवी बनकर रह गयी हैं।

मंगरू लोहार (मुर्गे ने बांग दी) पूरे गाँव का हल बनाता है। इसलिए रोजी-रोटी के लिए उन्हीं पर निर्भर है। सूखे की मार से किसी भी किसान में मजदूरी देने

16. 'डेली' (सनडे मैगजीन), 2 मई—रामकीरत राय।
17. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 222.
18. वही—फ्लैप पर

की बिसात नहीं। मंगरू परिवार तीन दिन से भूखा है। पत्नी याद दिलाती है—सबकी हालत खराब है, कोई मजदूरी नहीं देता न सही, ठाकुर के पास तो कम नहीं। मंगरू ठाकुर का हल बनाता है, वह तो उसका पेशा ही है, लेकिन काम छोड़कर उनके बच्चों के लिए गुल्ली भी बनाता है—ठकुरई शान के कारण। पर जब ठाकुर के पास जाकर तीन दिन के फांके की बात करते हुए वह मजदूरी माँगता है तो टका-सा ठलुआ जवाब मिल जाता है—'जैसे हम गाँव छोड़ कर भाग जा रहे हैं। अरे भाई दस-पन्द्रह रोज की बात है। जहाँ बुआई खतम हुई नहीं कि तुम्हारा हिसाब'।[19] तीन दिन भूखे रहने की बात गुल क्योंकि बीस वर्षों से वह उनका हल बनाता है फिर इसी साल कौन नई बात हो गयी जो बाप-दादा के जमाने से आती हुई बात को तोड़ दें।[20] उनके लिए दस दिन में बिगड़ता ही क्या है ?

ठीक यही दशा टीमल कोंहार (माटी की औलाद) की भी है। 'वह दिन भर काम करता है। सर पर लादकर मिट्टी ले आना, दिन में चार-चार बार पानी देकर मिट्टी को सोने से भी ज्यादा हिफाजत से रखना...तरह-तरह के बरतन पारना... सुखाना, ईंधन इकट्ठा करना, पकाना, इन्हें रंगना : पर क्या फायदा इतनी मेहनत का—'पके बर्तनों का ढेर लगा है, जो बिकने का नाम नहीं लेते'। सो, अपना ही पुश्तैनी घर उघड़ता जा रहा है। न कायदे से रहने की जगह, न खाने का जुगाड़ और सबसे ऊपर —परिवेश ने टीमल को इतना भोला-भाला बनाया है कि जब पंडित जी थोड़ी सी सहानुभूति दिखा कर बर्तन बनाने का आर्डर देते हैं तो पूरा परिवार एक महीने के अथक परिश्रम से बर्तन बनाकर माथे पर लाद-लाद कर पंडितजी के घर पहुँचाता रहा। अंतिम दिन जब पंडित जी ने 6 रुपये टीमल के सामने फेंक दिये तो पूरे परिवार की एक महीने की मजदूरी देखकर टीमल का मुँह खुला का खुला रह गया। इसके बाद भी जब टीमल फिर गर्मियों में एक खाँची बर्तन लेकर उसी पंडितजी के घर जाने लगता है जिन्होंने खड़ी फसल काटकर टीमल का खेत बेदखल कर दिया था और उसकी लगान भी उसी पर ठोंक दी थी तो यह परिवेशगत भोलापन नहीं, परिस्थितिजन्य बेबसी है क्योंकि वह जानता है कि ये सामान कहीं और बिकने वाले नहीं हैं। बाजार में बनिए उधारी पर सौदा लेते हैं और महीनों बाद पैसा चुकाते हैं फिर बाजार में ही आठ-नौ घर कुम्हार हैं।[21] इसलिए पंडित जी के अलावा कोई ठौर नहीं। गाँव के हर रास्ते जमींदारों के दरवाजे की तरफ ही जाते हैं। टीमल रात के अंधेरे में बेटे की खाट के पास खड़े होकर रोता है और उजाले में रोब से कहता है—'हम माटी की औलाद हैं, माटी की; कष्ट-दुःख भले सहें, हम कभी मिट नहीं

19. आर-पार की माला (मुर्गे ने बांग दी), पृष्ठ 131.
20. वही।
21. कर्मनाशा की हार (मिट्टी की औलाद), पृष्ठ 155.

सकते । यह जीवन का कितना विद्रूपमय सत्य है । ये जन-जातियाँ व्यवस्था के अविभाज्य अंग हैं और इनका अभिशाप सनातन है ।

रोपन बारी (कलंकी अवतार) अपनी संस्कारांधता के कारण इस अभिशाप से मुक्त नहीं हो पाते । 'मैं अपने पुश्तैनी काम से नहीं हटा तो भगवान मेरी रोजी-रोटी देने से कैसे हट जायेंगे ?'[22] और सचमुच ही रोपन बारी अपने पुश्तैनी काम से नहीं हटे । नये जमाने के साथी लोग टीसन पर खोंचा संभालने लगे पर 'रोपन बारी' ने जिन्दगी के पचास साल बड़े लोगों की खिदमत में गुजार दिये । उन्हें गाँव के किस लड़के के जनम-जनेऊ या शादी-ब्याह का ब्यौरा नहीं मालूम ? दूसरों के सुख में अपनी जिंदगी लगाकर रोपन को कभी दुख नहीं हुआ । जूठी पत्तलें उठाते-उठाते कमर दुखने लगती । गाँव के एक-एक घर लोगों को भात-भोज के लिए बुलावा पहुँचाते-पहुँचाते रोपन पचास को पहुँच गये, पर रोपन को कभी अपने करम पर रोना नहीं आया ।....बरसी, किरिया-करम, पिण्डदान में भी रोपन सबके आगे ही रहते.... कसम है 'गोसैया' की, रोपन ने कभी भी अपने धरम को निभाने में आलस नहीं दिखाया ।[23] इस उद्दाम कर्त्तव्य-परायणता और अमूल्य सेवा-भाव की कीमत उसे मिलती है—वही टीमल वाली बेदखली परंपरा—'लड़की की शादी में 300/- के करज में घर का पुश्तैनी खेत नीलाम हुआ । लाख रोने-गिड़गिड़ाने पर भी भेदूसिंह खेत छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए । करज दिया । नालिश की । नीलामी करायी और घूम फिरकर खेत फिर भेदूसिंह की जोत में आ गया ।' पर वाह रे सहनशक्ति, रोपन वह गम भी पी गये । इस वर्ग का मानस ही कुछ इस तरह का बना है या बना दिया गया है कि जो रोपन रोजी-रोटी के स्थिर-दृढ़ आधार खेत जाने के गम को पी गये वही रोपन शादी में मात्र बारी (रोपन की जाति) का पहनावा एक धोती—न पाने से टूट गये—'तीन दिन तक खटिया पर पड़े रहे, गाँव-घर के लोगों ने लाख समझाया-बुझाया । भई, अब जमाना बदल गया है । गिरहस्थ को परजा-पौनी की फिकर नहीं....पर उन्हें विश्वास ही नहीं आता कि बाप-दादे से चला आता हुआ पेशा बंझा हो गया है ।'[24] और अंत तक रोपन जमाने के बदलते तेवर के साथ अपने को ढाल न सके । यथार्थ के इस अंदाज से कतराते रहे । उनकी संस्कारगत मोह से रची नजरें इसके रू-ब-रू न हो सकीं । उधर समाज के नुमाइंदों (भेदूसिंह) का रुख इतनी सांसत-अत्याचार सहने के बावजूद इनके प्रति आक्रोश से भरा है—साला नया जमाना क्या आया, कि परजा-पौनी की आँखें चढ़ गयीं । रोपन की हालत के मुकाबले यह दृष्टिकोण समाज-व्यवस्था को ज्यादा बेपर्द करता है । आखिरकार रोपन पौराणिक कथाओं की भूल-भुलैया में अपने को भुलाते रहे, दुष्ट-दमन करने वाले कलंकी भगवान की बाट

---

22. कर्मनाशा की हार (मिट्टी की औलाद), पृष्ठ 151.
23. भेड़िए (कलंकी अवतार), पृष्ठ 6
24. वही, पृष्ठ 6.

जोहते रहे और इसी पौराणिक मोह में फंसे एक दिन के एक घुड़सवार के पीछे-पीछे भेदूसिंह के घर की तरफ ढुलक पड़े। पर अब इस वर्ग की रक्षा भगवान भी नहीं कर सकते। ताकत-पैसा और फितरतवालों (भेदूसिंह) से भगवान भी रिश्ता बनाने लगे हैं, भगवान भी उनके हो गये हैं या वे ही भगवान हो गये हैं और सचमुच का भगवान तो आज शहर में भूखा घूम रहा है।[25]

इस प्रकार 'इन्हें भी इंतजार है' के लोग जहाँ सामाजिक परिवर्तन का इंतजार करते रहे वहाँ 'कलंकी अवतार' (जो बहुत बाद की कहानी है) के रोपन बारी ने तो भगवान का भी इंतजार करके देख लिया। उनके देखते-देखते कलंकी भगवान के घोड़े ने लीद कर दी 'रोपन ने नाक पर गमछा रख लिया।'[26] हकीकत है कि उच्चवर्ग की लीद के सामने इस वर्ग को गमछा लगाकर—सब कुछ को अनदेखा करके—ही जीना है। पहले की जन-जातियों ने श्रम तकनीक ही गिरवी रखी थी, अब तो पूरी चेतना ही नीलाम हो गयी है तो दूसरा चारा भी क्या है?

मानवता से उपेक्षितों पर कहानी लिखने का प्रयोग—

कबीलों, अछूतों और जनजातियों के अलावा कुछ ऐसे भी लोग इस दुनिया में हैं जो जातिगत या आर्थिक आधार पर मात्र समाज से ही बहिष्कृत नहीं, बिना किसी आधार के ही पूरी मानवता से काटकर अलग छोड़ दिये गये हैं। शिवप्रसाद की कहानियों की गवाही में ये हैं—हिजड़े (बिन्दा महाराज) और वेश्याएँ (टूटे तारे, बेहया और आँखें)। इनके भीतर मानवीय भावनाओं का अथाह समुद्र हिलोरें ले रहा है, पर शेष तथाकथित मानवजाति शुष्क सिकताकण की तरह न इनकी शीतलता को सार्थक होने देती और न स्वयं उस तरलता का स्पर्श करने की उदारता ही दिखा पाती।

साहित्य में वेश्याओं को नगर वधू, नर्तकी, उत्सर्ग हो जाने वाली प्रेमिका और आदर्श समाज सेविका आदि अनेक रूपों में चित्रित किया गया; पर डॉ० सिंह ने उनके इस जीवन के स्वीकार में अंतर्निहित बेबसी और यथार्थ का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उद्घाटन किया तथा इनकी उस वैयक्तिकता का भी विवेचन किया जिसमें बदनाम बाजार में देह-व्यापार करने के बावजूद इनकी मानुषिक ईहा, सहज-शिष्ट जीवन जीने की आकांक्षा मरी नहीं है। वे सिर्फ स्त्री, सिर्फ मनुष्य बनकर जीना चाहती हैं। सुभागी (बेहया) अपनी बेटी को एक मर्यादापूर्ण जीवन देने के लिए पंक से बाहर निकल अपने गाँव आती है, लेकिन 'बाई' संबोधन से मुक्त नहीं हो पाती। उसकी बेटी गाँव के ठाकुर केशो की हवस का जबर्दस्ती शिकार बनती है। तब सुभागी ठाकुर से बदला लेती है—इनके लड़के कामता को अपने रूप-सौंदर्य में फँसाकर। यही प्यास 'टूटे तारे' की श्यामा में भी है। वह खुद तो नारकीय पीड़ा सहती है, पर अपनी बेटी को अच्छी

---

25. भूखा ईश्वर—डॉ० धर्मवीर भारती की कहानी का संदर्भ।
26. भेड़िए (कलंकी अवतार), पृष्ठ 11.

जिन्दगी देने के लिए उसे कुलीन-समाज-स्वीकृत घर में ब्याहना चाहती है। ऐन वक्त पर राज खुल जाता है, उसे छत से कूदकर आत्महत्या करनी पड़ती है। दुकान की आड़ में शरीर बेचने का पेशा 'आँखें' की गुलाबो भी करती है, समाज में बदनाम भी है, पर नारी-सुलभ कोमल-उदार भावनाओं से भरी उसकी आँखें देखकर लेखक को अपने विचार बदलने पड़ते हैं।

इस प्रकार शिवप्रसाद सिंह की ये कहानियाँ इन वेश्याओं (नारियों) को सुधारवाद की धारा में मज्जन कराके, उन्हें वेश्या से देवी बनाकर कल्पित आदर्शों की उड़ानें नहीं भरतीं, तन के अभाव की पूर्ति में वेश्या, मन के भाव में एकनिष्ठ प्रेमिका—ये मेरे अभाव की संतान हैं, जो भाव तुम थे वह कोई नहीं हुआ[27]—वाली भावुक पवित्रता को साहित्य के नाम पर भुनातीं भी नहीं और न ही आधुनिकता के नाम पर उस अतियथार्थ की वीभत्सता ही चित्रित करतीं जिसमें वेश्या मात्र 'मांस का दरिया' बनकर रह गयी है। इनमें कला की 'एप्रोच' जीवन के दायरे को कहीं से भी तोड़ती नहीं। ये सब वे स्त्रियाँ, सिर्फ स्त्रियाँ हैं जिन्हें समाज अपने पर कलंक समझता है, अपमानित करता है, लेकिन असल में उसका उत्तरदायी भी यह समाज ही है जो अपने चंगुल में फँसा कर उनका उपयोग करता है और फिर 'बेहया' बनकर तारे की तरह टूट जाने पर मजबूर करता है।

'बिन्दा महाराज' हिजड़ा है। इसकी शारीरिक विद्रूपता (कुरूपता-विरूपता नहीं) प्रकृतिप्रदत्त है। उसमें इसका कोई दोष नहीं—माँ-बाप एक प्राणहीन शरीर उपजाकर चले गये। और हम हैं कि इनकी कुदरत की हँसी उड़ाते हैं। इन्हें अपने मनोरंजन का साधन तो बनाते हैं, पर मनुष्य नहीं मानते क्योंकि दुनिया के सारे रिश्ते-नाते केवल पुरुष और स्त्री से हैं और ये तो न पुरुष होते हैं, न स्त्री। इस नपुंसक शरीर में 'आत्मा' भी हो सकती है, इसे और लोग तो नहीं समझते, भाई-भतीजे भी नहीं समझना चाहते। इसीलिए बिन्दा महाराज को आखिरकार अकेला हो जाना पड़ता है। इस अकेलेपन को तो बरदाश्त करना ही है पर वह मन के उस वेग का क्या करे जो अकस्मात् फट पड़ता है—भतीजे करीमन के गालों पर थप्पड़ के रूप में, क्योंकि 'बड़ा प्रेम संचित था मन में जो आँखों में उतर आया', अथवा दीपू मिसिर के दो-ढाई साल के बच्चे मुन्ना के लिए, कालीजी के मंदिर में जवाकुसुम के दो फूल और बताशों के प्रसाद के रूप में। कामना-रहित, निश्छल प्रेम भी इस समाज की फब्तियों-उपहासों से बचा न रह सका। 'लौंडियाँ व्यंग्य करतीं, नौजवान छोकरे भी चिढ़ाने के लिए सीटियाँ बजाते गुजर जाते, किन्तु बिन्दा महाराज पर इसका कोई असर नहीं होता।' 'प्यार उसकी आत्मा की प्यास थी, किन्तु परिणामहीन प्रेम की क्रूरता वह समझ नहीं पाता। जरा से आकर्षण से चित्त चंचल हो जाता। मनोरंजन को प्रेम समझा तो

27. आषाढ़ का एक दिन—मोहन राकेश, पृष्ठ 100.

नशा छा गया, हाथ फैलाकर बटोरना चाहा तो हथेलियाँ टकरा गयीं'[28]। और आखिर बिन्दा महाराज की समझ में आ ही गया। तब वह खुद ही उस प्रवंचना के बोझ को बेरहमी से फेंककर हँसने लगता।

सहज मानुषिकता को उभारने तथा सांसारिक क्रूरता पर थप्पड़ मारने के लिए कहानी में दो-ढाई साल के बच्चे के साथ प्यार का संदर्भ सोद्देश्य और संगत प्रयोग है। छोटा बच्चा सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ नियमों और जड़ मानसिकता से अछूता है। वह मात्र प्यार-दुलार को ही समझता है—'शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सहज-कमनीय।' इसीलिए बिन्दा महाराज के वेगवान ममत्व के सामने मिसिर (पिता) के भी इशारों का लंगर उखड़ जाता और बच्चा सामाजिक वर्जनाओं के खिलाफ हिजड़े के लाये बताशे, रेवड़ियाँ, मिठाइयाँ ले लेता। पर इस भावना को लोग नहीं समझते। मुन्ना की बीमारी पर पहली बार कुछ पाने की इच्छा से मंदिर में जाकर मनौतियाँ मनाने वाले बिन्दा को ही उसकी मौत का कारण बताते हैं। इसी सदमे से बिन्दा महाराज बीमार पड़ जाता है, पर पूरे गाँव में हमदर्दी का एक शब्द भी बोलने वाला कोई नहीं मिलता। लेखक का संकेत यही है कि हमारे माहौल पर कल्पित रीति-रिवाजों से निर्मित पूर्वग्रही मान्यताओं का गुबार इस कदर तारी है कि हम सचाइयों से कतराते जाते हैं और अपने झूठ को सामाजिकता का जामा पहनाकर मानवता को कुचलते रहते हैं।

'करीमा-मुन्ना'-प्रसंगों के अनुभव ने बिन्दा महाराज को जो समझ दी, उसका प्रतिफलन दो रूपों में हुआ है—(1) अपनी हीनता के अहसास से उपजी आत्मस्वीकृत वेदना—'उसके संसर्ग में आकर कोई सुखी नहीं रह सकता' और इसीलिए। (2) प्रेम को लेकर घुरबिनवा के प्रति बेहद आक्रोशजन्य क्रोध—'भाग बे भाग, ताकता क्या है, चला जा यहाँ से'। पर यह तो जुबान की बात है, ऊपर की सबसे भीतर दिल की अतल गहराइयों में छिपा भाव तो निकल न सका—'मासूम, शीतल महाराज की दहकती छाती उसे (घुरबिनवां को) खींचकर चिपका लेने के लिए तरस उठी' और सचाई यह है कि ये छातियाँ आज भी तरस रही हैं लेकिन मिसिराइन के रूप में समाज ने जो 'खटाक से दरवाजा बन्द कर लिया' है, वह खुला नहीं और मानवता का यह हिस्सा आज भी समाज के कोलतार पुते काले दरवाजे की ओर भय और निराशा से देख रहा है। ऐसी कितनी ही कहानियाँ लिखी जायें पर ये कोलतार को मिटाकर न दरवाजा खोल सकतीं और न ही इनके भय-निराशा को मिटा सकतीं।

(2) प्रयोग का मूल्यांकन

उपेक्षितों-तिरस्कृतों और अत्याचार के बेतरह शिकार होने वालों की ये कहानियाँ प्रयोग इसीलिए बन पाती हैं कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह इन्हें मात्र चित्रण तक ही सीमित नहीं रखते वरन् इन उपेक्षितों की जिन्दगी के लिए उत्तरदायी तो हमीं हैं

28. कर्मनाशा की हार (बिन्दा महाराज), पृष्ठ 67.

कि मनुष्य के एक बहुत बड़े अंश को पशु के धरातल पर जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किये हैं[29]—के रूप में थोड़ा आगे जाकर व्यवस्था के सामाजिक आर्थिक संदर्भों को भी छूते हैं[30]। यह छुवन उन लोगों के माध्यम से उभरती है जो ग्रहीत जीवन के लिए जिम्मेदार हैं और वे हैं—जमींदार ठाकुर या ब्राह्मण जो सभी कहानियों में अनिवार्य रूप से समाए हुए हैं क्योंकि समाज में इनकी मौजूदगी शाश्वत नियम बन गयी है। ये लोग आजादी के बाद भी जन-समाज की प्रगति-धारा को कभी चट्टान बनकर रोक लेते हैं और कभी अनजान-अखोह-गुहा-गह्वर के रूप में सोख लेते हैं। पाठक इन अविज्ञात भूधरों-भँवरों का अंदाज पा ही जाता है—और दुष्यंतकुमार के शब्दों में कह सकता है—'मुझे मालूम है, पानी कहाँ ठहरा हुआ होगा'। व्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक दायरे को टटोलती-उघाड़ती इन कहानियों की प्रयोग-चेतना जब अभिशप्त पात्रों की मानवीय ऊँचाइयों को भी उभारने लगती है तो यह 'एप्रोच' लेखकीय मूल्यदृष्टि की अभिव्यंजना भी बन जाती है।

अनजान-अनछुई परतों को उघाड़ती इन कहानियों की साहित्य और समाज को बेहद जरूरत थी। इसे लेखक ने पूरी प्रतिक्रिया के साथ पूरा भी किया है किन्तु इन सबको पढ़ने के बाद जो एक संपूर्ण प्रभाव हमारे मानस पर पड़ता है, उससे सहज ही स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि अतिशय सोद्देश्यता के आग्रह से निकली ये कहानियाँ अतिरिक्त रूप से बौद्धिक होती गयी हैं (यह बुरा नहीं कहा जा सकता है)। 'इन्हें भी इंतजार है', 'धारा', 'बिन्दा महाराज', 'आर-पार की माला', 'माटी की औलाद' और 'कलंकी अवतार' आदि कहानियों में ऐसा नहीं है, पर 'पापजीवी', 'संपेरा', 'मुर्गे ने बांग दी' आदि शेष कहानियों में संवेदना का सहज उद्रेक न होकर सजग-साग्रह ज्ञान का अतिरेक 'हॉबी' हो गया है (यही अच्छा नहीं कहा जा सकता)। ऐसा लगता है कि उन उपेक्षितों की जमात के लगभग हर हिस्से को छूने का लेखक ने इरादा कर रखा हो। इसीलिए ये कहानियाँ खानापूर्ति लगने लगती हैं। सभी जातियों पर लिखी गयी एक-एक कहानी लेखन की सहज प्रवृत्ति को सायास निभाए जाने वाले नियम-कानूनों के कटघरे में बन्द कर देती है। 'टूटे तारे' में 'बेहया' की 'थीम' ही दोहरायी गई है जिसमें नवीनता न होकर बासीपन लगने लगता है और प्रभावोत्पादकता भी बहुत कम हो गयी है। इरादन संचालित इन कहानियों में लेखन-प्रभाव नहीं आ पाया है, वस्तु का निबाह किया गया है।

इन कतिपय भटकावों के बावजूद एक महत् जिम्मेदारी-पूर्ण लेखन, लेखक को निस्संदेह एक सजग कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। तभी तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने आशीष-पत्र में लिखते हैं—'तुमने अद्‌भुत संसार को

29. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 203.
30. दस्तावेज—अंक 10, पृष्ठ 56.

प्रत्यक्ष कराया है।'[31] इस किस्म के लेखन के लिए अपेक्षित-अनछुओं की तरफ तत्कालीन दौर में औरों की दृष्टि भी गयी, वे लेखन में प्रवृत्त भी हुए, पर उनकी 'एप्रोचें' सतहों को छूकर ही रह गयीं। शैलेश मटियानी ने 'लाटी' में डोमों के जीवन को उठाया है, पर बुक्सेलर की सेक्स हविश को नकारती डोमिन लाटी के पति-प्रेम से कहानी आगे नहीं बढ़ पायी। लेखक जीवन की विद्रूपताओं से कतराता रहा, जिससे कहानी मात्र पतिव्रता वाले आदर्श को ही निभाती रही, इसीलिए उनकी जिन्दगी और समाज में उनकी स्थिति आदि की कोई तस्वीर प्रस्तुत नहीं हो पायी। इसी प्रकार कुछ अन्य कहानियाँ भी लिखी गयीं पर उनसे भी कुछ खास बात बनी नहीं।

कथ्य के विविध रूप

डॉ० शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ किसी न किसी रूप में जीवन की समस्याओं से जुड़ी हुई हैं। इसलिए इनका सिर्फ एक ही वर्ग हो सकता है—समस्यामूलक कहानियाँ—'मैं मनुष्य को, उसकी समस्याओं को अपने ढंग से देखना चाहता हूँ।'[32] पर चूँकि ये समस्याएँ बाहरी प्रभावों और आंतरिक अनुभूतियों से पोषित जीवन के प्रायः हर क्षेत्र से उठायी गयी हैं, अतः अध्ययन की सुविधा के लिए हम इन्हें इन वर्गों में विभक्त करके देख सकते हैं—

1. त्यागपरक कहानियाँ
2. मनुष्यता की खोजपरक कहानियाँ
3. शोषणपरक कहानियाँ
4. नारी-जीवन (की यातना) संबंधी कहानियाँ
5. प्रेमपरक कहानियाँ
6. टूटते-जुड़ते संबंधों की दिग्दर्शक कहानियाँ
7. विद्रोहमूलक कहानियाँ
8. व्यंग्यात्मक कहानियाँ
9. जिजीविषापरक कहानियाँ

(1) त्यागपरक कहानियाँ

भारतीय मानस विश्वास और त्याग से निर्मित हुआ है तथा गाँवों में, जहाँ तब (शिवप्रसाद सिंह के कहानी लेखन का प्रमुख कालखंड—1951 से 1965) पाश्चात्य सभ्यता से आयत्त विघटन, कुण्ठा, वैयक्तिकता, संवेदनहीनता और भोगवादी आत्मकेन्द्रित दर्शन नहीं पहुँच सका था (पहुँचा तो बहुत ज्यादा अब भी नहीं है) यह बहुतायत में समाया रहता है। इसी अनुभव के आधार पर अपने प्रारंभिक लेखन में डॉ० सिंह ने ऐसी कहानियाँ प्रस्तुत कीं जिनमें मानवता के जीवंत रूप में भारतीय आत्माएँ मौजूद थीं। उनमें परिवार के लिए अपनी संचित निधि (दादी माँ) अपना

---

31. 'इन्हें भी इंतजार है'—फ्लैप पर।
32. शिखरों का सेतु—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 187.

व्यक्तित्व ('नई पुरानी तस्वीरें' की बुआ) तक सहर्ष दे सकने की क्षमता थी। ये मानवीय संबंधों के चलते निज के अपमान, अभाव, प्राण तक की परवाह किये बिना अपनी संपूर्ण सेवाओं को लोगों के लिए बेमोल लुटा सकते थे—बोधन तिवारी (हीरों की खोज), 'उपधाइन मैया' और 'देऊ दादा' आदि। इन्हीं के माध्यम से वे तत्कालीन स्थितियों में व्यक्ति को उसकी निजता के प्रति सचेत करना चाहते थे। उल्लेख्य है कि बाबा, दादी, दादा आदि को लेकर इस नयी पीढ़ी (डॉ० सिंह की) ने अनेक अच्छी कहानियाँ लिखीं। कुछ लोगों को इस पर आश्चर्य हुआ कि यह कैसी नयी पीढ़ी है जो अपने बारे में न लिखकर पुरानी पीढ़ी के लोगों के बारे में लिखना पसंद करती है।[33] इन्हें 'दादावादी' कहा गया। लेकिन ऐसा कहने वालों को जल्द-बाजी में यह नहीं दिखाई पड़ा कि पुरानी पीढ़ी के इन चित्रों की छाया में नयी पीढ़ी स्वयं है। 'पुरानी पीढ़ी के माध्यम से नयी पीढ़ी का यह आत्मान्वेषण ही था।'[34] सभी कहानियों का 'मैं' इसी भावबोध-आत्मान्वेषण का साक्षी बनकर आया है। इन कहानियों में 'मैं' की स्थिति ही कहानी की प्रेरणा है। यह पुरानी पीढ़ी के त्यागी पात्रों के साथ रक्तसंबंधों से जुड़ा होता है। अतः भावुकता कहानी की माँग बन गयी है। पर इसे 'यथार्थांकन से बचना'[35] नहीं कहा जा सकता। यह इन कहानियों के साथ अन्याय होगा। 'दादी माँ' घरेलू अभावों को सहती हैं तो बुआ अपनी बहू से मिलने वाली तकलीफों को। 'गंगा-तुलसी' की माँ तो पुत्र के प्रति प्रेम व कर्त्तव्यों से बँधकर किन-किन नारकीय स्थितियों को झेलती हैं। और यह सब आंतरिक प्रेरणा के बल पर होता है, न कि किसी दबाव या जोर-जबर्दस्ती-वश। इसे यथार्थ नहीं तो क्या कहेंगे ? यदि इसे 'संलिष्ट यथार्थांकन से बचाना' कहेंगे तो यथार्थ के सामने एक बड़ा प्रश्नचिह्न लग जायेगा। शायद 'गंगा-तुलसी' की माँ वही सब कुछ अपने पेट के लिए करती या बाप-भाई द्वारा मजबूर होकर—जैसा कि बहुत सारी कहानियों में धड़ल्ले से हो रहा है—तो शायद विद्वान् समीक्षक उसे भोगा हुआ यथार्थ कहते। हाँ, यह अवश्य है कि ये त्यागपरक कहानियाँ तत्कालीन संदर्भों में कुछ खास कर नहीं पायीं। शिवप्रसादसिंह स्वयं इस लेखन के दौरान मनन-चिंतन, प्रभाव का पर्यवेक्षण करते रहे और इस बेअसर स्थिति को देखकर उन्होंने इन मात्र त्यागी-विश्वासी कहानियों का दामन छोड़ दिया, पर इस 'त्यक्तेन भुंजीथा' वाली चिरकाल से आजमायी 'थीम' को नहीं छोड़ सके। उसे अब और गहन-संश्लिष्ट स्थितियों से जुड़े जीवन संदर्भों के बीच रखकर उसी मनुष्यता की तलाश में जुट गये।

(2) मनुष्यता की खोजपरक कहानियाँ

'हीरों की खोज' के रूप में लेखक ने यह खोज शुरू की थी। तब उनका

---

33. कहनी : नयी कहानी—नामवर सिंह—पृष्ठ 234.
34. वही।
35. दस्तावेज—अंक 10 में मधुरेश का लेख, पृष्ठ 53-54.

विश्वास था 'मनुष्य से बड़ी कोई इकाई नहीं है, मनुष्यता से बड़ा कोई मजहब नहीं है।'[36] मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों, मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान् है। इसी मनुष्यता के कतिपय अंशों का चित्रण इन कहानियों का उद्देश्य रहा है।[37] कहानियाँ ही क्यों, लेखक ने तो खुद ही एक वक्तव्य में बताया है कि अपने सम्पूर्ण कथा-साहित्य में मैंने आज के आदीम को पहचानने की कोशिश की है।[38] इसलिए अत्यंत संगुफित संयोजन द्वारा बार-बार ऐसी स्थितियाँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनमें तमाम आवरणों-परतों के बीच दबी-छिपी मनुष्यता की तलाश हुई है। 'हीरों की खोज' में वह मनुष्य लेखकीय अतिरंजनाओं से समर्थित भुजबल-युक्तिबल के कारण विरोधी अत्याचारियों के लिए सेर पर सवा सेर था। वैश्विक स्तर पर मनुष्यता की सेवा करने वाले 'देऊ दादा', 'उपधाइन मैया' अपने व्यक्तिगत विरोध को भुलाकर विरोधियों को स्नेह-संवेदन दे सकते थे। भैरो पाण्डे (कर्मनाशा की हार) पूरे गाँव के खिलाफ अकेले इसी मनुष्यता की वैशाखी लिए सम्पूर्ण समाज को चुनौती दे सकते थे। पर आगे चलते-चलते बढ़ती हुई विभीषिकाओं के बीच धीरे-धीरे वह आदमी कमजोर होता गया—यह बात दूसरी है कि जटिल संदर्भों में भी मनुष्यता के प्रति लेखक का विश्वास डिगा नहीं, क्योंकि उसके लिए राजनीतिक सत्य और साहित्यिक सत्य भी मानव सत्य से बड़ा नहीं—परन्तु जहाँ बोधन तिवारी अमानुषिक शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देते थे, भैरो पाण्डे चुप कर देते थे, वहीं अब बक्कस-बशीर (संपेरा), बदलू (पापजीवी) इसी मनुष्यता के लिए जान देकर भी उन ताकतों को इसका अहसास तक नहीं करा पाते। 'अशरफ चाचा' के रूप में एक सम्पूर्ण मनुष्य की सार्थक खोज हुई, पर विरोधी शक्तियों द्वारा बहिष्कृत होकर उन्हें गाँव छोड़ देना पड़ता है। अंधेरा बढ़ता ही रहता है और अर्जुन पाण्डे (अंधेरा हँसता है) के निश्छल मनुष्य को ग्रसकर अट्टहास कर उठता है। अब इस ग्रसित मनुष्यता को वे 'आँखें' ही देख पाती हैं जो मनुष्यता की बेपनाह आँखों के मर्म को समझ सकती हैं। हाँ, कभी-की इसे समझाने के लिए मनुष्यता अपना बाना बदलकर आती है—'बेहया' का बाना धारण करती है और हैवानियत से दया की भीख मँगवाकर ही छोड़ती है। लेकिन यह नाट्य भी वह ज्यादा नहीं चला सकी। अमानवीयता की 'धारा' अब धार्मिक, नैतिक आदि कई-कई लिबास पहन कर मनुष्यता को 'सतहों के नीचे' दबाने लगी है। ऐसे मौके पर लेखकीय खोज मात्र विवशता भरा संकेत ही कर पाती है। अशरफ चाचा (किसकी पांखें) के संदर्भ में यह संकेत उस अजीब खुनखुनी हवा में प्रकट होता है जो जब चलती है तो (मनुष्यता के) ढेरों पत्ते इसकी लपेट में ऐंठ कर पत्त-पत्त गिरने

---

36. शिखरों का सेतु—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 147-48
37. कर्मनाशा की हार—शिवप्रसाद सिंह, 'विकल्प', पृष्ठ 6.
38. सारिका—1 फरवरी 1980 में विश्वनाथप्रसाद द्वारा लिया गया इंटरव्यू, पृष्ठ 11.

लगते हैं ।[39] पैसों की बेदी पर जलती मानवता के हादसे पर यही संकेत गरीब रिक्शेवाले के माध्यम से उभरता है ।[40]

यह गर्द-गुबार सारे माहौल पर तारी होता गया और लेखक जब लम्बे अंतराल के बाद 'भेड़िए' की कहानियों में मनुष्य को उसके परिवेश के बीच खड़ा करता है तो वह 'बड़ी लकीरों' के सामने भाग खड़ा होता है । तब मनुष्य की खोज में नवजादिक (एक वापसी और) के रूप में लेखक को भयभीत कामता, ग्लानि से भरा डाकिया, रहस्यमय सहानुभूति रखने वाले झम्मन और बहशियाना जोश वाले टेंगरी ही मिलते हैं । इसीलिए तो यथार्थ से उठकर कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, ढूह के पास खड़ी एक ऐसी आकृति की कल्पना करनी पड़ती है, जो समझदारी से पूर्ण आदमी हो ।[41] इस अंतिम हस्र में 'मनुष्य की अबाध विजय-यात्रा के ध्वज-वाहक'[42] लेखक को भी सोचना पड़ता है कि मनुष्यता से पूर्ण आदमी की वह 'आकृति कभी धुंधलके के बाहर भी आयेगी ।' हमें भी देखना है कि धुंधलके में छिप गयी आकृति को लेखक कभी आदमी के रूप में बाहर ला पाता है जिसके लिए गालिब भी इंतजार करते ही रह गये—'आदमी साफ नजर आये तो कुछ शेर कहूँ ।'

(3) शोषणपरक कहानियाँ

यदि मनुष्य की विजय-यात्रा के ध्वज-वाहक लेखक के लेखन में मनुष्य इस तरह धुंधलके में छिपता गया तो इसके लिए एक जमाना जिम्मेदार है । इसे लेखक ने कहानियों में शोषण के माध्यम से दिखलाया है ।

शोषण की प्रक्रिया के विभिन्न रूपों का खुलासा करना डॉ० सिंह की कहानियों का एक प्रमुख स्वर है । ग्रामीण परिवेश में यह जमींदाराना संबंधों में मिलता है । लेखक का अपना अनुभव है कि ग्रामजीवन दो वर्गों में बंटा हुआ है । वहाँ मध्यवर्ग की स्थिति बहुत कमजोर है या कह सकते हैं कि इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है । अगर है तो जमींदारों के इर्द-गिर्द चिपका रहता है ।[43] बीसवीं सदी के छठें दशक में भी, भारत में जमींदारी भले टूट चुकी हो, जमींदाराना अंदाज कायम है—रामसुभग तिवारी इस गाँव के जमींदार हैं, हैं नहीं थे, क्योंकि कागज में लिखा है कि जमींदारी टूट गयी, पर हैं ही कहना ज्यादा ठीक है क्योंकि चार सौ बीघे पक्के का सीर उनका अब भी होता है....और लोगों (हरवाहों, चरवाहों, जजमानों, परजा-

---

39. मुरदासराय—(किसकी पांखें), पृष्ठ 64.
40. वही, 'जंजीर-फायर ब्रिगेड और इंसान' कहानी का संदर्भ ।
41. भेड़िये—(एक वापसी और) पृष्ठ 67 के साक्ष्य पर ।
42. शिखरों का सेतु—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 187.
43. सारिका—1 फरवरी 1980 में विश्वनाथप्रसाद द्वारा लिया गया इंटरव्यू, पृष्ठ 11.

पौनियों) आदि को 'यह जानने की क्या जरूरत है कि जमींदारी टूटने के बाद पंडित जी को भूमिधर कहते हैं या सीरदार ।'[44]

रामसुभग के समानधर्मा वर्ग के कारनामों की इतिहास-गाथा शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का प्रमुख पाथेय रहा है । पहले संकलन 'आर-पार की माला' में शीर्षक कहानी के साथ 'मुर्गे ने बांग दी' और 'उस दिन तारीख थी' में इसका चित्रण हुआ है । इनमें यह शोषण आर्थिक, शारीरिक (श्रम और सेक्स) तथा सामाजिक स्तर पर हुआ है । यह प्रायः सभी तत्संबंधी कहानियों में व्यक्त है । घर में खाने को दाना नहीं रहता, पर मंगरू लोहार (मुर्गे ने बांग दी) को बंसुला-हथौड़ा लेकर काम करना पड़ता है । ठाकुर के अनाज की कोई कमी नहीं, पर वे बुआई के बाद मजदूरी देने की परंपरा का हवाला देते हुए काम लेते रहते हैं । यहाँ तक कि तीन रोज के फांके की बात जानते हुए भी उसे पत्नी के मोटे होने का मजाक सहना पड़ता है और मजूरी नहीं तो नहीं ही मिलती । इसमें जहाँ आर्थिक व श्रम संबंधी शारीरिक शोषण का चित्रण हुआ है वहीं 'आर-पार की माला' कहानी की बीरू व उसके बाप से काम लेने वाले 'ठाकुर की दो औरतें हैं, पर उनसे मन नहीं भरता, बाप नौकर है तो बेटी नौकरानी'[45] में शारीरिक स्तर पर होने वाले शोषण के दोनों रूप देखे जा सकते हैं । साथ ही जुम्मन को चोर साबित करके गलत मुकदमे में फंसाकर व मटरू की बेटी नीरू को सरेआम रखैल जैसा बनाकर समाज में उन दोनों की अस्मत खत्म कर दी जाती है । दोनों एक दूसरे से घृणा करने लगते हैं जिसे हमने सामाजिक शोषण का नाम दिया है । 'उस दिन तारीख थी' के देवी सिंह का शोषण आर्थिक है पर अर्थ के रिसते-रिसते यह अपने परिणाम में सामाजिक शोषण की ओर उन्मुख है जब देवीसिंह की गरीबी उनकी ठकुराई छीन लेगी । ठाकुरों की सामाजिक मर्यादा व देवीसिंह के सीधेपन के बीच कहानी में इतनी टीस भर गई है कि तिल-तिल जलते, पल-पल अपमान-झिड़क सहते देवीसिंह के साथ पाठक भी आक्रोश से भर उठता है । मधुरेश जी इस आक्रोश को नपुंसक बताते हुए व्यंग्यात्मक प्रश्न करते हैं कि 'यह आक्रोश किसके प्रति है ?'[46] अब तो आज भी स्टंट फिल्मों की तरह यदि इसमें कोई जाहिर 'विलेन' होता जो देवीसिंह को बाँधकर मारता, उनकी पत्नी-बच्ची के साथ बलात्कार करता, घर फूंक देता तो शायद पढ़ते समय विद्वान् समीक्षक के मन में यह प्रश्न न उठता । पर यहाँ तो कोई एक विलेन अपने गैंग के साथ परदे पर है नहीं । खेत हड़पने वाले ठाकुर से लेकर बुकिंग क्लर्क, वकील सब वैसा कुछ नहीं करते और जो कुछ करते हैं, वह शायद उन्हें इतना 'कांक्रीट' नहीं लगता, फिर वे सब एक गैंग के हैं भी नहीं । इस तरह इस (ढ़िशुम-ढिशुम से रहित) कथा से विद्वान् पाठक-आलोचक में आक्रोश कैसे

44. कर्मनाशा की हार (माटी की औलाद), पृष्ठ 152-53.
45. आर-पार की माला—पृष्ठ 152.
46. दस्तावेज—अंक दस—पृष्ठ 55.

पैदा हो ? अब इन सबको मिलाकर संपूर्ण परिवेश और व्यवस्था के प्रति आक्रोश की बात मन में आये भी कैसे ? सो, कर डाला सवाल और लेखक पर भी इल्जाम लगा दिया कि 'इन पात्रों के साथ उसने सरोकार भिन्न किस्म के हैं, इन कहानियों में सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा रखने वाले पात्रों का दयनीय अभाव दिखायी देता है।'[47] अब तो इस अभाव की पूर्ति के लिए लेखक को चाहिए था कि वह देवीसिंह का ग्रुप बनवाता और उन्हें ठाकुर देवनाथ सिंह से बदला लेने के लिए भेज देता, चाहे समाज के यथार्थ को गोली ही मार देनी पड़ती तो क्या ? इससे मधुरेश जी संतुष्ट तो हो जाते कि वर्ग बन गया, परिवर्तन की आकांक्षा वाले पात्रों का अभाव दूर हुआ और लेखक का (आलोचक से) सरोकार अभिन्न किस्म का हो गया—बात बन गयी।

दूसरे संकलन 'कर्मनाशा की हार' में आकर थोड़ा-सा परिवर्तन तब दिखता है जब गुलाबो (उपहार) अपने प्रेमी बच्चन के साथ 'हाथ-पांव' चलाकर दो रोटी कहीं भी खा लेने का निर्णय लेती हुई ठाकुर का जुलुम सहने से इनकार कर देती है और चोट खाकर चुप रहने वालों को बैल से भी गया-बीता कहती है। वह ठाकुर को डांट देती है। 'कसाई कहीं का' कहती हुई उनका दिया हुआ उपहार उनके मुँह पर फेंक देती है तो ठाकुर को इत्मीनान ही नहीं होता कि यह सब कुछ गुलाबो कह रही है।[48] विश्वास तो हम पाठक को भी नहीं होता क्योंकि तत्कालीन परिवेश में किसी मजदूर औरत का ऐसा करना नामुमकिन नहीं तो मुश्किल—बहुत मुश्किल तो है ही। ऐसा लगता है कि आजादी के बोध ने लेखक के भीतर यह आस्था जगा दी थी कि प्रगति के अब सारे द्वार खुल गये हैं। पर इस शोषक वर्ग ने जब फिर समयानुरूप करवट बदली तो लेखक की यह आस्था जाती रही। इस संकलन की बाकी कहानियों में लेखक अपनी संतुलित दृष्टि अपना लेता है। 'पापजीवी', 'माटी की औलाद' कहानियाँ इसी जमीन पर लिखी गयी हैं। दोनों में शुद्ध रूप से शारीरिक स्तर पर श्रम के शोषण का चित्र है। टीमल (माटी की औलाद) और बदलू (पापजीवी) से क्रमशः पंडितजी और ठेकेदार काम लेते हैं, पर माँगने पर मजदूरी नहीं देते। बदलू की स्थिति की तुलना उसके बाप से करके पीढ़ियों से चली आती हुई इस शोषण-परंपरा की अपरिवर्तनीयता का संकेत किया गया है और बदलू के अभाव को बेटी की बीमारी के साथ रखकर उसे मानवीय भावनाओं से जोड़ दिया गया है जो शोषण की नृशंसता को बहुत गहरा देता है।

तीसरे संकलन 'इन्हें भी इंतजार है' के अधिकांश पात्र किसी न किसी रूप में त्रस्त सदियों से इंतजार कर रहे हैं। शीर्षक कहानी के कबरी-मंगरा समाज में निकृष्ट मानी जाने वाली जाति (मुसहर) के सदस्य हैं। कैसी विडंबना है कि किसी को तो काम करा के मारा जाता है और किसी को काम नहीं करने दिया जाता—हमारी देह

47. दस्तावेज—अंक दस, पृष्ठ 55.
48. कर्मनाशा की हार (उपहार), पृष्ठ 103.

में तो ऐसी छूत भरी है कि कोई खाद-गोबर फेंकने का काम भी नहीं करने देगा।[49] शोषक समाज की यह गुंजलक कितनी विचित्र है कि इन्हें जांगर रहते हुए भी कफन-खसोटी करके मरना पड़ता है, भीख माँगकर पेट भरना पड़ता है। 'खेल' कहानी में 'सूदखोरी' के तहत यह शोषण-प्रक्रिया अबोध बच्चों तक को प्रभावित आतंकित करती है। वे भी हर तरह से यह मार सहने के लिए अपने को तैयार कर लेते हैं क्योंकि बाप ने 'कर्ज' लिया है। शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण से आगे बढ़कर गाँव का ठाकुर वर्ग अन्य वर्गों के आत्म-सम्मान का भी शोषण करता है। खैरा पीपल की छाया में ऐसा बहुत कुछ हुआ है। बिल्कुल निर्द्वन्द्व सत्संग में लीन हरू ने लोचन बाबा को अनदेखा क्या कर दिया कि जैसे उस वर्ग के अस्तित्व को ही चुनौती दे दी हो।[50] लाठियाँ निकल पड़ीं और इसी पीपल के नीचे हरू को रसरी में बाँधकर उकडूं लटकवा दिया था...हरू चौधरी के सर पर चपचपाये खून के कतरों को बच्चे भी देख रहे थे।[51] गौर करने पर विवश करती है कहानी कि मंगरा को तो आर्थिक आधार का स्तर मिला ही नहीं पर हरू तो आर्थिक तौर पर समर्थ है। फिर भी क्या हुआ ? आर्थिक आधार ही सब कुछ नहीं है। इन गाँवों में प्रयोग के धरातल पर मार्क्स का सिद्धान्त भी दम तोड़ देता। अजीब-अजीब तहखाने बने हैं यहाँ। लेखक इन सभी पहलुओं से अच्छी तरह परिचित है। अतः सभी चित्रण एकदम संतुलित हैं।

चौथे कहानी-संग्रह 'मुरदासराय' में इस जमीन की कोई सीधी कहानी नहीं है। 'धारा' कहानी का दोहरा शारीरिक शोषण (श्रम और सेक्स) चित्रित हुआ है, उसकी अंतिम परिणति भी कबरी की तरह ही होती है—शोषण का दूरगामी प्रभाव। पूरी कहानी इसी अर्गला में गुंथी है। पर कुल मिलाकर शोषण इस कहानी का मुख्य उद्देश्य नहीं है। 'जंजीर-फायरब्रिगेड और इंसान' में नौकर-मालिक संबंधों की बाबत मालिक की स्वार्थी प्रवृत्ति में पिसते नौकर के शोषण का व्यंग्यात्मक चित्र उभरा है, पर यहाँ भी अंतरिम महत्व मालिक की आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति को दिया गया है। इसमें पैसे वालों की मानसिकता का विद्रूप देखने को मिलता है।

पाँचवाँ कहानी-संग्रह 'भेड़िए' काफी अंतराल के बाद प्रकाशित हुआ। तब तक स्थितियाँ काफी बदल चुकी थीं। छठे दशक में जिस रामसुभग तिवारी को 'जमींदार थे' न कहकर 'जमींदार हैं' कहना ही उचित था। अब उस जमात के भेदूसिंह को ठाकुर ही कहा जाता है और रोपन बारी (कलंकी अवतार) को प्रजा। जमाने के साथ उनके नाम बदल गये, तरीके बदल गये, पर कार्य में कोई अंतर नहीं आया।

49. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 73.
50. आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिचेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृष्ठ 404.
51. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 222.

तब टीमल कुम्हार का खेत बेदखल करके पंडितजी की जोत में मिला लिया गया था, अब नीलामी करानी पड़ती है पर खेत तो रोपन बारी का जाता ही है—ठाकुर की जोत में। इन बदली स्थितियों में कुछ चालाक किस्म के लोगों ने जनतंत्रीय व्यवस्था में ग्रामप्रधान वगैरह जैसे पद लेकर अपने गुट बना लिए हैं। साझेदारी में गोटी बिछाकर भोलेभाले शरीफ लोगों को खूब ठगते हैं। यह शोषण का नया अंदाज है। इस आधुनिक तरीके का अच्छा वर्णन 'भेड़िए' कहानी में हुआ है। दीनासिंह और ग्राम-प्रधान मिलकर सुहेलसिंह के खेत व घर की जमीन ले लेते हैं। उनके लड़के को पीटते हैं और कानून-मुकदमे का डर दिखाकर उन्हें निरीह, कायर और दब्बू बनाते जा रहे हैं। यही कानूनी हउआ दिखाकर कुछ नयी पीढ़ी के बंडलबाज लोग गाँव के सीधे-सादे नवयुवकों को बरगलाते हैं। पढ़े-लिखे प्रगतिशील युवकों की रचनात्मक क्षमता को मिली-जुली साजिशों के तहत कुंठित-शोषित किया जाता है क्योंकि उस वर्ग ने अपने 'ग्रुप' बना लिए हैं और मिली भगत चल रही है। इस नये स्तर के शोषण में षड्यंत्रों का सहारा लेकर अर्थ-श्रम से आगे बढ़कर पूरी चेतना ही ग्रसित होती जा रही है।

(4) नारी-जीवन (की यातना) संबंधी कहानियाँ

नारी चित्रों के बारे में मुझे जितनी पाठकीय समझदारी मिली, उतनी पुरुष-चित्रों के विषय में नहीं। मैं नारी को अलग-थलग सत्ता मान कर नहीं, समाज की क्रियाशक्ति मानकर उसके बारे में सोचता हूँ। अति सामान्य नारी मेरे लेखन में चित्रित है। मैं उसमें वर्गभेद नहीं करता क्योंकि नारी में मुझे वर्गभेद कम नजर आये।[52]

भारतीय पुरुषपरक समाज में एक लंबे अरसे से उपेक्षित, सतायी जाती नारी का असली रूप ग्रामीण-समाज में ही देखने को मिलता है। आजादी, राजनीतिक मतवाद या कोई भी प्रगतिशील विचारधारा उसकी स्थिति को सुधारने-सँवारने में असमर्थ रही है। शहरों में इन सबसे थोड़ा-बहुत अंतर आता रहता है क्योंकि साधन-संपन्नता, बौद्धिकता व शिक्षा आदि की वजह से सभ्यता-संस्कृति व जीवन के बदलाव वहाँ सबसे पहले स्थान ग्रहण करते हैं। इन सबसे दूर अपने जड़बद्धमूल संस्कारों में फँसे गाँवों में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिए ग्रामीण जीवन पर लिखने वाले किसी भी लेखक के लिए नारी-स्थिति का चित्रण करना हमेशा ही एक चुनौती भरा प्रश्न रहा है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इसे पूरी गंभीरता और समझदारी के साथ स्वीकारा है। इसी विषय को लेकर सर्वाधिक कहानियों का लिखना इसका प्रमाण है जिसमें विभिन्न स्थितियों में नारी-जीवन का यथार्थ चित्र उरेहा गया है।

इसके दौरान लेखक की मानसिकता इस बात पर हमेशा केन्द्रित रही है कि वह तस्वीर कहीं छिटक कर इतनी अलग न हो जाये कि वह पढ़ने वाले को भारतीय लगे ही न। कहा जाता है कि असली भारत गाँवों में बसता है। इसलिए भारतीय

52. प्रश्नों के घेरे—सं० राजेन्द्र अवस्थी—डॉ० शिवप्रसाद का वक्तव्य, पृष्ठ 201.

नारी की अपनी मौलिक शक्ति-सामर्थ्य वहीं देखने को मिलती है। वहाँ सिर्फ पति और प्रेमी के चुनाव की समस्या नहीं है, वह पूरे परिवार (जिसमें पति-पत्नी के अलावा भी बहुत से और लोग शामिल होते हैं) के उत्तरदायित्वों, कुल-खानदान की मान-मर्यादा, अपने स्वाभिमान व स्त्रियोचित भावनाओं के साथ जुड़ी रहती है। 'दादी माँ' की सजातीय सभी कहानियाँ इसी संदर्भ की प्रामाणिकता में देखी जानी चाहिए।

गाँवों में हर किस्म के अत्याचार की जितनी बड़ी कीमत नारियों को चुकानी पड़ती है, किसी और वर्ग या जाति को नहीं। 'बरगद का पेड़' की शीला, 'महुए के फूल' की सत्ती को अपनी समझदारी-निर्भीकता के बावजूद न चाहते हुए भी सीरी और हीरा की होना पड़ता है। सवाल घर की आर्थिक विपन्नता का है जिसके लिए उन्हें अपने मन को मार डालना पड़ता है। यह उनकी कायरता या फिजूल का त्याग नहीं है वरन् उस परिवेश की अनिवार्य माँग है। 'आर-पार की माला' की नीरू की हालत इससे भी बदतर है, उसे तो एक की 'वेश्या' ही बनकर रह जाना पड़ता है क्योंकि अर्थाभाव के अलावा भी समाज में उसकी इज्जत नहीं है। उपेक्षित जो ठहरी। चाहते हुए भी वह अपने प्रेमी, जिससे उसकी मँगनी भी हो गयी है, रज्जब के साथ नहीं जाती। वह ठाकुर की ताकत देख चुकी है। बिना वजह जो रज्जब और जुम्मन को जेल भिजवा सकता है, वह कल और क्या कुछ नहीं कर सकता। सो, स्वीकार के अलावा इस गिरफ्त का कोई और विकल्प नहीं। 'सँपेरा' की कम्मो ने इस व्यभिचार को स्वीकार नहीं किया, पर चिड़ियों को जाल में फँसानेवाले बहेलियों से अधिक फुर्तीबाज जमींदार के चुने हुए गुण्डों के सामने उसकी क्या चल पायी ?

यह तो रही साधनसम्पन्न बड़े लोगों द्वारा किये गये अत्याचार की बात। यहाँ तो अपने परिवार में भी स्त्री का कोई अस्तित्व नहीं है। एक ओर जहाँ किसी कमजोर क्षण में अनजाने स्खलन के कारण पुरुष का अहम् रंजना से पूरी जिन्दगी 'प्रायश्चित्त' करवाता है, वहीं अनिता (केवड़े का फूल) के माता-पिता उसे उस पति के पास भेज देते हैं जो पत्नी को मित्रों तक के मनोरंजन का साधन समझता है क्योंकि मायके में रहने से उनकी बेइज्जती होती है। नारी जाति की विडंबनापूर्ण नियति को समझने के लिए यह इकला उदाहरण काफी है।

गाँवों में अब भी नारी के पाँवों के लिए इतनी बेड़ियाँ हैं कि कई बार रास्ता ही नहीं सूझता। फलतः दहेज जैसी तमाम रूढ़ियों के कारण सर्वगुणसम्पन्न सोना भाभी जैसी नारियों की अंधकूपी (या फिर लंकादहनी) यात्रा गाँवों के लिए कोई नयी बात नहीं, न ही उस समाज में ऐसे अंधे कुओं और चिकने स्वच्छ बदन पर सटने वाले गंदे कीड़ों की कोई कमी ही है। वे हर तरह से नारी के लिए ग्रहण बन गये हैं। यहाँ पुरुषों के हजार ऐब माफ कोई बात नहीं; लेकिन उनके लिए भी यातना, उपेक्षा, अपमान नारी सहती है। गंगा भाभी (रेवी) की कोख छः साल तक नहीं भरती तो गंवई मान्यता के तहत गाँव में होने वाले किसी भी अनिष्ट का कारण उसी को मान लिया जाता है। पति-सास सभी उसे सूखी रेती समझते हैं। उसके लिए

समाज में कहीं भी स्थान नहीं है—माँ-बाप के यहाँ भी नहीं। इस प्रकार बेवजह उसे अनेक जिल्लतें बर्दाश्त करनी पड़ती है, पर उफ तक नहीं करती क्योंकि भारतीय (ग्रामीण) नारी, सोना भाभी (अंधकूप) की तरह 'दुखी' है, पर बेशर्म नहीं शहर में बेशर्मी आयी है। पत्नी हाथ का दाग बनकर पति के जीविकोपार्जन का साधन बनती है। अति सामान्य जीवन के लिए इस तरह का पेशा अपनाना पाश्चात्य प्रभाव से आयी उच्छृंखलता है। यही काम 'गंगा-तुलसी' की माँ भी करती है—गाँव में रहकर; पर तब, जब पति की मौत के बाद बच्चों के पोषण का उत्तरदायित्व स्थितिजन्य विवशता बन जाता है। गरीबी के कारण दहेज के डर से पिता जान बूझकर भी अपनी लड़की को लंगड़े और कुरूप लड़के के साथ व्याह देता है और 'नन्हों' की पूरी जिन्दगी एक वीरान जंगल बनकर रह जाती है।

'अरुन्धती' कहानी में लेखक की दृष्टि एक और ही स्तर पर नारी की विवशता का स्पर्श करती है जो आर्थिक विपन्नता या सम्पन्नताजन्य न होकर झूठी वंश-मर्यादा के नाम पर उत्पन्न की गयी है। सास और पति बड़की बहू पर नौकर के साथ संबंध को लेकर शक करते हैं और उसके लाख रुदन-क्रंदन के बावजूद उसका गर्भ गिरवा देते हैं। बाज-बाज जगहों पर हालात इतने नाजुक हैं कि पत्नी अपनी मर्जी से पति तक से नहीं मिल पाती—सास या अन्य कोई स्थिति आड़े हाथों आती है—'बड़ी लकीरें'—'एक यात्रा सतह के नीचे'। इसके कारण में पति की बेरोजगारी थी, अतः आजादी के बाद अब अर्धशिक्षित-शिक्षित हर लड़का रोजगार के लिए दूर शहर जाता है और एक नये अध्याय की शुरुआत होती है। पहले जहाँ 'केवड़े के फूल' का पति और 'उपहार' तथा 'आर-पार की माला' के जमींदार पत्नी के देखते ही मनमानी करते थे, रखैल रख लेते थे, दूसरी शादियाँ कर लेते थे, वहीं अब ये नवयुवक शहर जाकर वही कार्य परोक्ष रूप से पत्नी से छिपाकर, करने लगे हैं। 'मैं, कल्याण और जहांगीरनामा' 'सुबह के बादल'। ये बदलते जमाने के यथार्थ के विकसित रूप हैं जिन्हें डॉ० सिंह की लेखनी ने सटीक रूप में उतार लिया है। पुराने तौर-तरीके खत्म नहीं हुए हैं। आढ़त पर काम करती तिउरा अब भी देवनाथ की वासना का शिकार होती है, भाई से पिटती है और माथे पर लाभशुभ का टीका लगाकर कबरी की पांति में ही मिलने पर विवश होती है। मारपीट तो आम बात है। वह सास से पिटती है (अंधकूप), पति से पिटती है (बीच की दीवार, धरातल) और बेवजह। कुल मिलाकर हमारे समाज में नारी न बेटी है, न पत्नी, न बहू और न माँ, वह तो मनोरंजन का साधन है, पैरों की जूती है, बिकाऊ माल है ...पर स्त्री नहीं है। इस पूरी दुनिया को देखकर कहा जा सकता है कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ नारी-जीवन के चोटी से घाटी तक के उतार-चढ़ावों के विविध मोड़ों को दरसाने वाली रंगीन रीलों की ऐसी फिल्म है जो देखने वालों को भारतीय नारी-जीवन से इतिहास का सही बोध कराने में समर्थ है। उन्होंने अपने अंतिम कहानी-संग्रह 'भेड़िए' में नारी-जीवन की इन स्थितियों को लेकर कुछ ज्वलंत प्रश्न उठाये हैं, जो आज भी निरुत्तरित हैं—

'क्या यही जिन्दगी है जिसके लिए लोग गौरी-पूजन करते हैं, व्रत रखते हैं? क्या यही है वह आत्मा जिसे पाने के लिए मैं जन्म-जन्मांतर से भटक रही थी? क्या इसी जिन्दगी के लिए हर औरत सती-सावित्री बनने का मंसूबा बाँधती है।'[53]

(5) प्रेमपरक कहानियाँ

प्रेम और सौंदर्य चिरकाल से साहित्य के धरोहर रहे हैं और शिवप्रसाद सिंह तो 'चाहकर' भी यह नहीं कह पाते कि 'और भी गम हैं दुनिया में मुहब्बत के सिवा' क्योंकि वे प्रेम को इतना ऊपरी और शारीरिक आवश्यकता का अंग भर नहीं मानते।[54] वे तो प्यार के नाम पर सब कुछ की बाजी लगा देने में विश्वास करते हैं—[55]

ये बाजी इश्क की बाजी है, जो कुछ भी लगा दो डर कैसा,
गर जीत गये तो क्या कहना, हारे भी तो बाजी मात नहीं।
—फैज अहमद फैज की तरह।

'प्रेम उनके लिये आशा-निराशा सभी प्रकार की मानसिकता में जीवन का प्रेरक-उन्नायक है। 'परकटी तितली' की रानी का पाँवहीन पति को घोर निराशा भरे भविष्य के बावजूद लिए जाना, इसी धारणा को पुष्ट करता है। उनके अनुसार 'प्रेम बिल्कुल सुलभ और सहज है जैसे हवा, पानी और धूप'। डॉ० सिंह तो ऐन्द्रिक प्रेम-संबंध में डॉ० वेरियर के इस कथन से भी सहमत हैं कि ऐन्द्रिक प्रेम ने मनुष्य को उच्चतम काव्य और श्रेष्ठतम साहसिक कार्यों के लिए प्रेरित किया है। ऐन्द्रिक प्रेम स्वयं में एक कला है—ऊँची से ऊँची कला।[56] इसीलिए तो इनकी अधिकांश कहानियों में प्रेम का अत्यंत सूक्ष्म निदर्शन हुआ है। क्योंकि तमाम समस्याओं-आवरणों के बीच गाँवों में सहज-सच्चे प्रेम का बारीक सूत्र सभी के दिलों में बीज रूप में विद्यमान होता है जो उन्हें संचालित करता है। ये प्रेमचित्रण कहीं भी कहानी के परिवेशगत यथार्थ के बिस्तार और सीमाओं को लांघने की कोशिश नहीं करते।

निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि डॉ० सिंह की कहानियों के प्रेम का मूल स्वर त्याग का है। वृहत्तर संदर्भों में इस स्वर की गूँज 'त्याग-मूलक प्रेम के स्वर' को दादी माँ, बुआ (नई पुरानी तस्वीरें), माँ (कबूतरों का अड्डा और गंगा-तुलसी), भाभी (वशीकरण), भाई (टूटे शीशे की तस्वीर) और अन्य पूरे परिवार (कर्ज) के साथ पारिवारिक स्तर पर सुना जा सकता है और 'देऊ दादा', 'उपधाइन मैया', 'हीरों की खोज' तथा 'संपेरा' में विशुद्ध मानवीय रूप में वैश्विक स्तर पर। ये निश्चय ही जीवन के प्रवृत्तिमूल यथार्थ की नहीं, तयशुदा फर्जी और कल्पित

53. भेड़िए—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 52.
54. शिखरों का सेतु—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 122.
55. मुरदासराय 'मैं', 'कल्याण और जहांगीरनामा' कहानी के साक्ष्य पर।
56. शिखरों का सेतु—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 122.

आदर्शों की कहानियाँ हैं। किन्तु वृहत्तर संदर्भों में ये कहानियाँ यथार्थ से जितनी ही दूर हैं, वैयक्तिक संदर्भों (प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी) में उतने ही पास—घुली मिली।

वैसे वैयक्तिक प्रेम को लेकर मात्र प्रेमपरक जीवन शायद गाँव में रहने वाले किशोर-किशोरी (दंपति या युग्म) नहीं बिताते। वहाँ का जीवन पार्कों-समुद्र के किनारों या मध्यमरोशनी वाले होटल के कमरों में दिन-दिन भर या कई-कई दिन पिकनिक, सैर-सपाटे या रंगरेलियाँ मनाकर प्रेम करने वाला (नदी के द्वीप का-सा) जीवन नहीं है। गाँवों में न इसकी सुविधा है, न इजाजत और न ही छूट। इसीलिए इसका निरूपण करने वाली कहानियों में प्रेम केन्द्रीय अनुभव (उद्देश्य) बनकर न आया हो तो किसी (मधुरेश जी) को आश्चर्य-क्षोभ-शिकायत नहीं होनी चाहिए।[57] जितना जिस रूप में गाँवों में मिलता है उतने का चित्रण संपूर्ण जिम्मेदारी, सद्-भावना-संवेदना के साथ हुआ है। वैसे कहानियों में अपवादस्वरूप 'प्लास्टिक का गुलाब' एकमात्र प्रेमपरक, चुलबुली, चापल्यताभरी और प्यारी कहानी है। इसका केन्द्रीय भाव प्यार है—बिना किसी गंभीर दायित्व के। पति और प्रेमी के चुनाव-त्याग का प्रश्न यहाँ उठ सकता था जो 'तीसरे का प्रवेश' (तीसरा आदमी, पति-पत्नी और वह) के नाम पर शहरों में 'बॉक्स ऑफिस' हिट हुआ, पर भारतीय ग्रामीण नारी—सच्चे अर्थों में भारतीय—की यह समस्या तो रही ही नहीं। अतः त्यागपरक भावनाप्रधान होने के कारण यह कहानी भी कहीं उच्छृंखल नहीं होने पायी है। उसका भारतीय रूप—पति-प्रेमी दोनों में किसी को बिना झटके वह अपनी राह बना लेती है, मर्यादा और सम्मान के साथ—जरा भी डिगा नहीं है। और ऐसा इसी कहानी में नहीं, ऐसी तमाम कहानियों में है, पर वहाँ मर्यादित, परंपरा-पोषित राजमार्ग का अनुसरण करते हुए प्रेम को सामाजिक संदर्भों से जोड़ने की कोशिश ही सर्वोपरि है।[58] 'महुए के फूल' की सत्ती को गरीबी के कारण त्याग करना पड़ता है—'उस बुड्ढे बाप ने अपने को कर्ज के रुपयों और लड़की के भार दोनों से मुक्त करने के लिए सत्ती की शादी हीरा से ठीक कर दी।....सत्ती के लिए स्वीकार के अलावा दूसरा कोई चारा न था। अकेले में बैठकर आँसू गारती और लाख सोचने पर भी बाप की इज्जत के सामने माथा टेक देती।'[59] 'बरगद का पेड़' की शीला ने भी यही किया चुपचाप रहकर और 'केवड़े का फूल' की अनीता को करना पड़ा—रो-धोकर, भाग-पराकर। यही काम गैर जाति और विधवा होने के नाते 'कर्मनाशा की हार' की फुल-मत न कर सकी, पर बलिदान होने की स्थिति में भी प्रेमी कुलदीप का नाम न बताकर प्रेम की सचाई और ईमानदारी भरे त्याग का परिचय देती है। इन कहानियों के प्रेमी भी इस संदर्भ में रंचमात्र भी पीछे नहीं रहे। 'बरगद का पेड़' का विनय भग्नहृदय

---

57. दस्तावेज—अंक 10, पृष्ठ 59.
58. वही, पृष्ठ 60.
59. आरपार की माला (महुए के फूल), पृष्ठ 38.

लिए पूरी जिम्मेदारी से चंदा का साथ निभाता है और फुलमत का कुलदीप तो देश-बद्र हो जाता है, पर अपनी भावनाओं के साथ बेशर्मी या दगा नहीं करता। मैं फिर कह दूँ कि यह इन सबकी कायरता नहीं, वर्जनाओं की अनिवार्य परिणति है। इनमें 'प्रेम का शालीन स्वरूप झाँक रहा है, निर्ममता से कराह या सिसक नहीं रहा है।'

सामाजिक सन्दर्भों के बावजूद इन सभी कहानियों के प्रेम-प्रसंगों का भरपूर विकास हुआ है—बेहद सांकेतिक रूप में। 'नन्हों' में तो सामाजिक समस्या की बुनियाद के बावजूद प्रेम-प्रसंग कहानी पर 'हावी' हो गया है। पूरी कहानी वैयक्तिक प्रेम की जमीन पर खड़ी है। 'नन्हों' मेवालाल से ब्याही गयी, पर दिखाया गया था रामसुभग को, जो दूर के रिश्ते में उसका देवर होता था। पति के मरने के बाद, और पहले भी, रामसुभग और नन्हों के परस्पर आकर्षण के एकाधिक स्थलों पर संकेत मिलते हैं, 'नन्हों' रामसुभग को चाहती है, पर यहाँ प्रेम की बड़ी विचित्र स्थिति है कि पास जाने पर वह उसे बरज देती है। अंत में तो रामसुभग का रूमाल लौटाकर प्रेम का रहा-सहा सूत्र भी तोड़ देती है, पर अजीब अंतर्विरोध है कि 'आँखों को जल से डुबो लेती है। वह किवाड़ तो बन्द कर लेती है, पर सांकल नहीं लगा पाती।'[60] इन्हीं परस्पर विरोधी अंतर्द्वन्द्वों में ही नन्हों का प्यार विकसित हुआ, फलाफूला है। यह अंतर्द्वन्द्व देवसेना, मालविका, आकाशदीप की चंपा और पुरस्कार की मधूलिका आदि प्रसाद के पात्रों की मानसिकता में जीता है,—इस फर्क के साथ कि लेखक त्याग-बलिदान की स्थिति नहीं पैदा करता यही इस जीवन की सार्थकता है पर न जाने कैसे डॉ० धनंजय वर्मा को लगता है कि 'नन्हों' का अंतर्द्वन्द्व सामाजिकता की सतहों को लेकर है। नन्हों की वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं क्योंकि उसका अस्तित्व सिर्फ होने तक ही है...पूरी कहानी 'मिनीमाइंड' होकर रह गयी है।[61] असल में तो यहाँ नन्हों की वैयक्तिकता ही मूल्यवान है। उसका अस्तित्व होने तक नहीं वरन् सब कुछ करने में समर्थ है। कहानी का सामाजिक परिप्रेक्ष्य तो मात्र शादी होने तक ही है। इसके बाद तो अपने जीवन के सारे निर्णय वह स्वयं लेती है, आगे कदम वही बढ़ाती है। कहानी में वह साफ-साफ कहती है—'पर आज तो मैं अपने पैरों पर खड़ी हूँ, आज मुझे तुम हारने मत दो। तुम्हारा रूमाल मेरे पाँव बाँध देता है, लाला इसी से लौटा रही हूँ।'[62] फिर इसका अस्तित्व सिर्फ होने तक है, कहना कितना अप्रासंगिक और असंगत लगता है। डॉ० शीतांशु ने तो इसे क्षमताबोध की कहानी कहा है,[63] जो एकदम उचित है। सतही सामाजिकता के चलते ही तो 'नन्हों' इस बन्धन में फँसी और अब उसका विरोध भी इसी कारण है। यह अंतर्द्वन्द्व वह अकेले रहकर सहना चाहती है

60. इन्हें भी इंतजार है—(नन्हों), पृष्ठ 26.
61. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय, पृष्ठ 18.
62. इन्हें भी इंतजार है (नन्हों), पृष्ठ 26.
63. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 64.

क्योंकि लेखक अकेलेपन के दर्द को शक्ति की उद्बोधक वस्तु मानता है।'[64]इसीलिए नन्हों का रूमाल लौटाना अकेलेपन के समुद्र में उतर कर अपना शक्ति-परीक्षण करना है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान इसे त्रासदीय तनाव कहते हैं और फिर त्रासदी अपना अर्थ भी खो बैठती है 'यदि इसे त्रासदीय तनाव कहा जा सकता है तो त्रासदी अपना अर्थ खो बैठती है।'[65] न जाने किसने कहा उनसे यह कहने के लिए। खुद ही कहो, यह महल है और फिर कहो यह महल है तो महल अपना अर्थ खो बैठता है तो भाई, ऐसी समीक्षा में खुद ही अर्थ खोओ और पाओ या खाओ और पीयो। वैसे डॉक्टर साहब की विचारगत दुविधा दूर करने के लिहाज से कह दूँ कि यह रूमाल लौटाना न भावात्मक दुविधा है न आंतरिक खिचाव। अंत तक आते-आते नन्हों की इस प्रतिक्रिया में निश्चय की दृढ़ता है जो उसे दुखी करती है, पर रूमाल लौटाकर इसी दुःख को तो वह संपूर्णता में झेलना-सहना चाहती है। यह उसकी आत्मस्वीकृत वेदना है जो उसे टूटने से बचायेगी—रूमाल उसके पाँव बाँध देता है, यह स्वीकार नन्हों ने जीवन के अनुभवों से गुजरने के बाद किया है—पाँच साल का एकाकीपन सहने के बाद। उसने इसे स्नॉवरी या कॉफी हाउस में बैठकर सिगरेट के धुएँ के बीच नहीं स्वीकारा है कि बड़े-बड़े शब्दों के जाल में (त्रासदीय तनाव जैसे) इसे उलझाती फिरे।

वैयक्तिक प्रेम का एकदम शुद्ध मानवीय रूप 'राग गूजरी' के पगला बाबा और रानी में देखने को मिलता है। ये एक दूसरे के साथ फर्ज या बंधन मानकर नहीं रहते, आदर्शों, रश्मोंरवाजों के लिए भी नहीं। वे साथ रहते हैं मात्र इसलिए कि एक दूसरे से प्यार करते हैं। न इन्हें सामाजिक स्वीकृति के आज्ञापत्र ने बाँधा है और न ही भौतिक आवश्यकताओं ने। भीख माँगकर पगला बाबा सराय (जो उनका मिलन-स्थल है, घर है) में पहुँच जाता है। जैसे उसे भीख ज्यादा-कम मिलने की परवाह नहीं है, वैसे ही लोकनिन्दा की भी नहीं है। ये दुनियादारी से नितांत असंपृक्त हैं। ऐसा स्नेह-संबंध लेखक को शहर या गाँव के गार्हस्थ्य जीवन में नहीं मिला, सराय में मिला, भिखारियों में। शायद वहीं यह संभव भी है, वरना दुनियादारी के बीच तो तोबा ही समझिए। किंतु सराय में मिलने से ही सच्चा प्रेम हो जाता है, यह कोई सार्वभौम सत्य नहीं। 'मुरदासराय' में सुलक्खी और सूरदास—अंधे और कोढ़ी—परिस्थितिवश मिलते हैं, शारीरिक जरूरतों के तहत दैहिक संबंध होता है और जहाँ पगला बाबा को कुछ नहीं चाहिए मात्र प्रेम के अलावा, वहीं सूरदास अपने और सुलक्खी के संपर्क से होने वाली संतान को भीख माँगने का—दुनिया को द्रवित करने का—माध्यम बनाना चाहता है। इसे कोई स्वार्थी और जलील कह सकता है, पर है यह घोर प्रवृत्तिवादी और जीवनोन्मुखी ईहा जो अपने संदर्भों और परिस्थितियों में पगला बाबा से कम सच-सहज और स्पृहणीय नहीं बल्कि ज्यादा भले हो।

---

64. शिखरों का सेतु—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 184.
65. हिन्दी कहानी : अपनी जबानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 149-50.

अनैतिक रूप से शारीरिक संबंध बनाने वाले लोग गाँवों में होते हैं और वे भी प्रेमी-प्रेमिका ही कहे जाते हैं जिनका प्रेम विशुद्ध ऐन्द्रिक प्रेम होता है। इन्हें ही समाज की नैतिक शब्दावली में व्यभिचारी भी कहा जाता है। छबिया और सोमू के संबंध ऐसे ही हैं (अंधकूप)। ये लोग ज्वार-बाजरे के खेतों की आड़ में, किसी खंडहर की झुकी हुई दीवाल के नीचे मिला करते। ये छबियाएँ सब कुछ लुटाकर तेल-साबुन जैसी चीजों की फरमाइश करके संतुष्ट रह जाती हैं। ये सोमू तो जरा सी भी गड़बड़-सड़बड़ की भनक पाते हैं तो कलकत्ते की गाड़ी पर सवार हो जाते हैं। पत्नियाँ सब सोना भाभी (अंधकूप) की तरह सती-सावित्री ही नहीं हैं, वे गैरों के साथ भाग भी जाती हैं (मरहला)। 'टूटे तारे' का नायक जिन्दगी भर साथ देने का वायदा करके श्यामा से समर्पण कराता है और धोखा देकर भाग खड़ा होता है। 'धारा' का देवनाथ तिउरा पर हाथ साफ करता ही है, 'भग्नप्राचीर' के डॉक्टर, पत्नी के रहते ही मिस गोयल से प्रेम-संबंध चलाते रहते हैं और 'पोशाक की आत्मा' के डॉक्टर का तो यह प्रेम ही पेशा है। कुल मिलाकर ऐन्द्रिक प्रेम-उपभोग के चित्र डॉ० शिवप्रसादसिंह की कहानियों में आये हैं।

ये सब तो हैं, पर पति-पत्नी के वैयक्तिक प्यार का खुला प्रसंग इन कहानियों में दुर्लभ हो गया है। जिललतों की जिन्दगी ही, ग्रामीणों की स्थायी विरासत है। पति-पत्नी बनते ही ये लोग समाज में प्रवेश कर जाते है फिर कहाँ रह जाता है प्रेम और रोमांस। सामाजिक संदर्भों का प्रतिफलन इनकी वैयक्तिकता को समाप्त कर देता है।

इस कप्रार शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में प्रेम उद्देश्य बनकर भले न आया हो, या कम आया हो, पर प्रेम का सोद्देश्य प्रयोग अधिकांश कहानियों में भरा पड़ा है—भिन्न संदर्भों और उद्देश्यों को सार्थक करता हुआ। अब नयी कहानी के संकलनों के लिए मात्र प्रेम-परिणय पर आधारित अधिक से अधिक (डार्क रूम वाले संभोगीय प्रेम की बिस्तरीय) कहानियाँ चाहिये, तभी दुनिया समानांतर होगी तो गुलशन की बिरादरी का कथा साहित्य और गर्म कहानियों की हजारों पत्रिकाएँ सहज ही मिल जायेंगी। बिना किसी दिक्कत के जितने संकलन चाहें, निकाल डालें। जब शिवप्रसाद सिंह को इसका कोई गिला नहीं तो आलोचक-प्रवरों[66] को चिंता क्यों सता रही है, समझ में नहीं आता। शायद चटखारे मारकर कलम भांजने को न मिल रहा हो।

(6) टूटते-जुड़ते संबंधों की दिग्दर्शक कहानियाँ

जिस प्रकार मनुष्य और उसके प्रयत्नों को लेकर शिवप्रसाद सिंह के मन में एक आदर्श था, उसी प्रकार आपसी संबंधों को लेकर भी एक उच्चस्तरीय मानवता के निर्माण में लोकमंगलकारी भावनाओं का मसृण-मखमली तार पिरोने का भाव था, पर जिस तरह सामाजिक रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, गलीज परंपराओं और अंधी व्यवस्था ने उस मनुष्य को खा डाला, ठीक उसी तरह स्वार्थ, भौतिकता, भोगवादी लिप्सा-

66. दस्तावेज—अंक 10 में मधुरेश—पृष्ठ 59.

मोह, ईर्ष्या-द्वेष ने मिलकर इन संबंधों के मखमली तार को तार-तार करके उसे भ्रष्टाचार के पंकविष्ट गड्ढे में फेंक दिया।

भारतीय ग्रामजीवन में संयुक्त परिवार का विशेष महत्व-आदर है। अतः ज्यादातर पारिवारिक संबंधों का जिक्र ही इन कहानियों में हुआ है। शुरू-शुरू में लेखक संबंधों की गरिमा को बनाये रखने का प्रयत्न करता है। 'गंगा-तुलसी', 'कबूतरों का अड्डा' की माँएँ व 'दादी माँ', 'बीच की दीवार', 'कर्मनाशा की हार' व 'कर्ज' के भाई, 'वशीकरण' के देवर-भाभी आदि में लेखक ने संबंधों को बनाये रखा है, कभी-कभी टूटने पर जोड़ने का साहस भी दिखाया है --'बीच की दीवार', 'वशीकरण' आदि में। लेकिन बदलते समय के साथ इस आदर्श स्थिति का झूठापन देखते-देखते आखिर यथार्थ स्थिति को कबूल कर लेता है। तब 'तकावी' का भाई बीच की दीवार तोड़ने की हिम्मत नहीं करता। 'धरातल का देवर' भाभी के ऊपर वशीकरण न करके उसे दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर करता है। हरिया अपने बाप बिहारी को बेहया-बेशर्म ही नहीं कहता, डंडों से मारता भी है। 'एक यात्रा सतह के नीचे' और 'बड़ी लकीरें' के माँ-बाप बेटे को भार समझते हैं और बात-बात पर अपमानित करते रहते हैं। यह स्खलन 'बिन्दा महाराज' में अति पर पहुँच गया है। मिसिर का लड़का उसे 'बुआ' क्या कह देता है कि उसकी प्यास फट पड़ती है। लेकिन बिन्दा महाराज की पवित्र भावनाओं का तिरस्कार करती मिसराइन जब दरवाजा बंद कर देती है तो जैसे मानव-संबंधों का ही दरवाजा बंद हो जाता है। इसीलिए तो कुछ कहानियों में संबंधों का व्यंग्यमय विद्रूप ही देखने को मिलता है। 'मंजिल और मौत' का बौड़म कुत्ते से अपनत्व रखता है, पर लोग उसे भी मार डालते हैं। लोगों से त्रस्त-तंग रोपन साहु (चितकबरी) बकरी को ही जीवन की आशा-आकांक्षा की पूर्ति समझकर उसी की नींद सोते-जागते हैं। चितकबरी से रोपन-परिवार का संबंध आर्थिक है, पर उसमें लय हो जाना उसकी सचाई भी है। 'जंजीर, फायरब्रिगेड और इंसान' में तो पैसे के आगे कोई संबंध रहा ही नहीं—अगर रिक्शेवाला जले घायल नौकर को उठा न लेता तो....? यहाँ पहुँच कर शिवप्रसाद खुद लिखते हैं—हम उलझे संबंधों के उस मोड़ पर पहुँच गये हैं जहाँ झटके सूत्रों को खोजने से नहीं, उन्हें झटके से मारकर तोड़ने से ही निस्तार है।[67]

हाँ, बहन-भाई का आदर्श संबंध जो 'माटी की औलाद में' रात-रात को मनाकर खिलाने से शुरू होता है अंत तक कहीं भी नहीं भटकता। सारे अभावों—कई-कई पैबंदों वाली सारी—के ब ावजूद 'अंधकूप' की मुन्नी अपने आवारा, निकम्मे, चरित्रहीन भाई को पत्र लिखती है—जैसे रहते थे, वैसे ही रहना, पर चले आओ। 'टूटे शीशे की तस्वीर' में बाहरी मनमुटाव के बावजूद यह प्रेम अन्तर्मन में उतनी ही जड़ जमाये रहता है, जो आँसू नहीं, खून के रूप में बह निकलता है। ऐसा शायद इस-

67. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 212.

लिए कि उस जीवन में भाई-बहन के प्रेम में भौतिकता का प्रवेश नहीं हुआ है। जीवन भर साथ रहने की जिम्मेदारी नहीं है। भाई उसे पराया धन समझता है और बहन अपने को चार दिनों की मेहमान—पाहुनी। सो, बिना किसी कटुता के निभ जाता है—कटु मामले ही नहीं आते।

स्त्री-पुरुष के संबंधों की कोर, अलबत्ता, कई-कई पेचों के साथ उलझती-सुलझती बुनी गयी है। अबूझ मंत्रोच्चारों, वायवी रस्मी गवाहों की औपचारिकता से उन्हें पास-पास रख-बिठा-सुला दिया जाता है। वे अंतर्प्रेरणा से तो मिलते नहीं और ऊपर से अभाव-ग्रस्त जिन्दगी का बोझ (यही आमस्थिति है)। व्यवस्था पुरुषप्रधान है ही, सो ये संबंध नारी की यातना-प्रताड़ना के सिवा कुछ नहीं है। पति की मनमानी हर तरह से 'हावी' रहती है। कहीं पत्नी दहेज न लाने के कारण पिटती है (अंधकूप) और कहीं आत्महत्या कर लेती है (अंधकूप, हत्या और आत्महत्या के बीच)। कहीं पत्नी को मित्रों तक के मनोरंजन का साधन और पैरों की जूती बनकर जीना पड़ता है (केवड़े का फूल) तो कहीं आय का साधन—शुद्ध व्यावसायिक स्तर पर माल बन कर। पति खुल्लमखुल्ला नाजायज संबंध रखता है (आर-पार की माला) और पत्नी घर में बैठी आठ-आठ आँसू रोती है (उपहार) तथा गाँव से एक बार देखने की मिन्नत-भरा पत्र लिखती रहती है (मैं, कल्याण और जहाँगीरनामा)। यही सब पत्नी न कर पाती, न ही कर सकती, फिर भी झूठी अफवाहों पर ताने सहना तो उसका धर्म है (हत्या और आत्महत्या के बीच)।

इस प्रकार की स्थिति में 'स्त्री-पुरुष संबंध कैसे होने चाहिए' पर विचार करना व्यर्थ ही होता। अतः स्थितियों का खुलासा ही सर्वाधिक उचित कदम था, जिसे लेखक ने पूरी समझदारी के साथ उठाया है। इस स्थिति को न समझने के कारण आज घोषणाएँ हो रही हैं कि स्त्री-पुरुष-संबंधों को लेकर शिवप्रसाद सिंह के यहाँ कोई कहानी नहीं है[68] क्योंकि घोषणाओं की बात दूसरी है और जिंदगी को सही ढंग से देखने और व्यक्त करने की बात दूसरी।[69]

फिर भी मानवीय संबंधों में आस्था रखने वाले डॉ० सिंह ने स्त्री-पुरुष या पत्नी-पति संबंधों की बाबत अपनी विचारधारा को 'राग-गूजरी' कहानी में स्पष्ट कर दिया है—मनेर मानुष का संबंध। यहाँ घोंघा रानी न पगला बाबा की दासी है और न स्वामिनी। घोंघारानी उसे लात से मार भी सकती है और रातभर बैठकर सर भी दबा सकती है। पगला बाबा को भी और क्या चाहिए। उसे न स्वामिनी चाहिए न बांदी। उसे सहयात्री चाहिए....सहयात्री ? मनेरमानुष। बस'।[70] वे पूरे मन-प्राण से संचालित हैं। पर ऐसी सहज-समता पर आधारित प्रेम

68. दस्तावेज अंक 10, पृष्ठ 59.
69. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 149.
70. भेड़िए—पृष्ठ 77.

लेखक को आम-जीवन में नहीं मिलता इसलिए उसे पगला बाबा और घोंघारानी को जीवन से दूर सराय में रखना पड़ता है और हकीकत ये है कि ऐसे संबंध सराय में ही पनप-निभ सकते हैं।

इस प्रकार ये कहानियाँ संबंधों के हू-ब-हू चित्रण में सक्रिय भूमिका अदा करती हैं। जितनी सहजता से वे परंपरापोषित आदर्श संबंधों को उकेरती हैं उतनी ही सरलता से आजादी के बाद ढहते मानवमूल्यों के बीच टूटते रिश्तों को भी।

(7) विद्रोहमूलक कहानियाँ

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का मूल स्वर व्यवस्थाजन्य संत्रास-अभावों के पिसते लोगों की दयनीय स्थिति के यथार्थांकन का है, पर टूटते हुए रिश्तों और ढहती हुई समाज-व्यवस्था के बीच इनका रुख स्थितियों के स्वीकार का नहीं, विरोध-विद्रोह का है। इसे विभिन्न स्तर पर हर संभव तरीके से व्यक्त किया गया है। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में व्यक्ति विद्रोह करता है, सामूहिक रूप से कोई जाति-वर्ग का विद्रोह नहीं दिखायी पड़ता है। इसे लेकर भी मधुरेश जी ने लिखा कि 'इनकी कहानियों में वर्ग-चेतना का सर्वथा अभाव है।'[71] इस संबंध में लेखक की अपनी मान्यता है कि 'व्यक्ति और समाज की सोचने की प्रक्रिया अलग-अलग है। समाज आवरण-मूलक सत्यों का—मूल्यों का हिमायती होता है किन्तु इकाई (व्यक्ति) अपने भोगे हुए अनुभव और कमाए हुए सत्य को चाहकर भी भुला नहीं सकती। कर्मों को भी समाज विभिन्न खानों में बाँटकर पहचानने की कोशिश करता है। उसके लिए सभी कर्मों के मोटे-मोटे रूप तयशुदा हैं।[72] इसीलिए ग्रामीण समाज में वर्ग-चेतना विद्रोह नहीं कर सकती क्योंकि अपने आवरणमूलक सत्यों के तयशुदा अर्थों को छोड़ नहीं सकती। ऐसे साधन भी नहीं हैं वहाँ कि व्यक्ति अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाकर वर्गों का निर्माण करे। फिर शिवप्रसाद सिंह ने कभी यह दावा नहीं किया या मंशा जाहिर नहीं की कि वे वर्गचेतना पैदा करके वर्ग-संघर्ष कराने जा रहे हैं। उलटे उन्होंने तो साफ कहा कि इसका मतलब यह नहीं कि कथाकार व्यक्ति और समाज के बीच व्याप्त संघर्ष को तीव्र करना चाहता है।[73] ऐसे हालात में जब लेखक के विचार और लेखन का परिवेश दोनों जिस चीज से मेल न खाते हों, उसी की अपेक्षा करना (मधुरेश जी द्वारा) अपने विचारों को थोपने का उदाहरण बन जाता है।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ ग्रामीण जीवन की विविध स्थितियों के खिलाफ विद्रोह का स्वर बुलंद करती हैं। सबसे प्रबल रूप में यह विद्रोह समाज में व्याप्त रूढ़ियों को लेकर प्रकट हुआ है। तमाम आधुनिक आविष्कारों, प्रगतिशील जीवन-मूल्यों के आगमन के बावजूद हमारा ग्रामीण जीवन अनेक रूढ़ियों में फँसा सिसक

71. दस्तावेज—अंक 10, पृष्ठ 60.
72. मुरदासराय—भूमिका, पृष्ठ 10.
73. वही

रहा है। इससे हमारी प्रगति तो पिछड़ती ही है, व्यक्ति की भावनाएं कुण्ठित होकर उसके जीवन को नष्ट कर रही हैं। मानवीय विकास अवरुद्ध होकर रह गया है। शिवप्रसाद सिंह ने बड़ी खूबी के साथ इन सबका निदर्शन कराया है। 'कर्मनाशा की हार' इसकी सर्वाधिक सशक्त प्रस्तुति है। 'कर्मनाशा की हार' (कहानी) मनुष्य के कर्म को नष्ट करके उसके ऊपर सामाजिक रूढ़ि और नियति का अभिशाप लादने वाली उस समूची प्रवृत्ति के विरोध का प्रतीक है।[74] भैरो पाण्डे का छोटा भाई कुलदीप, गैर जाति की विधवा फुलमतिया से प्यार करता है और लोक-लाज के डर से उसे गर्भवती छोड़कर भाग खड़ा होता है। उसी समय कर्मनाशा नदी में बाढ़ आती है जिसे इसी पाप का परिणाम मानकर गाँव का ठाकुर फुलमत को उसके बच्चे सहित बलि देने को तैयार हो जाता है। यहीं लेखक इन रूढ़ियों की दीवारों को तोड़ते, स्वस्थ आधुनिक विचारसंपदा की आवाज बुलंद करते भैरो पाण्डे को खड़ा करता है—'कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुँहे बच्चे की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बाँधों को ठीक करना होगा।' वे अत्यंत आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उस रिश्ते की गरिमा को प्रतिष्ठित करते हैं—'कुलदीप कायर हो सकता है किन्तु मैं कायर नहीं हूँ। मेरे जीते जी बच्चे और उसकी माँ का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता'।[75] इसके बाद भी समाज शांत नहीं होता, वह पाप भोगने के दंड की व्यवस्था देने को तत्पर है—रूढ़ियों की जकड़बन्दी। तब फिर पाण्डे कर्मनाशा का असली अर्थ स्पष्ट करते हुए ललकार पड़ते हैं—'मैं आपके समाज को कर्मनाशा से कम नहीं समझता। मैं एक-एक के पाप गिनाने लगूँ तो यहाँ खड़े सारे लोगों को कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा....है कोई जाने को तैयार' ?[76] और तब सब अवाक् रह जाते हैं।

'यह चेतना बड़ी कठिनाई से मिलती है, यह दृष्टि विषमताओं के अंधेरे में पौ की तरह फटती है। जीवन भर जो आवरणमूलक सत्यों को जीता रहा, पर वीभत्स सन्नाटे में उभरी फुलमतिया की चीख, जिसके आवरण को चीरकर प्रकाश की किरण दिखा गयी और तब वही भैरोपाण्डे ईसामसीह बन जाता है।'[77] इसमें डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार शिवप्रसाद सिंह नयी चेतना के संचार के पक्ष में जान पड़ते हैं जिसमें इनकी रोमैंटिक दृष्टि का परिचय मिलता है। इस रोमैंटिक दृष्टि में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समष्टि मंगल में सामंजस्य एवं संश्लेषण न होकर सम्मिश्रण है। इसे

74. प्रश्नों के घेरे—सं० राजेन्द्र अवस्थी में डा० शिवप्रसाद सिंह का उत्तर, पृष्ठ 200.
75. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 24.
76. वही
77. हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रगति-चेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृष्ठ 399.

अमृतराय ने 'नास्टैलिजिया' की संज्ञा दी है।[78] पर गहराई में जाकर सोचें तो दोनों ही खयाल-वक्तव्य-फतवे एकदम निराधार साबित होते हैं। असल में यहाँ अपनी कम-जोरियों को छिपाने और अपने आतंक के वर्चस्व को कायम रखने के लिए दोनों के अंधविश्वासों का फायदा उठाते हुए तथाकथित झूठे समष्टि मंगल की आड़ में निर्दोष व्यक्ति की बलि देने के लिए तत्पर व्यवस्था की उद्धत शक्ति से विद्रोह है। दरअसल समष्टि को ध्यान में रखकर भैरो पाण्डे व्यक्ति की रक्षा के लिए खड़े ही नहीं होते, वे मानवता को अकारण जिबह करने वाली मानसिकता के खिलाफ आवाज उठाते हैं जो अपने समग्र प्रभाव में एक विशिष्ट संवेदना उत्पन्न करती है। इसे रोमैंटिक सम-झना या तो भ्रम है या अनजाने ही 'रोमैंटिसिज्म' का अर्थ-विस्तार। इस विद्रोह में भावुकता अवश्य है पर (भैरो पाण्डे की) स्वानुभूति और चिंतन से उठे होने के कारण टीस और तल्खी बहुत ज्यादा है। वस्तुतः रोमैंटिक कृतियों में हृदय बुद्धि में एक प्रकार का विच्छेद मिलता है।[79] पर इसमें ऐसा बिल्कुल नहीं है। भैरो पाण्डे की अनुभूति विकसित होते-होते धीरे-धीरे विचारों की सघनता तक पहुँचती है। इस प्रकार यह विद्रोह रोमैंटिक नहीं है, संवेदनात्मक ज्ञानजन्य होने के कारण बेहद संतुलित और परिपक्व है। 'कर्मनाशा की हार' कहानी हमारे समाज के वैषम्य का प्रतीक है जिसे पराजित करना नई मानवता का सही संकल्प होना चाहिए।[80] 'इसमें एक नये समाज के अभ्युदय का संकेत निहित है।'[81]

इस मनुष्य-स्वर के अलावा 'नन्हों' और 'अंधकूप' में दो किस्म की परिस्थि-तियों के बीच दहेज प्रथा की समस्या को रखकर उनके परिणामों की वीभत्सता में इस सामाजिक रूढ़ि से विद्रोह के संकेत मिलते हैं। रीति-रिवाजों के तहत समाज में नारी को लेकर बनी रूढ़िग्रस्त धारणा का विरोध निहित है—'रेती' कहानी में। आज के जमाने में जातीय विवाह की रूढ़ियाँ जिस प्रकार टूट रही हैं, 'आदिम हथियार' कहानी उसी की जोरदार अभिव्यक्ति है। गाँव के विरोध की उपेक्षा करके—ठेंगा दिखा करके—डंके की चोट पर आधुनिक विचारों से लैस श्यामलाल अंतरजातीय विवाह में सफल होता है।

धार्मिक रूढ़ि से उत्पन्न मानवीय संबंधों की निर्मम हत्या का उदाहरण है—'किसकी पांखें' कहानी। मुसलमान होने के नाते अशरफ चाचा को गाँव छोड़ना पड़ता है और वह घर उनको भूल जाता है, जिसे अपना समझकर वे शादी-व्याह, मरनी-करनी में जान तक लड़ा देते रहे। 'मालिक-चाचा' के जमाने में जो चाचा घर के

---

78. हिन्दी कहानी : दशा, दिशा और संभावना—सं० सुरेन्द्र, पृष्ठ 197 पर डॉ० मदान का लेख।
79. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ 235.
80. प्रश्नों के घेरे—सं० राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 200.
81. दस्तावेज—अंक-10.

सदस्य जैसे थे, बुड्ढे पंडित जिससे गाँव के हर आदमी की तरह देवी की पूजा में चंदा लेते थे, उसी चाचा को उनका बेटा ज्ञानू पंडित जब म्लेच्छ कहता है तो मालिक चाचा के लड़के, जो पहले अशरफ चाचा के धर्मू भाई थे, सब कुछ सुनकर मौन ही नहीं रह जाते वरन् उनका गाँव छोड़ना भी देखते रह जाते हैं। यहीं लेखक विद्रोह का संकेत करता है कि लोग भूल ही गये हैं कि 'मुकद्दस माँ के दरबार में सभी बच्चे बराबर हैं, वहाँ जाति-कौम का कोई फर्क नहीं होता'।[82] इस प्रकार इस कहानी में मुसलमान पात्रों का सही मानवीय रूप में चित्रण धर्म-विषयक पुरातन मूल्यों का जड़ से उच्छेद करता है, यह मुसलमान पात्रों के प्रति पूर्वग्रस्त हीन मूल्य का निषेध है। उसमें हिन्दूपन के अतिशयवादी आग्रह और मुसलमान पात्रों के अवरकोटिक चयन की पुरानी मूल्यवत्ता का इनकार द्रष्टव्य है।[83]

जैसा कि कहा जा चुका है कि सभी कहानियों का रुख विद्रोही-संकेत लिए है। नारियों की यातना-विषयक कहानियों में भी यह विद्रोह कहीं मुखर, कहीं ओजस्वी, कहीं मूक रूप में देखा जा सकता है। गुलाबो (उपहार) के ओजस्वी रूप का जिक्र पहले हो चुका है। इसके अलावा 'भग्न प्राचीर' की सुशीला पति की मनमानी की ईंट का जवाब पत्थर से देती है। नौकरी करके वह अपना वजूद स्थापित करती है—'कान खोलकर सुन लो, जल्दी अपना रास्ता बदलो वरना मुझे भी सोचना पड़ेगा'। 'पोशाक की आत्मा' की कुसुम अपनी बदनामी सहकर भी पुरुष को नापर्द करने का क्रांतिकारी कदम उठाती है। किन्तु ये दोनों ही चरित्र समाज के पढ़े-लिखे वर्ग के हैं, इनका परिवेश भी शहरी है, जहाँ कोई भी रूढ़ि या अंधविश्वास बीच में बाधक नहीं बनता और बौद्धिकता के कारण भावुकता की चिपचिपाहट से भी ये मुक्त हैं। इसलिए ओजस्वी विद्रोह यहाँ संभव हो सका है, पर गाँवों में न ऐसी स्थिति है और न ही ऐसी मानसिकता। इसी से नन्हों आर्थिक तौर पर स्वतंत्र होने के कारण रूमाल तो लौटा देती है, पर कुसुम या सुशीला की तरह कोई फैंटस्टिक कदम नहीं उठा पाती। आर्थिक मजबूरी के कारण धोखेबाजी के तहत हुई अपनी भाग्य की हार के प्रतिशोध व हृदय में उगे मुलायम आँसुओं के द्वन्द्व में विरोध मुखर भी नहीं हो पाता। सामाजिक रूढ़ियों से उत्पन्न खीझ व वैयक्तिक भावनाओं के ऊहापोहों के बीच नन्हों दरवाजा तो बन्द कर लेती है, पर सांकल नहीं लगा पाती—विरोध अपनी नयी जमीन नहीं तलाश पाता, मूक होकर रह गया है।

इसका मुखर रूप 'धरातल' की मुसम्मात मैंना में देखा जा सकता है। वह परिवार के अत्याचार से विद्रोह करती कोर्ट तक जाती है और अपना हक लेकर अलग रह सकती है। यह सब करने में अपने मददगार को उसे बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। 'वह मेरे बदन से चिपक गया। गर्म साँसों का समुद्र हमें अपनी लहरों में लपेटने लगा।

82. मुरदासराय—पृष्ठ 63.
83. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डा० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 72.

टकराती धारा में हम नंगे बहते रहे।' यह उसने न ही खुशी-खुशी किया और न ही वह हरिमंगल से प्रेम करती थी, वरन् इसलिए कि इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता उसके लिए। 'इस पूरे लेन-देन-खोने-पाने के बाद यदि वह खुश है तो हम समझ सकते हैं कि वह जीवन के बारे में क्या सोचती है'। यह बहुत बड़ी बगावत है—जीवन की कश्मकश-पूर्ण अनिश्चित स्थितियों के सामने नारी की यौन-पवित्रता वाली संस्कारांधता की दीवार भहराकर गिर गयी है। और ऐसा कराया है जीवन की प्रवृत्तियों ने—'मेरा हक मुझे मिल गया। रहने के लिए घर। गुजर करने भर खेत और जमीन। अब वह दम-तोड़ स्थितियाँ नहीं रहीं। वह शंका, वह भय-सभी कुछ खत्म हो गया।'[84] मैंना ने इन सबके चलते संस्कारों को तोड़ फेंका, पर इसकी ग्लानि उसको है। इसलिए इस विद्रोह को ओजस्वी न कहकर मात्र मुखर कहा जा सकता है। इस नाजुक मामले के सम्बन्ध में ग्लानि होना स्वाभाविक भी है क्योंकि किसी भी परिवर्तन का धीरे-धीरे (मात्रात्मक) होना ही स्वस्थ विकास का लक्षण है।

यह विद्रोह लेखक की मुख्य 'थीम' शोषण के खिलाफ भी अधिकाधिक स्थलों पर दिखायी पड़ता है। शोषितों में अपने प्रति होते अत्याचार अन्याय के बोध से कसमसाहट होती है, पर जैसा कि कहा जा चुका है, गाँवों की स्थितियाँ बदली नहीं हैं। शोषकवर्ग इतना साधन-सम्पन्न और मजबूत है कि उनके सामने शोषितों का विद्रोह भींगी बिल्ली बनकर रह गया है। इसे मूक विद्रोह ही कहा जा सकता है। शोषितों के पास कोई रास्ता ही नहीं। टीमल कुम्हार (माटी की औलाद) अपने बेटे की बात की असलियत समझता है, पर रात को उसकी खाट के पास आँसू गिराने के सिवा कोई चारा नहीं। मंगरा (इन्हें भी इन्तजार है) और हरू (खैरा पीपल कभी न डोले) में भी अपने पक्ष की समझदारी और कुछ कर गुजरने की चाह है, पर मार खाने और कफन-खसोटी करके मर जाने से ऊपर उठ पाने की स्थिति ही नहीं बन पाती। तिउरा (धारा) का भाई गोदुवा तो इतनी गहराई से उस वर्ग की मंशा को जानता है कि उनकी छाया से भी दूर रहकर अपना 'टोटल' मूक विद्रोह प्रदर्शित करता है। मुखर हो पाने का माहौल ही नहीं है। कसमसाहट सुगबुगाती है पर विवशता बनकर रह जाती है। आजादी के 30 वर्ष बाद भी रोपनबारी को अपनी बुद्धिहीन संस्कारांधता के वशीभूत होकर फिर से ठाकुर भेदूसिंह के घर जाना होता है और तब अपने सारे विरोध के बावजूद जबान नहीं खुल पाती। हाँ, अब पूरे बारी-वर्ग ने बाजार में जाकर अपने काम का नया जुगाड़ कर लिया है। मंगरा की तरह काम न पाने की मजबूरी नहीं रही। इतने के बावजूद 'भेड़िए' के अनमोला-देवल का विरोध-प्रतिशोध, जो शंख-नाद करके प्रधान के ऊपर लाठी लेकर पिल पड़ा है, अपवादस्वरूप ही लगने लगता है क्योंकि ग्राम-प्रधान जैसे लोग इतने कमजोर नहीं होते। हाँ, आजादी के बाद इतने दिनों में नियम-कानून जिस प्रकार टूटे हैं, मनुष्य की स्वच्छंदता बढ़ी है, इसमें 'माइट

---

84. भेड़िए—(धरातल), पृष्ठ 102.

इज़ राइट' वालों का एक जमाना भी आया है जिसके तहत इसे एक स्वातंत्र्योत्तर प्रवृत्तिगत सचाई के रूप में लिया जा सकता है।

इस प्रकार डॉ॰ सिंह की कहानी-चेतना में विद्रोह निहित है, यह बात दीगर है कि वह कला के स्तर पर सामाजिक स्थितियों का अतिरेक न करने से हर जगह बुलंद रूप में नहीं उभरता, पर संभव संकेतों से बाज भी नहीं आता।

(8) व्यंग्यात्मक कहानियाँ

यूँ तो जाहिर है कि शिवप्रसाद सिंह की मुख्य जमीन व्यंग्य की नहीं है। लेकिन जहाँ विरोध और विद्रोह का खेमा गड़ता है, वहाँ व्यंग्य के लिए 'सीटें रिजर्व' होती हैं। असल में जब क्रोधरहित होकर थोड़ी अनट भरी निरपेक्षता के साथ विद्रोह किया जाता है तो वह सामने वाले को सालने लगता है, यही व्यंग्य की स्थिति है। इसीलिए व्यंग्य की मूल चेतना न होने के बावजूद डॉ॰ सिंह की कहानियों में बाज-बाज जगहों पर यह चुपके-चुपके मौका निकाल कर (पाकर नहीं) घुसता रहा है—अक्सर छिटफुट रूप में, पर कभी-कभी पूरी कहानी में भी छा जाता है।

छिटफुट रूप में सबसे पहले यह दिखायी पड़ता है—'हीरों की खोज' को लेकर परम्परागत साहित्यिक मान्यताओं के संबंध में, जहाँ आँखों में पीड़ा के बदले, बालों में मरोड़ और चेहरे पर जवानी की चिकनाहट आदि कौशल को ध्यान में रखकर नायक का चुनाव किया जाता था। बनारसी साहित्यकारों पर 'चेन' के रिक्शावान के माध्यम से व्यंग्य किया गया है 'पर इन जनाब को कोई खबर नहीं, बिल्कुल बनारसी साहित्यकारों की तरह अलमस्त पड़े हैं, गोया सारी दुनिया से जब नयी कविता उठ जायेगी तब ये आधुनिक सेंसिबिलिटी की बात करेंगे।'[85] और यहीं तुरत विश्वविद्यालय के लड़कों के अन्दाज पर भी एक हल्की सी चोट कर दी गयी है। आजादी के बाद समाजसेवी बाना धारण करने वाले देश के गद्दार लोगों की स्वार्थी-चमचागिरी प्रवृत्ति पर व्यंग्य हुआ है—'शहीद-दिवस' कहानी में। 'बेजुबान लोग' कहानी में स्वराज्य मिलने के बाद उभरी आत्मकेन्द्रित व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य मिलता है—'अब क्या जमींदारी है, स्वराज है स्वराज। किसी से किसी का मतलब नहीं, कोई किसी की ओर से नहीं आता।'[86] आजादी के बाद की असफल शासनपद्धति में विदेशों से कर्ज लेती सरकार पर 'भेड़िए' और 'तकाबी' कहानियों में बिल्कुल खुला व्यंग्य किया गया है—'या तो भारत सरकार है प्रधान जी, देश-विदेश से कर्जा लेती या तो हमारे सुहेल सिंह हैं....।'[87] 'अपनी सरकार भी तो खुद तकावी पर चलती है। करज लेकर ही तो उन्नति के सब काम किये जा रहे हैं।'[88]

---

85. मुरदासराय (चेन), पृष्ठ 79.
86. भेड़िए (बेजुबान लोग), पृष्ठ 40.
87. भेड़िए, पृष्ठ 31.
88. मुरदासराय (तकाबी), पृष्ठ 157.

'किसकी पांखें' कहानी में अशरफ चाचा के व्यवहारों का बयान करने के बाद जब लेखक सोचता है, 'अशरफ चाचा से मेरा क्या वास्ता ? न तो वे मेरी जाति के थे न धर्म के,'[89] तो इंसानियत का नकार करती हुई रूढ़ धार्मिक मान्यताओं पर व्यंग्यात्मक चोट पड़ती है। इसी तरह 'कलंकी अवतार' कहानी में कठोर यथार्थ के सामने शुतुर्मुर्गी आड़ देने वाली पौराणिक कथाओं और धार्मिक अंधविश्वासों पर व्यंग्य है। 'खैरा पीपल कभी न डोले' में एक तरफ पत्नी के लिए दुःखी होते पति की भर्त्सना करने वाली सामाजिक मनोवृत्ति पर व्यंग्य हुआ है—'भीतर औरत चिल्ला रही है, बाहर दालान में बैठा यह मउगा टुस्कें बहा रहा है—अरे साले एक मरेगी, दूसरी आयेगी, इस तरह रांड़ औरत की तरह फेंकर-फेंकर दिल काहे दुखा रहा है'[90] तो दूसरी तरफ झूठी कुल मर्यादा पर—'छिः छिः दक्खिन पट्टी के ठकुराने की बहू बच्चा जनने अस्पताल जाये, इससे तो यही अच्छा है कि वह चिल्ला-चिल्ला कर जान दे दे ?'[91] दोनों में ही नारी के प्रति दृष्टिकोण पर भी भरपूर वार किया गया है। 'अरुन्धती' कहानी में गर्भ गिराने वाला पूरा प्रसंग इसी खोखली शान पर ही व्यंग्य है। स्त्री-पुरुष संबंधों को हमेशा गलत नजरों से देखने वाले जमाने पर सीधा प्रहार 'हत्या और आत्महत्या के बीच' कहानी में हुआ है—'जहाँ मर्द और औरत के मिलते रहने का सिर्फ एक ही मतलब होता है—यानी दोनों में नाजायज संबंध।'[92]

इसी तरह की छोटी-छोटी स्थितियों पर व्यंग्य करने में लेखक का सर्वाधिक झुकाव नगरों में व्याप्त, तथाकथित आधुनिक विचारों को फैशन के रूप में अपनाने वाली प्रवृत्तियों की तरफ है। यह अक्सर शहरों के संदर्भ में उभरी है जहाँ आदमी के 50/- के लिए सास-बहू झगड़ती हैं और 30/-20/-पर समझौता होता है (उसकी भी चिट्ठी आयी थी), जहाँ अकर्मण्य पति, पत्नी को कामधेनु की तरह दुहता है (हाथ का दाग), जहाँ होटल 'बिना दीवारों का घर' है,[93] जिसमें सारे रिश्ते-नाते गड्‌म-गड्‌ड हो गये हैं और जहाँ जीवन में प्रवेश करते तिलक को दीक्षा दी जाती है—'धन से बड़ी कोई चीज नहीं, वह है तो आप शरीफ हैं, बुद्धिमान हैं, इज्जतदार हैं, धरम-करम सब उसी पर है...अफसर आप से आस लगाये बैठे हैं। कभी-कभी मिलते-जुलते रहने से बड़ा काम हो जाता है। शरीफ लोगों पर कोई शक भी नहीं करता।'[94] ये सब उस नैतिकता पर व्यंग्य है जो बिना किसी रोक-टोक के सभी दर-ओ-दीवारों को तोड़ती हुई समाज को पशु-स्तर की तरफ ले जा रही है।

---

89. वही (किसकी पाँखें), पृष्ठ 64.
90. इन्हें भी इंतजार है—(खैरा पीपल कभी न डोले), पृष्ठ 215.
91. वही
92. भेड़िये (हत्या और आत्महत्या के बीच), पृष्ठ 49.
93. हिन्दी कहानी में प्रगति-चेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृष्ठ 408.
94. मुरदासराय—(ताड़ी घाट का पुल), पृष्ठ 8-9.

जिन कहानियों में पूरी कहानी में व्यंग्य फैला हुआ है उनमें 'कहानियों की कहानी' और 'भेड़िए' प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कहानियों की कहानी' में सबसे पहले तो जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय की कहानी के पात्रों के माध्यम से प्रेम, विवाह आदि के संबंध में इनके विभिन्न दृष्टिकोणों का व्यंग्यात्मक विश्लेषण हुआ है। इसमें आये पात्रों में 'बूढ़ी काकी' स्वस्थ परंपरा की प्रतीक है जो निरीह, शोषित, सताये हुओं के प्रतीक 'मधुआ' को अपना सकती है, पर ये लड़कियाँ 'जाह्नवी', 'माया', 'रोज' उसे अपनाना तो दूर, उसकी निरीहता को समझ तक नहीं सकतीं। उपयोगितावाद व नग्नवाद की प्रतीक 'माया' (यशपाल की पात्र) उसे (यशपालीय मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर) कायर कहकर रूमाल से मुँह ढक लेती है। उसकी तरफ सीधे मुखातिफ भी नहीं होती। यह उन छद्म मार्क्सवादियों पर भी व्यंग्य है, जो किसी-न-किसी व्यक्तिगत असफलता-अभाव आदि की प्रतिक्रिया में कुछ रटे-रटाये जुमले याद करके बड़बोलेपन द्वारा सामाजिक क्रांति लाना चाहते हैं। 'जाह्नवी' जैनेन्द्रीय कल्पना की दुनिया में स्वच्छंद रोमांस के कनकौए उड़ाती है तो 'रोज' अपनी मानसिक कुण्ठा और दुःखवाद के कूप में अज्ञेयवत् पड़ी रहती है। इस प्रकार डॉ० सिंह यह संकेत करते हैं कि उत्तर प्रेमचंद (यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय) काल की कहानी का दृष्टिकोण समाज के प्रति अतिशय एकांगी, वायवी या अतियथार्थवादी होने के कारण पूरे दौर का लेखन वास्तविक समाज से कतई संबद्ध नहीं रह गया था। पूरी कहानी इस समूची कालावधि में लिखे कहानी-साहित्य पर व्यंग्य करती है। लेखक का अपना मत है कि तत्कालीन युवक (लेखक) को प्रेरणा-प्रोत्साहन प्रेमचंद के जमाने से ही मिलेगा। कहानी की सभी युवतियों के मन में अपने-अपने विचारों के प्रति एक अतिरिक्त आग्रह और जड़ता है। वे एक दूसरे से किसी भी बात पर सहमत न होती हुई बहस करती रहती हैं। ये प्रगतिशील चेतना-संपन्न तो हैं नहीं बिल्कुल, पर इनमें वह स्त्रीत्व भी नहीं रहा—वे एक रोते बच्चे को चुप नहीं करा सकतीं, निरीह मानवता के आगे भी अद्रवित रह सकती हैं। प्रेमचंद की बूढ़ी काकी ही उसे चुप कराने के लिए लड्डू निकालने की उदारता दिखाती है याने प्रेमचंद के जीवनमूल्य ही इस मानवता को अपना सकते हैं। प्रसाद जी का चिंतन तो 'मधुआ' के रूप में आज के लिए अनाथ-निरीह हो ही गया है जिसे किसी के संरक्षण की आवश्यकता है। यहीं अपने विचारों की जड़ता लिए नयी पीढ़ी की उच्छृंखलता की भी पहचान हो जाती है।

जाहिर है कि यह लेखन-कर्म बड़ी बारीक सूझ-बूझ के साथ अध्ययन और अनुभव की दरकार रखता है। ऐसा व्यंग्यलेखन इतनी साहित्यिक संसक्ति के साथ अन्यत्र दुर्लभ है। एक कहानी में पूरे युग की समीक्षा और नया सृजन शिवप्रसाद सिंह जैसा जागरूक द्रष्टा ही कर सकता है।

'भेड़िए' तक आते-आते लेखक में व्यंग्यात्मक प्रयोग की मात्रा बहुत बढ़ गयी है। इसमें निखार भी आया है। कुछ कहानियों की प्रसंगानुसार चर्चा हुई है जिनमें छिटपुट व्यंग्य हुआ है, पर 'भेड़िए' की पूरी अन्विति ही व्यंग्यात्मक है। स्वार्थ-सिद्धि

के लिए जब चाहो बच्चे को मार दिया और सह लेने पर पिता को गीदड़ कहते रहे। पर जब खुद पर पड़ने लगी तो उसी गीदड़ के भाइयों को भेड़िए कहने वाले लोगों के काइंयापन की प्रवृत्ति ही व्यंग्य है। यह कहानी जनतंत्रीय शासन की छोटी-छोटी इकाइयों का खुलासा करके पूरी प्रणाली पर व्यंग्य करती है।

आजादी के बाद उभरी प्रवृत्तियों से पूरा जीवन ही विसंगतिपूर्ण हो गया है। इतनी अँतड़ियाँ बन गयी हैं समाज में कि कोई पढ़ा-लिखा युवक भी क्या समझ पायेगा ? इसी में फँसकर मिली-जुली साजिशों का शिकार हो जाता है पढ़ा-लिखा युवक 'मैं' (बड़ी लकीरें)। उसका समाज-सुधार का सपना तो टूटता ही है, वह अपनी जिन्दगी का आधार भी नहीं खोज पाता है। उसकी स्थिति अपने आप में ही व्यंग्यात्मक हो उठी है। मोतीलाल, मेवालाल, झब्बूला, रामखेलावन और श्रीकांत सब एक लाइन में हैं और इनसे बड़ी लाइन (बड़ी लकीर) वह नहीं खींच पाता—वह मुरदा बरम बनकर रह गया है। इस प्रकार आजादी के बाद अब एक व्यक्ति (जमींदार जैसा) बेदखली-नीलामी नहीं कराता। उस मानसिकता वाले लोग आपसी गोटी बैठा-कर सीधे-सादे मजबूर गाँव वालों को ठगते हैं। 'आदिम हथियार' कहानी में इन्हें 'होशियार' कहा गया है—'वहाँ करीब बीस जन थे। सभी नामी-गरामी, सभी हेकड़-बाज....यदा-कदा कचहरी जाते, अपने मामले-मुकदमे के चक्कर में नहीं, दूसरों के पैरवीकार बनकर। खूब नाश्ता-पानी करते, पूड़ियाँ तोड़ते, कचहरी के गलियारों में घूमते और हवा में तैरते शब्दों को पकड़कर पेट में रख लेते। इनकी शब्दावली गाँव-वालों को हैरत में डाल देती।' यही काम 'तो' कहानी का उदयी अकेले करता है, पर वह बेकार-आवारा है अतः अपने पिता के सामने उसकी एक नहीं चलती, लेकिन 'आदिम हथियार' के बीसों होशियारों के लिए तो श्यामलाल के खानदान वाले उसे मोहरे के रूप में इस्तेमाल करते हैं। श्यामलाल के एकदम सही काम को भी समर्थन देने के लिए उसे होशियारों के उस्ताद हुकुमसिंह से भरी पंचायत में लड़ाना चाहते हैं। इस प्रकार झांसा देने वालों की धोखेबाजी और पार्टीबंदी के तहत प्रतिक्रियात्मक व्यवहारों के कारण ढहती नैतिकता, बिखरते जीवन-मूल्यों और बढ़ती अराजक प्रवृत्तियों पर ये कहानियाँ व्यंग्य करती हैं। 'भेड़िए' संग्रह में उभरे इस तेवर से लगता है कि लेखक की आगामी कहानियाँ और तीखे-तल्ख व्यंग्यों की बौछारों से भर जायेंगी।

(9) जिजीविषापरक कहानियाँ

जिजीविषा—जीने की इच्छा—मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी और अंतिम सचाई (अल्टीमेट रीयलिटी) है। इसके लिए व्यक्ति अपनी आखिरी सांस तक जिन्दगी से लड़ता-जूझता रहता है। 'जिन्दगी में ऐसे क्षण आते हैं, जब मनुष्य की आस्था डिग जाती है, विश्वास भहरा कर ढह जाते हैं, पर मनुष्य की अदम्य जिजीविषा उसे

निरंतर ढाढस बँधाती रहती है।'[95] सब कुछ खो देने पर भी वह मात्र अपने को जिन्दा रखने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति को भीतर से उत्प्रेरित करता है—'मानवी संपूर्ण साहस वक्ष बीच संजो रहा है'। हीन से हीन स्थिति में भी वह इसी शक्ति के कारण समर्थ बना रहता है। जिजीविषा का यह समझौता किसी दूसरे व्यक्ति से न होकर अपने आप से होता है क्योंकि यह लौकिक या पारलौकिक शक्ति से उपलब्ध न होकर व्यक्ति में ही विहित-निहित रहता है।'[96] मानवमन में दुर्बलताएँ भी हैं, इसके बावजूद मनुष्य अपनी गरिमा के लिए संघर्ष करता है, यही उसकी महानता है।[97] शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ इसी की लड़ाई लड़ती हैं। इन्हें शुरू से मनुष्य और जिन्दगी के प्रति मोह रहा है जो अपने अस्तित्व को उबारने के लिए विविध क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है।[98] इस जीवन के चित्रण में अपने प्रयत्न के प्रति उन्हें आस्था भी है। और यह आस्था लेखक की अधिकांश कहानियों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। 'उस दिन तारीख थी' के देवीसिंह, 'मुर्गे ने बाँग दी' का मंगरू और जीवन की जिल्लतों को सहती कबरी, तिउरा, गुलाबो, श्यामा, तारा, बिहरिया आदि इसी आस्था के पहरुवे हैं। ये सभी मौत को ठेलते हुए जीते हैं। लेकिन यहाँ कुछ उन कहानियों के माध्यम से हम जिजीविषा को स्पष्ट करेंगे जिनमें यह भाव सचेतन रूप से मुखर होकर रचनात्मक स्तर पर सक्रिय है, न कि मजबूरन पड़ जाने के कारण रक्षात्मक ढंग से सहा जा रहा है।

यह भाव 'मंजिल और मौत' कहानी में एकदम स्पष्ट है। पहले से ही दीन-हीन असहाय बौड़म का भग्न हृदय एकमात्र सहारे मिट्ठू कुत्ते की हत्या के बाद विदीर्ण हो जाता है। मिट्ठू की मौत ने उसे झकझोर दिया, उसका संसार सुनसान हो गया। रिक्तता मुँह बाये खड़ी हो गयी। देखने वालों में किसी को भी आशा नहीं रह गयी कि बौड़म एक दिन भी इस जर्जर काया को सँभाल सकेगा। उसकी आँखें पथरा गयीं, चमक आँखों के कोटर को छोड़कर उड़ गयी थी।[99] कृश, दीन, भूख से संतप्त इस आदमी के मरने का निश्चय सबने मन में कर लिया, इस आतंक से गाँव का बच्चा-बच्चा काँप उठा।[100] पर यह क्या? सहसा एक दिन बौड़म अपनी गुफा से बाहर निकला, वृद्ध सिंह की तरह फुफकारता हुआ वह नदी की ओर चला गया। नहा-धोकर देवी के मंदिर में गया। प्रार्थना करते-करते 'सहसा उसकी उँगलियाँ भिचीं,

---

95. शिखरों का सेतु, पृष्ठ 170.
96. नई कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 64.
97. हिन्दी कहानी में प्रगति-चेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृष्ठ 399.
98. कर्मनाशा की हार—विकल्प, पृष्ठ 6.
99. आर-पार की माला (मंजिल और मौत), पृष्ठ 61.
100. वही, पृष्ठ 63.

वह उठा, अच्छा, मैं भी देखूँगा तू कैसे मेरे घर में खुशी नहीं आने देती।'[101] यही है वह रचनात्मक और दृढ़क्रियाशीलता का भाव, जो परिस्थितियों को सिर्फ झेलता नहीं, विश्वास के लिए मनुष्य को उत्तेजित-प्रेरित भी करता है। यही भाव विपत्तियों का पहाड़ टूटने, सब कुछ लुट जाने पर एकाधिक बार बौड़म में आता है तो हम समझ नहीं पाते कि वह कौन सी इच्छा है जो उसके निश्चेष्ट शरीर में चेतना का संचार करती रहती है।[102] इस अद्भुत गति का रहस्य अंत में जाकर खुलता है—जब अपनी इच्छा पूर्ण हो जाने—घर में पाले हुए बच्चे के लिए बहू लाने—के बाद वह एक दिन भी टिक न सका—'मरा-सा तो वह था ही, पर इच्छा का जोर उसे खींचता गया।'[103] यह जीने की इच्छा, जिजीविषा ही वह संजीवनी है जो व्यक्ति को हर जटिल से जटिल स्थिति में अपने अस्तित्व को कायम रखने के प्रति अनजाने ठेलती रहती है। बौड़म की यह जिजीविषा न अमरकांत की 'जिन्दगी और जोंक' के रजुआ के स्तर को छू पाती और न ही 'अपने-अपने अजनबी' की तरह निज के अस्तित्व के प्रति जुड़ पाती क्योंकि यह प्रति-क्रियात्मक रूप से एक खास मंजिल की ओर केन्द्रित है जबकि वहाँ मात्र जिजीविषा ही गतिशील है। लेकिन साथ ही बौड़म के प्रयत्न, एक निश्चित मंजिल होने के कारण ही, रजुआ की अपेक्षा ज्यादा सहज, विश्वसनीय और संयत लगते हैं।

'मुरदासराय' में यह भाव जीवन के सीमांत पर मौत के रू-ब-रू उपजता हुआ दिखाया गया है। पत्नी और बच्चे की मौत से हरिचरन का जीवन उजड़ जाता है और वह जाकर मुरदासराय में रहने लगता है जिससे मालूम होता है कि उसके अंदर जिजीविषा रही ही नहीं, यह भाव ही जैसे मर गया हो। लेकिन वह खुद मरने की कोई कोशिश नहीं करता। यह ठीक है कि वह औरों की तरह भीख नहीं माँगता, उदासीन भाव से सिर्फ दुकानों पर खड़ा हो जाता है और जो कुछ ही सही, मिलने पर खाता तो है। जीवन की कोई चाह न बचने पर भी वह मर क्यों नहीं पाता ? जाहिर है कि पत्नी-बच्चे (हरिचरन के सब कुछ) से बड़ा, सबसे ऊपर भी कुछ जरूर है जो उसे जिलाए जा रहा है—यही है जिजीविषा जो खुलकर जीवन की तरफ उन्मुख, गतिशील तब होती है जब मुरदासराय में सूरदास और कोढ़िन सुलक्खी के संयोग से उत्पन्न होने वाली संतान के प्रति भावी पिता के मन में उपजे विचारों को सुनता है—'इ तो अउर फँदा क बात है। लरिका होई। ओहकर दुखड़ा रोय-रोय के अउरो भीख मिलिहै।'[104] सूरदास की इस बहुत-बहुत प्रबल जिजीविषा-संपन्न जीवन की दुर्दमनीय विभीषिका देखकर हरिचरन की नैराश्य-भावना काफूर हो जाती है, आत्मा पर छाया मौत का भय भाग खड़ा होता है—

101. आर-पार की माला (मंजिल और मौत), पृष्ठ 62.
102. वही, पृष्ठ 63.
103. वही, पृष्ठ 66.
104. मुरदासराय, पृष्ठ 141.

पहुँच तेरे अधरों के पास हलाहल कांप रही देख,
मौत के मुख के ऊपर फैल गयी है सहसा भय की रेख।

इस प्रकार सूरदास और हरिचरन वाले दोनों ही प्रसंग जिजीविषा को पुर-जोर रूप में उभारते हैं, दोनों ही एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं जो कहानी में बड़ी बारीक बुनावट के साथ समाविष्ट किये गये हैं। फिर भी डॉ० मदान को लगता है कि 'सोना और सुलक्खी की कथाएँ दो भिन्न स्तरों पर चलकर कहानी की अन्विति को भंग करती हैं। अंत में मुरदासराय से जोड़ने की कोशिश नाकाम सिद्ध होती है'[105] पर वस्तुतः दोनों कथाओं की अन्विति बेहद सोद्देश्य और संश्लिष्ट है। स्तर-वैभिन्य से न जाने डॉक्टर साहब का क्या तात्पर्य है किन्तु इस कहानी को सूरदास और हरि-चरन की गतिविधियों के संदर्भ में देखना-परखना होगा, सुलक्खी और सोना के संदर्भ में नहीं। कहानी का केन्द्र हरिचरन है जिससे लेखक अपनी बात कहना चाहता है। सूरदास का प्रसंग उसकी जीवन-विषयक आस्था का प्रेरक बनकर आया है, दोनों में कार्य-कारण का अविच्छेद्य संबंध है। और यह सूरदास प्रसंग मुरदासराय से नहीं जोड़ा गया है, वह तो मुरदासराय में ही जन्मता है जो अपने आप उससे जुड़ा हुआ है। यह पूरा घटना-संयोजन न ही कहीं से कहानी की अन्विति भंग करता और न ही सोद्देश्यता में बाधा पहुँचाता है। यह सब सोना-सुलक्खी संदर्भ को प्रमुख मानकर देखने का नतीजा है जो उनके कथन को ही नाकाम सिद्ध करता है।

दूसरी बात, सूरदास-सुलक्खी का भिखारी—अंधे और कोढ़िन—होने के कारण कहा गया कि मुरदासराय कहानी पर शैलेश मटियानी की कहानी 'दो दुखों का एक सुख' का प्रभाव है क्योंकि यह जमीन शिवप्रसाद सिंह की नहीं मटियानी की है और अज्ञेय भी इसे कला के रूप में साध सकते हैं, गो कि यह जमीन उनकी भी नहीं है।[106] इसी को दूसरे के अनुभव क्षेत्र में घुसपैठ भी कहा गया।[107] अब साहित्य में यह बँटवारा (बंदर बाँट ?) कैसे होता है—जमीन और अनुभव क्षेत्र का ? किसी एक 'थीम' को लेकर लिख देने मात्र से यह प्रभावित या अनुभव क्षेत्र में घुसपैठ कैसे हो गयी ? अब यदि प्रेम की 'थीम' पर किसी ने कुछ लिखा तो दूसरे का लिखना घुसपैठ या उसी के प्रभाव में कैसे हो जाता है ! 'ताजमहल' को लेकर कविता पंत ने लिखी, अज्ञेय ने लिखी, साहिर लुधियानवी और 'टेनीसन' ने भी लिखी, और भी जाने कितनों ने लिखी। क्या ये सब एक दूसरे से प्रभावित हैं या घुसपैठ करते रहे ? अनुभव क्षेत्र का कोई आरक्षण 'सिस्टम' साहित्य में है क्या ? इसी तरह 'तीसरे के प्रवेश' की थीम पर कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, महेन्द्र भल्ला आदि कइयों ने अच्छा और

105. हिन्दी कहानी (अपनी जबानी)—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 142.
106. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय—सं० उपेन्द्रनाथ अश्क, पृष्ठ 178.
107. नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना—सं० सुरेन्द्र में संकलित रामदरश मिश्र का लेख, पृष्ठ 346.

खूब लिखा तो क्या इसे नकल या प्रभाव कहेंगे। कोई जमीन की रजिस्ट्री-बैनामा अमुक लेखक के नाम हो जाता है क्या ? पेशे के तौर पर चुनी हुई स्थितियों और पात्रों में ऐसा साम्य तो अनगिनत जगहों पर (सर्वत्र) मिल सकता है। 'मुरदासराय' और 'दो दुखों का एक सुख' में सिवाय इसके कि दोनों के पात्र अंधे-कोढ़ी हैं, और क्या साम्य है ? रहन-सहन, व्यवहार-वातावरण, बातचीत में कहीं कोई साम्य खोजे से भी नहीं मिलेगा। उद्देश्य तो दोनों के इतने भिन्न हैं कि जमीन-आसमान का अंतर है। 'दो दुखों का एक सुख' में मटियानी मोटे रूप में भिखारियों की कुण्ठा, ईर्ष्या-जलन, प्रतिद्वन्द्विता और सेक्स की भूख के चित्रण से आगे नहीं बढ़ पाये हैं। यही इस कहानी का मूल स्वर है। पर शिवप्रसाद सिंह के यहाँ यह भिखारी प्रसंग मूल घटना—हरिचरन में परिवर्तन—के लिए मात्र माध्यम के रूप में आयत्त किया गया है। यह पात्र को उसकी मनोवैज्ञानिक अंतर्मुखता—निस्संगता से उबारता है और कहानी को वैचारिक पीठिका तक ले जाता है। इसके बीच उनके रहन-सहन, मानसिकता का जो विवेचन है, वह उनके जीवन स्तर के मुताबिक पनपी प्रवृत्तियों को दर्शाता है जो स्वार्थपूर्ण जिजीविषा को अत्यंत मुखर करती है। डॉ० मदान को लगता है कि कहानी पाठक को जरूर तकलीफ पहुँचाती है, पर खोज कर मोल लेने वाले के लिए तकलीफ कहाँ नहीं है ?

जीवन के प्रति आस्था—जिजीविषा—के एक सशक्त उन्नायक हैं—'अंधेरा हँसता है' के अर्जुन पाण्डे। सच्चे, ईमानदार, बेलौस आदमी को जमाने का अंधेरा अपने अट्टहास से विदीर्ण कर देता है और अपनी हार, अपमान के किस्से भी मजे से सुना लेने वाले मस्त तबियत-आदमी की काकुलें गायब हो जाती हैं, आँखें धँस जाती हैं, चेहरे पर मकड़ी के जाले उभर आते हैं। वह झूठ-फरेब का सहारा लेता है, कुली का काम करने लगता है पर जीवन के प्रति आस्था नहीं डिगती। और यह सब कुछ सिर्फ उनकी जिजीविषा ही कराती रहती है। सब कुछ खत्म हो जाने पर भी व्यक्ति किस तरह जीवन से जुड़े रहने की हरचंद कोशिश करता है, पाण्डे की कारगुजारियाँ इसकी सबूत हैं। इसी से संचालित लक्खीलाल (शाख-मृग) की कारगुजारियाँ भी हैं। वह अनेक पेशे करता है, पर इस जिजीविषा को झुठला नहीं पाता। 'बिन्दा महाराज' भी इसी शक्ति से जीता जा रहा है। पूरे समाज से काट कर फेंक दिये जाने पर भी जीने की इच्छा नहीं छूटती। शिवप्रसाद सिंह का कहानीकार दुखितों-दलितों, हारे हुओं के प्रति प्रतिबद्ध है और ये सब लोग जिन हालात में जीने की कोशिश करते हैं, उनसे इनकी जिजीविषा-शक्ति का भरपूर परिचय मिलता है।

इस प्रकार विभिन्न घात-प्रतिघातों से निर्मित विविध स्थितियों में रखकर लेखक ने मनुष्य की उस जीवन शक्ति का अहसास कराया है, जो मृत्यु तक को धता बता देती है और कहानियों की यह शक्ति जीवन के लिए संजीवनी बन जाती है।

अध्याय—चार

चरित्र-विधान

कथा की कल्पना में ही चरित्रों की विद्यमानता निहित है। अर्नाल्ड बेनेट के शब्दों में कथा-साहित्य का मूल आधार चरित्र ही है, अन्य कुछ नहीं।[1] ऐसा इसलिए कि कथा मूलतः मनुष्य होती है। गोर्की जैसे लेखक भी मानते हैं कि संसार का हर सत्य मनुष्य के लिए है, वही हर सत्य का लक्ष्य और उद्देश्य है, मनुष्य के बाहर कोई सत्य नहीं।...'द मैन इज आवर गॉड'—मेरा पवित्रतम आराध्य है मानव, उसका शरीर, मेधा, बुद्धि, प्रेरणा और प्यार....।'[2] अतः अपनी रचना में पात्रों के माध्यम से ही कहानीकार मानवता का बहुपक्षीय रूप प्रस्तुत करता है....मनुष्य के चरित्र-विकास की प्रक्रिया का परिचय देता है।[3] हिन्दी में यह शुरुआत प्रेमचंद और जयशंकरप्रसाद जी ने की जब इन लोगों ने कहानी को चमत्कारपूर्ण तिलस्मी घटनाओं की भूलभुलैया से बाहर लाकर जीवन के रू-ब-रू खड़ा करने के लिए उसे मनुष्य के साथ जोड़ दिया। और तब से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक के दौर तक अनगिनत नाम रूपी मनुष्य अपने अंतर्बाह्य रूपों में कहानी का मेरुदण्ड बना रहा। इसकी उपस्थिति और महत्ता कथा-साहित्य में असंदिग्ध रही।

चरित्र पर आघात

स्वतंत्रता-प्राप्ति तक आते-आते स्थितियों में काफी बदलाव आया, जिसके परिणामस्वरूप चरित्र-चित्रण पर गहरा आघात लगा।[4] यही वह समय है जब कविता से भी अचानक श्रद्धा-मनु, सरोज गायब हो गये। चरित्र पर इस आघात के लिए सबसे जिम्मेदार साबित हुई मार्क्सवादी विचारधारा, जिसमें व्यक्ति की जगह समाज ने ले ली। द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण विभीषिका ने भी व्यक्ति (इण्डिविजुअल) का प्रभाव खत्म करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास ने व्यक्ति की जगह मशीनों को स्थानापन्न कर दिया तो औद्योगिक विकास ने व्यक्ति को भीड़ में बदल दिया। इन सबकी प्रगति चूँकि शहरों में हुई जिसकी सुविधा और चकाचौंध से नगरोन्मुखता बढ़ी जहाँ आकर व्यक्ति सचमुच खो गया—'शहर में खोया हुआ आदमी' की तरह। हिन्दी में यही समय 'लॉस ऑफ आइडेण्टिटी' कहा जा सकता है। कुल मिलाकर बढ़ती हुई जटिलताओं ने जिन्दगी को इस कदर 'टाइण्ड'

---

1. साहित्य कोश—प्र० सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—पृष्ठ 447-48.
2. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव—पृष्ठ 105-6 से उद्धृत।
3. कहानी-कला—डॉ० प्रतापनारायण टंडन—पृष्ठ 289.
4. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चन्द्रकांत बांडिवडेकर—पृष्ठ 110-16.

बना दिया कि समाज में एक भी वैसा व्यक्ति नज़र आना बंद हो गया जिसका प्रभुत्व एक विशिष्ट काल-क्षेत्र में चमक उठे, जैसा इसके पहले हुआ करता था।

इन स्थितियों के समानांतर दबाव से व्यक्ति की इयत्ता साहित्य में भी लुप्त ज़रूर हुई पर विशेष रूप से नगरों पर आधारित लेखन में ही, जिसमें विघटन, कुण्ठा और अजनबीपन आदि की स्थितियाँ ही सृजन की प्रेरणा बनती रहीं। कहानियों में नयी कहानी इसी दौर में पनपी और इसके प्रमुख हस्ताक्षर कमलेश्वर ने स्पष्टतः स्वीकार किया है—'मुझे पात्रों ने कभी कहानियाँ नहीं दी हैं। मुझे हमेशा उनकी स्थितियों ने कहानियाँ दी हैं। यदि कोई कहानी पात्र केन्द्रित हो गयी है तो वह मेरे लेखन की कमजोरी है। पर जान-बूझकर पात्रों को विरूप कर देने की कोशिश मैंने कभी नहीं की है क्योंकि सचाइयाँ इतनी इकहरी नहीं होती कि उन्हें भारी हाथों से उठाया जा सके।'[5] इस कथन को सार्थक करती हुई उनकी कहानियों में 'दिल्ली में एक मौत', 'अपने देश के लोग', 'जॉर्ज पंचम की नाक', 'दूसरे' आदि का नाम लिया जा सकता है।

चरित्र का सार्वकालिक-सार्वदेशिक महत्व

किन्तु यह सब कुछ जितना कहा गया (चरित्र पर आघात वग़ैरह की बात) उतना घटा नहीं—कम से कम कथा साहित्य में नहीं ही क्योंकि कहानी तो स्वतंत्र रूप से कोई वस्तु नहीं होती, वह सदा किसी व्यक्ति को लेकर होती है, कुछ घटनाओं और क्रियाओं की माला ही कहानी है। ये घटनाएँ व्यक्ति के आधार पर ही होती हैं, ये क्रियाएँ व्यक्तियों के द्वारा संपादित होती हैं जिनमें उनके अनुराग-विराग, प्रणय-विद्वेष के भाव भी लिपटे रहते हैं।'[6] फिर नयी कहानी में एक बहुत बड़ा 'रोल' ग्रामांचलाधारित लेखन का भी रहा है और वहाँ जिन्दगी अब भी इतनी 'टाइप्ड' नहीं हुई। दो मील दूर तक का कोई आदमी जितनी जल्दी किसी ग्राम प्रमुख, मुखिया, प्रधान, सरपंच, बाबू, कोठियाघुज्ज आदि को बता देगा उतनी आसानी से शहर के 'मेयर', 'कार्पोरेटर', 'शेरिफ' या जे० पी० को उनके मुहल्ले वाला भी नहीं बता पायेगा। गाँवों में एक आदमी वकील, डॉक्टर या प्राध्यापक तक हो जाये तो उसकी पहचान और साख जगज़ाहिर होती है पर शहरों में ये इतने 'कॉमन' (आम) हैं कि कोई लक्ष्य भी नहीं कर पाता। इस प्रकार गाँवों में चरित्र अब भी प्रधान है। अतः पचासोत्तरी कहानी में व्यक्ति (चरित्र) कभी विस्थापित नहीं हो सका।

असल में उस दौर में कथा-साहित्य के शास्त्रीय मानदंड इतने प्रबल हो गये थे कि समीक्षा और सृजन दोनों में इनके खिलाफ एक शीत युद्ध (कोल्ड वार) छिड़ गया था और चरित्र उनमें से एक है। चूँकि उत्तर प्रेमचंद काल के कथा-साहित्य ने कुण्ठित मन-मस्तिष्क वाले विरूप (या अपरूप) पात्रों की एक कतार खड़ी कर दी थी, इसलिए

5. कमलेश्वर—सं० मधुकर सिंह में संकलित सुभाष पंत के लेख 'तीन कथा-दशकों के बीच वैचारिक पात्र'—पृष्ठ 157 से उद्धृत।
6. आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान—देवराज उपाध्याय—भूमिका से।

पात्रों के मोर्चे पर यह युद्ध ज़रा ज्यादा ही सक्रिय रहा और उक्त लेखकों (अज्ञेय, जैनेन्द्र और जोशी) से नई कहानी की अगुआई (विशेषतः कमलेश्वर) का रिश्ता ३६ का रहा। इसलिये कमलेश्वर के उक्त कथन में पात्रों को विरूप न करने वाली बात इसी तरफ स्पष्ट संकेत करती है। इन्हीं कारणों से यह वक्तव्य स्वतोव्याघाती हो गया है वरना 'देवा की माँ', 'नीली झील' की पार्वती-महेशा, 'कस्बे का आदमी' के छोटे महाराज, 'गर्मियों के दिन' के वैद्य आदि न ही कमलेश्वर के लेखन की कमजोरी हैं और न ही सचाइयों को इकहरी करने वाले भारी हाथ। पचासोत्तरी कहानी में चरित्रों की यह दुनिया बड़ी विस्तृत है। रांगेय राघव की गदल (गदल), रेणु का हीरामन (तीसरी कसम), मारकण्डेय के गुलरा के बाबा और 'भूदान' का नायक, भारती की गुलकी (गुलकी बन्नो), अमरकांत का रजुआ (जिन्दगी और जोंक) और माँ (दोपहर का भोजन), शिवप्रसाद मिश्र रुद्र की 'बहती धारा' के सभी नायक-नायिका इसी दुनिया के सशक्त व्यक्तित्व हैं जो लेखन में चरित्र पर होते आघाती प्रहारों से बेफिकर साहित्य में मनुष्य (चरित्र) की प्रतिष्ठा करने में सक्षम साबित होते हैं।

दूसरी तरफ ऐसा भी नहीं है कि यह पात्र-प्रधानता मात्र गाँवों में ही रही। परिस्थितियों के गहन दबाव में पिसता व्यक्ति टाइप्ड हुआ, अवसंगत होकर फालतू पड़ता गया किन्तु यही व्यक्ति कहानियों में उद्भासित भी होता रहा। इनका विस्तार भी कम नहीं है। उषा प्रियवंदा का भाई (जिन्दगी और गुलाब के फूल), ज्ञानरंजन के पिता (पिता), रामकुमार का मास्टर (सेलर), राजेन्द्र यादव के पिता (बिरादरी बाहर) व भविष्यवक्ता, मोहन राकेश का पति (एक और जिन्दगी) और पत्नी (उसकी रोटी), निर्मल वर्मा का 'मैं' (लंदन की एक रात) व लतिका (परिन्दे), भीष्म साहनी की माँ (चीफ की दावत) आदि ऐसे ही टाइप्ड, अजनबी, असंगत, फालतू होते व्यक्ति है जो इन चरित्रप्रधान कहानियों के निर्माता बने हैं।

इस पूरे लेखन से गुजरते हुए हम पाते हैं कि चरित्र कभी भी कहानियों से बहिष्कृत नहीं हो सका। कहानी चाहे नयी हुई हो, सचेतन हुई हो, सक्रिय या समानांतर हुई हो यहाँ तक कि अकहानी भी चरित्र को छोड़कर खड़ी न हो सकी। 1961 में भी इस पर संतोष व्यक्त किया जाता रहा कि घटना की बाँहों से छूटकर हिन्दी कहानी चरित्र के आलिंगन में आ बँधे, यह कथा-सृष्टि के लिए शुभ-संयोग है।[7] 'चरित्र ऐसे, जिनका आविर्भाव कल्पना के आकाश से न होकर कथाकार की अनुभूति के धरातल से हो, ऐसी योजना नई लेखनी द्वारा ही संयोजित हुई है।'[8] और नयी कहानी के संबंध में तो डॉ० सुमन मेहरोत्रा का स्पष्ट मत है कि इस काल (नयी कहानी) की सभी कहानियाँ लगभग चरित्र-प्रधान हैं। शैली कोई भी रही हो पर संपूर्ण कहानी का पात्र और

7. आलोचना—जनवरी-मार्च 1966, पृष्ठ 87 पर उद्धृत, 'आज', साहित्य विशेषांक, 1961 का अंश।
8. वही।

उससे संबंधित उसका चरित्र ही कहानी को बनाता है।[9] इस प्रकार चरित्र पर जो आघात लगा, उससे वह गायब नहीं हुआ वरन् चरित्रगत रूढ़ धारणाओं की शास्त्रीय गिरफ्त से मुक्त होकर एक अभिनव संस्कार ग्रहण करके पुनरुज्जीवित हो उठा। इसके परिणाम स्वरूप आज की कहानी का व्यक्ति, हो सकता है बहुत आदर्शवादी न हो, पर वह जीवन और समाज के यथार्थ की उपज है।[10] वह व्यक्ति अधिक आत्मपरक, वैयक्तिक एवं सब्जेक्टिव है पर उस अर्थ में नहीं जैसा कि पिछले दौर में जैनेन्द्र, जोशी, अज्ञेय आदि ने सिद्ध करने की चेष्टा की थी।[11] पहले का वह व्यक्ति सिर्फ वायवी, आध्यात्मिक, अतीन्द्रिय, अंतर्मुखी, कुंठित और शुष्क प्रगतिवादी था पर अब वह समाज से सीधे संबद्ध हो गया। इस प्रकार समीक्षा और लेखन में मूल्यांकन के मान-दंडों की जो सजगता जगी, उससे चरित्र के आयाम बदले, जो अनिवार्य था और कहानी के लिए शुभ कदम साबित हुआ पर यह सिद्ध हो गया कि कथा लेखन में चरित्र की प्रमुखता सार्वकालिक और सार्वदेशिक सत्य है। इसके बिना कहानी-लेखन निष्प्राण हो जायेगा।

लेखक के चरित्र-संबंधी विचार

कथा-साहित्य में चरित्रों की इस सार्वकालिक-सार्वदेशिक सचाई से शिवप्रसाद सिंह का कथाकार अच्छी तरह वाकिफ़ है। चूंकि तत्कालीन लेखन-समीक्षा और सृजन, दोनों में चरित्र को 'आउट आफ डेट' करार दिया जा रहा था और डॉ० सिंह के लेखन का मेरुदण्ड चरित्र ही है, अतः इस चयन की प्रामाणिकता की सही परख के लिए समकालीन संदर्भों में इसके विस्तृत विश्लेषण की जरूरत महसूस हुई। अब जरा सीधे-सीधे डॉ० सिंह के एतत्संबंधी विचारों को देख लिया जाये तो शायद बात कुछ और बने, साफ हो—

'मुझे कहानी लिखने के लिए जो चीज सबसे अधिक विवश करती है, वह है मनुष्य का चरित्र...।....ये पात्र क्या हैं, मेरी कहानियों के अधिकतर पात्र उपेक्षित-तिरस्कृत माटी के ढेले ही तो हैं अथवा बबूल के सूखे पेड़ जो किसी राह चलते पंथी को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते....'[12]

किन्तु निजी अनुभूति की प्रखरता और उसकी सही अभिव्यक्ति की माँग के कारण चरित्र और उनके कर्म मुझे बहुत-बहुत आकृष्ट करते हैं....[13] चरित्र याने कैरेक्टर, अक्सर हॉण्ट करता है। वह अपने 'मेगनेटिक' आकर्षण से जैसे मेरी मन-बुद्धि को खींचता है।[14]

---

9. हिन्दी कहानियों में द्वंद्व—डॉ० सुमन मेहरोत्रा, पृष्ठ 161.
10. नई कहानी की मूल संवेदना—सुरेश सिन्हा, पृष्ठ 42-43.
11. वही, पृष्ठ 42.
12. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 202.
13. वही, पृष्ठ 192.
14. वही, पृष्ठ 202.

'इधर विदेशी समीक्षाओं और उनकी प्रवृत्तियों के नकलची लोग 'चरित्र' शब्द में ही पुरानेपन की गंध खोजकर चरित्रों के खिलाफ अंट-शंट बकते रहे हैं। चरित्र, आज भी, आधुनिक लेखक के लिए भी, प्रबल चुनौती है। मानव पदार्थ, बाह्य और आभ्यंतर दोनों ही पहलुओं से हमारी संचेतना और सृजन-प्रक्रिया के लिए चुनौती हैं। मानवपदार्थ, सामान्य पदार्थ या वस्तुओं से बिल्कुल भिन्न ढंग से हमारी बुद्धि के आयाम बनते हैं। हम किसी भी मनुष्य को उस रूप में नहीं समझ सकते, जिस रूप में हम मेज-कुर्सियों, किताब को समझते हैं। मनुष्य को सिर्फ एक ही प्रकार से अवगत किया जा सकता है, वह है उसकी संपूर्ण परिस्थितियों के बीच स्थिति का अवबोध। जड़ पदार्थ अनंत रूपों में विभाज्य है। किसी कटे पन्ने को देखकर, निश्चित किताब का, जहाँ से वह पन्ना लिया गया है, अवबोध संभव नहीं है। किन्तु मात्र सिर, हाथ, उंगली, दाढ़ी या आँखें देखकर एक मानव सत्य का बोध होता है कि ये मनुष्य-शरीर के अवयव हैं। फिर व्यक्ति, उस प्रकार से हमारे अध्ययन का विषय बनने को तैयार नहीं होता, जैसे जड़ पदार्थ हो जाते हैं। मानव-पदार्थ अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकारों से संवलित है। चूंकि मानव सत्य हमेशा ही परिस्थितियों से आवेष्टित है, इसलिए चरित्र का तात्पर्य इन परिस्थितियों के सही रूपों का विश्लेषण है। और ये परिस्थितियाँ दूसरी ओर आबद्ध समय के छंद से जुड़ी होने के कारण परम्परा, आधुनिकता, समसामयिकता और दूसरे कालयुक्त आयामों से आबद्ध भी होती हैं। इसलिए चरित्रों का नाम सुनकर चौंक जाना या इनको केन्द्र में रखकर कहानी के गठन की बात करने की प्रक्रिया को पुरानापन मानना बौद्धिक निर्बलता का सूचक है। मेरी अनेकानेक कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं। अगर मैं ईमानदारी से कहूँ तो मेरी पचास प्रतिशत से अधिक कहानियों की प्रेरणा में चरित्रों का योग है।'[15]

'मनुष्य अपनी संपूर्ण अच्छाई-बुराई, शारीरिक पूर्णता-अपूर्णता, मानसिक मलिनता, स्वच्छता के साथ सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। उसकी संभावनाएँ अनंत हैं, उसकी शक्तियाँ अपरिमेय।'[16] और इनकी परस्पर-विरोधी 'अप्रोचेज़' को लेकर चुनाव के संदर्भ में—'सच मुझे बड़ा अचम्भा होता है जब निहाई पर लोहा पीटनेवाले घूरे मिस्त्री को हारमुनियम बजाते देखता हूँ। कुदाल की मार से बंजर-पथरीली धरती तोड़ने वाले भीखम चाचा सतपुतिया के फूलों को यों सहलाते थे जैसे पालतू खरगोश के कान में से धूल झाड़ रहे हों। यदि मैं जंगल की सख्त लकड़ियों को टाँगे की चोट से छिलगाने वाले टीमल मुसहर से कहूँ कि भले आदमी, आँख की बूंदों को अपनी पथरीली उँगलियों से ऐसी मुलायमियत से क्यों झाड़ रहे हो तो वह क्या सोचेगा ? जाने क्यों गिरधारी मुनीम को मैं अपना आदर्श नहीं मान पाता जो दुकान से आकर चारों खाने चित गिर जाता है और खाने के लिए जगाने वाली मासूम बीवी पर बरस पड़ता

15. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 192.
16. वही, पृष्ठ 203.

है, न लहरी सिंह को ही, जो कीलदार बूट पहनकर मटरगश्ती करते हैं और चारपाई पर लेटकर अपनी खाली जेब को नये युग की आधुनिकता का तकाजा कहकर बुद्धि को संतोष देते रहते हैं।'[17] इस चुनाव का एक और परिप्रेक्ष्य—

'क्या हम मनुष्य तब होते हैं जब होटल, रेस्तराँ, सड़क, भीड़, जनार्णव में भटकते, धक्के खाते, खोखली हँसी हँसते, एक दूसरे को गालियाँ देते, अपने मिथ्या अहम् का विस्फोट करते, स्नायुओं की अनर्गल बात-चीत और चाय-कॉफी की उत्तेजना से विक्षिप्त बनते, चाबी दिये हुए जापानी खिलौनों से हिलते-डुलते नजर आते हैं अथवा हम मनुष्य तब होते हैं जब इन सभी विवशताजन्य कामों से छुट्टी पाकर थके-थकाए लौटते हैं और जब हमें एक घर न होने की कचोट, या घर होने पर आत्मीयता न पाने की पीड़ा, तोड़ती-सी प्रतीत होती है ? अन्वेषण, नारी-नारी के बीच समलिंगी संबंधों का, अन्वेषण उस व्यक्तित्व या चरित्र का, जो लबादे की तरह पेशा चलाने की दीवाल पर कील से टाँग दिया गया है ?'[18]

अब इस चुनाव को सृजन-प्रक्रिया में ढालते हुए—'मुझे परिस्थितियों से संवलित अश्लेषित चरित्र पहले आकृष्ट करते हैं, बाकी चीजें बाद में। जगत् के चरित्र ज्यों के त्यों कहानी के अंग प्रायः नहीं बनते। रचना-प्रक्रिया के बीच कहानी के ध्वन्यार्थ की संचेतना इन चरित्रों को खंडशः अनेक टुकड़ों में बाँट कर पुनः नये ढंग से इनके संयोजन का प्रयत्न करती है। इस पुनर्संयोजन में लेखक की निजी अनुभूतियों की लगावट भी बहुत बड़ा काम करती है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कमाये अनुभवों के रासायनिक द्रव, चरित्र-खंडों को, एक निश्चित अर्थ को दृष्टि में रखकर जोड़ते रहते हैं। लेखक की सफलता इस बात में होती है कि वह अपने भीतर चारित्रिक स्थितियों और संघर्षों तथा जीवन की वास्तविकता का ऐसा सूक्ष्म, सही और प्रामाणिक अनुभव रखे कि भिन्न-भिन्न समयों में उपलब्ध चरित्र-खण्डों को सही ढंग से जोड़ सके।'[19]

चरित्रों का 'आइडिया' में परिवर्तन

डॉ० शिवप्रसाद सिंह भिन्न समयों में उपलब्ध चरित्र-खण्डों को जीवन के सूक्ष्म-सही और प्रामाणिक अनुभवों के साथ जोड़ देने को लेखक की सफलता मानते हैं पर यह चरित्र एक 'आइडिया' बन जाये, एक सूक्ष्म कथ्य का रूप ले ले, यह इस जोड़ाई से अधिक कुछ और लेखकीय संलग्नता की दरकार रखता है।[20] पात्रों के माध्यम से धारणा विशेष को आलोकित करना सामान्य चरित्र-चित्रण से ऊपर का

17. चतुर्दिक—डॉ शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 210.
18. वही, पृष्ठ 204-205.
19. वही, पृष्ठ 192-193.
20. मुरदासराय—पृष्ठ 12, 'कुछ न होने का कुछ'—भूमिका से।

सोपान है ।[21] 'दर्शन की भाषा में इसे 'प्री० रिफ्लेक्टिव कागिटो' कहा जाता है, जिसके लिए अत्यंत उच्चस्तरीय चेतना अपेक्षित है ।'[22] 'पात्रों में विचारों के प्रतीकन का अर्थ है कहानी के प्रतिपाद्य का मूर्त्त की पटरियों पर चलकर अमूर्त्त की ओर, बाह्य की पटरियों पर चलकर आंतर की ओर, स्थूल की पटरियों पर चलकर सूक्ष्म की ओर प्रयाण । यह विचारों के प्रतीकन वाली इन कहानियों को अपने पूरे रचाव में न तो अमूर्त्त होना चाहिए और न बोध-प्रक्रिया में केवल बुद्धिजीवियों द्वारा व्यायाम सुलभ । इन विचारों को मूलतः वहन करने वाले पात्रों के ज़रिए नाट्यीकृत होना चाहिए । बड़ी बात यह है कि यहाँ भाषा ऐन्द्रिक प्रमाणों से सुसज्जित हो ।'[23] इस तरह के पात्रों का सृजन करना शिवप्रसाद सिंह की निजी और प्रामाणिक विशेषता है । उन्होंने चरित्र के बहुविध कर्मों के भीतर समय के छंद की सही प्रक्रिया को आवश्यक कर्म-परिपाटी से अलग करके इस तरह से उसे अपनी चेतना-धारा में बहाया है कि अभि-व्यक्त चरित्रों ने एक निश्चित 'आइडिया' के रूप ले लिए हैं । यह बहुत ही कठिन और सूक्ष्म कथा-कर्म है । इसे लेकर डॉ० सिंह को हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों से यह शिकायत रही है कि लोग चरित्रों को तो पकड़ और समझ लेते हैं किन्तु उनके जीवन के संबद्ध-असंबद्ध कर्मों को क्यों इस ढंग से नियोजित किया गया है अथवा इस नियोजन के भीतर कोई ध्वन्यार्थक कथ्य उभरता है या नहीं, इसे समझने की बहुत कम कोशिश करते हैं ।[24] और हिन्दी कहानी की समीक्षाएँ साक्षी हैं कि यह प्रयास हिन्दी में बिल्कुल नहीं हुआ । डॉ० सिंह ने ही 'मुरदासराय' की भूमिका में इसका संकेत किया—'धारा' कहानी का उदाहरण देकर । इसका सारा जिक्र प्रस्तुत प्रबन्ध के 'कहानियों के कथ्य' वाले अध्याय में विस्तृत रूप से हुआ है । यहाँ तिउरा का चरित्र ही 'आइ-डिया' बन जाता है और यह बन जाने की प्रक्रिया स्वतः द्योतित होती है । न ही लेखक इस ध्वन्यार्थ को कहता है और न ही कहानी का पात्र । पूरी कहानी की अन्विति में चरित्र को इस प्रकार संगुफित कर दिया जाता है कि वह मात्र चरित्र न रहकर अपने आप 'आइडिया'—जीवन सिद्धांत—में संतरित हो जाता है । इस सूक्ष्म प्रक्रिया को समझने के लिए उदाहरण स्वरूप बचपन में सुनी हुई एक कहानी के उल्लेख का मोह-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ, शीर्षक था—'चोर या मोर ।' सुनाने वाला कहानी शुरू करता है—'एक राजा के पास एक घर था जिसमें सात दरवाजे थे । उसी बगल में सटा हुआ एक और तहखाना या भुंइधरा था जिसमें सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात रखे हुए थे । घर की रखवाली के लिए उन्होंने घर के दरवाज़ों के पास कुछ दूरी पर दो पहरेदार नियुक्त कर रखे थे । एक दिन ठीक उलटी दिशा

---

21. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 113.
22. वही ।
23. वही, पृष्ठ 112.
24. मुरदासराय—'कुछ न होने का कुछ' (भूमिका), पृष्ठ 13.

से तीन चोर आ गये, जिनमें से एक पहले घर में प्रवेश कर गया। इसकी सूचना देने एक पहरेदार पहले अन्दर गया। इतने में बाकी दोनों चोर भी अन्दर घुस गये। और तब दूसरे पहरेदार को भी इसकी सूचना देने के लिए अन्दर की तरफ भागना पड़ा।' इतना कहकर कहानी सुनाने वाला चुप। हम पूछते फिर क्या हुआ ? और तब कहानी सुनाने वाला चित्र की तरफ इशारा करता और हम पाते कि राजा के घर की जगह तो बोर्ड पर मोर का चित्र बन गया है। चरित्रों के विचारों में संतरण की प्रक्रिया भी ऐसी ही है। कहानीकार, चरित्रों का गठन इस प्रकार करता रहता है कि पाठक अंत तक पहुँचते-पहुँचते चरित्र के नाम पर एक सुनियोजित विचार ग्रहण करता है। एक कहानी लें—'अंधेरा हँसता है' और अर्जुन पाण्डे के चरित्र को 'आइडिया' में संतरित होते देखें। उनके व्यक्तित्व-निर्माण और विशेषताओं आदि को हम फिर देखेंगे। यहाँ मात्र यह प्रवहमान प्रक्रिया ही अभीष्ट है। इसमें समय के छंद की सही प्रक्रिया को चेतना-प्रवाही (शैली) धारा में बहाते हुए अर्जुन पाण्डे के बहुविध कर्मों का निदर्शन हुआ है। इसके तीन प्रमुख सोपान हैं—

पहली बार नौकरी से निकाले गये पाण्डे अपनी जिल्लतों का बयान किसी मानापमान की परवाह किये बिना बेधड़क सुना जाते हैं। यहाँ वे सच कहने के हिमायती के रूप में प्रतिष्ठित हैं, चाहे वह उनके खिलाफ ही क्यों न पड़े।

दूसरी बार वे नौकरी के लिए फ़रेब रचते हैं, पर सब कुछ फिर बिना झिझक सुना जाते हैं। इस बार वे उत्साहित नहीं हैं, पर अभी समय के प्रवाह से हारे नहीं हैं।

लेकिन तीसरी बार वे ऐसा ही नहीं कर पाते—अपने कुली होने की सचाई से साफ मुकर जाते हैं।

और इस तबदीली तक आते-आते अर्जुन पाण्डे के चरित्र की यह जोड़ाई समय के प्रवाह में ढहते हुए मानवीय नैतिक मूल्यों की आइडिया का रूप ले लेती है। बढ़ती हुई असत् प्रवृत्तियों के बीच सत् प्रवृत्तियाँ किस प्रकार लुप्त होने पर विवश हो रही हैं, यह एक बात है जो पाण्डे के क्रिया-व्यापारों से उद्भासित (प्रोजेक्ट) होती है। कहानी चरित्र-प्रधान है, पर मात्र चरित्र-प्रधान ही नहीं है क्योंकि कहानी पढ़ने के (तुरंत या बहुत दिन) बाद भी जब हम इसे सोचते हैं तो मानसपटल पर पहले उभरते हैं अर्जुन पाण्डे ही, लेकिन तुरंत उनकी छाया विलीन होने लगती है और समाज में फैलते अमानवीयता के घोर तमस के बीच बुझती जाती इंसानियत की प्रकाश-रश्मियों का विचार उद्भासित हो उठता है और वही कहानी का स्थायी प्रभाव बन जाता है। इसीलिए यह मात्र चरित्र-प्रधानता नहीं है। कोई भी चरित्र-प्रधान कहानी सोचकर देख लें। मसलन, 'तीसरी कसम' के हीरामन को लें। यह इतना सशक्त चरित्र है कि सिर्फ एक बार पढ़ने पर भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु हमारे स्मृतिपटल पर

मात्र हीरामन ही उभरता है। उसके माध्यम से कोई ऐसा विचार स्थान ग्रहण नहीं करता।

ध्यातव्य है कि कहानी विचारशून्य नहीं होती और विचारों को वहन करने के लिए प्रायः पात्रों का सहारा लिया जाता है, पर इसे विचारों में परिवर्तन बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। डॉ० शीतांशु के अनुसार भीष्म साहनी अपनी कहानी 'चीफ की दावत' के पात्रों को विचारों के रूप में परिवर्तित कर देते हैं।[25] पर मेरी समझ में इस कहानी की माँ परंपराओं के सत् अंशों—स्वस्थ परंपराओं—की प्रतीक है और बेटा शोमनाथ स्वस्थ-अस्वस्थ, जीवित-मृत, उपयोगी-अनुपयोगी का विचार किये बिना अपनी परंपराओं को ठुकराकर तथाकथित आधुनिकता का अंधानुकरण करने वालों का प्रतिनिधि है। यहाँ इन दोनों पात्रों से विचार व्यंजित होते हैं, ये विचारों का वहन करते हैं, इनका विचारों में परिवर्तन-संतरण नहीं होता। चरित्रों की प्रतीकात्मकता और उनका विचारों में परिवर्तन-संतरण दो भिन्न चीजें हैं। इसे डॉ० शीतांशु ने शिवप्रसादसिंह की कहानी 'सुबह के बादल' के संदर्भ में संकेतित किया है—'सुबह के बादल' के चरित्रों में मुक्त प्रतीकात्मकता न होकर चरित्र को विचार में परिवर्तित प्रतीकित करने वाला प्रयोग ही है। हरिया स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की निरर्थक लंघी लगाने वाली, किसी को कुछ नहीं समझने वाली बाहरी पीढ़ी की तात्विकता को प्रकाश देता है।'[26]

स्पष्ट है कि इन चरित्रों में प्रतीकात्मकता नहीं है और चरित्रों का 'आइडिया' में परिवर्तित (जैसे शीतांशु जी का परिवर्तित के साथ प्रतीकित का एकार्थ रूपी प्रयोग बहुत खटकता है) हो जाना इससे अलग चीज़ है। किन्तु दुर्भाग्य, कि मैं यहाँ भी दीनू और हरिया के चरित्रों का विचारों में परिवर्तित हो जाने से सहमत नहीं हो पाता। मुझे कहीं भी कहानी आजादी के बाद की प्रवृत्तियों का कोई 'क्लू' संकेतसूत्र नहीं दे पाती। डॉ० शीतांशु जी के कथन को डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अनुमोदित भी किया है।[27] अब मैं इसे अपनी अल्पज्ञता ही मानूँगा कि इसमें मुझे ऐसा कोई संदर्भ-संकेत नहीं सूझा।

इसी प्रकार मैं अपने को यह कहने की स्थिति में भी नहीं पाता कि शिवप्रसाद सिंह की अधिकांश चरित्र-प्रधान कहानियों में यह प्रयोग संप्राप्त है।[28] सशक्त चरित्रों वाली कुछ अच्छी कहानियाँ इस प्रयोग तक पहुँचते-पहुँचते मात्र चरित्र-प्रधान ही बन कर रह गयी हैं। इन सबके कारण भी हैं। 'कर्मनाशा की हार' में भैरोपाण्डे के विचार, वक्तव्य के रूपों में बाहर आकर उनके व्यक्तित्व से अलग हो जाते हैं, उसे

25. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु—पृष्ठ 114.
26. वही, पृष्ठ 114.
27. मेरी प्रिय कहानियाँ—डॉ० शिवप्रसाद सिंह—भूमिका।
28. नई कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु—पृष्ठ 114.

उन विचारों में तब्दील नहीं होने देते। कहानी के प्रभाव में भैरो पाण्डे ही मस्तिष्क में उभरते हैं, उनकी जगह पर उनके विचार 'रीप्लेस'-स्थानापन्न नहीं हो पाते। 'मुरदासराय' और 'रागगूजरी' के नायकों में भी यही बात बाधक बनती है। 'अंधकूप' का सोमू इसका बेहतरीन उदाहरण बनता यदि वह पूरी कहानी भर विचारों का 'रिकार्ड' लिए फिरता न रहता। पत्रात्मक शैली इस प्रयोग के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है। 'मुरदासराय' में भी यही है। ऊपर उद्धृत 'अंधेरा हँसता है' में भी अंत का प्रतीक इस प्रक्रिया को ले डूबता, यदि वह पूरी कहानी की अन्विति में व्याप्त हो जाता। उसके अलग छिटके रह जाने के कारण अर्जुन पाण्डे का सफल संतरण संभव हो सकता है। इसी तरह 'किसकी पाँखें' के प्रतीक की सत्ता भी कहानी से अलग (दूर बिल्कुल नहीं) रह गई है। उसमें एक मुखर वाक्य के बावजूद गाँव से निकलते अशरफ चाचा का चरित्र 'अंधविश्वासी मजहब के डंडे से हाँकने पर इंसानियत के देश निकाले' का रूप ले लेता है। अवधू (एक यात्रा सतह के नीचे) भी घर छोड़ जाता है। पारिवारिक स्थिति में बेकारी के कारण ऊपरी दबावों के नीचे उसके अंतर्मन की यात्रा एक सतह के नीचे की यात्रा है जो दूसरी यात्रा (घर छोड़कर जाने) की प्रेरक बनती है। अवधू का चरित्र भी एक 'आइडिया' में बदल जाता है जो जीवन में नये किस्म के बदलाव को उद्भासित करता है जिसमें माँ-बाप तक संवेदनहीन होकर उसे उपेक्षित ही नहीं करते, प्राकृतिक अधिकारों तक से वंचित कर देते हैं।

'ताड़ी घात का पुल' भी इस संदर्भ की एक सशक्त कहानी है। पूरी कहानी तिलक की चेतना में प्रवाहित होती रहती है। पिता के कारनामों से माँ के व्यवहारों से उसे असलियत की गंध आती है और अंत में गोलू की बातों से दुर्गन्ध का जो भभका फूटता है, वह तिलक की मूकता की धारा में थपेड़े खाते-खाते जिस ध्वन्यर्थ में परिणत होता है, वह भ्रष्टाचार का विरोध और नैतिक मूल्यों की रक्षा का है। यह तिलक के व्यवहार से प्रस्फुटित होता है। धारा की तिउरा की तरह तिलक का चरित्र भी देदीप्यमान नहीं हो पाया है क्योंकि उसका विचारों में संतरण ही प्रमुख हो गया है।

शिवप्रसाद सिंह की यह कला 'मुरदासराय' की कहानियों में ही ज्यादा दिखायी पड़ती है। उन्होंने कहा भी है कि 'यह एक सूक्ष्म कथा कर्म है।' शायद यह सूक्ष्मता उनमें भी काफी अभ्यास के बाद पनपी है। लेखक की बतायी प्रक्रिया के आधार पर उक्त उल्लिखित तीन-चार कहानियों के अलावा यह प्रयोग बहुतायत में नहीं दिखता। 'मुरदासराय' के बाद लिखी 'भेड़िये' की कहानियों में 'बड़ी लकीरें' बनाने में असमर्थ 'मैं' गुटपरस्ती की साजिशों के बीच 'जेनुइन' मनुष्य की विवशता के तहत ढहते मानवीय मूल्यों के 'आइडिया' का रूप ले लेता है। 'कलंकी अवतार' में चेतना प्रवाही गति नहीं है और रोपनबारी का चरित्र संस्कारगत जड़ता के कारण गतिमान नहीं हो पाता और 'धरातल' की मुसम्मात नैना इसलिए इस प्रक्रिया का उदाहरण नहीं बन पाती कि अपने विचारों (चेतना प्रवाह) में वह ज्यादा मुखर हो

गयी है। शिवप्रसाद सिंह के सभी चरित्रों में सर्वाधिक सफल हुआ है—'आर-पार की माला' की नीरू के चरित्र का 'आइडिया' में परिवर्तन। यह कहानी 'मुरदासराय' के पहले की है। पूरी कहानी नीरू की चेतना में प्रवाहित होती हुई लिखी गयी है। आज के युग में व्यक्ति 'जिन्स' बनता जा रहा है, यह आज की सचाई और भौतिकवादी (मैटीरियलिस्टिक) दृष्टिकोण भी है। नीरू का 'जिन्स' के रूप में परिवर्तन कहानी में इतना सहज अपने आप (आटोमेटिक) हो जाता है कि न कोई पात्र ही कुछ कहता है न ही लेखक। पर नीरू जो नन्हीं-प्यारी-सी फुदकती हुई बच्ची से मोगल (प्रेमी) को देखकर प्रफुल्लित प्रेमिका बन गयी थी, जमींदार की निगाह पड़ते ही मात्र जीविका का उपादान-विनिमय का साधन याने 'जिन्स' बन कर रह गयी है। इस प्रक्रिया में यह सिद्धांत भी व्यंजित है कि व्यक्ति 'जिन्स' बनना नहीं चाहता पर उसे मजबूर किया जाता है और 'आटोमेटिक' कठपुतली की तरह बनना पड़ता है। ये सब विचार नीरू के चरित्र में व्यंजित नहीं होते, उसमें समाकर उसे चरित्र मात्र रहने ही नहीं देते—'आइडिया' में परिवर्तित कर देते हैं।

डॉ० सिंह की उक्त कहानियों में जहाँ चरित्र 'आइडिया' का रूप ले लेते हैं वहीं कतिपय कहानियों में 'आइडिया' से चरित्र बनते भी हैं, याने 'आइडिया' का चरित्र में परिवर्तन। 'कहानियों की कहानी' के सभी पात्र सिर्फ सिद्धांतों के लिए खड़े किये गये हैं। यह जोड़ाई यदि उन लेखकों के लेखन पर व्यंग्य के लिहाज से न की गयी होती तो यह प्रक्रिया लेखक की कहानी-कला को बहुत पीछे ढकेल सकती थी। यही हाल 'मुरदासराय' का भी है। कहानी पढ़ने से यह तो साफ जाहिर हो जाता है कि इसकी प्रेरणा में विचार पहले आया है जिसके अनुरूप हरिचरण का निर्माण किया गया है। पर यहाँ कथ्य की गंभीरता और तदनुरूप आत्मगत चेतना का प्रवाह चरित्र की किरचों को बिखेरने नहीं देते, कृत्रिमता से बचा लेते हैं।

चरित्रों के 'आइडिया' में परिणति की सफल प्रस्तुति मन्नू भंडारी की कहानियों में देखी जा सकती है। हालाँकि उनमें चरित्र बहुत प्रमुख होकर नहीं उभरते। 'जीती बाजी की हार' की मुरला इसका सर्वाधिक सशक्त उदाहरण है। उल्लेख्य है कि 'धारा' की तिउरा भी सशक्त पात्र नहीं बन पायी है। शायद इस प्रयोग के फलित होने की संभावना ऐसे ही चरित्रों में ज्यादा है या यह प्रयोग चरित्र को बहुत भास्वर (प्रॉमिनेंट) नहीं होने देता। 'मैं हार गयी' के दोनों नेता पात्र लेखक और उसके चरित्रों की टकराहट के दौरान सृजन-प्रक्रिया के सिद्धांतों में जिस तरह परिवर्तित हो जाते हैं, वह इस रचनाकर्म का बेहतरीन उदाहरण बन गया है।

चरित्रों में मनोवैज्ञानिकता

प्रेमचंद जी ने कहीं लिखा है कि सबसे उत्तम कहानी वह होती है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो। 'मनोविज्ञान को साहित्य में जो महत्ता मिली है, उसका आधार चरित्र-चित्रण ही है।'[29] मनोविज्ञान मुख्य रूप से मनुष्य के

29. हिन्दी साहित्य कोश—प्रथम भाग—प्र० संपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 448.

अवचेतन (सब-कांसिअस) और अचेतन (अन-कांसिअस) का अध्ययन करता है। उसके अनुसार ये ही चेतन जगत् की क्रियाओं के प्रेरक होते हैं। चरित्रों के क्रिया-व्यापारों के माध्यम से इसी प्रेरक संदर्भबिन्दु तक पहुँच जाना ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन का इष्ट होता है। जहाँ तक शिवप्रसाद सिंह का सवाल है, उन्होंने न तो कभी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर कहानियाँ लिखी हैं और न ही मनोवैज्ञानिक सत्य का खुलासा करना कभी उनकी कहानियों का प्रतिपाद्य बन सका। इसलिए उनकी कहानियों के चरित्र मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के चौखटे में 'कैद नहीं हैं, पर विशाल मानवता के दर्द को व्यक्त करने के लिए प्रायः हर लेखक विभिन्न पात्रों की योजना करके विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के चरित्र की प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं का निदर्शन करता है।'[30] डॉ० सिंह की कहानियों के पात्रों की मनोवैज्ञानिकता इसी प्रतिक्रियात्मकता में निहित है क्योंकि डॉ० सिंह स्वयं मानते हैं कि मनुष्य को सिर्फ एक ही प्रकार से अवगत किया जा सकता है, वह है उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियों के बीच स्थिति का अवबोध।[31] इसीलिए अनेकानेक परिस्थितियों से गुज़रते पात्रों की तमाम प्रतिक्रियाएँ इन कहानियों में देखी जा सकती हैं। किन्तु अपनी प्रतिक्रियात्मकता में ये पात्र कुंठित या विकृत नहीं हुए हैं। अब इसका अर्थ यह भी नहीं कि शिवप्रसाद सिंह भी श्रीपत राय की तरह यह मानते हैं कि गाँवों का मानव स्नावयिक दुर्बलताओं का शिकार नहीं मानसिक कुण्ठा का बन्दी भी नहीं।'[32] वे स्पष्ट स्वीकारते हैं कि गाँवों का मनुष्य एकदम सीधा, निश्छल है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। उसके जीवन में भी मानसिक अंतर्द्वन्द्व की परिस्थितियाँ आती हैं....गाँवों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं है जिनके 'विक्षिप्त मन' के अन्वेषण करने से कई प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों, विषमताओं तथा अंत-वैयक्तिक संबंधों पर प्रकाश पड़ता है।[33]

तो, मैं कह रहा था कि विभिन्न परिस्थितियों की प्रतिक्रियात्मकता में शिव-प्रसाद सिंह के पात्र कहीं एकदम कुंठित-विकृत नहीं होते याने अवचेतन या अचेतन की सक्रियता कहीं इन पात्रों के चेतन पर हावी नहीं होती। वह मात्र प्रेरक भूमिका अदा करती है, जिसकी प्रतिक्रिया में चेतन मस्तिष्क भी बराबर क्रियाशील रहता है। वह विघटित होकर निष्क्रिय नहीं हो जाता। एक अद्भुत संतुलन कायम रहता है जो पात्र को समाज-कल्याण समष्टि मंगल की तरफ ले जाता है। इस तरह शिव-प्रसाद सिंह की कहानियों का मनोविज्ञान समाजोन्मुख है या इनके पात्रों की मनोवैज्ञा-निकता समाज सापेक्ष्य है। जो लोग पात्रों के असहज-अबूझ, रोमांचक व्यवहारों (जैसा 'एक और जिन्दगी' की नायिका करती है) को ही मनोवैज्ञानिक प्रतिफलन

30. कहानी-कला—प्रतापनारायण टंडन, पृष्ठ 289.
31. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 192.
32. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 137.
33. वही, पृष्ठ 137-38.

समझते हैं, कोरे सिद्धांतों का उदाहरण खोजते हैं, उन्हें इनकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक नहीं लगेंगी। ऐसे लोग आराम से कह सकते हैं कि वह (नन्हों) इकाई भी नहीं है, न उसका कोई अर्थ है, न उसके चरित्र का कोई मनोविज्ञान।[34] पर असलियत यह है कि नन्हों का पूरा चरित्र नितांत मनोवैज्ञानिक है। उसका सारा कार्य-व्यवहार सामाजिक कुरीतियों के कुचक्रजन्य अभिशाप की प्रतिक्रिया है। वह रामसुभग से बेहद प्यार करती है—चेतन मस्तिष्क से। पर जब कभी उसकी तरफ से नैकट्य का कोई प्रयास होता है, नन्हों सहसा पलट जाती है, फटकार देती है उसे। ऐसे प्रसंग कहानी में दो बार आये हैं और दोनों बार की फटकार में उसके अवचेतन का मनोविज्ञान देखा जा सकता है—

(1) रामसुभग के हाथ पकड़ लेने पर—'सरम नहीं आती तुम्हें, बड़े मर्द थे तो सबके सामने बाँह पकड़ी होती, तब तो स्वांग किया था, दूसरे के एवज बने थे, सूरत दिखाकर ठगहारी की थी।'[35]

(2) रात को देर से आने पर रामसुभग के डाँटने पर—'इतनी ही कसक थी तो पहले ही व्याह कर लिया होता। इस तरह डाँट रहे हो लाला जैसे मैं तुम्हारी जोरू हूँ। खबरदार, फिर कभी आँख दिखाया तो।'[36]

पहले कथन में देखिए एतराज बाँह पकड़ने पर नहीं, सबके सामने न पकड़ने पर है और कसक इस बात की कि दूसरे के एवज बने थे। ऐसे ही दूसरे कथन में एतराज डाँटने पर नहीं जोरू की तरह डाँटने पर है और कसक यह कि पहले ही व्याह नहीं कर लिया। यह नन्हों के अवचेतन की भाषा है। उसमें यह बात जड़ जमाकर बैठ गयी है कि यही व्यक्ति एवजी बना था, ठगहारी की थी, पहले बाँह नहीं पकड़ी, सबके सामने ब्याह नहीं कर लिया और इस तरह नन्हों का अवचेतन बहुत साफ-साफ समझता है कि उसकी दुर्दशा के मूल में रामसुभग है जिससे वह खार खाये बैठा है। विडंबना यह, कि चेतन उसी को चाहता है, पर अवसर मिलने पर अवचेतन सहसा उसे दबोच लेता है और चेतन का सारा प्यार-आकर्षण धरा का धरा रह जाता है। इधर रामसुभग में पुरुष का 'अहम्' और लज्जा जन्य हीनभाव। वह नन्हों की तरफ से पहल करने—प्रस्ताव रखने की बाट देखता रह जाता है और इस तरह का कोई आसार न देख, जाने को उद्यत हो जाता है। इस स्थिति के आने तक पाँच साल का लंबा अंतराल नन्हों झेल चुकी है और इस बीच नन्हों का चेतन भी धीरे-धीरे उसके अवचेतन के मनोविज्ञान से सहमत हो गया है, अतः इस बिन्दु पर आकर उसका जीवन एक निश्चित और संतुलित राह पकड़ लेता है। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि यह राह समाजोन्मुख है। इस तरह मनोविज्ञान की जटिल ग्रंथियों के बावजूद

---

34. आज की हिन्दी कहानी—डॉ० धनंजय, पृष्ठ 18.
35. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 19.
36. वही, पृष्ठ 22.

बिना किसी विकृति-कुण्ठा के यह एक संतुलित-सामाजिक जीवन की प्रेरणा बन गया है।

जहाँ कहीं यह संतुलन गड़बड़ाने की स्थिति में पहुँचता है, लेखक के पास त्याग और ईमानदारी का वह अचूक ब्रह्मास्त्र (ट्रंपकार्ड) है, जिसे लिए कोई पात्र प्रकट होता है और फिर विकृति की तरफ बढ़ते पात्र में जिम्मेदाराना मोड़ आ जाता है। 'बशीकरण' की भाभी गंगा-तुलसी का लड़का इसका उदाहरण हैं। यदि बशीकरण में देवर का ईमानदार हस्तक्षेप व 'गंगा-तुलसी' की माँ का मूल्यवान उत्सर्ग न होता तो विकृति के अलावा इनकी दूसरी गति की संभावना नहीं थी। भाइयों के अनुशासन के बीच किशोर मन लहरी सिंह की प्रतिक्रिया उनके परिवार को ले डूबती, यदि बड़े भाई का साधिकार-स्वस्थ दखल ऐन मौके पर आड़े हाथ न आ गया होता। इनमें मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया की संभावित सीमाओं का संकेत भी चरित्रों की महत्वपूर्ण व्यंजना बन गया है। 'टूटे शीशे की तस्वीर' में चेतन के बाहरी दबाव से दमित भ्रातृ-प्रेम अवचेतन में बड़ी गहरी जड़ें जमा लिए रहता है जो अंतिम स्थिति में चेतन को किंकर्त्तव्यविमूढ़ करके सहसा फट पड़ता है।

जमींदारी टूटने के बाद तत्कालीन जमींदारों का, जो अब खस्ताहाल हो गये हैं, रोब-दाब अब उनके अवचेतन में बैठकर उन्हें हो खा रहा है। 'आखिरी बात' के फुन्नन मियाँ और हरखू पंडित का अवचेतन उनकी खत्म हो गयी साख और रुतबे को मान नहीं पाता और मौके-बेमौके अक्सर खोजकर इतिहास की यादों के सहारे अब भी उसे याद रखने की नाकामयाब कोशिशें करता है। यह एक हल्के-फुल्के ढंग की विकृति ही कही जा सकती है। इसी मानसिकता के कारण अब बड़े घरानों का आहत 'अहं', जब परिवार-पत्नी पर झूठे शक करता है तो पतनोन्मुखता से उपजी स्थितियाँ प्रतिक्रियात्मक विकृति का ही रूप दिखा जाती हैं। ये चरित्र भी अजीब-ओ-गरीब रोमांच पैदा करने की लेखकीय लिप्तता से बचे रह गये हैं। जब सोना भाभी (अंधकूप) कूएँ में डूबकर और शोभा बुआ (हत्या और आत्म-हत्या के बीच) रेल से कटकर आत्महत्या कर लेती हैं, तो यह दमनजनित कुण्ठा का ही परिणाम है, पर इनकी विकृत जिन्दगी का प्रदर्शन लेखक को काम्य नहीं। हालाँकि शिवप्रसादजी प्रेमचंद की 'कफन', 'पूस की रात' के घीसू-माधव और हल्कू जैसे मनोवैज्ञानिक चरित्रों के हिमायती हैं, जो निश्चित रूप से दमन-जन्य विध्वंसात्मक विद्रोह से भरे होने के कारण विकृत से ही लगते हैं, पर वे मानसिक गुहा-गह्वर के विकृतमन वाले मनुष्यों के चित्रण की सिफारिश भी नहीं करते। इनके उक्त दोनों चरित्रों—सोना भाभी और शोभा बुआ में मनोविज्ञान इन दोनों के बीच की स्थिति में प्रयुक्त हुआ है जो लेखक की सूक्ष्म दृष्टि का परिणाम है। इनमें 'हिस्टीरिया' आदि जैसी कोई स्थिति पैदा करके बड़ी आसानी से विकृति का वर्णन किया जा सकता था, पर लेखक हमेशा ऐसे प्रसंगों को बचा ले जाता है।

कुछेक कहानियों में, थोड़ी कोशिश करके, बाल-मनोविज्ञान की झलक भी देखी

जा सकती हैं, पर समाजोन्मुखता वहाँ भी छूटी नहीं है। 'पैटमैन' का लड़का पिता की मौत के बाद सभी शरारतों-उत्पातों को छोड़कर सही राह लग ही जाता है जो बच्चों के ऊपर आये उत्तरदायित्व की सहज परिणति है। 'खेल' का लड़का पप्पू तो स्थितियों के दबाव से जिस प्रौढ़ता-परिपक्वता का परिचय देता है, वह वय की सीमाओं को लाँघकर परिस्थितिजन्य मानसिकता से उभरे बच्चों के दब्बूपन का सबूत बन गया है। प्रौढ़ चरित्रों में तो सेक्सी-खल्वाट प्रवृत्तियों का आकलन नहीं हुआ है, वह लेखक की प्रवृत्ति ही नहीं रही और फ़ैशन के तौर पर कुछ अपनाना कभी उसकी ज़ेहन को गवारा नहीं हुआ पर 'धतूरे के फूल' की बालिका में सेक्स का माध्यम ज़रूर अपनाया गया है, किन्तु बेहद स्वस्थ और रचनात्मक रूप में। यह जवानी की देहलीज़ पर कदम रखने के लिए तत्पर किशोरी के असहज विकास को जीवन के प्रति 'पाजिटिव' (सकारात्मक) और 'ज़ेनुइन' मोड़ देने के लिए। यहाँ भी सेक्स की अतृप्ति से उपजी कुण्ठाओं के चित्रण से बचने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

इनके अलावा अवचेतन की गतिशीलता रोपनबारी (कलंकी अवतार) में भी दिखती है जब वह मोहनाविष्ट होकर चेतन को निष्क्रिय करके रोपन को अपनी प्रतिक्रियात्मक जड़बद्ध, मूल ग्रंथियों से परिचालित करता है—वे अनजाने घोड़े के पीछे-पीछे खिंचे चले जाते हैं और यह परिचालन ही उनकी जिन्दगी को ग़र्क किये दे रहा है। इस अवचेतन पर यदि लेखकीय चेतना केन्द्रित रहती तो यह भी एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक कहानी बन सकती थी, पर ऐसी किसी मतवादी चौहद्दियों में बँधना लेखक को इष्ट नहीं। वह अपने कथ्य पर केन्द्रित रह जाता है, जिससे यह प्रक्रिया विकास नहीं पाती। गहन ऐकांतिक क्षणों में जीते हुए टीमल कोहार (माटी की औलाद) का दमित अवचेतन भी आँसुओं में प्रवाहित होता है, पर जीवन के ताल-मेल (एडजस्टमेंट) में तत्पर चेतन पर कोई अंकुश नहीं लगा पाता।

इस प्रकार शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में सहज समाविष्ट मनोविज्ञान का रंग मिलता है। वह कहीं मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों, नियम-कानूनों के पैटर्न को आधार बनाकर लाया नहीं गया है। सिर्फ एक अपवाद देखने को मिलता है—

रचना-प्रक्रिया की सन्दर्भ-चर्चा में लेखक ने एक जगह अपनी व्यक्तिगत बात कही है—उनसे बचपन में काम करने की हड़बड़ी में कुछ टूट-फूट जाता और पिताजी बिगड़ते। यही कालांतर में लेखक हो जाने पर लेखन में कुछ बदले हुए रूप में मिलता है। इसे किसी मनोविज्ञान के प्राध्यापक ने समय-सीमा के अतिक्रमण का प्रयत्न बताया—इट इज ऐन अटेम्प्ट टु ब्रेक द बेरियर ऑफ टाइम। इसी को पिताजी कर्क-लग्न में जन्म कहा करते थे। यहीं से हमें लक्खीलाल (शाखामृग) की मनोवैज्ञानिकता का स्पष्ट संकेत मिलता है। उसे भी पंडित जी कर्कलग्न में जन्मा कहकर ही कोसते या सराहते हैं। लक्खीलाल अनेक काम शुरू करता है, पर अधिक दिन तक कर पाता, शायद कम समय में अधिक करना चाहता है याने समयातिक्रमण—टु ब्रेक द बेरियर

ऑफ टाइम । इसी को दूसरे मित्र ने लेखक के सन्दर्भ में मनोरोग—'मैनिक डिप्रेसिव साइकोसिस' याने उत्साह विषाद मनोचक्र कहा । लक्खीलाल में शुरू किये कामों के प्रति प्रारम्भ में अतीव उत्साह, पर अल्प-समय में उसी के प्रति विषाद देखा जा सकता है । इस प्रकार लेखक के बचपन के क्रियाकलापों की संगति में लक्खीलाल तत्संबंधी उद्धृत मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों में फिट किया गया लगता है । लेखक को इस सिद्धांत के बारे में पहले से सम्पूर्ण जानकारी थी, उस पर सोचा-विचारा था और निज का अनुभव भी था । इसीलिए शायद अपने को ही 'जस्टीफाई' करने के लिए लेखक की चेतना ने लक्खीलाल का निर्माण किया होगा और इस पर वह खरा उतरता है ।

चरित्रों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव

अस्तित्ववाद को लेकर मतभेद है कि इसका आरम्भ साहित्य से हुआ या दर्शन से । एक तरफ साहित्यकोशकार इसे यूरोप की अपेक्षाकृत साहित्यिक दार्शनिक चिंतनपद्धति कहते हुए इसका आरम्भ मूलतः दर्शन के क्षेत्र से हुआ मानते हैं[37] तो दूसरी तरफ कुछ लोग इसे बड़ी बात मानते हैं कि अस्तित्ववादी धारणा सर्जनात्मक साहित्य में पहले उभरी और दर्शनशास्त्र में बाद में ।[38] इन दोनों पक्षों को जोड़ दें तो अस्तित्ववाद विशुद्ध साहित्यिक आन्दोलन नहीं एक दार्शनिक सिद्धांत है जिसे अस्तित्ववादी चितकों ने साहित्यिक लेखन का मूल तत्व बनाकर प्रस्तुत किया ।[39] वैसे रामविलास शर्मा ने इसे एक झटके के साथ दर्शन और साहित्य दोनों में ही एक हानिकर और अवैज्ञानिक प्रवृत्ति घोषित कर दिया है ।[40] जो भी हो पर अविकल सचाई यह है कि द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल का सम्पूर्ण साहित्य किसी न किसी रूप में अस्तित्ववाद से प्रभावित है ।[41] और नयी कहानी के प्रायः सभी लेखकों ने इसके

---

37. हिन्दी साहित्यकोश-भाग-1—पारिभाषिक शब्दावली—प्र० सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 95.
38. (अ) आलोचना-अप्रैल-जून-1968—डॉ० कुमार विमल का लेख, पृष्ठ 24.
    (ब) अस्तित्ववाद : कीर्कगार्द से कामू तक—योगेन्द्र शाही, पृष्ठ 207.
39. साहित्य और आधुनिक युगबोध—डॉ० देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 49.
40. अस्तित्ववाद और नयी कविता—डॉ० रामविलास शर्मा, पृष्ठ 95.
41. (अ) वैसे स्वतन्त्रता बाद की हिन्दी रचनाओं में अस्तित्ववाद के कई पहलू नाना रूपों में प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ते हैं—'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद'—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 18.
    (ब) अस्तित्ववाद : दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका—डॉ० लालचंद गुप्त मंगल, पृष्ठ 119.
    (स) अस्तित्ववाद और द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य—डॉ० श्यामसुन्दर मिश्र के साक्ष्य पर ।

प्रभाव का अनुमोदन भी किया है।[42] अस्तित्ववादी चिंतन के चरमोत्कर्ष काल में ही नयी कहानी का अभ्युदय हुआ और नयी कहानी के संबंध में नये कहानीकारों की समीक्षाओं से स्पष्ट है कि उन्होंने अस्तित्ववाद का गहराई से अध्ययन किया है। इन सबके बाद आश्चर्य ही होता यदि इनका सृजन अस्तित्ववादी प्रभाव से दूर रह जाता। डॉ० शीतांशु तो यहाँ तक स्वीकारते हैं कि नयी कहानी के विचारगत प्रयोग को अपने पूरेपन में अस्तित्ववाद का प्रयोग कहना चाहिए।[43]

फिर शिवप्रसाद सिंह ने तो अस्तित्ववाद का अध्ययन सिर्फ नयी कहानी के ही सन्दर्भ में नहीं किया है, चिंतन-मनन करके उसका विस्तृत विवेचन किया है और संयोग की बात यह है कि जो समय (1964-65) उनके अस्तित्ववाद सम्बन्धी लेखों के (धर्मयुग में) लेखन का है, वही 'मुरदासराय' की कहानियों का भी है — (1961-66)। थोड़ा और ध्यान दें तो 'शिखरों का सेतु' (1962) में अल्वेयर कामू पर लिखा एक निबन्ध संकलित है जो 1960 में उनकी मृत्यु पर शोकोद्गार के रूप में लिखा हुआ है। यह लेख कामू के व्यक्तित्व और सृजन से पूर्व लगाव का ही परिणाम होगा, कोई उसकी मृत्यु पर अचानक लेखक की भावचेतना उसके प्रति द्रवित होकर फट नहीं पड़ी होगी। इस प्रकार आसानी से कहा जा सकता है कि लेखक कामू का अनवरत पाठक रहा होगा और इस रूप में अस्तित्ववाद के प्रति उसका लगाव काफी पुराना ठहरता है जो पकते-पकते 1964-65 के लेखों की शृंखला के रूप में सुनियोजित-सुसंबद्ध रूप पा सका।

इन सबके बाद अब हम यह कहने की स्थिति में हैं कि डॉ० सिंह की कहानियों में अस्तित्ववादी स्वर की गुञ्जाइश बहुत प्रबल और स्वाभाविक है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इनकी कहानियाँ अस्तित्ववादी हैं या होकर रह गयी हैं अथवा उसके प्रभाव में ही लिखी गयी हैं। अस्तित्ववाद ही क्या, शिवप्रसाद जी यूँ तो अपनी कहानियों को किसी भी वाद के चश्मे से देखने को ठीक नहीं ठहराते। पर अल्वेयर कामू के 'मिथ ऑफ सिसिफस' ने इनकी आस्था की समूची दीवालों को जड़मूल से हिला दिया। उसकी रचनाओं ने जीवन के निरर्थकताबोध की तल्ख भावना को और भी कटु और तीव्र बना दिया।[44] फिर किसी भी आदान-प्रदान ग्रहण-त्याग के सम्बन्ध में उनका मत है कि पाश्चात्य संस्कृति में से कुछ ग्रहण करना ग़लत काम नहीं है। जब संस्कृतियाँ इतने निकट आती हैं तो यह आदान-प्रदान एक सहज स्थिति बन जाता

---

42. (क) नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 147-153.
    (ख) नये बादल (भूमिका)—मोहन राकेश, पृष्ठ 5.
    (ग) कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 87.
    (घ) आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह के आधार पर।
43. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 57.
44. कस्तूरी मृग, पृष्ठ 179.

है—नया साहित्य जहाँ तक प्रभावों को ग्रहण करता है, वहाँ तक उसे सही ही माना जायेगा। अंधानुकरण करना घातक होता है।[45] हिन्दी साहित्य में अस्तित्ववादी प्रभाव ढूंढ़ने का प्रयत्न करने को लेखक तैयार नहीं है क्योंकि यहाँ चीजें ऊपर से थोपकर प्रदर्शित करने के लिए गढ़ ली जाती हैं। वे मानते हैं कि अन्वेषक चाहें तो अनेक कहानियों-कविताओं को प्रस्तुत करके उनके अस्तित्ववादी होने का ऐलान कर सकते हैं।[46] उदाहरण के लिए यदि हम बड़की बहू (अरुन्धती) की उबकाई, कै आदि के आधार पर उसे अस्तित्ववादी घोषित करें, क्योंकि सार्त्र की कृति उबकाई (नौसिया) के नायक को हमेशा उबकाई आती है तो इसे प्रभाव थोपने का प्रयत्न ही कहा जायेगा।

इस प्रकार डॉ० सिंह प्रभाव के लिए प्रभाव ढूंढ़ने के पक्ष में बिल्कुल नहीं हैं पर अस्तित्ववाद के संबंध में स्वीकारते हैं कि वस्तुतः अस्तित्ववादी दृष्टिकोण एक ऐसी सर्वनिष्ठ दृष्टि है जो किसी भी कवि-कथाकार में देखी जा सकती है जो अपने अस्तित्व की सहज और निरावृत अभिव्यक्ति कर सके।[47] इस सर्वनिष्ठ दृष्टि के लिये प्रमाणस्वरूप हम 'वरण की स्वतंत्रता' या 'स्वतंत्र वरण' को लें। कीर्केयार्द से लेकर सार्त्र-कामू तक के सभी चिंतकों ने इसे अस्तित्ववादी चिंतन की मुख्य विचारधारा के रूप में स्वीकार किया है। मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र इस 'एब्सर्ड' दुनिया में आता है और केवल वही अपने स्वतंत्र वरण द्वारा इसको अर्थ देता है।[48] इस प्रकार अस्तित्व-वाद, अस्तित्व से वरण के सिद्धांत तक पहुँचता है।[49] इसी को नयी कहानी में क्षमता-बोध कहा गया[50] और यह आवश्यक बताया गया है कि अस्तित्व में आया व्यक्ति यह वरण—सर्वोत्तम का निर्णय—पूरी आस्था और साहस के साथ करें।[51] शिवप्रसाद जी की कहानियों में इस निर्णयात्मकता (स्वतंत्र वरण या वरण की स्वतंत्रता) में जीते तमाम पात्र अपने संपूर्ण अस्तित्व में अर्थवान हो उठे हैं। बोधन तिवारी (हीरों की खोज), देऊ दादा, दादी माँ, उपधाइन मैया, भैरो पाण्डे (कर्मनाशा की हार), नन्हों, जगपती (कर्ज़), मुसम्मात नैना (धरातल) आदि सबके सब पूरी आस्था, विश्वास और साहस श्रम के साथ यह वरण करते हैं। इन्हीं के समानांतर एक लंबी शृंखला उन

---

45. नयी कहानी की भूमिका— कमलेश्वर, पृष्ठ 45 से उद्धृत।
46. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 18.
47. वही, पृष्ठ 18.
48. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 51.
49. वही, पृष्ठ 50.
    'नो' च्वायस विदाउट डेसिजन, नो डेसिजन विदाउट विल, नो विल विदाउट ड्यूटी, नो ड्यूटी विदाउट बीइंग—सिक्स एक्जिस्टिसियस्ट थिंकर्स, पृष्ठ 60.
50. (अ) नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 64.
    (ब) नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 150.
51. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 75.

मनुष्यों की भी है जो तमाम दबावों के बीच यह वरण, चाहते हुए भी नहीं कर पाते। स्थितियों-सामर्थ्यों के इसी द्वंद्व का अध्ययन हमने 'धारा और धारा के भीतर-बाहर' शीर्षक के अंतर्गत किया है पर अब यह अस्तित्ववादी चिंतन की सर्वनिष्ठता ही है कि इन्हें वह भी अपने दायरे में समेट लेता है। पर ये सबकी सब कहानियाँ अस्तित्व-वादी नहीं होने पायी हैं क्योंकि ये सभी पात्र अस्तित्ववादी सिद्धांतों को प्रमाणित करने के लिए नहीं रचे गये और न ही दर्शन के घटा-टोप से घिरे ही हैं। नयी कहानी के संदर्भ में नन्हों का जिक्र क्षमता-संपन्न पात्रों के साथ बहुधा किया गया है।[52] इसे स्वातंत्र्य-बोध के संबंध में भी आँका गया है।[53] एक दूसरे सशक्त चरित्र के रूप में मुसम्मात नैना (धरातल) का नाम लिया जा सकता है। नैना के निर्णय (वरण) नन्हों से कहीं ज्यादा स्वतंत्र-दृढ़ हैं जो उसे उतना ही क्षमता-संपन्न बनाते हैं। नन्हों के निर्णय में उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया महत्वपूर्ण है, पर यहाँ शुद्ध रूप से अस्तित्व की स्थापना (एसेंस ऑफ एक्जिस्टेंस) ही महत्वपूर्ण है। नन्हों मात्र अपने पैरों पर खड़ी है, पर नैना अपना वजूद स्थापित करती है—काबू पाने के लिए अपनी तरफ बढ़ते दूसरे के पैरों को उखाड़कर। इसके लिए वह तीन निर्णय लेती है। पहली बार अपने देवर के आधिकारिक नियंत्रण के संबंध में—'तो यह मुझे कुतिया बनाकर जंजीर में बाँधकर रखना चाहता है, ताकि मैं रोटी के टुकड़े के लिए दुम हिलाती उसके पैर चाटूँ। मैं ऐसा नहीं कर सकूँगी, हर्गिज नहीं।'[54] दूसरी बार हरिमंगल के साथ शहर जाने पर शारीरिक समर्पण के संबंध में—'मैं जानती थी कि मैं उसके साथ गयी तो ऐसी ही नहीं लौटूँगी'[55] और वहाँ जाकर यह ज्ञान व्यवहार में उतर आया। स्वतंत्रवरण ने नैतिक मर्यादाओं का किला तोड़ दिया और तीसरी बार खेत बेचकर हरिमंगल को पैसे न देने का निर्णय लेती हुई तो बिना एक क्षण की देर किये वह अपने अस्तित्व को स्थापित करते हुए साफ-साफ पूछ देती है—मैं कहाँ जाऊँगी ? इस प्रकार नैना एक नारी : एक विधवा की हैसियत से सामाजिक-पारिवारिक स्थितियों में ही क्षमता-संपन्न नहीं है, समाज के नैतिक मूल्यों के भी विरुद्ध निर्णय लेकर स्वतंत्रता का वरण करती है, पर 'आत्म', 'सेल्फ एसेंस' को स्थापित करती है। ध्यान दें तो यहाँ एक तथ्य और है। नन्हों और नैना दोनों में सार्त्र और कामू के अस्तित्ववादी हीरोरूपी पात्रों की वह कमजोरी है जो संवेदनशील होने के लिए जरूरी है।[56] नन्हों साफ कहती है कि मैं कमजोर थी लाला, और नैना को डाक्टर सतीश बताता है कि यह

---

52. (अ) नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 150.
    (ब) नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 66.
53. अस्तित्ववाद और नयी कहानी—लालचंद गुप्त मंगल, पृष्ठ 154.
54. भेड़िए (धरातल), पृष्ठ 18.
55. वही, पृष्ठ 101.
56. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 58.

कोई रोग नहीं, सिर्फ कमजोरी है। दोनों में ही यह स्थिति क्षमता-संपन्न निर्णयों के बाद झलकती है।

अस्तित्ववाद में वरण की स्वतंत्रता तीन संदर्भों में व्याख्यायित की गई है—(1) वैयक्तिक, (2) सामाजिक और (3) विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में।[57] पर सार्त्र ने वरण के संबंध में लिखा है कि 'व्हाट वी चूज, इज आलवेज द बेटर ऐण्ड नथिंग कैन बी बेटर, अनलेस इट्ज बेटर फॉर आल' जिससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वैयक्तिक वरण भी सामाजिकता लिए हुए है अथवा प्रकारांतर से दोनों एक ही हो जाते हैं। इसी संदर्भ में नैना का वरण उस परिस्थिति में जीते किसी भी व्यक्ति के लिए वरेण्य है। भैरो पाण्डे (कर्मनाशा की हार) का निर्णय तो स्पष्ट रूप से संपूर्ण मानव-समाज के लिए ही है। शिवप्रसाद सिंह ने मात्र वैयक्तिक संदर्भ में स्वतंत्र निर्णय लेने वाले लहरी सिंह (बीच की दीवार) और शंकर सिंह (तकावी) के माध्यम से इसके अशिव रूप का भी संकेत कर दिया है। स्वतंत्र वरण में मनुष्य को उसके उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता अपेक्षित है,[58] जिसके बिना पात्रों का वरण उनके जीवन को गर्त की ओर ले जाता है। जहाँ इनकी स्वच्छंदता इन्हें क्षमता से वंचित कर देती है वहीं अनेक कहानियों के पात्रों जुम्मन (आर-पार की माला), अशरफ चाचा (किसकी पाँखें), सुभागी (बेहया) आदि में प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अपने बोध के मुताबिक क्षमता (क्षमता बोध) नहीं आ सकी है। पर कर्म व संघर्ष से ये अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं।[59] यह कर्मों की समष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

उत्तरदायित्वमय क्षमताबोध से पूर्ण अस्तित्व-संपन्न मनुष्य वरण की क्रिया द्वारा अपने वरण का मूल्य निश्चित करता है।[60] वह मनुष्य अपने मूल्य स्वयं गढ़ता है।[61] डॉ० रामविलास शर्मा ने मूल्यों की खोज को लेकर अस्तित्ववाद में जो विसंगति दिखायी है,[62] वह मार्क्सवाद के प्रति उनके अतिरिक्त रुझान और इसी से तथ्यों को नजरअंदाज कर देने के कारण है। वस्तुतः अस्तित्ववाद में जिस अर्थ को मनुष्य चुनता है उसके अतिरिक्त उसका कोई मूल्य भी नहीं।[63] उसका वरण आत्मगत ही होता है, पर अनिवार्य रूप से सर्वहित के साथ जुड़ा होता है—'नथिंग कैन बी बेटर, अनलेस इट्ज बेटर फॉर आल।' भैरो पाण्डे का वरण एक ऐसा ही मूल्य स्थापन है जिसमें वे समाज

57. अस्तित्ववाद और नयी कहानी—लालचंद गुप्त मंगल, पृष्ठ 71.
58. 'एक्जिस्टिसियलिज्म'—सार्त्र—पृष्ठ 9, लालचंद गुप्त की किताब, अस्तित्ववाद और नयी कहानी, पृष्ठ 74 से उद्धृत।
59. अस्तित्ववाद और नयी कहानी—लालचंद गुप्त मंगल, पृष्ठ 84.
60. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 50.
61. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 153.
62. अस्तित्ववाद और नयी कविता—डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 97.
63. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 61.

में आरोपित मान्यताओं, संस्कारों, रूढ़ियों, अंधविश्वास से उत्पन्न पूर्वनिश्चित नियमों को तोड़ते हैं। ये सब गलाज़त के अंबार के रूप में समाज पर छाये हुए होते हैं। अस्तित्ववाद का युद्ध पूर्वदर्शन मुख्यतः इन्हीं अंबारों को हटाने के लिए प्रयत्नशील रहा। कीर्केगार्द का यही मूल स्वर रहा है। भैरो पाण्डे के अलावा 'अंधकूप' का सोमू इस संदर्भ का शुद्ध अस्तित्ववाद पात्र लगता है, वह इसी गलाजत को वैचारिक स्तर पर अस्वीकार करता है। इसमें वह अंधा समाज अंधकूप है जिसकी ख्याति प्रेतात्माओं के लिए है। सोमू इसमें मिठास और शीतलता की खोज में इस अंधता को अस्वीकार करता है।

नयी कहानी में पात्रों के इस वरण को सामाजिक मूल्यों के अलावा धर्म-विषयक, दाम्पत्यविषयक और यौनविषयक पुरामूल्यों के नकार के रूप में भी स्वीकारा गया है।[64] शिवप्रसाद सिंह के अशरफ चाचा जाति पर आधारित धर्मविषयक पुरातन मूल्यों को अस्वीकारते हैं। वे हिन्दूपन के अतिशयतावादी आग्रह के विरोध में गाँव छोड़ देते हैं, पर वरण की स्वतंत्रता नहीं छोड़ते। अस्तित्ववाद संस्थाबद्ध सामूहिकता से इनकार करता है जिसमें व्यक्ति का अस्वित्व खंडित, विभाजित होकर समाप्तप्राय हो जाता है। ईश्वरवादी होते हुए भी कीर्केगार्द द्वारा ईसाइयत के चर्चवादी स्वरूप का बहिष्कार इसी से परिचालित है। इसे समूहवाद कहा गया है जिसमें भीड़ धर्मी खोखले मूल्यों का वर्चस्व होता है।[65] और इस समूहवालों को व्यक्तिगत रूप में यह नहीं पता होता कि वे क्या कर रहे हैं। 'किसकी पाँखें' के धर्मू भाई इसीलिए चुप रह जाते हैं। अशरफ चाचा इसी समूहवादी मानसिकता को नकारते हैं। आवरणमूलक सत्यों को फाड़कर व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना ही इनके प्रयत्न का अभीष्ट है।

जो खोखले जीवनमूल्यों से विरोध नहीं कर पाते हैं, चाहकर भी निषेध या अस्वीकार करने की स्थिति में नहीं हैं, उनके हालात को हम अस्तित्ववादी संदर्भ (और शब्दावली) में 'मिथ ऑफ सिसिफस' की स्थिति का नाम दे सकते हैं। सिसिफस की तरह उनकी स्वतंत्रता भी समाज के अन्यायी अधिकारियों, क्रूर शक्तियों के हाथों में कैद है। उनकी वरण की स्वतंत्रता बाधित है। सिसिफस के पत्थर की चट्टान के रूप में वे अपनी बेमानी जिन्दगियों को ढो रहे हैं। उनकी जिन्दगी भी एक उमरकैद की सजा है। डॉ० सिंह के अनुसार सिसिफस एक बेमानी जिन्दगी का प्रमुख पात्र है.... इसमें जिन्दगी शक्तिशाली के हाथ का नाचीज खिलौना बनकर रह गयी है। समाज शासन पार्टी अन्तरराष्ट्रीय कैंपबाजी के मजबूत हाथ किसी व्यक्ति या देश को रौंदते निकल जाते हैं और हम कुछ कर नहीं पाते।[66] आज हमारे देश की अवस्था इससे

64. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 61.
65. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 38.
66. शिखरों का सेतु—डॉ० शिवप्रसादसिंह, पृष्ठ 147 और 170.

भिन्न नहीं है। सिसिफस और कोई नहीं, पागलतंत्र से लड़ता हुआ आज का प्रत्येक मनुष्य है।[67] सिसिफस आज के समाज में हजारों की संख्या में मिल जायेंगे जो लेखक की कहानियों में भी अनेक नाम-रूपों में देखे जा सकते हैं। शीला (बरगद का पेड़), चम्पा (महुए का फूल), नीरू (आर-पार की माला), देवी सिंह (उस दिन तारीख थी), फुलमत (कर्मनाशा की हार), बक्कस-बशीर (सँपेरा), बदलू-बब्बर (पाप-जीवी), टीमल (माटी की औलाद), गंगा भाभी (रेती), मंगरा कबरी (इन्हें भी इंतजार है), तारा (टूट तारे), अरुन्धती, तिउरा (धारा), रिक्शावन (चेन) और 'बड़ी लकीरें' का मैं आदि क्या विभिन्न संदर्भों में सिसिफस की सजा माँगते अभिशप्त पात्र नहीं हैं, उसी की तरह इनका अपराध भी यही है कि ये भी जिन्दगी के प्रति अनुरक्ति के वशीभूत होकर उसे बेहतर बनाने के प्रयत्न में सत्य के आग्रही बने रहना चाहते हैं। आधुनिक कहानी के ही संबंध में कहे गये देवेन्द्र इस्सर के शब्दों में डॉ० सिंह के 'ये सब पात्र उस पाप के बोझ को ढोने के लिए विवश हैं जो उन्होंने किया ही नहीं,[68] सिसिफस की तरह ही।

नयी कहानी के संदर्भ में अस्तित्ववाद को लेकर उठाये गये मौलिक प्रश्नों की व्याख्या करना कमलेश्वर को इसलिए जरूरी लगा था कि भय, संत्रास, अरक्षा, अकेलापन, निरीहता, निराशा, निर्णय-विहीनता आदि की बात नयी कहानी में उठायी जा रही थी। विस्मय और डर आज के मूल लक्षण बन गये हैं जो अस्तित्ववादी चिंतन के प्रमुख अंग हैं। प्रायः सभी अस्तित्व-चिंतकों ने इस पर विचार किया है और हिन्दी में एतत्संबंधी सभी समीक्षाओं में इनका उल्लेख हुआ है। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में यह स्थिति बड़ी सहज थी। सिसिफस धर्मी पात्रों में तो थी ही, क्षमता-संपन्न पात्रों में निर्णयपूर्ण और वरण से गुजरते हुए यह स्थिति बड़ी मौजूँ होती क्योंकि मनुष्य के चरित्र का निर्माण उसी समय होता है जब वह कोई वरण करता है। इसलिए वह हमेशा संत्रास से परेशान रहता है।[69] किन्तु डॉ० शिवप्रसाद सिंह की प्रवृत्ति इस पर टिकती नहीं। इसके कारणों में प्रथम तो यह कि अन्य सभी बाह्य प्रभावों की तरह अस्तित्ववादी प्रभाव को भी फैशन के रूप में लेखक ने ग्रहण नहीं किया है। दूसरे गँवई परिवेश के पात्रों में इनकी खुली अभिव्यक्ति वहाँ के परिवेशगत यथार्थ और पात्रों की सचाई के खिलाफ होती। तीसरा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण लेखकीय प्रतिबद्धता है। डॉ० सिंह का विश्वास है कि दूर से बैठकर आस्था और संदेहहीनता की बात तो स्वयंभू आलोचक ही करता है। सृजक अपनी पीड़ा को चाहकर भी नहीं भूल सकता। बस, उसके लिए एक ही रास्ता है, वह है आत्मविश्वास और अपनी ईमानदारी के प्रति आस्था। इसी के बल पर वह अपनी कला के माध्यम से सहस्रों

---

67. कस्तूरी मृग, पृष्ठ 170.
68. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 97.
69. वही, पृष्ठ 51.

लोगों तक जीवन का संदेश पहुँचा सकता है।....जिनकी रगों में खून है, हृदय में धड़कन है, उन्हें उदास होना ही पड़ता है, उनकी उदासी एक बहुत बड़े विश्वास को जन्म देती है, कष्टों से जूझने की ताक़त देती है।[70] अस्तित्ववादी पात्रों की चेतना भी यही है। 'जीवन की विवशता से उत्पन्न हुई निराशा तथा वेदना ने अस्तित्ववादियों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। यह एक विचित्र तथ्य है कि इतने कर्मण्य, बौद्धिक आंदोलन को प्रेरित किया अवसाद और निराशा ने।[71] इन्हीं स्थितियों से कर्म की प्रेरणा के प्रति शिवप्रसाद सिंह भी प्रतिबद्ध हैं पर उनमें यह मात्र अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण नहीं आया है, यह उनके परिवेश, संस्कार, चिंतनपद्धति से निर्मित प्रकृति की देन है जिसे वे एक चिंतक की हैसियत से अपनी कला के माध्यम से जीवन-संदेश के रूप में सहस्रों लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं। इसीलिए नन्हों के अकेलेपन को शक्ति की उद्‌बोधक वस्तु बनाकर पेश करते हैं[72] और उपधाइन मैया में कर्म की प्रेरणा। टीमल-मंगरू में अरक्षा अभाव से उत्पन्न निरीहता जीवन के प्रति संसक्ति जगाती है। बदलू, गंगा भाभी की विसंगति उनमें सहनशक्ति उपजाती है। प्रकृति-प्राप्त दुःख-निराशा रानी (परकटी तितली) में धैर्य और कर्तव्य का भाव जगाती है। पर स्थितियों की माँग के कारण लेखक ने कला-कर्म का तकाजा भी निभाया है। बीच-बीच में प्रच्छन्न रूप से ही सही, अवसाद, निराशा, कुण्ठा, उत्पीड़न आदि भावों का चित्रण हुआ है। देवी सिंह (उस दिन तारीख थी) में यह स्पष्ट देखने को मिलता है तो रंजना (प्रायश्चित) में स्थितियों के उत्कर्ष तक आकर छोड़ दिया गया है।

'मुरदासराय' तक आते-आते लेखक की वह आस्था टूटने लगती है। यही अस्तित्ववाद पर लिखने का दौर भी है, अतः उसका प्रभाव भी मस्तिष्क पर छाता रहता है और तब 'मुरदासराय' की कुछ कहानियों में भग्नाशा, कुण्ठा, घुटन, अनिर्णय, विवशता, ऊहापोह, मानसिक यंत्रणा आदि से गुज़रते पात्रों में संत्रास की स्थितियाँ चित्रित हुई हैं। अरुन्धती और अवधू (एक यात्रा सतह के नीचे) इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इनमें अस्तित्ववादी प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है—उनमें (बड़की बहू में) अब कुछ सोचने-समझने की ताकत भी नहीं रही। लहरों ने हर प्रतिशोध को तोड़ दिया था। आज बड़की बहू का अस्तित्व किसी दूसरे के अधीन था....हर क्षण जिसका लौह शिकंजा उनके गले में कसता जा रहा था। उसी शाम एक संत्रास और. . । अचानक बड़की बहू के मन में फिर से अभिमान का अंकुर सुगबुगाने लगा, जैसे उन्होंने पानी में बहते अपने निरर्थक अस्तित्व को पुनः हाथों से पकड़ लिया हो।....तभी बड़की बहू को लगा कि अचानक जैसे राख में ढँकी-बुझी आग पर किसी ने एक चुल्लू किरासन का तेल डाल दिया है....भकभक करती एक बदबूदार लपट उनके पूरे जिस्म को ढंक

70. शिखरों का सेतु—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 171.
71. हिन्दी साहित्य कोश—पारिभाषिक शब्दावली-भाग 1, पृष्ठ 93.
72. शिखरों का सेतु—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 184.

लेने के लिए उछल रही है। और तभी उन्होंने अपनी आँखों के सामने वह दृश्य देखा—लाखों-लाख हाथ, मुट्ठियों में बँधे हाथ, हाथ नहीं हाथों का जंगल लहरा रहा है। हर मुट्ठी इस तरह भिंची जैसे घृणा और हिकारत ने उनके भीतर नसों में बहते खून में छरछराने वाला घातक जहर मिला दिया है। चौड़े घट्ठे वाले हाथ, बदसूरत उंगलियों वाले हाथ, गंदी नाजुक कलाइयों वाले हाथ, तिरछी गांठोंदार उंगलियों वाले, ठिगने-ठिगने हाथ ही हाथ....बस, हाथ और जाने क्या है इन लहराते हाथों के निर्देश में कि एक भरी-पूरी भारी सी आकृति बेबस होकर पीछे को धकलाती चली जा रही है। अरे कोई रोको। रोको उसे...बड़की बहू साफ देख रही है कि वह बेबस-निरीह, सूखे-सूखे होठों वाली आकृति हीरा की है....वह उठने को होती हैं कि आकृति भभकती लपटों में गिर पड़ती है और हाथों की भीड़ एकाएक शांत हो जाती है, भिंची मुट्ठियाँ खुल जाती हैं, नसें शिथिल हो जाती हैं। यह मानसिक संत्रास शरीर में और उतरने लगता है—उनके भीतर कहीं कुछ उफनता-उफनता-सा लगा कि वह उठकर बैठ गयी। इधर-उधर निराश भाव से देखा कि जोर से हूल आयी और उन्होंने झटके से गरदन पाटी के ऊपर कर ली। ढेर-सी कै जमीन पर फैल गयी। अजीब किस्म का तीखा-तीखा धुंआ सा पानी गले में अटक गया था। वह सोचती थी कि एक बार कै और होती, ताकि यह अँटकी हुई चीज बाहर आ जाती पर बहुत देर तक वैसे पड़े-पड़े इंतजार करने पर भी कै नहीं हुई। हुई दो-चार बार, पर अपने से ही।...पूरी तरह लथपथ होकर वह निढाल-सी पड़ गयी। नसों की शिथिलता के कारण शायद कै का उद्रेक भी कमजोर पड़ जाता था।[73]

काफी अंतराल के बाद लेखक की कहानियों का दूसरा युग शुरू होता है और अब स्थितियाँ बिल्कुल बेकाबू हो गयी हैं। आस्था का संबल टूटा भले न हो पर उसका दिग्दर्शन जमाने के यथार्थ को झुठलाना हो जायेगा। अतः 'भेड़िए' की कहानियों में ये सब पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। बेकारी और मिली भगत वालों के गुट का मारा 'बड़ी लकीरें' का मैं पूरी तरह से विसंगति का शिकार हो गया है। उसका जीवन अधूरी शून्यता से भर गया है। वह अपने गाँव में ही अजनबी की तरह फिरता है तो नैना मुसम्मात घर में ही अजनबी, 'आउट साइडर' बन गयी है। भय और शंका इतनी कि उसकी जिन्दगी एक पतले धागे से बँधी लटकती रही है। उसके नीचे जलता-उबलता दलदल दिखता है तो ऊपर खाली आसमान। मैं हर शाम इस डर को लेकर सोयी हूँ कि आज की रात जो मैं अपनी सांसों की छुवन महसूस कर रही हूँ, सवेरा नहीं देख पाऊँगी और हर सुबह मैं यह आशंका लेकर उठती रही हूँ कि आज शायद शरीर का आखिरी पर्दा फाड़ने की कोशिश सफल हो जायेगी।[74] 'कलंकी अवतार' के रोपन बारी में भी इस तरह के प्रत्यक्ष चित्र मिलते हैं। भेड़िए की अधिकांश कहानियों में इस तरह के चित्र देखे जा सकते हैं।

---

73. मुरदासराय (अरुन्धती), पृष्ठ 31.
74. भेड़िए (धरातल), पृष्ठ 98-99.

कहीं-कहीं संत्रास घुटन की स्थितियों के लिए कबूतरों-चीलों जैसे कुछ संकेत भी प्रयुक्त किये हैं। एक अजीब-सा त्रास भरा ज्ञान इस खुशी पर बाज की तरह टूट पड़ा। नाजुक कबूतर अभी पर फैला ही रहा था कि खूनी जबड़ों ने उसका गला धर दबोचा।[75]

मेरा शरीर मुझे ही डरा रहा था। फिर एक बार चीलों के पर सरसराते हुए माथे से गुजरने लगे थे।[76]

पर संत्रास का जितना बेलौस वर्णन 'बिन्दा महाराज' में हुआ है उतना और कहीं नहीं। उसमें यथार्थ जीवन की 'एवसर्डिटी' पूरी बेबसी के साथ उभरी है। उसका सशक्त प्रभाव एक अमिट छाप छोड़ जाता है। समाज के सलूकों से अपने ही अस्तित्व के प्रति उनके मन में संदेह पैदा हो जाता है। इससे बड़ी विसंगति और क्या होगी ? सारे स्नेहर-ाग के बावजूद सिराइन के दरवाजा बंद कर लेने का कारण और उनकी दाहक आँखों का मर्म बिन्दा महाराज समझ न सका। यह थियरी के मुताबिक भी संत्रास का सही रूप है जहाँ विसंगति के कारणों से भी व्यक्ति अनजान है। इस अनबूझे व्यवहार की प्रतिक्रिया शरीर में दर्द-भरी कँपकपी, भट्ठी के धुंए की तरह दमघोंट कमरा। डूबती-उतराती आहत आत्मा। ताप बढ़ता जा रहा था। सिर फटने लगा। भयंकर पीड़ा से वह कराह उठा।[77]

जब वरण की स्वतंत्रता को लेकर संत्रास की स्थितियाँ बर्दाश्त की सीमा लांघने लगती हैं, व्यक्ति आत्महत्या और मौत के संबंध में सोचने पर विवश होता है। कामू स्पष्ट कहता है—विसंगति से बचने के दो ही तरीके हैं—आशा और आत्म-हत्या।[78] जीवन, विसंगति का पर्याय है। इसलिए इस जगत् में सिर्फ एक ही गंभीर दार्शनिक समस्या है—वह है आत्महत्या। यह समस्या उनके लिए तो और भी गंभीर हो जाती है जो जीवन के अर्थ को समझने के लिए संकल्पित हैं।[79] 'हत्या और आत्महत्या' के बीच की शोभा बुआ की गाड़ी से कटकर आत्महत्या जीवन के अर्थ को समझने के संकल्प का ही परिणाम है। कामू अपनी चेतना की सक्रियता के बल पर आत्महत्या को जीवन की एक पद्धति में ढाल लेता है।'[80] सार्त्र की 'नौसिया' का नायक अन्त्वान-रोकांते सोचता है कि संसार में जो कुछ है व्यर्थ है, फालतू है। वह स्वयं अनावश्यक है। मैं ख्याल दौड़ाने लगा कि आत्महत्या कर लूँ। ये जो तमाम व्यर्थ अस्तित्व हैं, उनमें कम से कम एक का नाश कर डालूँ।'[81] वह हथेली में चाकू

75. मुरदासराय (अरुन्धती), पृष्ठ 32.
76. भेड़िए (धरातल), पृष्ठ 96.
77. कर्मनाशा की हार (बिन्दा महाराज), पृष्ठ 70.
78. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 123.
79. वही, पृष्ठ 122.
80. वही, पृष्ठ 122.
81. नयी कविता और अस्तित्ववाद—डॉ॰ रामविलास शर्मा, पृष्ठ 100.

भोंककर आत्महत्या का रिहर्सल भी करता है, पर निर्णय नहीं कर पाता । सिर्फ व्यर्थता की स्थितियों को चरम बिन्दु (क्लाइमेक्स) तक ले जाता है । कामू मानता है कि यह निरर्थकता आत्महत्या का प्रेरक साधन है ।'[82] सार्त्र ने कहा 'मैं मरने के लिए स्वतंत्र नहीं हूँ, एक स्वतंत्र व्यक्ति हूँ जो मरता है ।[83] इस प्रकार अस्तित्ववादियों के लिए मृत्यु एक अर्थवान सत्ता है । इसीलिए उसे चुनने और न चुनने का प्रश्न है ।'[84] जीवन के अर्थ के प्रति संकल्पित शोभा बुआ भी इसे चुनती है, पर चारों तरफ के प्रयत्नों से लाचार होकर जब अपने जीवन को रोकांते की तरह ही पूर्णरूप से व्यर्थ-निरर्थक पाती है । अपनी सामर्थ्य भर वरण करने की कोशिश उसने की थी । कस्बे की कन्या पाठशाला में नौकरी करके ससुराल न जाने का विकल्प उसने चुना था । अपने अस्तित्व को स्थापित करना चाहती थी पर प्रतिवादी शक्तियों के सामने उसकी बिदाई निश्चित थी । अतः उसे अंतिम घड़ी में मृत्यु का वरण करना पड़ा । वह इसका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर ही लेती है, पर उत्तर देने कभी नहीं आती—शायद उत्तर पूरी कहानी दे रही है ।

शिवप्रसाद जी की कहानियों में एक और आत्महत्या होती है—सोना भाभी (अंधकूप) की । वह घर में एक फालतू सामान के अलावा कुछ नहीं रह गयी थी । उसकी स्वतंत्रता बिल्कुल ही निरर्थक नहीं थी । बात-बात पर यंत्रणा, अपमान और तिरस्कार । अत्याचार से त्राण पाने के लिए वह गँवई परम्परा का अनुसरण करती है । कामू के शब्दों में वह जान गयी है कि जीवन उसके लिए अनबूझ और भारी है, पर जितने दिन वह जीती है मात्र इसलिए कि जीने की आदत पड़ गयी है ।'[85] भयानक ऊब और निराशा की परिणति में ही सोना भाभी आत्महत्या करने पर मजबूर हुई है, जब उसका अस्तित्व रोकांते की तरह फालतू सामान ही होकर रह गया था, पर वह मृत्यु का स्वतंत्र वरण नहीं करती । इसमें अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट नहीं है और इस धारणा का खंडन भी मिलता है कि मनुष्य एक स्वतंत्र व्यक्ति है जो मरता है क्योंकि सोना भाभी स्वतंत्र रूप से मर भी कहाँ सकती थी, वह मरने के लिए भी कहाँ स्वतंत्र थी ?

आत्महत्या इस बात का प्रमाण है कि इस अर्थहीन जीवन से बचने के लिए जो लोग मृत्यु को तरजीह देते हैं, वास्तव में आधिभौतिक अंधविश्वास के शिकार हैं । वास्तव में इस समस्त समस्या का समाधान हमें जीवन के दायरे के अन्दर ही करना पड़ेगा ।[86] कामू के अनुसार हत्या, मृत्यु और निरर्थकता, जो मनुष्य की महत्व-पूर्ण समस्याएँ हैं, वास्तव में जीवन के मूल्य को बढ़ाती हैं और अपनी जिन्दगी और

82. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 57.
83. वही, पृष्ठ 52.
84. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 53.
85. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 122.
86. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 56.

भी ज्यादा गहराई से जीने के लिए प्रेरक बनाती है।'[87] डॉ० सिंह का एक पात्र है—हरिचरन। पत्नी और बच्चे (उसके सब कुछ) के समाप्त हो जाने पर उसे मृत्यु-बोध और अपनी निरर्थकता का बोध एक साथ ही हो जाता है। वह निराश होकर मुरदासराय में चला जाता है। वह स्वीकारता है कि वह मृत्यु के डर से मुरदासराय में आया था पर यहाँ सूरदास-सुलक्खी (कोढ़ी-अंधे) की संतान की भावी जिन्दगी के डर से जीवन में लौट आता है। यहाँ निरर्थकता और मृत्यु-बोध जीवन के प्रेरक नहीं बनते जैसा कि अस्तित्ववादियों का कहना है। यहाँ तो जीवन की विभीषिका ही जीवन की प्रेरणा देती है। सार्त्र कहता है कि हम स्वतंत्र व्यक्ति हैं, जो मरते हैं, पर यहाँ ऐसा नहीं है। वह स्वतंत्र है, पर मर नहीं पाता। अस्तित्ववादी जीवन को दुनिया में फेका गया मानते ही हैं और भावी बच्चे का जीवन अभी अस्तित्व में आया नहीं है। इसलिए उसका जीवन हरिचरन के रोके नहीं रुकेगा, यहाँ तक तो ठीक है, पर हरिचरन का जीवन से डरकर जीवन की तरफ प्रयाण, अस्तित्ववादी मान्यताओं में नहीं अँटता। लेखक कबूल करता है कि मुरदासराय लिखते हुए अस्तित्ववादी कीड़े उसके मस्तिष्क में कुलबुला रहे थे।[88] पर वह प्रश्न करता है कि क्या इसमें अस्तित्ववाद जिन्दा बचा है?[89] शायद लेखक यहाँ इसकी चौहद्दियों को पार कर गया है। क्योंकि डॉ० सिंह पर कामू का जितना तीव्र प्रभाव पड़ा था, उतना ही आत्मघाती भी लगा था। सारे अध्ययन-आलोड़न के बाद वे समझ गये थे कि सार्त्र और कामू आधुनिक मस्तिष्क की स्वाभाविक उपज भले हों किन्तु उनको लम्बे समय तक सहयात्री बना पाना बड़ा कठिन है....आधुनिक परिस्थितियों के सम्यक् विश्लेषण में इनका योगदान स्वीकार करना पड़ेगा पर जीवन की पूर्णकामता और चारितार्थता के लिए किसी और द्वार भी अलख जगाना पड़ेगा।[90] हरिचरन का जीवन में लौट आना, उसकी वरण की स्वतंत्रता भी नहीं कही जा सकती क्योंकि वह लाचार होकर आ रहा है याने आना नहीं चाहता। इस प्रकार हरिचरन अस्तित्ववाद की मूल मान्यताओं के दायरे से पारे की तरह परे खिसक जाता है और इससे भी ज्यादा वह उनकी मान्यताओं का खण्डन करता है। 'नौसिया' का नायक रोकांते की चिन्ता है कि मृत्यु का सामना कैसे किया जाये?[91] पर डॉ० सिंह के हरिचरन की चिन्ता है कि जीवन का सामना करने के लिए क्या किया जाये? अस्तित्ववाद का विवेचन करते हुए डॉ० सिंह की चिन्ता का विषय था कि 'मृत्यु तो फिर भी अबूझ पहेली है। अस्तित्ववादी भी उसके सामने अपनी निरर्थकता का ही बोध करता है; पर क्या समाज में जीवित रहने वाले व्यक्ति

---

87. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 57.
88. मेरी प्रिय कहानियाँ—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, भूमिका, पृष्ठ 10.
89. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 6.
90. कस्तूरीमृग, पृष्ठ 170.
91. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 54.

के लिए मृत्यु से भी ज्यादा दारुण दूसरे प्रत्यवायों को नहीं भोगना पड़ता ?[92] और हरिचरन के लिए वह प्रत्यवाय है—बच्चे का भावी जीवन—'मौत' के खौफ से यूँ परेशां न हो, वह भयानक नहीं जिन्दगी की तरह—और पत्नी की मौत। पर मृत्यु जीवन से विमुख करती है, जो निश्चित रूप से वरेण्य नहीं है। वरेण्य वह है जो जीवन की प्रेरणा दे याने बच्चे की भावी जिन्दगी। अब जिन्दगी की भयावहता इतनी बढ़ गयी है कि, जीवन के संबंध में सोचना, जीवन जीने की प्रेरणा लेना ज्यादा जरूरी और श्रेयस्कर है। भारतीय मन का चिंतन है कि जीवन अदम्य होता है वह मृत्यु से डरता नहीं।[93] हरिचरन के माध्यम से लेखक इसी सत्य को स्थापित करना चाहता है जो अपने आप अस्तित्ववादी चिंतन से आगे निकल जाता है—मृत्यु के संबंध में।

अस्तित्ववाद में भी मृत्यु से जीवनबोध और आत्महत्या के बीच जिजीविषा की स्थिति को स्वीकारा गया है—अस्तित्ववाद मानवी जिजीविषा, सत्ता, स्वतंत्रता और महत्ता का दर्शन है।[94] इसका विस्तृत विवेचन कहानियों के कथ्य वाले अध्याय में किया गया है।

अपने समग्र अध्ययन के बाद शिवप्रसाद जी ने भी माना है कि इसने आज के विश्व में मानवीय स्थितियों को देखने का एक नया तरीका दिया और यह सब कुछ इस तरह सामने आया मानो इस विचारधारा के पीछे जिए हुए अनुभवों की सचाई बोल रही हो। परिणामतः इसका बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा।[95] इसी तरह समग्र अध्ययन के बाद हमें भी स्वीकारना पड़ता है कि शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कहानियों में आधुनिक चेतना की यात्रा और आंतरिक अस्तित्व के चेतनावादी रूपों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। ग्राम्य परिवेश के भीतर संघर्ष करते मनुष्य की सही तस्वीर ही उनका मूल विषय क्षेत्र है जो कहीं-कहीं अस्तित्ववाद की कलात्मक अभिव्यक्ति भी बन गया है।[96]

कहानियों के प्रमुख पात्र—'मैं'

'मैं' डॉ० सिंह की कहानियों का एक प्रमुख पात्र है। अधिकांश कहानियों में यह एक अनिवार्य व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित है। इसे देखकर बहुत बार ऐसा लगता है कि यह कहानियों की 'मैं' शैली है—'मैंने मैं शैली अपनाई'—की तरह याने यह कहानियों का उत्तम पुरुष है।[97] पर यह 'मैं' मात्र शैली नहीं है, कहानियों को

92. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 17.
93. सारिका—1 अक्टूबर 1980 में लेखक का इंटरव्यू, पृष्ठ 12.
94. अस्तित्ववाद—दार्शनिक और साहित्यिक भूमिका—लालचंद गुप्त 'मंगल', भूमिका, पृष्ठ 1.
95. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, पृष्ठ 21.
96. अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य—डॉ० श्यामसुन्दर मिश्र, पृष्ठ 306.
97. दस्तावेज—अंक 10, पृष्ठ 60.

व्यक्तिपरक बनाने वाला माध्यम मात्र नहीं है और न ही स्थितियों का सिर्फ प्रत्यक्ष-दर्शी गवाह ही, 'वह वस्तुतः समयसत्य का साक्षी और भोक्ता पुरुष है।[98] और इस रूप में यह 'मैं' शिवप्रसाद सिंह के कहानीकार व्यक्तित्व का सबसे प्रमुख हिस्सा बन गया है। लेखक साहित्य को आत्मान्वेषण की प्रक्रिया मानता है।[99] और इस रूप में यह 'मैं' शिवप्रसाद सिंह के कहानीकार व्यक्तित्व का सबसे प्रमुख हिस्सा बन गया है। लेखक साहित्य को आत्मान्वेषण की प्रक्रिया मानता है और इसीलिए 'मैं' का माध्यम उसके लिए अपने व्यक्तित्व की तलाश है जो कृतित्व का ऐसा अविभाज्य अंग बन गयी है कि प्रयुक्त कहानियाँ उसी के कंधों पर टिकी हैं। 'मैं' को निकाल देने से इनमें विशृंखलता तो आयेगी ही, इनकी वह सचाई भी अप्रामाणिक लगने लग जायेगी जिसे यह संपूर्ण कहानी महसूसती रहती है। यही 'मैं' तो इन कहानियों को कहानी से अनुभव खंड बना देता है—कही हुई से भोगी हुई तक पहुँचा देता है। इसी से इन कहानियों में निजी अनुभूति का अभिसाक्ष्य ज्यादा उभर कर सामने आया है।[100]

'मैं' की स्थितियों को न समझ पाने के कारण डा० सिंह की कुछ प्रारंभिक—नयी पुरानी तस्वीरें, दादी माँ, हीरों की खोज, मास्टर सुखलाल और कुछ बाद की ('किसकी पांखें', 'अंधेरा हँसता है'....) आदि कहानियाँ दो प्रकार के आरोपों की शिकार हुईं—(1) इन्हें 'नास्टैलिजिया' (गृहमोह)[101] और प्राचीनों के प्रति त्याग और साहस की रूमानी श्रद्धा से ग्रस्त[102] बताया गया।

इस संदर्भ में लेखक का निवेदन है कि इनमें प्राचीनों के प्रति श्रद्धा का उतना महत्व नहीं था जितना लेखकीय 'मैं' की स्थिति को अंकित करने का।[103] इस प्रकार इसमें कहानियों की व्यंजना 'मैं' की स्थितियों से प्रकट करना लेखक को अभीष्ट है। कम से कम इस संकेत के बाद तो कहानियों को इस रोशनी में समझना चाहिए और तब प्राचीनों के प्रति श्रद्धा या 'गृहमोह' जैसी बातें अप्रासंगिक हो जाती हैं।

(2) दूसरा आरोप है कि ये कहानियाँ चरित्रों की रेखाचित्र बन गयी हैं। यह भी 'मैं' की स्थिति को नजरअंदाज कर देने की गफलत से हुआ है। यदि 'मैं' की केन्द्रीय स्थिति को ध्यान में रखें तो स्पष्ट है कि यह उन चरित्रों के साथ रक्त संबंधों से जुड़ा है और कहानियाँ उसके संस्मरणात्मक चेतना प्रवाह में ही चलती हैं जिसके कारण रेखाचित्रों का सा आभास देना इनकी स्वाभाविक अनिवार्यता बन जाता है।[104]

---

98. मुरदासराय—भूमिका—'कुछ न होने का कुछ', पृष्ठ 20.
99. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 211.
100. वही, पृष्ठ 207.
101. (गीली मिट्टी-अमृतराय का कथन)—नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना पृष्ठ 197 से उद्‌धृत।
102. एक दुनिया : समानांतर—सं० राजेन्द्र यादव, भूमिका से।
103. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 206
104. वही, पृष्ठ 207.

ये तो 'मैं' की स्थितियों को भूलने के कारण हुआ पर उसे केन्द्र में रखकर देखने से भी कहानियों की समीक्षाएँ भटकाव का शिकार हुई हैं। 'मैं' की केन्द्रीय स्थिति को कहानियों के अकारण बिखराव का उत्तरदायी मान लिया गया और उन कहानियों को सफल और चर्चित कहा गया जिनमें लेखक ने इस (मैं की) आत्मपरकता की सीमा को तोड़कर यथार्थ को उसकी सहजता और संपूर्णता में अंकित करने की कोशिश की है।[105] इस संदर्भ में हम सफल कहानियों का नाम लें—इन्हें भी इंतजार है, धारा, अँधेरा हँसता है, किसकी पाँखे और दादी माँ भी। सूची बहुत लंबी हो सकती है। इन्हें कौन सफल या चर्चित कहानी नहीं मानेगा ? पर इन सबमें एक 'मैं' है। वस्तुतः इनकी अधिकांश कहानियों में 'मैं' है ही। कहीं-कहीं यह किसी नामरूपी पात्र का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, पर पहचानते देर नहीं लगती—'भेड़िए' के केवल मुंशी। और इस 'मैं' की वजह से कहानियों में बिखराव तो बिल्कुल ही नहीं आया है। यह 'मैं' रचना-प्रक्रिया के दौरान अन्य संबंधित चरित्रों और उनके कर्मों की अर्गला बन गया है जो पूरी कहानी को एक सूत्र में बाँधता है याने इससे कहानियों में संगुफन आया है। इसके न रहने से कहानियाँ बिखर जायेंगी। सच तो यह है कि लेखक कहानियों की रचना के दौरान इन बातों के प्रति बेहद सजग रहा है, इसलिए कोई भी कहानी बिखरी हुई नहीं मिलेगी। इसका अध्ययन हम 'शिल्प' के अंतर्गत विस्तार से करेंगे।

यह मैं मात्र शैली (मैंने मैं शैली अपनायी) से नितांत भिन्न इसलिए भी है कि वर्तमान युग में जो सामूहिक और यांत्रिक सत्याभासों से परिचालित होने के लिए विवश है, इस 'मैं' के माध्यम से निजी खून-मांस से उपलब्ध सत्य को कहने का प्रयत्न करते हैं।[106] बरगद का पेड़, बिना दीवार का घर, वशीकरण, प्लास्टिक का गुलाब, बड़ी लकीरें आदि का 'मैं' स्वयं 'विक्टिम' पात्र है—भोक्ता पुरुष, समय के प्रति लेखक की निजी प्रतिबद्धता का साक्षी।

दूसरे रूप में इस 'मैं' के माध्यम से लेखक 'जीवन के प्रत्येक अक्स' को सही ढंग से देखना चाहता है....यह मैं एक तरह से सभी प्रकार के अनुभव-खंडों, बिम्बों, प्रतीकों, चरित्रांशों तथा संदेहों को सहज सरलीकृत करके एक स्वाभाविक अंतर्निहित एकता के छंद में ढालने का माध्यम बन जाता है।[107] वह इन कहानियों को निजी अभिसाक्ष्य से जोड़ देता है।[108] महुए के फूल, मास्टर सुखलाल, कबूतरों का अड्डा, पोशाक की आत्मा, केवड़े का फूल, हाथ का दाग, रेती, राग गूजरी आदि तमाम कहानियों को यह 'मैं' कागज की लेखी न रहने देकर आँखिन देखी की सचाइयों का चश्मदीद बना देता है।

105. दस्तावेज—अंक–10, पृष्ठ 61 पर मधुरेश के लेख से।
106. चतुर्दिक—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 198.
107. वही, पृष्ठ 198.
108. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 207.

पर चाहे यह 'मैं' समय-सत्य का भोक्ता हो चाहे साक्षी, दोनों ही रूपों में निहायत तटस्थ पात्र है। यह तटस्थता उसे द्रष्टा और भोक्ता से आगे बढ़कर कर्त्ता नहीं बनने देती। हाड़-मांस का बना है यह, पर कहीं इसमें वह रक्त नहीं बनता जिसमें स्पंदन और गति भी हो, उबाल, उफान तो दूर की बात। इसमें जीवन की समस्याओं को देखने-जानने की उत्सुकता, सोचने-समझने की बुद्धि है, उनसे दुखी होने के लिए हृदय है जिसमें अनकही सहानुभूति और संवेदना है पर इससे आगे कोई कदम बढ़ाने की—इनीशिएटिव लेने की—शक्ति-सामर्थ्य नहीं है। स्थितियों का मूक स्वीकार, सब कुछ देखकर आँखें मूँद लेना, इसकी नियति है। इतना ही नहीं, आँखें चुराकर भाग जाने की कायरता भी है। (धारा, 'इन्हें भी इंतजार है' में)। इन सबसे घुटते रह जाने की विवशता भी देखी जा सकती है जो मात्र स्थितिजन्य ही नहीं, बहुत कुछ ओढ़ी हुई भी है। वह कोई 'रिस्क' नहीं लेना चाहता। शिवप्रसाद सिंह के 'मैं' की ये सब चारित्रिक विशिष्टताएँ बड़ी जहीन लेखनीय पकड़ का परिणाम बन गयी है। यदि इसे ध्यान से देखा जाये तो यह सब बुद्धिजीवी क्रिया-व्यापार है जो आज देश के बुद्धिजीवी वर्ग की मूल प्रवृत्ति बन गया है। असल में यह 'मैं' बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतीक रूप में उसका प्रतिनिधि बनाकर पेश किया गया है। वह गाँव का पढ़ा-लिखा युवक होता है जो कहीं छात्र है, कहीं पढ़-लिखकर गाँव लौटा है, कहीं पढ़ने-लिखने के बाद नौकरी करता है और गाँव आता-जाता रहता है।[109] आवागमन के इस दौर में लेखक अपनी कहानियों की धरती से जुड़ी (ग्रामजीवन की) सचाइयों को आत्मसात् कराने के लिए इसके ऊपर से 'इण्टेलेक्चुअल' का लबादा उतारने की कोशिश करता है क्योंकि वह जानता है कि लबादे से ग्रामीणजन भड़केंगे।[110] इस कोशिश में वह बहुत कुछ सफल भी हुआ है किन्तु वह उनकी आंतरिक प्रवृत्तियों का क्या करे, उन्हें कैसे उतारे जो उनमें रस-बस गयीं,[111] जिनसे इस 'मैं' का व्यक्तित्व सिरजा है। सो, यह सब वही है।

फिर भी, यह मैं आधुनिक बुद्धिजीवी समीक्षकों को रास नहीं आया क्योंकि इतनी सारी उपलब्धियों के बावजूद यह उस काँइयापन से दूर रह गया जो आज के पढ़े-लिखे वर्ग में आ गया है। कारण, उसने अपनी संवेदनशीलता और समझ खोयी नहीं है, उसमें सभी मनुष्य बाकी हैं—लेखक भूला नहीं है कि अपनी कहानियों द्वारा मनुष्य की खोज ही उसका गंतव्य है। पर इसका एक और भी कारण हो सकता है। यह मैं तो लेखक के आत्म-अन्वेषण की अभिव्यक्ति है, वह उसके हाड़-मांस की उसकी

---

109. दस्तावेज—अंक 10, पृष्ठ 60 पर मधुरेश के लेख से उद्धृत।
110. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 207.
111. मैं उसे उसी समय पहचान गया था जब उसने (कबरी ने) गर्दन उठाकर पहली बार भीड़ को देखा था, पर मैं दुबककर एक आदमी के पीछे हो गया था, क्योंकि मैं डरता था, कहीं ऐसे मौके पर कबरी मुझसे कुछ कहने-सुनने न लगे। मुझे उससे बातें करते देख लोग हँसेंगे।—इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 66.

निजता से जुड़ा हुआ है। इसलिए 'मैं' में वह काइंयापन नहीं दिखलाया जा सकता। इसके लिए तो अन्य पात्र की ज़रूरत हो जाती है अतः 'तो' कहानी में उदयी का सृजन करना पड़ता है या फिर 'भेड़िए' में केवल मुंशी का। ध्यातव्य है कि ये पात्र लेखक की 'टेकनीक' और प्रवृत्ति की दृष्टि से मैं के स्थानापन्न ही हैं, पर वह सब कुछ 'मैं' का प्रयोग करके नहीं दिखाया जा सकता। आखिर 'निज' और 'आत्म' का भी कोई 'स्टैण्डर्ड' होता है ?

लेखक इस 'मैं' को 'लघुमानव' कहता है। लबादा उतार देने से ऊपर-ऊपर से यह लघुमानव लगते भी हैं, पर अन्दर-अन्दर यह लघुता इनकी हीनता बन गयी है और 'मैं' अधिकांश कहानियों में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह गया है। न यह शुद्ध न बुद्धिवादी बन पाता, न ही शुद्ध मानव—गये मियां रेमूं (रंगून), न यह मूं न वह मूं।[112] शायद इसीलिए लेखक ने इसे लघुमानव जैसा बीच का शब्द दिया है। दोहरी मानसिकता के संघात से उपजा यह मैं 'संस्कारी' मन और आधुनिक (माडर्न) समझ के बीच झूलते व्यक्ति का भी सही प्रतिनिधित्व करता है जिसकी स्थिति आज के जीवन में त्रिशंकु सी हो गयी है। उसका संस्कारी मन शाप बन गया है, जो उसे देवलोक में घुसने नहीं देता—आधुनिक बनने नहीं देता और उसकी ललक उसे जमीन पर उतरने भी नहीं देती।

'मैं' की कर्त्तव्यविमूढ़ता-तटस्थता-कायरता को एक और संदर्भ में भी आंका जा सकता है। वह नयी पीढ़ी का ऐसा युवक है, जिस पर पहली पीढ़ी अपनी क्षमता, क्रियाशीलता, उपादेयता, समझ और त्याग के कारण पूरी तरह से हावी है। ज्ञान-रंजन की 'पिता' कहानी के 'मैं' की तरह वह अपने को उनके सामने पिद्दी महसूस करता है। दादी माँ, बुआ के त्याग और समझ के सामने तो बोल ही नहीं सकता पर अशरफ चाचा के सामने भी वह चुप ही रह जाता है। 'बड़ी लकीरें' में भी पिता की समझदारी—उपादेयता ही उसे चुप कराती है। व्यक्तिगत रूप से लेखक युवापीढ़ी के प्रति अविश्वास से भरा है और पहली पीढ़ी से बेहद प्रभावित है। इसीलिए भैंरो पाण्डे की पीढ़ी इन कहानियों में गमकती है और 'मैं' के समानधर्मी पात्र भाग खड़े होते हैं—कुलदीप, अवधू आदि। लेखक ने मौखिक बात-चीत में इसका कारण भी बताया है कि उसे पहली पीढ़ी से असीम प्यार-संवेदना-संरक्षण मिला है और नयी पीढ़ी की अतिवादिता-ग़ैर जिम्मेदारी हमेशा आड़े-हाथों आती रही है।

कुछ भी हो, पर लेखक का अपना एक 'मैं' है जिसे वह अपनी शारीरिक और मानसिक सभी शक्तियों के सहारे एक विशिष्ट रूप देने के लिए प्रयत्नशील रहा है और उसका विश्वास है कि धीरे-धीरे यह 'मैं' अधिक साफ़ हो रहा है जिससे लेखक संतुष्ट भी है।

स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले फाकेमस्त पात्र

सामाजिक प्रतिबद्धता डा० सिंह की लेखनधर्मिता रही है, पर बोधन तिवारी,

---

112. मियां रंगून गये, न इधर (यह मूं) के रहे और न उधर (वह मूं) के।

देऊदादा, लहरी (बीच की दीवार), लक्खीलाला, बिहारीलाल (बहाव वृत्ति), अर्जुन पाण्डे, शंकर सिंह (तक़ावी) और 'रागगूजरी' के बाबा में उनकी वैयक्तिकता रमी है। कहानी में इनकी संसक्ति लेखक के व्यक्तित्व की मौलिक विशिष्टता की परिचायक है। वह इनमें सबांग डूबा है और ये पात्र तर गये हैं। यहाँ सब कुछ छोड़-छाड़कर पात्र अपनी सहजोद्वेलित प्रवृत्तियों के प्रति प्रतिबद्ध हैं जो मुँहजोर घोड़े की भाँति दुनियादारी की बाधाओं-कठिनाइयों की लगाम को नहीं मानतीं। भिन्न वृत्तियों के धनी ये पात्र अपने मन के राजा हैं। बिहारीलाल अपनी कलात्मक वृत्ति का धनी है, नाच-गान के प्रति समर्पित है। कहानी पढ़ते हुए कभी-कभी आभास मिलता है कि वह कामचोरी की वजह से इसमें संलग्न होने का नाट्य करता है, पर साधु बन जाने के बाद भी नाच-गान-वृत्ति में ही बहना प्रमाणित कर देता है कि यह स्वभाव की विवशता है—उसकी अनिवार्य वृत्ति है। दुनियादारी का तक़ाजा उसे बेटे तक से पिटवाता है पर उसकी घर फूंक मस्ती छोड़ने पर विवश नहीं कर पाता। ऐसा ही लक्खीलाल है। आलोचना के अपने लेख में डॉ० बेचन ने इसका उल्लेख भर किया है[113]—विशिष्ट पात्र के रूप में, बाकी सब कुछ तो अनदेखा ही कर रखा है। वास्तव में लक्खीलाल तो सचमुच लक्खीलाल है—शाखामृग, वानरी वृत्ति है उसकी। उन्होंने तरह-तरह के धंधे किये, किसी काम को एक-दो महीने से अधिक नहीं चलने दिया। यह इसलिए कि उसमें उनका मन न लगा, कोई ऐसी चीज न मिली जो उन्हें बाँधकर रख सके, कुछ ऐसा न था जो उन्हें उलझाए रहे।[114] इसीलिए जब शादी के चंद रोज बाद ही वह पत्नी को पीटने लगा तो लोग उसकी प्रवृत्ति को ही दोष देने लगे—'कहीं भागने का डौल बाँध रहा होगा....बहुरूपिया, आज कुछ, कल कुछ। कभी बाजा, सिलाई, कभी दौरी, कभी बटाई।' इस तरह उनकी बहुधंधी प्रवृत्ति जगजाहिर है व पूरे गाँव में सरनाम है और यही उनके व्यक्तित्व की निधि है। इससे कहानी में क्या व्यंजना निकलती है, यह सवाल करना यहाँ बेईमानी ही नहीं, लक्खीलाल का अपमान है, आप अपने को लक्खीलाल तक ही अलं रखिए, वह आपको निराश बिल्कुल नहीं करेगा। ठीक इसी तरह 'अंधेरा हँसता है' के अर्जुन पाण्डे को भी परखिए। उनके 'आइडिया' बनने को एक मिनट के लिए छोड़कर उनकी मस्ती में डूबिए। मैं विश्वास दिला सकता हूँ कि आपको ज़रा भी अगूढ़ नहीं लगेगा। यदि कहानी में वह अंतिम अंश न भी हो तो भी सिर्फ अर्जुन पाण्डे के साथ कहानी में जीना, बिल्कुल वक्त जाया करना नहीं लगेगा। उनकी अपनी रुझान है जिससे उनका व्यक्तित्व बना-निखरा है। कहीं से भी ऐसा नहीं लगता कि व्यक्तित्व ने रुझान चुने हैं या निश्चित किये हैं। इस तरह का निर्माण हीरामन जैसे चरित्रों में (यत्र-तत्र) क्वचित् ही मिल सकेगा। पाण्डे अकेले कहानी को सोना बनाते हैं, उनसे प्रक्षिप्त 'आइडिया' तो उसमें सुहागा भर पैदा करता है।

---

113. आलोचना—जनवरी 1966—पृष्ठ 91.
114. इन्हें भी इंतजार है—पृष्ठ 149.

इनके अलावा 'बीच की दीवार' और 'तक़ावी' के दो ठाकुर भी हैं—लहरीसिंह और शंकरसिंह। दोनों तीन भाइयों में सबसे छोटे हैं। गाँव के जीवन में जितना फक्कड़पन, औलियागीरी और गवनई-मटरगश्ती हो सकती है, सब इनमें कूट-कूटकर भरी है। लेखक ने भी इन्हें 'बहेतू' नाम ही दिया है। दोनों के रास्ते थोड़े अलग हैं, इसलिए दोनों मिलकर एक मुकम्मल बहेतू बन सकते हैं। स्तरवैभिन्य से उनकी करामातों में फर्क आया है पर दोनों की प्रवृत्ति एक ही है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इनके बहेतूपन में पत्नी-बच्चों की जिम्मेदारी कोई भी अवरोध पैदा नहीं कर पाती। मानो तीन-चार दशक बाद ये प्रेमचंद के पात्र गुमान और उनके सूत्र-वाक्य – 'उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों में सहायक होता है[115]—की गांधीवादी मनोवैज्ञानिकता से इनकार की मुद्रा में खड़े हैं। तीन भाइयों में तीसरे और फाकेमस्त प्रवृत्ति की समानता देखकर एक बार ऐसा अनुमान होता है कि उतना सब कुछ भोगने-सहने के बाद शायद यह हृदय-परिवर्तन इस बदली जिन्दगी के लिए बेमानी हो गया है। खैर, पारिवारिक उत्तरदायित्व इनके सँभलने की भूमिका तो नहीं बनता, हाँ भाइयों से अलग होकर स्वच्छंद रूप से विचरण का मौका ज़रूर देता है। इनका बहेतूपन इनकी प्रकृति में इतना रचा-बसा है कि किसी भी स्थिति में ये इस पर अंकुश नहीं लगा पाते। लहरीसिंह यदि भूखों मरते हैं, तो अपने मरते हैं किसी साले के घर भीख माँगने तो नहीं जाते, कहते हैं तो शंकर सिंह का कहनाम है—खायेंगे गेहूँ, नहीं रहेंगे ऐहूँ, सब कुछ देने वाला गुसैंया है, कोई किसी का भाग्यविधाता थोड़े ही है।[116] फलतः शंकरसिंह के खेत बिकते हैं, लहरी सिंह की पत्नी भयानक बीमारी का शिकार होती है, पर न लहरी रातों की नौटंकी का मजा छोड़ते और न शंकर सिंह—कर्ज से ही सही, चिड़ियों के शिकार का मोह। जाहिर है कि इनकी बर्बादियों से ऊपर है इनकी प्रकृति या यूँ कहें कि बर्बादियों की बलि पर ही इनकी प्रवृत्तियों का यज्ञ संपन्न होता है। पर लेखक इनकी बलि के साथ प्राकृतिक प्रकोपों का मंत्र भी पढ़ता रहता है, सूखा, दाहा, अकाल, पाला आदि खेतिहरों के सहगामी ही हैं, उनका असर तो होता ही है अनिवार्य रूप से, पर डॉ० सिंह पर इसका जज्बा इस कदर तारी है कि इन कहानियों में अप्रिय-सा लगने लगता है। यथार्थ के बावजूद ये सब लहरी और शंकरसिंह की प्रकृति को आघात पहुँचाते हैं, हमारा ध्यान 'डाइवर्ट' कर देते हैं। अब हमारा ध्यान इस द्वंद्व में भी उलझने लगता है कि इनकी बर्बादियों के लिए कौन ज्यादा जिम्मेदार है, इनकी प्रवृत्तियाँ या प्राकृतिक प्रकोप। इसमें दोनों बराबर या कम-ज्यादा जैसा कोई भी हल निकलेगा ही, पर कहानी में इन चरित्रों के साथ चलते हुए हमें यह सब नामाकूल लगने लगता है। ऐसा मन होता है कि इन हालात के लिए शंकर और लहरी सिंह अकेले जिम्मेदार ठहरते या काश, ये ऐसे साल में कार्यरत होते जबकि ऐसा कोई प्रकोप न पड़ता और अपने हालात के लिए ये स्वयं

115. मानसरोवर—भाग-सात, पृष्ठ 162.
116. मुरदासराय।

जिम्मेदार होते तो शमा कुछ और ही होता । शायद शंकर लहरी से पूछा जाये तो वे भी अपनी बर्बादियों की राह में कोई और प्रतिद्वंद्वी या हस्तक्षेप नहीं चाहेंगे, इन सबको अपने ही कंधों पर रखना शायद अपना सौभाग्य समझते । अपने बहेतूपन को ढोने में इन सबको वे भी अपने कंधों की नामूसी ही समझते होंगे ।

लहरी-शंकर सिंह के बहेतूपन की रही-सही कसर पूरी करने के लिए हम 'अंधकूप' के सोमू को नहीं भूल सकते । उसके आयाम और भी धारदार हैं जिसे हम आवारा और शोहदा भी कह सकते हैं । छबियावाला पूरा प्रकरण और सोना भाभी पर डोरे डालने वाला प्रसंग यही साबित करता है । गैर-जिम्मेदाराना आदतें इसमें भी हैं, पर कुत्सित प्रवृत्तियाँ सर्वोपरि हैं । दूसरे ये पत्र के रूप में सब कुछ तब बता रहा है । जब ज़माने का अत्याचार देख चुका है इसलिए मस्ती के आलम में पगा सोमू विचारात्मक विद्रोह का रूप ले लेता है ।

इनके अलावा लेखन की शुरुआत में आये बोधन तिवारी, देऊ दादा स्वच्छ निराली प्रवृत्ति के धनी हैं । देऊ दादा की फांकेमस्ती एक सच्चे इंसान का अल्हड़पन है जो विश्व-प्रेम—मानव प्रेम की तरफ संकेत करता है । रहन-सहन, खान-पान, बात-व्यवहार, आदि सभी में ये निगम, छल-छद्मरहित पूर्ण मानव हैं—व्यक्तिगत रागद्वेष से निर्लिप्त । हालाँकि जीवन-प्रवृत्तियों का विरोधी चरित्र ही ऐसा होता है पर गाँवों में आधुनिकता के काइंयापन से रहित ऐसे मनुष्यों का मिलना असंभव बिल्कुल नहीं—उस समय (1951-53) तो बिल्कुल ही नहीं । बोधन तिवारी अपनी मस्ती में अकेले ही वह काम कर दिखाते हैं जो आज नेक्सलाइटों का गुट करता है । वे विरोधी से मुकाबला नहीं कर पायेंगे, यह बोधन तिवारी भी जानते हैं । इसीलिए निरापद वक्त और तरीका निकाल लेते हैं । इनमें विरोध की इच्छा-शक्ति जितनी प्रबल है, उसी के अनुकूल इनकी शरीर ने क्षमता पैदा कर ली है । देऊ दादा की विश्व-मानवता और बोधन का समाज से हिकारतभरा प्रतिशोध दोनों ही अपने चिंतन और तरीके में औसत आदमी के यथार्थ से दूर हैं पर अपनी विशिष्टता में ये चरित्र प्रवृत्तिविरोधी नहीं हो पाये हैं, यह बात दूसरी है कि उनकी प्रवृत्तियाँ आदर्श-मंडित हैं । लेखन के अद्यतन काल में लिखी डॉ० सिंह की कहानी रागगूजरी का बाबा प्रवृत्ति-संचालित मस्तमौला पात्र ही है । नितांत अलमस्त और स्वच्छन्द । उसे जो और जैसे करना है, करता रहता है । न उसमें कोई अहं है, न पूर्वग्रह, न नियम-कानून की हठ-धर्मिता, उसका मन जो चाहे शुद्ध रूप से, करने चल पड़ता है ।

इसी प्रकार बिहारीलाल अपनी कला, लक्खीलाल अपने शाखामृगत्व, अर्जुन पाण्डे अपनी सदाबहार मस्ती, शंकर-लहरी अपने बहेतूपन, सोमू अपने शोहदेपन और आवारागर्दी तथा बाबा अपनी स्वच्छन्द भावनाओं में ही जीते हैं । इन पर ही इन्होंने अपनी जिन्दगी वार दी है । इससे ये पूर्ण संतुष्ट भी हैं । लेखक ने इनकी सर्जना नहीं की है, अपने सृजन के लिए इन्होंने उन्हें मजबूर कर दिया है (बाद में कुछ के साथ लेखक ने नुक्ता-चीनी की है, जिसका जिक्र हो चुका है) । ऐसा मजबूर, जिसमें और

कोई बोध चेतना की परिधि में फटक नहीं पाता। पर ये पात्र और कुछ के मोहताज हैं भी नहीं। बिना किसी निजी संलग्नता के ऐसी सृष्टि बहुत मुश्किल होती है। शुरू से आखिर तक इसका सूत्र कहीं टूटा नहीं है, जो निश्चित रूप से लेखक के भोक्ता होने की गवाही देता है।

टाइप्ड और विशिष्ट पात्र

टाइप्ड और विशिष्ट पात्रों की बात भी कर ली जाये, जो बहुत ज़रूरी न होते हुए भी मुनासिब होगी।

प्रसिद्ध विद्वान् ई० एम० फास्टर ने चरित्र के दो भागों में विभक्त किया—

1. समतल फ्लैट
2. गोल राउंड

इसी को क्रमशः स्थिर और गतिशील तथा टाइप्ड व विशिष्ट भी कहा जाता है।

(1) जो पात्र किन्हीं व्यक्तियों या वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें वर्गीय या टाइप्ड कहते हैं। ये जीवन की खास विचारधारा से प्रेरित, प्रभावित होते हैं। इनका पूरा जीवन किसी आदर्श की तरफ उन्मुख होता है। इनके व्यवहार हर परिस्थिति में, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, समान होते हैं याने ये कब, क्या करेंगे, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

(2) गतिशील पात्र वे होते हैं जिनके जीवन पर परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनों का प्रभाव पड़ता है, जिन्हें कभी समझौते के लिए बाध्य होना पड़ता है तो कभी अपने सिद्धांतों के लिए ये सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर रहते हैं। इनमें जीवन के एक नहीं, अनेक पहलू दिखायी पड़ते हैं। इनमें 'सु' की ही नहीं, 'कु' की प्रवृत्तियाँ भी दिखलायी पड़ती हैं। इनके भावी चरित्र के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और न ही इनके चरित्र को किसी एक वाक्य में समाहित किया जा सकता है।

ये तो रहे संक्षेप में टाइप्ड और विशिष्ट पात्रों की परख-पहचान के मानदंड, पर इनके आधार पर 'कैटेगरी' बनाना बहुत मुश्किल कार्य है। दरअसल कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपने ढंग का अकेला (विशिष्ट) हो, जो किसी वर्ग में न आता हो और किस वर्ग का कोई व्यक्ति ऐसा है जो मात्र वर्गीय (टाइप्ड) हो, जिसमें सबसे अलग कोई विशिष्ट मौलिकता न हो। इंसान की बात तो छोड़िए, जब हम गोदरेज के फ्रिज या 'क्राउन' के टी० वी० सेट अथवा फिलिप्स के बने रेडियो तक में एक 'पीस' का चुनाव करते हैं तो उसकी विशिष्टता को ही तरजीह देते हैं। फिर आदमी तो किसी साँचे या कंपनी में बनता नहीं। वहाँ ऐसा तयशुदा बँटवारा (फिक्शेसन) करना कितना दुष्कर है, इसका अंदाज काव्यशास्त्र-संबंधी अध्येताओं को भी हुआ है। 'टाइप्ड' के सम्बन्ध में स्वीकार किया गया है कि 'टाइप्ड' वस्तुतः वह पात्र है जिसमें वैयक्तिक व सामाजिक गुणों की कुछ विशेषताएँ युगपत् प्रस्तुत की जाती हैं। केवल

सामाजिक विशेषताओं से सम्पन्न पात्र 'टाइप्ड' नहीं हो सकता । उसका अपना निजी व्यक्तित्व होना चाहिए । किसी वर्ग के प्रतिनिधि वे इसलिए कहे जाते हैं कि उनके वर्गगत गुण-दोष आदि स्पष्ट परिलक्षित होते हैं ।[117]

इसी के समानांतर कहा जा सकता है कि विशिष्ट पात्रों में भी वर्गगत प्रवृत्तियाँ होती हैं, पर उन्हें विशिष्ट इसलिए कहा जाता है कि उनके व्यक्तित्व की निजी विशिष्टताएँ ज्यादा स्पष्ट होती हैं ।

इस प्रकार यह साबित होता है कि सभी पात्रों में विशिष्ट और टाइप्ड दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं । उनमें से किसी एक की स्पष्टता के आधार पर दोनों में फर्क किया जाता है । इसी आधार पर हम शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के पात्रों का अध्ययन करेंगे जिनमें यह स्पष्टता ज़ाहिर तौर पर दिखायी देती है ।

(1) विशिष्ट पात्र

'स्वच्छंद प्रवृत्तियों वाले पात्र' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट प्रमुख पात्रों के उल्लेख किये गये हैं । उनके अलावा डॉ० सिंह की प्रारंभिक कहानियों में विशिष्ट पात्रों की प्रमुखता रही है । इसके लिए उन्होंने ही स्वीकार किया है कि सन् 1950 के आस-पास हिन्दी कहानी में पारिवारिक व्यक्तियों के चित्रण की एक प्रवृत्ति चली थी ।[118] 'देवा की माँ', 'गुलरा के बाबा', 'दोपहर का भोजन', आदि कहानियाँ इसकी प्रमाण हैं । शिवप्रसाद सिंह के यहाँ 'नयी-पुरानी तस्वीरें' की बुआ, दादी माँ, उपधाइन मैया, गंगा तुलसी और कबूतरों का अड्डा की माँएँ और 'देऊ दादा' में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है । अपने चरित्र से ये पात्र एक ऐसा प्रभा-मंडल निर्मित करते हैं जो हमें अभिभूत किये बिना नहीं रहता ।[119] इसी के माध्यम से लेखक स्वतंत्र भारत की नयी पीढ़ी को आलोक प्रदान करना चाहता था । इन चरित्रों के बारे में लेखक ने स्वीकार किया है कि ये पात्र समाज के उपरले स्तर के हैं अथवा बौद्धिक रूप से जागरूक नहीं हैं ।[120] पर इन्हें इकहरा बिल्कुल नहीं कहा जा सकता ।[121] इनके व्यक्तित्व की अनेक परतें हैं जिन्हें मात्र ऊपर से देखकर नहीं समझा जा सकता । बोधन तिवारी (हीरो की खोज) और देऊ दादा को इकहरा कैसे कहा जा सकता है ? वे तो संतप्त सताए हुओं की दिल खोलकर मदद करते हैं, समाज के अराजक तत्वों का विरोध-दमन करते हैं और किसी मानवीय पुकार पर न्योछावर हो जाते हैं । विशिष्टों की इस श्रेणी में छोटे भाई के परिवार के लिए जी-तोड़ मेहनत करता 'कर्ज़' का बड़ा भाई विशिष्ट पात्र है और बैर-विरोध भूलकर परिवार का आदर्श निभाते 'बीच की

117. उपन्यास-कला—एक मूल्यांकन—डा० रामलखन शुक्ल, पृष्ठ 28.
118. दस्तावेज—अंक 1०, पृष्ठ 53 पर उद्धृत ।
119. दस्तावेज—अंक-10 पृष्ठ 52 पर मधुरेश के लेख से ।
120. वही, पृष्ठ 53 के आधार पर ।
121. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 206.

दीवार' का बड़ा भाई भी। यही इनकी विशिष्टता है और यही इनका उसूल। ये आदर्श प्रेमचंद की पूर्ववर्ती कहानियों जैसे हैं जिनकी मूल्यवत्ता उन्हीं के जमाने में नष्ट हो चुकी थी—फर्क सिर्फ इतना है कि वे पात्र अपने आदर्शों को सिद्धांतों और नैतिक मानदंडों के तहत निभाते थे और यहाँ संवेदनात्मक लगाव का पुट दे दिया गया है—'देऊ दादा' और 'उपधाइन मैया' जैसे कुछ अपवादों के अलावा। इस तरह यह सच है कि बदलती स्थितियों में ये अपने उद्देश्य—व्यक्ति की सार्थकता के माध्यम—के रूप में सफल नहीं रहे, पर तत्कालीन परिवेश में आगामी परिवर्तन की पीठिका के रूप में इनके ऐतिहासिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता।

इस पारिवारिक स्थिति के बाद विशिष्ट पात्रों की शृंखला में हमें भैरों पाण्डे के दर्शन होते हैं। निर्विवाद रूप से ये डॉ० सिंह की कहानियों के सबसे सशक्त पात्रों में से एक हैं। इनकी विशिष्टता भी निर्विवाद है। ये किसी वाद-सिद्धांत के वाहक नहीं, परंपराओं का पोषण ही इनके त्यागमय जीवन का आदर्श रहा है। इन्हें देखकर पाठक ज़रा भी अंदाज नहीं लगा पाता कि अंत में ये इसी का खुला विद्रोह कर देंगे, पर यही स्वभाव तो पात्रों को विशिष्ट बना देता है। वे सहसा बदले रूप में प्रकट हो जाते हैं और मनुष्य की सीमाओं को समझते हुए अंतर्बाह्य प्रयत्नों को परिवेश के आधार पर मूल्यांकित करते हुए मात्र शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के ही नहीं, संपूर्ण हिन्दी कथा-साहित्य के विशिष्ट पात्रों की पंक्ति में सहज ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मनुष्य को मनुष्य मात्र के रूप में देखने के हिमायती 'अशरफ चाचा' (किसकी पाँखें) विशिष्ट पात्र के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। कहानी में उनकी 'इमेज' मुसलमानों के प्रतिनिधि पात्र की नहीं, हिन्दूपन के अतिशयतावादी आग्रह और धर्म के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन करने की पूर्वग्रही धारणा के विरोधी की है। अर्जुन पाण्डे (अँधेरा हँसता है) की विशिष्टता तो सर्वविदित है उनके चरित्र की जोड़ाई में एक अद्भुत कला-कौशल देखने को मिलता है। पाण्डे जो कुछ करते हैं उसे सामाजिक मानदंड़ों के आधार पर अच्छा नहीं कहा जा सकता, पर लेखक ने 'भीतर हाथ सहरि दै, बाहर-बाहर चोट' की प्रक्रिया में उन खोटों को ऐसा गढ़ा है कि वे निखर आये हैं। पाण्डे की बेबसी किसी सतही कलाकार के हाथों पड़ती तो उन्हें पाठकों की घृणा का पात्र बनते देर न लगती लेकिन समर्थ कलाकार के रूप में डॉ० सिंह उनकी बेबसी और त्रुटियों के बीच भी उन्हें पाठकों की सहानुभूति का पात्र बना देते हैं। इन प्रमुख पात्रों के अलावा अपने उत्तरदायित्वों को प्राणपण से निभाते हुए 'पेटमैन' के सिजोगी और कर्तव्य के लिए अपने अपमान को भूल जाने वाले पंडित घूरेलाल (सुबह के बादल) आदि अन्य पात्रों का भी उल्लेख किया जा सकता है।

विशिष्ट नारी पात्रों की वीथिका में 'परकटी तितली' की रानी पति-सेवा के पारंपरिक आदर्श को निभाते हुए एक ध्रुव पर खड़ी है तो पति को छोड़कर ड्राइवर के साथ भाग जाने वाली गूजा (मरहला) दूसरे ध्रुव पर। 'टूटे शीशे की तस्वीर' की कामिनी अपने दोनों ही रूपों में विशिष्ट है—भाई के प्रति मन में रखे मलाल के लिए

भी और उसकी मौत पर प्रतिक्रिया को लेकर भी। वेश्या के रूप में आयी नारी पात्र सुभागी इसलिए विशिष्ट है कि ऐसा विरोध समाज में सहज संभव नहीं।

(2) टाइप्ड पात्र

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में 'टाइप्ड' मात्र मुख्य रूप से शोषक-शोषित वर्ग के प्रतिनिधि बनकर आये हैं, पर प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) विचारों की ज़रा भी छाया इन पर नहीं पड़ी है। ये शुद्ध रूप से 'गोदान' के होरी और दीनदयाल की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं—बिना किसी मतवाद के प्रति प्रतिबद्ध हुए। इसमें जमींदार ठाकुर-ब्राह्मण शोषक वर्ग के प्रतिनिधि बनकर आये हैं और उनके इर्द-गिर्द रहनेवाले उनसे जुड़े जन शोषित वर्ग के। ध्यातव्य है कि प्रेमचंद के होरी, शंकर कुरमी (सवा सेर गेहूँ) आदि अकेले पूरे वर्ग का नेतृत्व करते थे पर अब डॉ० सिंह ने इन्हें इनके स्तर-पेशे और जाति आदि के आधार पर अलग-अलग बाँट दिया है। मंगरू (मुर्गे ने बाँग दी) लोहार जाति का प्रतिनिधि है तो टीमल (माटी की औलाद) कोहारों की जमात का। नौकर बच्चन (उपहार) और भीखम चौधरी तथा हरू (खैरा पीपल कभी न डोले) चमार समुदाय के वर्गीय पात्र हैं। इन सबके शोषण में अनवरत रत रहने वाले ठाकुर, (उपहार), गुदई काका (खैरा पीपल कभी न डोले) या पंडित दीनदयाल (माटी की औलाद) कोई भी हो, इन नामों से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। उनका एक ही वर्ग है—शोषक वर्ग। ये सब लोग उसके प्रतिनिधि—टाइप्ड-पात्र हैं। कालांतर में यह नाम बदलकर ठीकेदार (पापजीवी) हो जाता है और बदलू, के साथ जो कहानी में नट जाति का प्रतिनिधि पात्र है, के साथ वह ठीकेदार वही व्यवहार करता है। आजादी, औद्योगीकरण आदि किसी भी परिवर्तन का इस वर्ग पर कोई असर नहीं पड़ता।

यह सब कुछ मज़दूर जातियों तक ही सीमित नहीं है, ठाकुर देवीसिंह और सुहेलसिंह के साथ भी यही होता है। देवीसिंह सीधे-सादे, गँवई भलेमानस लोगों के प्रतिनिधि पात्र हैं। सुहेलसिंह (भेड़िए) अहिंसात्मक और क्षमाशील प्रवृत्तियों के पोषक गाँधीवादी-से लगते हैं, पर हैं नहीं। वे आज़ादी मिलने के बाद की उन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं जिनमें ज्यादतियों के डर से उत्पन्न कायरता को छिपाने के लिए इन उदात्त प्रवृत्तियों की खोल ओढ़ ली जाती है। सुहेलसिंह बेटे की मार से डर-घबराकर अपनी गोंठ दे देते हैं, नहर किनारे का अच्छा चक बदल लेते हैं और यह सब कुछ उन्हें गांधीवादी नहीं, पलायनवादी, डरपोक-नपुंसक बना देता है। देवीसिंह का संदर्भ जमींदारी टूटने के तुरत बाद (पचासोत्तरी) का है, जब स्थितियों में कुछ खास फर्क नहीं आया था पर सुहेल सिंह के साथ तो अत्याधुनिक (आठवें दशक) काल में विकसित ज़नतंत्रीय व्यवस्था के ग्रामीण रहनुमा ग्रामप्रधान वगैरह योजनाबद्ध रूप से वही सब करते हैं, जब इन्हें अराजक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि ही कहा जा सकता है। बड़ी लकीरें का 'मैं' पढ़े-लिखे नवयुवक-वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है जिसके साथ इसी किस्म के लोग ऐसा ही सलूक करते हैं।

मंगरा-कबरी (इन्हें भी इंतजार है), 'चेन' का रिक्शावान आदि कुछ ऐसे

'टाइप्ड' पात्र हैं जो शोषितों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं पर इनके बनाम शोषकों का कोई प्रतिनिधि पात्र कहानी में मौजूद नहीं है। इसे विस्तृत फलक प्रदान करते हुए लेखक ने परोक्षतः पूरी व्यवस्था को शोषक का दर्जा दे दिया है जो ज्यादा ही व्यंजनात्मक हो गया है।

इस शोषण संदर्भ की प्रतिनिधि नारी-पात्रों की दशा और भी खराब है। नीरू (आर-पार की माला) को जमींदार के घर नौकरानी व रखैल दोनों बनकर रहना पड़ता है और आजादी के बाद भी आढ़त पर काम करते-करते तिउरा (धारा) को पल्लेदार देवनाथ की वासना का शिकार होना पड़ता है। ये औरतें इन तमाम मजदूर नारियों की दुर्दशा का खुलासा करती 'टाइप्ड' पात्र हैं। मजदूर औरतों के अलावा सोना भाभी (अंधकूप) उन तमाम बहुओं की प्रतिनिधि बन गयी हैं जो ससुराल वालों के अत्याचार से कुएँ-बावड़ी में चिरशांति लाभ लेने को विवश होती हैं। इनकी परिणतियाँ सुनिश्चित हैं जिनके बारे में आज भी विश्वास के साथ कोई अदना आदमी भी भविष्यवाणी कर सकता है। 'रेती' की गैंगा भाभी बहुओं के एक दूसरे ही रूप का प्रतिनिधित्व करती है जो अनायास प्रचलित अंधविश्वासों का शिकार होकर कलंक-लांच्छना सहती है। 'टूटे तारे' की श्यामा प्रेमी से धोखा खाकर समाज में कलंकित होने के डर से कोठे पर बैठ जाने वाली उन तमाम वेश्यानारियों की प्रतिनिधि के रूप में 'टाइप्ड' पात्र बन गयी है।

शिवप्रसाद सिंह का सर्वाधिक शक्तिशाली 'टाइप्ड' पात्र है—बिन्दा महाराज, जिसने पूरे हिजड़ा समुदाय का बड़ा ही सफल नेतृत्व किया है। उसका चरित्र हमारे हृदय को बेध, विदीर्ण कर देने के लिए काफी है। दुर्दांत मानसिक यातनाओं के बीच सिसकता मनुष्य-सृष्टि का इतना बड़ा अंश हमारे लिए कल्पनातीत था, लोगों के हास-परिहास, छेड़-छाड़ के बीच हँसता-हँसाता, नाचता-गाता बिन्दा महाराज एक कोमल स्पर्श के लिए कितना-कितना प्यासा है, उसकी मासूम-शीतल छाती कितनी दहकती-तपती है—किसी को चिपका लेने के लिए, प्राण तरसते हैं—किसी को अपना लेने के लिए यह दुनिया उसे प्रवंचना-उपेक्षा-तिरस्कार के सिवा और कुछ नहीं देती। बिन्दा महाराज के माध्यम से यह तड़प इस वर्ग की जिन्दगी का अनंत पुराण बन गयी है।

शिवप्रसाद सिंह के पात्र किसी मतवाद या सिद्धांत के स्पष्ट प्रतिनिधि नहीं हैं, इससे लेखक को सहज परहेज है जो उसकी मौलिकता प्रकट करती है पर 'कहानियों की कहानी' के मधुआ, काकी, रोज, जाह्नवी, माया इस संदर्भ के प्रतिनिधि पात्र बन गये हैं। साहित्य-विश्रुत होने से इनके वर्ग का उल्लेख अनावश्यक है। वैसे यह कहानी चरित्र-प्रधान नहीं हैं।

निर्णय की समस्या

'टाइप्ड' और विशिष्ट की सम्मिश्रित प्रवृत्तियों के बावजूद, स्पष्टता के आधार पर उक्त पात्रों का उल्लेख किया गया पर शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में कुछ ऐसे

पात्र भी हैं जिनमें 'टाइप्ड' और विशिष्ट पात्रों का अद्भुत समन्वय हुआ है। 'मेरी कहानियों का प्रत्येक पात्र अपने वर्ग की विशेषताओं को रखते हुए भी अपनी कुछ निजी विशेषताएँ रखता है, याने मेरे पात्रों में वर्ग और निजी, दोनों चरित्र मिलते हैं।'[122] असल में इनके चरित्रों की दुनिया से गुजरते हुए ऐसा बार-बार लगता रहता है कि लेखक की चेतना में निरंतर एक संघर्ष चलता रहता है—टाइप्ड को विशिष्ट के रूप में परिणत करने का। और ज्यादातर सुप्रवृत्तियों वाले विशिष्ट पात्रों में। ध्यान से देखा जाये तो सामाजिक प्रगति की यह एक स्वस्थ प्रक्रिया है। वर्गीय विचारों की भीड़ में जीता व्यक्ति कोई परिवर्तन नहीं ला सकता और यदि कुछ ला सकता भी है तो अपनी विचारधारा की चौहद्दियों की सीमा में ही। डॉ० सिंह में यह चेतना सदा सक्रिय रही है, पर परिस्थितियों का दबाव उसे 'टाइप्ड' बना देने के लिए कमर कसे रहता है। लेखकीय चेतना और स्थितिगत दबाव की इस कश्मकश से गुज़रते पात्र कभी विशिष्ट होते-होते 'टाइप्ड' हो जाते हैं और कभी 'टाइप्ड' होते-होते विशिष्ट बन जाते हैं। पूर्वनिर्धारित स्पष्टता का मानदंड भी यहाँ निर्णयात्मक भूमिका निभाते हुए हमें संतुष्ट नहीं कर पाता। अतः उनके सही मूल्यांकन के लिए हमें दो और वर्ग बनाने की महती आवश्यकता नितांत मौजूँ लग रही है—

(1) विशिष्टता संपन्न टाइप्ड पात्र

इसके अंतर्गत हम उन पात्रों का अध्ययन करेंगे जो जन्म से विशिष्ट प्रवृत्तियों के आसार लिए पल्हुआते-विकसित होते हैं पर अंत में आकर वे 'टाइप्ड' पात्र बनकर रह जाते हैं।

इस प्रवृत्ति को सबसे प्रमुख पात्र मास्टर सुखलाल को कहा जा सकता है। लेखक 'मैं' को ये प्रथम दर्शन से ही जिन-जिन रूपों में मिले हैं—चाहे वे क्लास में अपनी विद्वत्ता जताने में लेखक के लिए हास्यास्पद बन गये हों, चाहे नाट्यकौशल दिखाने में स्वयं लोगों के लिए एक ड्रामा बन गये हों—अपनी विशिष्टता का ही रंग छोड़ते हैं। बकौल लेखक, इतनी बड़ी दुनिया में भी यदि आप खोजें तो रोज़-रोज सनसनीखेज बातें नहीं मिल सकतीं, चाहे आप कितने ही बड़े न्यूज़ हंटर क्यों न हों, पर यदि आपको विश्वास आ सके तो सच मानिए मेरे पास सुखलाल की जिन्दगी की घटनाओं का इतना बड़ा जखीरा है कि उसे जिस किसी के भी सामने रख दूँ, कोई संपादक उसे अखबार के पहले पृष्ठ पर छापकर पीली पत्रकारिता (यलो जर्नलिज्म) का मास्टर बन सकता है।[123] पर अंत में आकर एक ऐसा राज़ खुलता है कि हम उन्हें विशिष्ट नहीं कह पाते।

हड़ताल में हिस्सा लेने और माफ़ी न माँगने के लिए वे नौकरी से बर्खास्त कर दिये जाते हैं और इस रूप में सरकारी अत्याचार-पीड़ितों के प्रतिनिधि लगने लगते

---

122. सारिका, 1 फरवरी, 1980, विश्वनाथप्रसाद द्वारा लिया गया इंटरव्यू, पृ० 11.
123. आर-पार की माला, पृष्ठ 71.

हैं। अब उनका एक वर्ग तो है ही और उनकी अपनी अक्खड़ता भी है। इसके बीच उन्हें किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता। साथ ही बर्खास्तगी ही वह मुख्य घटना है जो लेखक की स्मृति में मास्टर के जीवन की अन्य घटनाओं को कुरेदकर कहानी लिखवाती है, सदा उनसे बिदकती रहने वाली पड़ोसिन को भी सहानुभूतिमय बना देती है। मास्टर सुखलाल को चाहे बहुत ज्यादा ज्ञान न हो, चाहे वे किसी खास बीमारी से पीड़ित हों या उसी का बहाना बनाकर अपनी अन्य कमज़ोरियों को छुपाते हों, पर हड़ताल के लिए माफी न माँगना, निश्चित रूप से समाज में चल रही नैतिकता-सचाई विरोधी और व्यक्ति के हक को जबर्दस्ती कुचल देने वाली साजिश की समझ का परिणाम है। इसीलिए जब यह कहा जाता है कि उन्हें इसकी (अत्याचार की) कोई चेतना नहीं है'[124] तो अजीब लगता है। यदि चेतना न होती तो वे हड़ताल में शरीक क्यों होते ? चलो एक बार यही मान लिया कि यूँही भेड़िया धसान में पहुँच गये, पर माफी क्यों नहीं माँगी ? ज़ाहिर है कि वे अन्याय-अत्याचार को समझते ही नहीं, उसके आगे घुटने टेकने को बिल्कुल तैयार नहीं। यह सचाई और न्याय के प्रति उनकी दृढ़ता का सूचक है जो अनकहे रूप से उनका जीवन सिद्धांत बन गया है, जिसके लिए वे नौकरी तक छोड़ देते हैं। निस्सन्देह मास्टर सुखलाल का यह पहलू कहानी में आयी अन्य बातों से नितांत भिन्न है। इसमें वे ज़रा भी मुखर नहीं हुए हैं। समाज की गणितीय निष्पत्तियाँ उन्हें मालूम हैं। सब कुछ स्वीकार कर वे चुपचाप चले जाते हैं पर लेखक के मन में 'श्रद्धा का भाव उमड़ जाता है और पड़ोसिन के चेहरे पर शाम उतर आती है।' क्या यह आने वाली रात की कालिमा का संकेत नहीं है ? क्या 'मैं' के साथ हम पाठकों के मन में कुछ नहीं उमड़ता और जिनके मन में नहीं उमड़ता, क्या वे कोरे शुष्क बुद्धिवादी नहीं हैं जो मास्टर सुखलाल से उनके आगामी कार्यक्रम की माँग करते हैं।[125] क्या मास्टर सुखलाल आज के (हारे या पार्टी से असंतुष्ट होकर निकले किंवा निकाले हुए) नेता हैं जो और कुछ न सही, लेकिन आगामी कार्यक्रम की लिस्ट तो रखते ही हैं। शायद कार्यक्रम की तफ़शील कहानी में होती तो विद्वान् समीक्षक ऐसा न कहते कि 'जो अत्याचार के शिकार हैं, उन्हें इसकी कोई चेतना नहीं है।'[126] तब शायद मास्टर सुखलाल उन्हें चेतना (वर्ग-चेतना ?) संपन्न पात्र लगते हैं पर क्या यह खुद के विचारों को कहानी पर थोपना नहीं है ? उसी लेख में आलोचक प्रवर बदलू-बसीर के संदर्भ में स्वीकारते हैं कि 'ये वस्तुतः वे लोग हैं, लंबे समय से सतायी जाने के कारण जिनकी चेतना मर चुकी है।'[127] शायद वे टीमल, देवीसिंह, मास्टर

124. दस्तावेज—अंक 10, पृष्ठ 54 मधुरेश का लेख।
125. दस्तावेज—अंक 10 में प्रकाशित लेख—कहानीकार शिवप्रसाद सिंह, मधुरेश पृष्ठ 54.
126. वही, पृष्ठ 57.
127. वही, पृष्ठ 57.

सुखलाल को बदलू-बसीर से भिन्न समझते हैं। उपेक्षित और स्वीकृति जाति के संबंध में वे भिन्न हैं भी, पर शोषण प्रक्रिया के दौरान दोनों के प्रति होने वाले सलूक की बात है, इनमें कोई बुनियादी अंतर नहीं है। मास्टर सुखलाल जितने चुप हैं, गोंदुवा (धारा) उतना ही चुप है, पर अत्याचारी वर्ग की नृशंसता को दोनों ही अच्छी तरह समझते हैं। असल में किसी लेखक की दृष्टि को, उसके संपूर्ण लेखन के संदर्भ में, समझे बिना आलोचना कर्म में प्रवृत्त होना ऐसी अवांतर बातें करने पर विवश करता है। खैर, यहाँ मैं यह कहना चाहता था कि मास्टर सुखलाल उस सताये वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं, पर तंत्र से समझौता न करके अपनी विशिष्टता को भी कम नहीं होने देते याने उनकी प्रवृत्तियाँ विशिष्ट हैं पर स्थितियों के बीच हालात 'टाइप्ड' के हैं। अतः इन्हें विशिष्टता संपन्न 'टाइप्ड' पात्र मानना ही संगत लगता है।

जुम्मन (आरपार की माला) भी पूरी जाति की रहनुमाई और समझौता न करने वाली अक्खड़ प्रवृत्ति के कारण इसी वर्ग में आता है। बब्बर (पापजीवी) की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी उसके जातिगत प्रतिनिधित्व और अभिशप्त स्थिति को उतना स्पष्ट नहीं होने देतीं कि हम उसे 'टाइप्ड' पात्र मानें।

नारी पात्रों में अनिता, कम्मो, अरुन्धती (क्रमशः 'केवड़े का फूल', 'उपहार' और 'अरुन्धती') इस श्रेणी में आती है। इन सबके व्यवहार अपने-अपने वर्गों से कुछ अलग या आगे हैं पर अंत में विरोधी शक्तियों के सम्मुख उनकी परिणति उस वर्ग के सामान्य प्राणी की सी होती है। अनिता पति द्वारा हर तरह से सतायी-शोषित नारी (पत्नी) वर्ग की पात्र है। अंत में उसे इस किस्म की आम पत्नी की तरह ही जीवन जीना पड़ता है—जैसे उसका पति चाहता है। पर निकल-भागकर विद्रोह करने के उसके प्रयत्नों को नज़र अंदाज करके उसे मात्र 'टाइप्ड' नहीं कह सकते क्योंकि वही तो कहानी है। यही हाल कम्मो, अरुन्धती का भी है। सबमें प्रचलित तंत्र को तोड़ने की एक ललक है, पर समकालीन स्थितियों को नकारकर लेखक उन्हें विजयी नहीं बना सकता। अतः ये सब दोनों प्रवृत्तियों के सामंजस्य के बीच पड़ते हैं—विशिष्ट प्रवृत्ति संपन्न टाइप्ड पात्र।

(2) टाइप्ड प्रवृत्ति संपन्न विशिष्ट पात्र

इसके अंतर्गत आने वाले पात्र पहले वालों से ठीक विपरीत रूप में प्रकट हुए हैं। इनकी स्थितियाँ तो 'टाइप्ड' हैं पर परिणतियाँ विशिष्ट। आइए, इनकी शुरुआत हम नारी पात्रों से करें—

दहेज प्रथा के चलते धोखेबाज़ी की शिकार नन्हों सहुआइन (नन्हों) की स्थिति टाइप्ड पात्र की ही हैं लेकिन आगे के सारे कार्य-व्यापार इसके चरित्र की परिणति को विशिष्ट दर्जा दे देते है। इसी प्रकार पति द्वारा धोखेबाजी के तहत सतायी जाती सुशीला और प्रेमी के छद्मवेश में सेक्स संबंधी शोषण का शिकार होती कुसुम (पोशाक की आत्मा) अपने समानधर्मी—वर्गों—विवाहित नारियों तथा कुंआरी किशो-रियों की प्रतिनिधि पात्रों की स्थिति में ही है, पर इनके प्रतिक्रियात्मक कार्य इन्हें

विशिष्टता की तरफ खींच ले जाते हैं। ये टाइप्ड रहते हुए भी विशिष्ट बन जाती हैं। 'हत्या और आत्महत्या के बीच' की बुआ और 'धरातल' की मुसम्मात नैना अपने हालत में 'टाइप्ड' पात्र बनकर रह जातीं, पर उन पर इनका वर्चस्व इनकी विशिष्टता उजागर कर देता है। सास और पति के संत्रास से ऊबकर आत्महत्या करने वाली सोना भाभी को हमने 'टाइप्ड' पात्र कहा है, जिसे लेकर बुआ के संबंध में शंका उठायी जा सकती है, पर दोनों में मौलिक अंतर है। सोना भाभी की आत्महत्या जीवन से पलायन मात्र है, पर बुआ की आत्महत्या उस विरोध की प्रतिक्रिया है जो जीकर कारगर नहीं हो पाता। इस प्रकार तमाम परिणतियों में उद्देश्य (इंटेशन) की भिन्नता के कारण दोनों एक वर्ग में नहीं रखे जा सकते। इनमें स्थितियों के बदलाव का वह यथार्थ भी द्रष्टव्य है जो लगभग 18 वर्षों के अंतराल में प्रगति करते-करते सोना भाभी से बुआ तक पहुँच सका है। शायद तब बुआ भी सोना भाभी बनकर ही रह जातीं और अब पैदा होकर सोना भाभी भी पढ़ लिखकर बुआ की तरह आत्महत्या को विरोध की शहादत बना सकती थीं। इन सबकी उभय प्रवृत्तियों में से कोई इतनी स्पष्ट या अस्पष्ट नहीं है कि इन्हें किसी एक वर्ग में रखें। अतः परिणतियों को वरीयता देते हुए और स्थितियों को स्वीकारते हुए इन्हें इस भिन्न वर्ग में रखना ही उपयुक्त ठहरता है।

पुरुष पात्रों में पात्र बक्कुस-बशीर (सपेरा) ही इसके अंतर्गत रखे जा सकते हैं। यूँ तो ये नट जाति के प्रतिनिधि हैं, शोषण के शिकार होने में भी जुम्मन की ही श्रेणी में आते हैं, पर इनका जान दे देना—किसी सिद्धांत के लिए नहीं मनुष्यता के लिए—अनायास इनकी विशिष्टता को वरेण्य बना देता है और ये जुम्मन की विरोधी परिणति के नाते इस वर्ग में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

मेरी समझ में इस वर्ग के पात्र ही हर तरह से साहित्य के श्रेय-प्रेय को सार्थक करते हैं। स्थितियों से इनकार या विरोध वृत्ति हैं, पर समकालीन संदर्भों से ऊपर उठकर, उन्हें झुठलाकर विशिष्ट बनने की जिद भी नहीं है। इस संदर्भ के तहत ये भैरो से ज्यादा सटीक और संतुलित हैं। पाण्डे का चरित्र देदीप्यमान है, उनकी भव्यता-दिव्यता स्पृहणीय है, प्रतिक्रिया मोहक है, उनका व्यवहार मनुष्य की महत्वाकांक्षा को साकार करता है, हम उन्हें सराहते हैं, पर समकालीनता के संदर्भ में यथार्थ को भी पाण्डे की तरह वैसाखी का सहारा लेने से बचा नहीं पाते। इन पात्रों को उस वैसाखी की जरूरत नहीं पड़ी है और व्यंजना रंचमात्र भी शिथिल नहीं हुई है, सांकेतिकता उतनी है जितना साहित्य को इष्ट हो, याने यथार्थ पर भारी न पड़े।

दूसरी बात इस प्रक्रिया में नारी पात्रों की बहुलता ग्रामीण जीवन की असलियत में लेखक की गहरी पैठ का सबूत है जहाँ नारियों का संघर्ष सामाजिक ज़रूरत है और जिसके लिए प्रयत्न करना साहित्य की जिम्मेदारी ठहरती है। डॉ० सिंह के ये पात्र उसी के प्रति सजगता का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

'टाइप्ड' पात्रों के संदर्भ में भी लेखक की सजगता उल्लेख्य है। इनके शोषित पात्र किसी सिद्धांत, मतवाद, दर्शन, पार्टी-पॉलिटिक्स के प्रति प्रतिबद्ध होकर विरोधी (स्थिति) को निरस्त करने का उपक्रम नहीं करते, उनके प्रयत्न शुद्ध रूप से मानवीय हैं। इस प्रयत्न में उनका हार जाना मनुष्य की सीमित शक्ति का सहज स्वीकार है और स्थितियों की भयावहता का निर्मम निदर्शन भी। एक लेखक अपने इस सूक्ष्म उनकरण (चरित्र) के माध्यम से इससे अधिक और कर भी क्या सकता है। जहाँ लेखक मनुष्यता के विकास में उन्हें ज्यादा विशिष्टता प्रदान कर देता है—भैंरो पाण्डे, रानी (परकटी तितली) आदि में, यथार्थ का संतुलन बिगड़ जाता है। इसके लिए वह पाठकीय कटघरे में खड़े होने से बच नहीं सकता और वहाँ इस अतिरिक्त उछाह के पक्ष में उसकी कोई भी दलील 'ओवररूल्ड' (ओवररूल्ड) होने से बच नहीं पायेगी।

●

अध्याय—पाँच

अलग-अलग वैतरणी

'अलग-अलग वैतरणी' करैता के माध्यम से भारतीय गाँव की पहचान है। प्रेमचंद के बाद हिन्दी साहित्य में ग्राम लगभग खो-से गये थे। शिवप्रसाद सिंह इसे वहीं से शुरू करते हैं और अपने समय तक ले आते हैं। इसके दौरान आते बदलावों से उपजी वांछित-अवांछित स्थितियाँ और इनसे निर्मित होता जीवन-संभार समग्र यथार्थीतिक आयामों के साथ अपनी संपूर्णता में उभर सका है। इस तरह 'वैतरणी' का प्रवाह अपने देश-काल की निरंतर गतिमयता का साक्षी है। वैसे तो ग्रामीण जीवन को आधार मानकर इस बीच और भी बहुत से उपन्यास लिखे गये, पर भारतीय ग्रामीण मानस की उथल-पुथल और संघर्ष का यथार्थ, आधुनिक दृष्टिबोध के साथ जैसा इस उपन्यास में व्यक्त हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें यथार्थ की कड़वाहट और भावनात्मक कसक साथ-साथ टीसती हैं। इस पर विवेकी राय का कथन एकदम सही जंचता है कि 'अलग-अलग वैतरणी' प्रेमचंद और शरतचंद्र की संयुक्त गमक से परिपूर्ण है। प्रस्तुत कृति इस रूढ़ धारणा की सृजन का उपजीव्य मात्र शहरी जीवन ही रह गया है, का जोरदार खंडन करती हुई यह स्थापित करती है कि गाँव की ज़मीन सृजनशीलता के लिए कहीं ज्यादा उर्वर है और इस दृष्टि से 'वैतरणी' अपना ऐतिहासिक महत्व भी रखती है।

'परिवेश'

'अलग-अलग वैतरणी' का परिवेश गत्यात्मक परिवेश है—सतत परिवर्तित होता हुआ। आजादी के पूर्व की जमींदारी-व्यवस्था से परिचालित ग्राम-जीवन कथा की पृष्ठभूमि है जिस पर लेखक ने स्वतंत्रता-प्राप्ति व जमींदारी-उन्मूलन के बाद की ग्रामीण जिन्दगी का यथार्थीतिक चित्रण प्रस्तुत किया है। इसके दौरान टूटती सामंत-वादी धारणाओं और संस्कारों के साथ टूटती ग्राम-व्यवस्था की संस्थाओं तथा जनतंत्र के प्रयोगों के बीच जो तनाव है, उसे लेखक ने वातावरण (परिवेश) के माध्यम से व्यक्त किया है।'[1] आज़ादी के पहले तो बड़े से छोटे तबके तक के सभी लोगों ने बड़े-बड़े सब्जबाग के सपने देखे थे जो किसानों के लिए सिर्फ रोटी से जुड़े थे कि अब वह अपने मातहत हो जायेगी। बाद में भी कुछ दिनों तक ये आशाएँ बनी रहीं, लोग-बाग बाट देखते रहे किन्तु धीरे-धीरे यह महान् ऐतिहासिक घटना अपनी महानता में नेतृत्व-परिवर्तन के महज राजनीतिक फेर-बदल के बाद इतिहास के पृष्ठों में दम तोड़ने लगी। जमींदारी टूट जाने की मुनादी और कुछ काग़जी अधिकारों के बावजूद देश के

---

1. ज्ञानोदय, फरवरी, 1968—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृष्ठ 142.

आम किसान कहीं ज्यादा खस्ताहाल हो गये। परिवर्तन के नाम पर कायदे-कानून की आयतें और इबारतें नये सिरे से लिखी गयीं जो देश के रहनुमाओं की प्रखर और मौलिक सूझ-बूझ के बावजूद मज़बूत लाठी वाले के खूँटे पर बँधकर बैठी भैंस बनकर रह गयीं। पूरा देश 'भैंसों का एक वृहत् मथान' साबित हुआ।

इस मथान का मालिक बनने के लिए सभी आज अपनी-अपनी लाठियों को तेल पिलाने में जुटे हैं। यह होड़ दिल्ली के तख्त पर आसीन होने से लेकर छोटे गाँव के छोटे मँड़हे तक को हथियाने के रूप में देश के इस कोने से उस कोने तक ज़ारी है। फलतः पार्टीबाजियों और गुटपरस्ती के तहत फिरकेबंदी और साजिशों का बाजार गर्म है जिसके लिए परिवार-जाति से लेकर धर्म-ईमान तक सब कुछ गोंटी (मोहरे) बन चुके हैं। अपने-अपने भयंकर स्वार्थ के तले जीते-जागते लोग बिकाऊ माल का 'लेबल' चिपकाये नुमाइश लगाये खड़े हैं। देश एक ओर तो इस होड़ के नुमाइन्दों की मुट्ठी में बन्द है और दूसरी ओर अधिक से अधिक धन इकट्ठा कर लेने की होड़ में विजयी सूरमाओं की तिजोरियों में कैद। ये दोनों ही (मौसेरे भाई) लोग एक दूसरे के प्रेरक और पूरक हैं। जहाँ इस दूसरी होड़ ने बड़े-बड़े कल-कारखानों के रूप में उद्योगों (इंडस्ट्रीज) को जन्म देकर गांधीजी के सपनों के भारत की हत्या कर डाली, वहीं इन उद्योगों ने गाँववालों को अपने आकर्षण से शहर की तरफ खींचकर गांधीजी के नारे 'गाँवों की ओर चलो' से उलटी गंगा बहा दी।

इस प्रकार जमींदारी-उन्मूलन, पंचायती चुनाव और उसके पैंतरे, शोषण का नया रूप, गाँव की दलबन्दी, आर्थिक विषमता, जीवन में व्याप्त भ्रष्टता, आर्थिक संघर्ष, खेतिहर मजदूरों की समस्या आदि ही उस वैतरणी का निर्माण करती हैं, जिसमें सारा करैता बह रहा है। जीवनमूल्यों का ह्रास, नैतिकता के बदलते मानदंड, चरित्र-भ्रष्टता, स्वार्थ-लोलुपता, व्यवस्था की सड़ांध, गांदीवाद का पतन अवसरवादिता आदि ऐसी बहुतेरी सहायक धाराएँ हैं जो इस 'वैतरणी' के घाट को अधिक चौड़ा करती हैं।[2]

संक्षेप में समकालीन परिवेश की यही वे प्रेरक स्थितियाँ हैं, जिन पर इस महान् उपन्यास का सृजन हुआ है। कृति में प्रतिफलित इन रूपों को हम अलग-अलग देखेंगे—

परिवेश के विविध रूप

लेखक की कहानियों की तरह ही प्रस्तुत उपन्यास में भी परिवेश का राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक रूप अपेक्षाकृत कम और सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप पूरे विस्तार के साथ चित्रित हुए हैं। इसके कारणों का विवेचन भी कहानियों के संदर्भ में (अध्याय दो) हुआ है। अस्तु, यहाँ हम विवेच्य कृति में आये उक्त रूपों को उनकी गत्यात्मकता में रेखांकित करने का प्रयत्न करेंगे—

---

2. औपन्यासिक समीक्षा और समीक्षाएँ—डॉ० आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ 135.

(1) सामाजिक परिवेश

सामाजिक परिवेश की गत्यात्मकता गाँवों में आती नित्य-प्रति की गिरावट का साक्ष्य प्रस्तुत करने में है। इसका सीधा सम्बन्ध ग्रामीण व्यवस्था से है, जो पहले ज़मींदार के अधीन थी और उसके बाद पंचायतों के जिम्मे आ गयी। पुश्तैनी बैर-विरोध दोनों ही में सामान्य रूप से कार्यरत है—जैपालपियाऊ से लेकर बुझारथ-सुरजू तक। हाँ, आजादी के बाद इन दोनों ही गुटों के स्वरूप व नाम बदले हैं। जहाँ जमींदार ही सब कुछ थे वहाँ सभापति-सरपंच और गाँवसभा के मनोनीत सदस्य आ गये। ज़मीदार का मुँह जोहने वाले स्वामिभक्तों की जगह खुदाबख्श (जैसे साईस जो घोड़े को कम, मालिक को ज्यादा फेरते हैं) व हरिया-सिरिया, छबिलवा जैसे लोफर गुंडे आ गये हैं। इस तरह गाँवों में व्याप्त भ्रष्टाचार एकोन्मुखी न रहकर बहुमुखी हो गया है और अब हालात तब से ज्यादा बदतर हो गये हैं। दोनों ही व्यवस्था पर एक ही आदमी (जग्गन मिसिर) की टिप्पणी देखिए—'तब ज़मींदार जुर्म करता था' और 'पंचायतें भी गंडगोल करती हैं।' अब खुले आम गुण्डागर्दी चलती है और गिरावट यहाँ तक पहुँच गयी है कि गाँव की बहू-बेटियों की इज्ज़त लूटने के तिकड़म रचे जाते हैं और सरे आम बदफेली होती है। खेत-खलिहान काटना-फूंकना और चोरी-डकैती-रहजनी का बाजार गर्म है। व्यवस्था की बेदरकारी और विफलता का हाल यह है कि ऐसी वारदातें हो जाने पर कोई थाना-पुलिस तक भी नहीं जाना चाहता। थानेदार, ग्राम-सभापति और लेखपाल सभी लोग घूस लेकर स्याह को सफेद और सफेद को स्याह करने में तनिक भी संकोच नहीं करते।

गुटबंदी के अलावा जातीय भावना की आग और भी प्रज्वलित हो उठी है। बिरादरी के मसले पर गुटबंदी तक खत्म करके लोग एक हो जाते हैं। चमारों के मुकाबिल होने पर दोनों पट्टी के ठाकुरों—बुझारथ और सुरजू—के मिलाप में इसे देखा जा सकता है।

प्रजावर्ग की जितनी निराबानी स्थिति कहानियों में व्यक्त हुई है वैसी यहाँ नहीं मिलती। बीसू धोबी, विंधेसरी लोहार आदि के जिक्र हैं जो समय के साथ बदलते ग्रामीण परिवेश को उजागर करते हैं। पहले ये लोग चैती-आगहनी में एक-एक बोझ डाँठ और पर्व-त्योहार पर 'खायक' पाते थे, पर अब नयी पीढ़ी इस तरह मुफ्त काम करने को तैयार नहीं, शहर-कस्बे जाकर किसी काम-धंधे की जुगाड़ करने लगी है। पंडितों (झब्बू उपधिया और बैजू) की पुरोहिती भी चित्रित है जो आमदनी का सही ज़रिया साबित नहीं होती। यहाँ एक बात का उल्लेख जरूरी लगता है। सारी अनैतिकता और मूल्यों के विघटन के बाद भी गाँवों में अब तक ब्राह्मणों की रस्मी श्रेष्ठता तो कायम है ही। उन्हें, औपचारिक ही सही, आदर मिलता है। इसमें आर्थिक या कोई और स्तर (पोजीशन) बिल्कुल फर्क नहीं डाल पाता पर शिवप्रसाद जी का विपिन ब्राह्मणों के साथ कहीं भी इसका पालन नहीं, उलटे विपरीत काम ही करता है। वह दयाल महाराज को पैताने बिठाता है तो जग्गन मिसिर को भी खाट पर उसके पैताने

ही जगह मिलती है। पढ़ा-लिखा देवनाथ उसका झोला ढोता है। लेखक ने ये बातें न दिखायी होतीं तो भी कोई फ़र्क नहीं पड़ता अतः लगता है कि ये सब कुछ जान-बूझकर किया गया है। इसके पीछे लेखक की धारणा या संकेत भी स्पष्ट नहीं होते। शायद ब्राह्मणों की तथाकथित श्रेष्ठता से इनकार, विरोध या खंडन हो, पर प्रश्न उठ सकता है कि वरीयता का आधार क्या हो ? इसका कोई संगत उत्तर यहाँ नहीं है। यदि योग्यता का आधार होता तो संगति बैठती, पर देवनाथ कहाँ कम योग्य है और जग्गन भी चिंतन में विपिन से कहीं ज्यादा प्रखर है। फिर क्या पैसा इसका निर्णय करे ? कुछ साफ नहीं हो पाता पर परिवेश का यथार्थ झुठला उठा है, इसमें दो रायनहीं।

समाज में हरिजनों की स्थिति का अपेक्षाकृत ज्यादा और मार्मिक वर्णन हुआ है। उनके रहने की अलग व्यवस्था आदि को लेकर लेखक ने काफी चिंतन किया है और उच्च वर्ग की मानसिकता के रेशे-रेशे उधेड़ते हुए, परिवेश की महीन बुनावट पेश की है—गाँव और चमटोल की 'सिचुएशन' तथा तलैया व भींटे के प्रतीक संकेतों के माध्यम से (215-16)। गाँव में चमारों की कोई सामाजिक स्थिति नहीं है। बाबा आदम के ज़माने की बँधी मज़दूरी पर उनसे आज भी काम कराया जाता है। गालियों के बिना मालिक लोग उनसे बात नहीं करते और बात-बात पर लात-मुक्के मिलते रहने की स्थिति सामान्य है। कुछ चमार इस बँधुआ स्थिति से निकलकर अन्य गाँवों में या नहर आदि पर काम करते हैं, पर वे भी न तो सुखी हो पाते हैं और न ही संतुष्ट।

समकालीन ग्रामसमाज में अनेक विकृतियों को जन्म देने वाला तत्व विवाह भी है। कहीं घरबार, खेती-बारी देखकर किया गया विवाह लड़की की आजीवन यातना का कारण है (कनिया व पटनहिया भाभी) तो कहीं कच्ची उम्र का विवाह बाद में चलकर पारिवारिक कलह-विघटन का। बाज-ब्राज उदाहरण तो ऐसे भी हैं कि मात्र सर पर पड़ी-चढ़ी लड़की के गले किसी को (भी) मढ़कर स्पष्ट ही निबाह कर देना पड़ता है। इस प्रकार ग्राम समाज में चलती विवाह संस्था किसी न किसी रूप में सामाजिक अभिशाप बनकर रह गयी है। दो-तीन प्रसंगों में समलैंगिक मैथुन का बड़ा यथार्थ और 'बोल्ड' चित्रण हुआ है। ये जीवन में चिर प्रचलित होते हुए भी साहित्य में जीवन की नयी पहचान कराते हैं।

कहानियों में सामाजिक रूढ़ियाँ विस्तृत रूप में चित्रित हुई हैं, पर यहाँ इसके प्रच्छन्न संकेत भर मिलते हैं। शादी के बाद जग्गन मिसिर के भाई बैजू की जल्दी ही मृत्यु हो जाने पर करैता की लुगाइयाँ भुनभुनाती हैं कि शादी सही नहीं।[3] 'नजर लगना,[4] अपशकुन कढ़ाना,[5] सुबह ही मुँह देखने के वांच्छित-अवांच्छित असर पड़ना,[6]

3. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 297.
4. वही, पृष्ठ 321.
5. वही, पृष्ठ 178.
6. वही, पृष्ठ 515.

आदि रूढ़िगत धारणाओं को ही व्यक्त करते हैं। इसी तरह परिवार में हुई एक दुर्घटना पीढ़ियों तक रूढ़ि के रूप में मानी जाती है। विपिन की नौकरी के संबंध में आनंद से हुलसकर बुझारत द्वारा मालिक काका के ताऊ का जिक्र करते ही कनिया चीख पड़ती है। जैपाल भी कहते हैं कि इस परिवार पर किसी कुग्रह की दृष्टि है। जो सबसे मूल्यवान होता है वही खो जाता है।[7] पानी न बरसने पर रात को औरतों द्वारा हल जोतना,[8] रेंघनी चिरैया की आवाज का अपशकुन,[9] कीनाराम बाबा के शाप[10] और वंश डूब जाने की मिसिर की चिंता[11] आदि ऐसी ही रूढ़ियाँ हैं।

इस तरह 'वैतरणी' का सामाजिक परिवेश पतनोन्मुख ग्राम की एकदम सही और लगभग पूर्ण तस्वीर प्रस्तुत करने में आशातीत रूप से सफल हुआ है।

(2) सांस्कृतिक परिवेश

'अलग-अलग वैतरणी' में ग्रामीण संस्कृति के लगभग सभी तत्व समाहित हैं, पर मात्र सांस्कृतिक परिवेश-निर्माण के उद्देश्य से नहीं, वरन् कथा के प्रासंगिक दबाव और अभिव्यक्ति की सांकेतिकता के लिहाज से। ऐसे सारे चित्रण बिल्कुल नपे-तुले, सानुपात, संक्षिप्त हैं। बहुतों का तो नामोल्लेख भर ही हुआ है। परंतु इतने से ही उपन्यास में आये कालक्रम की गत्यात्मकता के अनुसार ग्रामीण सांस्कृतिक परिवेश एकदम साकार हो उठा है।

उपन्यास का आरंभ करैता में रामनवमी के अवसर पर लगनेवाले देवी धाम के मेले से होता है। यह मेला पूरे उपन्यास की सांस्कृतिक भूमिका के रूप में परिवर्तित संदर्भों के साथ उभरती सम-सामयिक प्रवृत्तियों से भरे ग्रामीण जीवन की पूरी तस्वीर पेश करता है। विवेकी राय के अनुसार यह हिन्दी कथा-साहित्य का सबसे उदात्त, सांस्कृतिक, आधुनिक और विशाल चित्रांकन है[12] जो 'देश-दिहात की सभ्यता का आईना' बन गया है। करैता के बड़ों ने इसे अपने बड़प्पन से सजा-संवार कर गौरव-शाली रूप दिया था जो अब निहंगों के कारनामों से छीजता जा रहा है। इसमें वर्णित अतिशय सांकेतिकता तो शिल्प के अंतर्गत विवेच्य होगी, वैसे गाँव के सांस्कृतिक तत्वों का जखीरा बन गया है यह मेला। इसमें बिरहे की गायकी और कुश्ती के दंगल हैं, रामदास की सदाबहार कंपनी की नौटंकी और इंदरजाल भी। भेड़ों की लड़ाई भी होती है और घुड़दौड़ का मुकाबला भी। तरह-तरह की दुकानों की कतारें, ललक से भरे बच्चे व आकर्षण से खिंची औरतें, निरपेक्ष रूप से चले आये पुरुषों के हुजूम आदि

---

7. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 91.
8. वही, पृष्ठ 76.
9. वही, पृष्ठ 29-30
10. वही, पृष्ठ 30.
11. वही, पृष्ठ 311.
12. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ॰ विवेकीराय, पृष्ठ 166.

दृश्यों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। लड़कियों को छेड़ने की नयी संस्कृति भी पनपी है जिसके चलते मार-पीट भी अब मेलों के अंग बनते जा रहे हैं।

त्यौहार ग्राम जीवन की मुश्किलों के बीच चिनगारी की तरह चमक उठते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' में दीवाली, होली और मकर संक्रान्ति आदि के चित्रण सामाजिक परिप्रेक्ष्य की गतिशीलता में आकलित किये गये हैं। होली के दिन खलील खाँ का उत्साह और आयोजन 'ठंडई की मस्ती', नाच-गानों की धूमधाम और पान, इलायची व इत्र के स्वागत से भरपूर रहता था जिसकी उमंग में कौमी भेदभाव बह जाता था, पर अब खलील खाँ के लिए इनकी खुशगवार यादें भर रह गयी हैं जिनसे उनकी बदली आर्थिक स्थिति और गाँवों में छाये भेदभाव की नयी सामाजिकता प्रतिबिम्बित होती है। ऐसी ही सम-सामयिक परिवर्तित स्थितियों का परिप्रेक्ष्य लिए मकर-संक्रांति का भी उल्लेख हुआ है। आर्थिक मजबूरी में ही ज़मींदार-परिवार ने इस दिन पूरे गाँव को गंगा के किनारे चिवड़े-लड्डू, तिलौरे और गुड़-बाँटे जाने की रस्म तोड़ी है। इस दिन गंगा-स्नान करने और घरों में सिर्फ खिचड़ी ही बनने का रिवाज कायम है। इस दिन मेले भी लगते हैं। पर समय के साथ आती तब्दीलियों में खिचड़ी की जगह पुलाव बनने लगा है और ऐन मेले में सरे बाजार ज़मींदार-पुत्र की गिरफ्तारी भी होने लगी है। कार्तिक में मनायी जाने वाली दीपावली में सिर्फ घरों की लिपाई-पुताई, सामानों की झाड़पोंछ का ही वर्णन आया है जो लक्ष्मी-पूजा के लिए गृहशुद्धि की तैयारी है, पर यह वर्णन जग्गन-मिसराइन-गाथा के रूप में अपना महत्व रखता है। इसके अलावा रामनवमी, विजयादशमी आदि के उल्लेख मात्र ही मिलते हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' में लोकगीत और लोक-कथाएँ भी हैं, पर वैसे ही संक्षिप्त और संकेतार्थगर्भित। लोक-कथाएँ दो ही उल्लेख्य हैं जिनका वर्णन इसी अध्याय में आगे आंचलिकता के संदर्भ में हुआ है। गीतों में बीसू और सुरजितवा के गीत प्रमुख हैं। अतिसंक्षिप्तता के बावजूद इनकी अनुगूंज पूरी कथा में सुनायी पड़ती रहती है। सुरजितवा एकाध जगह पर कबीर के दोहे भी अलापता है और हरिजन चौधरी बचऊराम बात-बात में रामायण की चौपाइयाँ बोलते हैं। विवाह आदि के अवसर पर गायन के संकेत मिलते हैं। पुजैहा पुर भी गीत होते हैं। लचियारानी की कहानी के बीच-बीच में दुलरिया भी लोकगीत गाती है। मस्ती में आने पर पुरबिनवाँ भी राग अलापने लगता है—

'तोहरा के लइबे झुलनी अपना के छाता,
आरे रावल मुनियाँ।
जब हम जइबे कलिकाता, आरे रावल मुनियाँ।'

कामों के बीच रह-रहकर सरूप भगत भी भजन की सुरलहरी छेड़ देते हैं और अपनी जवानी में काम के बीच थकान मिटाने के लिहाज से धनेसरी के सुरीले कंठ से भी गीत की कड़ियाँ फूट निकलतीं। चमटोल की शादी के अवसर पर सोनवा भी लोकगीत गाती है—

पिअलो मैं प्रेम पिअलवा हो, मन गइलैं बउराई।
आगि लगइ तन जरि जाइ हो, मोरा कछु न सुहाई॥

इस अवसर पर चमारों में शिवनरायन गुरु की भक्ति के गीत होते हैं जो यहाँ तो नहीं, पर कहानियों में उद्धृत हुए हैं। इस तरह 'अलग-अलग वैतरणी' आदि से अंत तक लोकगीतों की झीनी-सुनहरी लघु-लपेट में रागात्मक उपलब्धियों से जुड़ा है। उसके लोकगीत हलके, तरल, उड़ानपूर्व, सांकेतिक और अणुप्रभाव संपन्न हैं। समाप्त तो चट हो जाते हैं, पर गूँजते बहुत देर तक हैं।[13]

गाँवों में सतवरवा, होलापाती, गुल्ली-डंडा, कबड्डी और सटरी[14] आदि गँवई खेल तो होते ही हैं पर वहाँ के बच्चे स्कूलों में किसी स्तरीय खेल के लिए तरस जाते हैं। मुंशी जवाहिरलाल हेडमास्टर के चलते करैता का प्राइमरी स्कूल बिल्कुल क्रीड़ा-विरोधी है। नवयुवक मास्टर शशिकांत के अथक उत्साह-प्रयास से कुछ माहौल बनता है, लड़कों में भी उमंग है, पर स्थितियों के शिकार होकर शशिकांत के भागते ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। जैसा कि कहानियों में हमने देखा है, लेखक को कुश्ती और दंगल बहुत प्रिय हैं। यहाँ भी दंगल का एक विस्तृत प्रसंग अपनी आदर्श परंपरा और उसमें आती राजनीति व स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण ह्रास की स्थितियों के साथ चित्रित हुआ है। कुश्ती के उसूल व आदर्श तथा उनमें घुसते अनाचार भी क्रमशः देपाल और सुब्बा नट के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। गाँवों में अखाड़े चलाने व पहलवान पालने की परम्परा एक संस्कृति का रूप ले चुकी थी। इसमें खानदानी प्रतिद्वंद्विता तो होती थी, पर 'वैतरणी' में सुब्बा नट को रखने के पीछे जो बदले की भावना है, वह ज़माने के साथ परिवर्तित प्रवृत्ति का दुष्परिणाम है। इस प्रकार क्रीड़ाओं के वर्णन विविध संदर्भों को उकेरते चलते हैं।

संस्कृति का निखार और परिष्कार शिक्षा ही कर सकती है, पर आज पूरे देश की स्थिति यह है कि विदेशी शिक्षा-प्रणाली के नाते पढ़े-लिखे युवक अपने देश की संस्कृति को पिछड़ापन मानकर उससे मुँह चुराने लगते हैं। शायद विपिन इसीलिए तो किसी समारोह में भाग लेते नहीं दिखाया गया है। रहा सवाल साधारण स्तर की शिक्षा का, सो इसका रूप आज गाँवों में कितना गिर चुका है, इसके साक्षात् दर्शन करने हों तो करैता के प्राइमरी स्कूल पर चलें। सहायक अध्यापक अपने घर से अकेले होने के कारण स्कूल से नाम-मात्र का वास्ता रखते हुए हेडमास्टर के चापलूस भर बनकर रह गये हैं। वहाँ हेडमास्टर खुद पढ़ाते कम और गाँव की राजनीतियों में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। वे अध्यापक कम और गँवई गुट के सदस्य अधिक हैं जो शायद आज गँवई स्थितियों में टिके रहने के लिए जरूरी भी हो गया है। इसी के अभाव में शशिकांत का टिकना असंभव हो गया। उसे हेडमास्टर के षड्यन्त्र का शिकार हो जाना पड़ा क्योंकि वहाँ सिर्फ शिक्षक बनकर रहना चाहता था और इसीलिए

13. स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्रामजीवन—डा० विवेकी राय, पृष्ठ 278.
14. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 151, 288.

हेडमास्टर के रास्ते का काँटा साबित हो रहा था। जब स्कूल का माहौल ऐसा है तो यदि बिना पढ़ा-लिखा किसान अभिभावक शिक्षा का उद्देश्य बेटे की शादी में दहेज की कड़ी रकम हासिल करना मात्र ही समझे तो क्या आश्चर्य ? सो, कल्पू के माता-पिता उसकी शादी होते ही पास-फेल होने की तरफ से निश्चित हो जाते हैं। कुछ जहीन लड़के (हरिया) ज़रूर गरीबी और अन्य पारिवारिक स्थितियों के शिकार होते हैं। विद्यार्थियों का एक बड़ा वर्ग आवारा-लोफर (शिवराम) होता जा रहा है। ऐसे डॉ० सिंह ने शिक्षा के भविष्य को अँधेरे में खोते हुए बेशिनाख्त शशिकांत के माध्यम से बड़ी सांकेतिक अभिव्यक्ति दी है।

इस प्रकार आलोच्य कृति में चित्रित स्थितियाँ ग्रामीण सांस्कृतिक परिवेश को तो उजागर करती ही हैं, अपनी बहुआयामी विशेषताओं के कारण उपन्यास को कलात्मक दर्जा देने में अतिरिक्त रूप से अर्थवान हो उठी हैं।

कृषि-संस्कृति

संस्कारों की उपज ही संस्कृति है और गाँव के संस्कार अपनी कृषि से स्वभावतः जुड़े होते हैं। वे उठते-बैठते, सोते-जागते अपनी खेती के संबंध में ही सोचते रहते हैं। कृषि का मौसम से बड़ा गहरा संबंध है। इस प्रकार 'अलग-अलग वैतरणी' में समयानुक्रम से सभी मौसमों तथा उनके कारण प्रकृति और कृषि में होते पल-पल, छिन-छिन के परिवर्तनों को लेखक बड़ी सूक्ष्मता से उकेरता गया है। इनके जाने कितने-कितने रूप ग्रामीणों के मन-प्राण में बसे होते हैं। झिनकू-जग्गन आदि खाँटी पक्के (प्योर) किसानों की जहन में इन सबके जाने कितने-कितने चित्र भरे पड़े हैं जो मौके पर कृषि-संस्कृति को प्रकट करते रहते हैं। शायद ही कृषि संबंधी कुछ बातें हों जो प्रसंगतः सहज भाव से 'वैतरणी' में न आ गयी हों। लेखक की जानकारी इस संबंध में बड़ी गहरी और दृष्टि बड़ी पैनी है। फसलों और उनके बीच से निकलती राहों, खेतों और उसकी मिट्टी के विभिन्न रूपों आदि के साथ मौसमी कीट-पतंगों, घोंघों-मेढ़कों तथा अनेक किस्म की घासों व उनकी गमक तक उसकी दृष्टि से परे नहीं रह पायी हैं। पुआल पर बैठकर धूप खाने से गोबर काछने, सालन के अभाव में मौसमी साग खोंटने, जोन्हरी पंगुआने आदि के वर्णन कृषि संस्कृति का पूर्ण दृश्य उपस्थित करने में सहज ही सक्षम हो गये हैं।

(3) धार्मिक परिवेश

'अलग-अलग वैतरणी' का धार्मिक परिवेश प्रमुख रूप से स्थितियों की उस गत्यात्मकता में महत्वपूर्ण है जो विभाजन के बाद कुछ खास लोगों के कारण निर्मित हुई थीं। जगेसर उनकी हामी भरते हुए सोचता है कि ऐसा काम (किसी मुसलमान का खेत हड़प लेने का) किसी और इलाके में हुआ होता तो लोग जय-जयकार मचा देते क्योंकि उसने सुना है कि जाटों ने मुसलमानिनों को पकड़-पकड़कर गढ़मुक्तेश्वर में

चकरी बैठा-बैठाकर विवाह कर लिया[15] और कोई हिन्दू मुसलमानों के पक्ष में नहीं बोला। वे लोग मानते हैं लोग पाकिस्तान चाहते थे, अब मिल गया तो जाते क्यों नहीं, पर लेखक ने इस सांप्रदायिक उबाल के मसले को लेकर अपने मुसलमान पात्र खलील खाँ के माध्यम से समस्त ऐतिहासिक संदर्भों में धार्मिक मान्यताओं के तहत बड़ा ही स्वस्थ विवेचन प्रस्तुत किया है। खलील खाँ के साथ होते तब और अब के व्यवहारों के माध्यम से धार्मिक मान्यताओं में आयी गिरावट खूब उभरकर चित्रित हुई है।

धार्मिक प्रेरणा से होते पूजा-पाठ आदि कर्मकाण्डों के वर्णन भी उपलब्ध हैं। करैता में देवीधाम का मंदिर है जहाँ का पुजारी गाँव का ब्राह्मण होता है। उसकी जीविका इसी पर निर्भर होती है। शिवप्रसाद जी के लेखक की प्रकृति इसे मात्र परिवेश तक सीमित न रखकर इसकी अंदरूनी असलियत का पर्दाफाश भी करती है। गोगई को पुजारी पद से हटाकर उन्हें मिले खेतों को वापस ले लेना और फिर आरजू-मिन्नत के बाद उसके बेटे को बिठा देना आदि सब कुछ जमींदार की इच्छा पर निर्भर होता है। इस प्रकार धर्म की संस्थाएँ भी जमींदार की मोहताज ही हैं। खैर, मनौतियों के लिए होती पुजैया में लड्डू-बतासा-चना और पियरी चढ़ते हैं, पर इसमें भी काफी फर्क आ गया है जो समसामयिक मजबूरियों को उभारता चलता है, देवनाथ के डाक्टर हो जाने पर उसके घर भी पूजा होती है, देवता को कड़ाही चढ़ती है। इस प्रकार बहुत और कुछ को भी उभारता चलता धार्मिक चित्रण समसामयिक परिवेश को इस कदर साकार करता है कि अतिसंक्षिप्तता के बावजूद इसे नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

(4) राजनीतिक परिवेश

परतंत्र भारत में तो हमारे देशवासियों के लिए कोई राजनीतिक परिवेश था ही नहीं (स्वतंत्रता के लिए लड़ने के अलावा) पर बाद में भी इस देश की राजनीतिक के मुख्य केन्द्र शहर ही बन गये जिसके कई कारण हैं जो अवांतर हैं। राजनीतिक सक्रियता तो क्या आज भी खास-खास राजनीतिक हलचलें भी गाँव के पाँच प्रतिशत लोगों तक को मालूम नहीं होती। क्षेत्रीय नेता भी शहरों के ही होकर रह जाते हैं। वे गाँव आने की फीस लेते हैं और बड़ी-बड़ी गोल-मटोल बातें करते हैं तथा ऐन मौके पर बदनामी ('इमैज' बिगड़ने) के डर से भाग खड़े होते हैं। राजनीति की इस स्वार्थी, लोलुप और भ्रष्ट प्रकृति को 'वैतरणी' में लच्छीराम के माध्यम से खुलकर प्रकट किया गया है। ये प्रवृत्तियाँ गाँव के भोले-भाले लोगों के अलावा छोटे-मोटे नेताओं तक को बरगला देती हैं और ऐसे बरगलाए तलछट नेता गाँवों में आने पर मजबूर होते हैं, पर यहाँ भी चोरी न सही, तुम्बाफेरी के रूप में कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। 'वैतरणी' में सुखदेव के कारनामों से ऐसा माहौल निर्मित हुआ है। सुखदेव के एकमात्र अनुयायी बेवकूफ गोगई महराज हैं जो जगह-जगह पर प्रलापों के रूप में

15. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 321.

गांधीवाद को विकृत बनाते फिर रहे हैं। ये दोनों ही घर से निकाले 'कौड़ी के तीन' लोग हैं। असल में आज के नेताओं में अधिकांश का आविर्भाव ऐसे ही हुआ है।

हाँ, गवई राजनीति बड़ी ही सजीव और विस्तृत रूप में चित्रित हुई है। इसमें जैपालसिंह के पैंतरे विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। उनकी चुनावी लंगी तो राजनीति के व्यापक परिप्रेक्ष्य की संकेत है। सुरजू और उनकी पार्टी के हर वार का सही काट करने और उन्हें मात देने में वे एक सिद्धहस्त नेता के प्रतिरूप से लगते हैं। सुरजू-सिरिया के षड्यन्त्र गाँव की राजनीति में कभी ठहराव नहीं आने देते। हरखू सरदार इस क्षेत्र में 'चमचे' की भूमिका निभाते हुए माहौल को हरदम कुरेदते रहते हैं। राजनीति का दूसरा कोण वर्ग संघर्ष है। इसकी अंतिम परिणति सरूप भगत की हत्या में होती है। सरूप भगत में विवेकीराय गांधी की प्रतिच्छाया देखते हैं और जग्गन मिसिर में लोहिया की। इस प्रकार 'अलग अलग वैतरणी' में राजनीतिक परिवेश पार्टियों की क्रियाशीलता के रूप में प्रत्यक्ष न होकर भी पर्याप्त सांकेतिक हैं।

(5) आर्थिक परिवेश

गाँवों का आर्थिक परिवेश समय-प्रवाह के साथ गिरावट की जिस स्थिति तक पहुँच गया है, उसकी अभिव्यक्ति पहले ही अध्याय में दयाल महाराज के माध्यम से हुई है। उनके बचपन के गीत—पेड़ पर की सुगनी सोहारी बेले ले, पेट में की बबुनी का भूठ बोले ले, के मुकाबले आज के बच्चों के गीत 'महुआ की रोटी केसारी की दाल' और इस पर दयाल महाराज की टिप्पणी परिवेश की गतिमयता को मुखर करते हैं। इसके बाद तो गरीबी, महँगाई, अकाल में रिरकते करैता का बार-बार आर्तनाद सुनने को मिलता है। इस दुर्भिक्ष और सूखे के साथ शोषण की प्रक्रिया भी आर्थिक परिवेश की परत-दर-परत को उघाड़ती चलती है। भिनकू-दुक्खन-सरूप आदि चमार इसी के शिकार हैं। शोषण की यह प्रक्रिया तो आजादी के पहले भी थी, पर अब छुटभइयों में से उभरे लोग भी शोषक की भूमिका में उतर पड़े हैं। इस प्रकार अब तो वर्ग की पहचान ही खो गयी है। स्थितियाँ और भी जटिल हो गयी हैं। जग्गन मिसिर जैसा जहीन सामाजिक द्रष्टा इस नवपरिवर्तित स्थिति से काफी क्षुब्ध है। यह विकास न होकर भयंकर ह्रास का परिचायक है और परिणाम सामने है।

इधर गैर जिम्मेदारी और आवारागर्द पीढ़ी (बुभारथ जैसी) के कारण जमींदार घराने की आर्थिक स्थिति भी उजड़ गयी है। प्रजावर्ग को पुराने रिवाजों के मुताबिक बँधी अपनी आय से गहरा असंतोष होता है और इन सबसे ऊपर बढ़ती आबादी आम आदमी को ग्रसती जा रही है। भिनकू चमार से हरिया ठाकुर तक इसका रोना रोते हुए पाये जाते हैं।

कुल मिलाकर करैता का आर्थिक परिवेश गाँव के माध्यम से देश की चरमराती अर्थ-व्यवस्था का संकेत बन गया है।

प्राकृतिक परिवेश—स्थूल और सांकेतिक

प्रकृति ग्रामजीवन की चिरसहचरी है। शहरों की तरह गाँववालों को प्राकृ-

तिक वातावरण की खोज नहीं करनी पड़ती और उनका प्रकृति से लगाव भी मात्र 'टाइमपास' या ऊब उदासी दूर करने अथवा मनोरंजन प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं है, वे तो हरपल प्रकृति के बीच ही साँस लेते हैं, प्रकृति ग्रामीण जीवन का अनिवार्य अंग है—वहाँ के सुख-दुख की साक्षी ही नहीं, जिम्मेदार भी क्योंकि आज भी ग्रामीण जीवन बहुत कुछ प्रकृति पर ही आधारित है। इसीलिए 'अलग-अलग वैतरणी' में भी प्रकृति कथा का अनिवार्य अंग बनकर आयी है, अलग से खाली समय के लिए चित्रण की खानापूर्त्ति नहीं।

पूर्व वर्णित समग्र परिवेश कथ्य की सांकेतिक व्यंजनात्मकता से भरपूर है अतः स्थूलता का प्रश्न ही नहीं उठता और प्राकृतिक परिवेश भी अधिकांशतः तो सांकेतिक ही है। कहीं-कहीं यदि इसका स्थूल रूप झलकता भी है तो कथा-कौशल की उपादेयता का कोई न कोई आयाम लिए हुए। उदाहरण के तौर पर पृष्ठ 130 पर आने वाले प्रसंग की 'लिंक' के रूप में दोपहरी का वर्णन हुआ है और इसी पृष्ठ-भूमि पर सुरजू सिंह के बैठके का पूरा माहौल और कार्य व्यापार कार्यकारण परंपरा में चित्रित कर दिया गया है। पृष्ठ 151-52-53 के चित्रण में मौसम आ जाने के बाद भी बारिश न होने से वातावरण की असहजता के साथ जीवन को लेकर आगत-विगत की तुलना आदि कई परिप्रेक्ष्य अनायास बनते-खुलते चले गये हैं। पृष्ठ 246-47 पर मौसम के साथ बदलते दृश्यों से गाँव के वातावरण में आते अनेकानेक परिवर्तनों और मिट्टी के उर्वरा होने की प्रक्रिया आदि के बड़े सूक्ष्म चित्र खींचे गये हैं। ये बिना खास संकेत के भी करैता और कथा के साथ इतने समरस हो गये हैं कि इनमें शास्त्रीय स्थूलता कहीं भी नजर नहीं आती। ये वर्णन अक्सर अध्याय की शुरुआत में आये हैं और बहुत संक्षिप्त भी नहीं हैं।

प्राकृतिक चित्रणों से निर्मित परिवेश की सांकेतिकता का तो पूछना ही क्या। ये तो ऐसे और इतने हैं कि किसी वर्गीकरण या उदाहरण द्वारा गिनाये जाने की सीमा में नहीं अँट पायेंगे। इनका थोड़ा विस्तृत उल्लेख तो शैली शिल्प के अंतर्गत ही होगा, पर परिवेश के रूप में उभरे कुछ संकेत यहाँ द्रष्टव्य हैं।

धरमूसिंह के घर की नीलामी की साजिश भरी योजना का कुचक्र फेल हो जाने के ठीक बाद लेखक बुझारथ की मनःस्थिति की बात न करके उस दिन की शाम का वर्णन करता है, पर देखिए किस प्रकार उसमें बुझारथ सिंह की हालत अंकित होती जाती है—'गोधूलि बेला की धूमिलता अँधेरे में घुल गयी है'—साजिश की धूमिलता का अंत। अब 'शाम की सुरमई रोशनी (बुझारथ सिंह की सुरमई इच्छाएँ) बुझ रही थीं'। बबुआन की मर्यादा-प्रतिष्ठा के चाँद का लालसिंदूरी गोला तलैया में झिलमिला रहा है'। 'चैत की चौदस का चाँद शायद ही कभी इतना उदास लगता हो' जितना आज बुझारथ सिंह को लग रहा है। इस प्रकार इस चित्रण में बुझारथ सिंह की मानसिकता और पतन का संकेत अपनी सूक्ष्मता में भी बेहद कलात्मक हो उठा है।

इसी प्रकार चौदहवें अध्याय की शुरुआत में चमटोल बस्ती का गाँव से अलग

बसाया जाना और बीच में तलैया तथा भींटे का निर्माण स्थूलतः गाँव के प्राकृतिक परिवेश के चित्र हैं, पर लेखक ने इसी के साथ एक पूरी सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की है जो गाँवों को बसाये जाने के ऐतिहासिक संदर्भ में नितांत वैज्ञानिक और तर्क-सम्मत बन पड़ी है। इसके अलावा परिवेश की बनावट का यह चित्र प्राचीन भारतीय मानसिकता की जगह प्रगतिशील चिंतन की तरजीह के स्पष्ट संकेत भी लिए हुए हैं।

'वैतरणी' की कथा वर्तमान में लगभग तेरह महीने की कालावधि में फैली है। गर्मी (रामनवमी, चैत के मेले) से शुरू होकर बरसात ठंडी से होती हुई पुनः पैंतीसवें-छत्तीसवें अध्याय में गर्मी और बारिश पर आकर समाप्त होती है। लेखक ने पूरी सचेतनता के साथ इन सबको कथा की संगति के साथ चित्रित किया है। चमारों-ठाकुरों की फौजदारी के बाद शुरू होने वाले अध्याय में आया एक छोटा-सा चित्र देखिए—'ग्रीष्म पुनः आ गया। सभी कुछ को धूल के बवंडरों में लपेटती हवा चलने लगी' (सब कुछ मिट्टी में मिला देने वाला ज़माना। 'सुबह होती कि गर्मी शुरू हो जाती'—थोड़ी-सी भी चेतना आती तो परेशानी बढ़ जाती (विपिन आदि की तरफ संकेत)। फिर इन सबका 'बाहर निकलना मुश्किल हो जाता—आत्म-केन्द्रित होकर अपने में समा जाना।' 'बदहवास तापभरी हवा से खिड़कियों के पल्लों का तड़तड़ाना ····जैसे अदृश्य जन्तु भारी-भारी पैरों से इन्हें पीट रहा हो'—साफ है कि समाज को रोशनी-रास्ता दिखाने वाले दरवाजे-खिड़कियों को दुष्चक्र का तूफान तोड़ने की कोशिश करता है जो अदृश्य है ही और इसके बीच वालों के मन घबरा रहे हैं, वे हिल जाते हैं। परिणाम स्पष्ट है—पलायन कर जाना।

इस प्रकार प्राकृतिक परिवेश सांकेतिक रूप से इतना कुछ कह जाता है और ऐसे ढब से कहा जाता है कि यदि इसके बिना कहने की कोशिश की जाती तो इसकी तुलना में अकलात्मक तो होता ही, शायद इतने सशक्त रूप में व्यक्त भी न हो पाता।

आंचलिकता का प्रश्न

आंचलिकता के उद्भव, विकास, स्वरूप एवं अवधारणाओं का विस्तृत विवेचन कहानियों के संदर्भ (अध्याय-दो) में किया जा चुका है। उसी आलोक में प्रस्तुत उपन्यास की आंचलिकता का विचार करें तो सर्वप्रथम कृति की तटचर्चा (भूमिका) पर दृष्टि जाती है। लेखक ने लिखा है 'मैं लाख चाहूँ पढ़ने वाले इसे आंचलिक उपन्यासों की पंक्ति में डाल दें तो मैं कर ही क्या सकता हूँ।'[16] इसमें लेखक का वह सारा दर्द छिपा है कि उसकी तमाम स्पष्टोक्तियों के बावजूद कहानियों को 'आंचलिकता' के खाने में डाल ही दिया गया। समीक्षकों की इस अपवाली के कारण ही लेखक यहाँ स्पष्ट न कहकर अपनी पीरभरी विवशता जाहिर करता है और यह पीर तब भी मौन ही रह गयी थी जब 'अलग-अलग वैतरणी' पर 'सेतु' द्वारा आयोजित गोष्ठी (बनारस) में आंचलिकता को लेकर छिड़ी बहस के दौरान द्विवेदी जी ने कह दिया था कि भाई, मान क्यों नहीं लेते कि आंचलिक है, इसमें बखेड़ा किस बात

16. अलग-अलग वैतरणी—तटचर्चा।

का ?[17] श्री कृष्णनाथ जी ने इस मौन को बनारसी शिष्टई या धूर्तई का अंग माना है,[18] पर मेरी समझ में तो यह उसी कसक—मैं कर ही क्या सकता हूँ—की पुंजीभूत अभिव्यक्ति है। खैर,

'तटचर्चा' में लेखक ने आंचलिक संदर्भ के साथ यह निवेदन भी किया है कि उपन्यास यदि आंचलिक लगे तो लगे, आपकी दृष्टि आंचलिक न हो।[19] इस संदर्भ में मैं कहना चाहूँगा कि उपन्यास की दृष्टि हमारी दृष्टि को आंचलिक होने ही नहीं देती। शायद लेखक के उक्त वक्तव्य ने ही उपन्यास के संदर्भ में आंचलिकता की तरफ ज्यादा ही ध्यान आकर्षित कर लिया और जिससे इसकी विविध रूपी चर्चा हुई वरना मुझे लगता है कि यह मसला इतना विवेचित न होता। लेकिन जब चर्चा हुई भी तो लेखक की संभावित आशंका बहुत हद तक निर्मूल सिद्ध हुई। अधिकांश विद्वानों ने इसे आंचलिक माना।[20]

विवेकीराय ने तो आंचलिकता की धारणा को तोड़ने के लिए ही अपने शोध-प्रबंध के परिशिष्ट-दो में 'अलग-अलग वैतरणी' के साथ तीन और उपन्यासों—'रीछ', 'जल टूटता हुआ', 'रागदरबारी'—का विवेचन करते हुए उसका शीर्षक जानबूझकर 'हिन्दी के चार अनांचलिक उपन्यास' रखा।[21] इसमें रामदरश मिश्र का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' भी शामिल है और आश्चर्य की बात कि जिन कुछ लोगों ने 'अलग-अलग वैतरणी' को आंचलिक माना है, उनमें रामदरश मिश्र प्रमुख हैं। 'संचेतना' के

17. कल्पना, फरवरी-1970—कृष्णनाथ, पृष्ठ 8.

18. वही, पृष्ठ 8.

19. अलग-अलग वैतरणी—तटचर्चा।

20. (अ) 'अलग-अलग वैतरणी' को आंचलिक कहना जरूरी नहीं। सच तो यह है कि करैता की उपेक्षा करके आज के समय, मनुष्य और लोकतंत्र की पहचान असंभव है—धर्मयुग-10 अगस्त, 1969—डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.

(ब) 'अलग-अलग वैतरणी' देश के किसी एक अंचल की नहीं, बल्कि एक भारतीय गाँव की कहानी है—दिनमान—31 अगस्त, 1969, पृष्ठ 37 पर छपी समीक्षा।

(स) रूमानियत आंचलिकता की अनिवार्य शर्त है। शिवप्रसाद सिंह ने इसे तलाक देकर यथार्थवादिता से अपना नाता जोड़ लिया है। इसलिए आंचलिक होने का सवाल ही नहीं—'सेतु' की गोष्ठी में पठित डॉ० बच्चन सिंह के निबंध की रिपोर्ट—'कल्पना'—जून 1968.

(द) करैता एक अंचल नहीं, आधुनिक भारत का एक प्रतिनिधि गाँव है—अपनी पूरी यथार्थता के साथ—'गाँव की आत्मा की खोज'—डॉ० विवेकी राय का निबंध—दिशाओं का परिवेश—ललित शुक्ल—में संकलित, पृष्ठ 26.

21. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन—डॉ० विवेकी राय, पृ० 531.

अपने लेख में वे इतने आश्वस्त हैं कि रचना के संदर्भ में आंचलिकता का विचार किये बिना ही उसे आंचलिक उपन्यास लिखते हैं जैसे किसी विवेचन की ज़रूरत ही न हो। लेख में जिस एक जगह पर उन्होंने इसे 'आंचलिक उपन्यास' कहा है, वह इस प्रकार है—'प्रकृति-चित्रण आंचलिक उपन्यास का बहुत अपरिहार्य अंग होता है।' 'अलग-अलग वैतरणी' में प्रकृति प्रायः पात्रों के जीवन-प्रवाह में अलग तथ्य तथा विवरण बनकर आयी है।'[22] याने जीवन का अंग नहीं बन पायी है, 'अलग-अलग वैतरणी' का प्रकृति-चित्रण आंचलिक उपन्यासों जैसा नहीं है। इसका अर्थ यह कि आंचलिक उपन्यासों की कसौटी पर यह खरा नहीं उतरता। तो भाई, असली बात भी तो यही है कि उपन्यास खरा आंचलिक क्या आंचलिक भी नहीं है। प्रकृति-चित्रण के अलावा आंचलिकता के किसी और पक्ष पर डॉ० मिश्र ने विचार नहीं किया है। मेरी जानकारी में 'अलग-अलग वैतरणी' पर लिखने वाले किसी और समीक्षक ने इसे पूर्ण-रूपेण आंचलिक नहीं कहा है। निबंधों पर लिखते हुए डॉ० प्रभाकर माचवे ने 'अलग-अलग वैतरणी' को आंचलिक उपन्यास कहा है,[23] पर वहाँ न विवेचन की कोई गुंजाइश ही थी और न हुआ ही है अतः उसका भी आधार अज्ञात है।

आंचलिक-अनांचलिक के बीच का रास्ता अख्त्यार करने वालों में श्री कृष्णनाथ जी हैं—मेरी समझ में आंचलिक सरीखा होने पर भी रेणु के 'मैला आंचल' जैसा आंचलिक नहीं है।'[24] अब यह क्यों और कैसे आंचलिक सरीखा है, 'मैला आंचल कितना आंचलिक है और 'अलग-अलग वैतरणी' कितना कम आंचलिक है आदि तमाम बातें तो विद्वान् समीक्षक ही जानें पर आगे जो रूपक बाँधकर विश्लेषण हुआ है उससे प्रस्तुत उपन्यास की सार्वभौमता ही प्रकट होती है—जैसे सारी मनुष्य जाति के लिए प्रेम रखते हुए भी यह संभव नहीं कि सारी मनुष्य जाति को गले से लगाया जा सके लेकिन किसी एक को गले लगाते हुए सारी मनुष्य जाति के प्रति प्रेम को खारिज नहीं कर सकते।'[25] स्पष्ट है कि इस प्रेमी-प्रेमिका के रूपक में अपार मानवता के प्रति प्रेम के बावजूद प्रेमी की मजबूरी 'अलग-अलग वैतरणी' के संदर्भ में लेखक की मज़बूरी है कि वह संपूर्ण भारतीय गाँव की समस्याओं को व्यक्त करने के लिए एक गाँव को ही माध्यम बना सकता है, वहीं के रहन-सहन, जीवन और भाषा का व्यवहार कर सकता है। इसी के चलते आंचलिकता का भ्रम हो सकता है, जो तनिक गंभीरता से देखने पर सहज ही भंग हो जाता है।

इस संदर्भ में भाषा को लें तो इसकी भाषा में कहीं स्थानीय प्रयोगों की वह अनगढ़ता नहीं है जो पाठक को अनबूझ लगे। शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा भी नहीं गया है कि समझने के लिए माथापच्ची करनी पड़े। यह माथापच्ची रेणुजी के दोनों

22. संचेतना—दिसंबर, 1971,—रामदरश मिश्र, पृष्ठ 40.
23. कल्पना—अक्टोबर-दिसंबर-1969, प्रभाकर माचवे, पृष्ठ 35.
24. कल्पना—फरवरी-1970-कृष्णनाथ, पृष्ठ 8.
25. वही, पृष्ठ 8.

उपन्यासों में करनी पड़ती है। रेणु जी ने सोद्देश्य ऐसा किया है क्योंकि उन्हें 'परानपुर' और 'मेरीगंज' को ही उसकी समग्रता में उभारना था, पर शिवप्रसाद जी मात्र करैता को ही नहीं, करैता के माध्यम से मझगांवा, बिरहामपुर, जाठी, कठौता या इस तरह के तमाम गाँवों की समस्याओं को उभारते हैं। अतः वे आसक्तिपूर्वक भाषा के स्थानीय प्रयोगों में उलझे नहीं हैं। कुछ शब्द ज़रूर आये हैं जिन्हें लेकर श्रीकृष्ण-नाथ जी ने मुलायम-मुख्तसर-सा सवाल उठाया है कि 'नवची' 'मनसेधू' छप्पनछुरी, पैंच आदि शब्दों को हैदराबाद के नरसिंहा रेड्डी पकड़ सकेंगे क्या, या इनका 'मरम' कोई गैरमुल्की कैसे बूझ सकेगा ?[26] वैसे इसमें 'नवची', पैंच जैसे शब्द किसी भी हिन्दी जानने वाले के लिए सामान्य शब्द हैं और 'छप्पनछुरी' जैसे शब्दों का सटीक अर्थ भले न समझ आये, भाव तो समझा ही जा सकता है। और सबसे बड़ी बात कि हर रचना पढ़ते समय कुछ शब्द तो ऐसे आते ही हैं जिन्हें जानना-सीखना होता है। फिर शिवप्रसाद सिंह तो शब्द प्रयोग के मामले में इतने जागरूक रहे हैं कि उनके लेखन में प्रयुक्त शब्द नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित लघुतम शब्द कोश में भी मिल जाते हैं।[27] इस तरह ऐसे शब्दों से आंचलिकता नहीं आती। हाँ, यदि कुछ खास ज़ाहिर करने के लिए भाषा में लटकों का प्रयोग किया जाता है तो वे कभी-कभी कथ्य के संप्रेषण में बाधक बन जाते हैं। 'रेणु जी ने अपने उपन्यासों में इसे खासियत बनाकर प्रयुक्त किया है और परिणामस्वरूप उनका कथ्य दबा भी है। संपूर्ण गाँव का मिलकर संथालों पर आक्रमण वाली घटना में भी 'रिंग-रिंग-रिंग.... डा डिग्गा-डा डिग्गा' की आवाजों के चलते दर्द गहरा नहीं पाता।[28] अलग-अलग वैतरण' में ऐसे प्रयोग कहीं नहीं मिलते। इस तरह भाषा को लेकर आंचलिकता का भ्रम कोरा भ्रम ही साबित होता है। कहानियों के मुकाबले यहाँ लोकभाषा की ओर झुकाव ज्यादा ज़रूर है और कुछ देशज शब्दों की समाविष्टि भी है, पर यह रचना के देसी-देहाती जीवन की माँग है। लेखक ने यह संतुलन भी बनाये रखा है कि अनांचलिक बनाने में उपन्यास का जीवन वास्तव ही झूठा न पड़ जाये।

भाषा के अलावा अन्य उपकरणों में लोकतत्वों का समावेश होता है—लोक-गीत, लोकनृत्य, लोककथा आदि। इनमें 'लोकनृत्य' का तो कहीं उल्लेख तक नहीं मिलता 'अलग अलग वैतरणी' में। हाँ लोकगीत और लोककथाएँ ज्यादा तो नहीं, पर थोड़ी अवश्य आयी है। देखना यह है कि वे किस रूप में प्रयुक्त हुई है। यदि मात्र गँवई परिवेश खड़ा करना उनका उद्देश्य है तो आंचलिकता उन्हें अवश्य अपनी परिधि में समेट लेगी पर यदि वे रचनात्मकता की सार्थक माँग की पूर्ति के लिए समाविष्ट है तथा इनके तहत उनकी आन्विति किसी कलात्मक संकेत की अभि-

---

26. 'कल्पना'—फरवरी—1970, कृष्णनाथ, पृष्ठ 8.
27. सारिका—1 फरवरी, 1980, शिवप्रसाद सिंह का साक्षात्कार, पृष्ठ 14.
28. मैला आंचल—फणीश्वरनाथ रेणु, पृष्ठ 203-205,

व्यक्ति बन जाती है तो निश्चय ही ये ग्रामीण यथार्थंकन की उपलब्धि कही जायेंगी। प्रस्तुत कृति इस संदर्भ में दूसरी श्रेणी के चित्रणों के कारण सामाजिक दस्तावेज और जीवन के प्रतीकात्मक अर्थ के बीच में स्थित है।'[29] यहाँ रग्घूरामायनी जैसी गीत-कथाओं और खलासीजी जैसी कहानियों को सुनने का जमावड़ा नहीं लगता, उन लोक-कथाओं और गीतों की तो बात ही दूर जो 'मैला आंचल' और 'परती परकथा' को आगे बढ़ाने के मुख्य माध्यम हैं। यहाँ गीतों के आलाप भरने वाले बीसू और सुर-जितवा बाप-बेटे हैं जिनके महज दो-दो, चार-चार पंक्तियों के गीत दो-चार गिने-चुने स्थलों पर ही सुनायी पड़ते हैं, पर कथ्यात्मकता की व्यंजना से भरपूर। चार पंक्तियों के एक गीत की व्यंजना देखें। लगता है ये कथाकार को बहुत प्रिय हैं—

उनके अँखियन से लोरवा गिरत होइहैं ना,
उनके गज मोती अँचरा भिजत होइहैं ना।
फूल पारिजतवा झरत होइहैं ना,
लरिकइंयवाँ क नेहिया टूटत होइहैं ना॥

इसकी पहली दो पंक्तियाँ जब दूसरे अध्याय की शुरुआत में आती हैं तो उनमें आँखों से गिरते लोरों में वर्तमान जीवन की सामाजिक विसंगति के दर्द की व्यञ्जना प्रकट होती है। और उसी अध्याय के अंत में दूसरी दो पंक्तियाँ देपाल और राजो की प्रेमकथा के माध्यम से अतीत के दर्द को कुरेदने का माध्यम बन गयी हैं—लरिकंइयवाँ क नेहिया टूटत होइहैं ना।'

फिर यही चारों पंक्तियाँ पुष्पा की विदाई के मौके पर गाते-गाते जब पटनहिया भाभी विपिन की तरफ कनखियों से देख लेती हैं तो मात्र दो पंक्तियाँ विपिन-पुष्पा के बचपन की समूची प्रेम-कथा के इतिहास की पीर हुलसा देती हैं। इसी तरह अन्य दो-चार पंक्तियों के गीत भी इतने प्रासंगिक और सटीक प्रयुक्त किये गये हैं कि उनसे किसी एक अंचल की जीवन-पद्धति का अहसास तक नहीं होता।

लोककथाओं में मुख्यरूप से दो कथाएँ उल्लेखनीय हैं। एक तो डोम और राजकुमारी की लोककथा जो विपिन और पुष्पा के संबंधों और उसके भविष्य की रूपकात्मक अभिव्यक्ति बन गयी है और दूसरी दुलारी द्वारा चमटोल की औरतों के बीच कही गयी सतवंती नारि 'लचिया' की कहानी जो दुलारी के नारी-सुलभ विश्वासों-मान्यताओं के तहत उसके चरित्र में निखार लाती है।' हाँ, चमटोल की पूजा आदि के मौके पर उल्लिखित गीत जरूर आंचलिक तत्वों की समानधार्मिता का आभास देते हैं पर ये बरायनाम ही हैं, शुद्ध आंचलिक उपन्यासों की तरह पग-पग पर क्षण-क्षण इनका घटाटोप छा नहीं गया है। ये सांस्कृतिक परिवेश की पहचान से सम्मिलित हैं।

यही स्थिति लोकोत्सवों-त्योहारों की भी है। जहाँ, 'मैला आँचल' में होली का चित्रण पूरे एक अध्याय, छः पृष्ठों तक चलता है और मात्र वर्णनात्मकता के स्तर

29. आलोचना—अप्रैल-जून—1969, विजयदेव नारायण साही, पृष्ठ 105.

पर, वहीं 'अलग अलग वैतरणी' में होली का चित्र खलील खाँ के सांस्कृतिक मानस-पटल पर बनते-बिगड़ते संबंधों और ढहते मानवमूल्यों को प्रतिबिम्बित (रिफ्लेक्ट) करता है। इसी तरह 'मकर-संक्रांति' का पर्व जमींदारी-प्रथा खत्म होने के कारण आये सामाजिक परिवर्तनों को व्यक्त करने का माध्यम बनकर आता है। अन्य आंचलिक तत्वों—रस्म-रवाज, अंधविश्वास, जादू-टोने आदि —जो कृति की आंचलिकता के निर्णायक हैं, के चित्र तो नहीं के बराबर हैं।

इस प्रकार जो तत्व आंचलिक कृति में साध्य बनकर आते हैं, वे यहाँ, कुछ हद तक भाषा के अलावा, साधन बनकर भी प्रायः नहीं आये हैं और इन सबके ऊपर जब हम 'अलग अलग वैतरणी' के उद्देश्यों की अभिव्यक्ति पर दृष्टिपात करें तो आंचलिकता के संदर्भ में सोचना भी निहायत बेमानी लगने लगता है। अंत में विपिन के साथ बात-चीत के दौरान जब जग्गनमिसिर करैता को दिये गये कीनाराम बाबा के शाप की व्यर्थता बगल के गाँवों की दुर्दशा के परिप्रेक्ष्य में बतलाते हुए उस रूढ़ धारणा को तोड़ते हैं तो थोड़ी-मोड़ी बची-खुची आंचलिकता की झिलमिलाहट भी टूट जाती है। तब लग जाता है कि शिवप्रसाद सिंह जिस ठनक को बाँधना चाहते थे, वह मात्र करैता की नहीं, संपूर्ण भारतीय गाँवों की ठनक है। करैता तो मात्र 'टोकन' भर है। इसीलिए जब साही ने करैता को मात्र एक गाँव मानकर उपन्यास का विश्लेषण किया तो उन्हें इसका अंत असंतोषप्रद लगा और उन्होंने करैता से निकलकर गाजीपुर जाने की बात पर दूसरे खंड की मांग की है,[30] पर जैसे करैता भारतीय गाँव का प्रतिनिधि है वैसे ही गाजीपुर कोई भी शहर हो सकता है। महत्वपूर्ण गाजीपुर नहीं है, करैता से, गाँवों से बाहर शहरों में जाना महत्वपूर्ण है। करैता की सीमा गाँव की सीमा है फिर सुरजितवा आदि तो गाँव छोड़कर गाजीपुर भी नहीं मात्र कस्बे में जाते हैं याने महत्वपूर्ण है मात्र गाँव से निर्गमन। यह भी सार्वभौमता का बहुत बड़ा संकेत है।

इसी तरह 'तटचर्चा' में करैता की सही ठनक न बँध पाने पर लेखक द्वारा प्रकट किया गया असंतोष भी साही जी से अन्यथा विश्लेषित हो गया है। 'ठनक बंध जाती तो उपन्यास निश्चय ही आंचलिक होता।'[31] असल में तो—'ठनक न बँध पाने का असंतोष शिल्प की असमर्थता नहीं, करैता की विशिष्टता है'[32] जो संपूर्ण भारतीय गाँव की खूबी बनकर रचना को सार्वभौम बनाती है। दूसरे, यह असंतोष तो कलाकार की स्वाभाविक अतृप्ति है जो कला-साधना की उत्कट निरंतरता की साक्षी है। इसमें 'लघुमति मोरि, चरित अवगाहा' जैसी विनम्रता की मानसिकता लक्षित की जा सकती है, आंचलिकता नहीं।

---

30. आलोचना—अप्रैल-जून 1969 विजयदेव नारायण साही, पृष्ठ 105.
31. वही पृष्ठ 105.
32. धर्मयुग—10 अगस्त, 1969, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.

इस संपूर्ण अध्ययन के बाद तो हमें आदित्यप्रसाद त्रिपाठी के ये शब्द—हिन्दी की आंचलिकता अतिव्याप्ति दोष का शिकार है और 'अलग अलग वैतरणी' को आंचलिक कहना इस अतिव्याप्ति दोष का ही परिणाम है[33]—भी कम लगने लगते हैं क्योंकि इसमें लेखक ने कुछ भावात्मक प्रसंगों और व्यक्तियों के माध्यम से विश्वात्मकता भी उत्पन्न की है।[34]

अलग-अलग वैतरणी का 'कथ्य'

'अलग-अलग वैतरणी' का कथ्य ग्रामीण-जीवन से सीधा साक्षात्कार है—उसकी समस्त परिस्थितियों और व्यक्तियों के बीच। और इसमें संदेह नहीं कि इस साक्षात्कार की प्रक्रिया में अपने ढंग की गतिमयता और तीव्रता भी है।[35] ग्राम-जीवन का यह अंतिम विश्लेषण है, ऐसा तो कैसे कहा जा सकता है, पर अब तक की एतत्संबंधी प्रस्तुतियों में 'अलग-अलग वैतरणी' निश्चित रूप से मील का पत्थर साबित हुई है। उपन्यास-साहित्य के ऐतिहासिक विकास क्रम में यह 'गोदान' की अगली कड़ी है। उसकी स्थितियों को स्वीकार करते हुए समयानुक्रम में स्थान ग्रहण करती, याचित-अयाचित नवीन स्थितियों का सम्यक् खुलासा पहली बार हुआ है। इस कृति में 'वैतरणी' का लेखक आजादी के पहले के कालगर्त में वहीं तक धँसता है जहाँ प्रेमचंद जी उतरा आये थे। फिर आजादी के बाद के बीस सालों के दौरान भारतीय गाँवों की वैतरणी के सभी बीचि-विवर्तों को थहाता है तथा इसके प्रवाह की भावी दिशाओं का संकेत भी करता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि अतीत और वर्तमान के आधार पर वह भविष्य का कोई स्वप्न संजोता है या किसी आदर्श अथवा उद्देश्य की स्थापना करता है। वह किसी दार्शनिक, राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक किस्म के मतवादों का दामन भी नहीं थामता। तभी तो 'दिनमान' ने अपनी समीक्षा में इसे 'बिना बैसाखियों वाला उपन्यास' कहा है।[36] लेखक अपनी तरफ से या अपना कोई निष्कर्ष नहीं देता, वह सामाजिक दस्तावेज के जरिये जीवन की परिभाषा तलाशना चाहता है।[37] इसलिए वैतरणी में उभचूभ होते लोगों को उनकी स्थितियों के बीच रचनात्मक स्तर पर मुकाबिल भर कर देता है। इस प्रस्तुति को मुख्यतः यथार्थ और आधुनिकता के संदर्भों में ही विश्लेषित किया जा सकता है।

(1) ग्रामीण यथार्थ का समग्र अंकन

गँवई जिन्दगी की यथार्थ स्थितियाँ इस उपन्यास में अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त हुई हैं। न कहीं किसी घटित को बढ़ाया-घटाया गया है, और न ही काल्पनिक आधार

---

33. औपन्यासिक समीक्षा और समीक्षाएँ—डॉ० आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ 144.
34. हिन्दी उपन्यास—स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 175.
35. धर्मयुग—10 अगस्त 1969, परमानंद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 22.
36. 'दिनमान'—31 अगस्त, 1969, पृ० 37.
37. आलोचना—अप्रैल-जून 1969, विजयदेवनारायण साही का लेख, पृष्ठ 104.

दिया गया है। सब कुछ नपा-तुला है—बिल्कुल गाँव सापेक्ष, वास्तविक गाँव जैसा। ज़मींदार ठाठ-बाट, बैर-विरोध से लेकर सालन के अभाव में ठाकुर-परिवार का शाक पर गुज़र-बसर करने और चमार परिवार (भिनकू) के तीन-तीन दिन तक होने वाले फाके तक के चित्र गाँवों के लिए जितने ही यथार्थ हैं, उतनी ही सहजता से 'वैतरणी' में आकलित होते चले गये हैं। इन सबके लिए जिम्मेदार कारणों-स्थितियों में अकाल, सूखा, बाढ़-विप्लव आदि प्राकृतिक प्रकोप तो हैं पर तटचर्चा में लेखक सोचता है ये इतने और यही हैं या और भी कुछ क्योंकि इन्हीं के बीच ज़मींदार वर्ग का विलास-वैभव भी है और असल में यही वह और कुछ है जो शोषण की पीठिका पर अवस्थित होकर जीवन को कदर्थ बनाने में उक्त दृश्य कारणों से ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शोषण की ज्यादतियों से जुड़ा हुआ अनाचार-अत्याचार गाँवों में खूब फलता-फूलता है जिसमें अर्थ-श्रम के अलावा हाथ उमेठकर मुक्का मारने और लाठी खींचकर पाँव तोड़ने की असंगत स्थितियाँ भी बिल्कुल संगत और आम बन गयी हैं। स्वयं एक जमींदार परिवार का न होने के बावजूद लेखक ने काफी तटस्थ रहकर इस संदर्भ में ठाकुर-वर्ग की निर्ममता-नृशंसता को उघाड़ा है। इस नाजुक से (डॉ० सिंह के लिए) मसले पर आजादी के पहले और बाद की दोनों स्थितियों में आते परिवर्तनों के सापेक्षिक यथार्थ में लेखक का संतुलन सराहनीय है, पर डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर को यहाँ 'तटस्थता की दीवार'[38] में छेद नज़र आये हैं। इसके लिए विद्वान् समीक्षक को डॉ० सिंह में जमींदारी व्यवस्था के प्रति मोह का सबसे बड़ा आधार मिला है—अपनी आंतरिक प्रेरणा (इसकी तटस्थता की परीक्षा कैसे होगी) के बल पर। बांदिवडेकर जी के अनुसार जैपाल सिंह के व्यक्तित्व से लेखक सम्मोहित हो गया है। इस सम्मोहन की चर्चा संबंधित पात्र के चारित्रिक विश्लेषण के अंतर्गत होगी पर यहाँ उल्लिखित प्रसंगों के आधार पर जमींदार व्यवस्था के प्रति मोह की चर्चा प्रसंगानुकूल उपेक्षित है। डॉ० बांदिवडेकर जी ज़मींदारी युग में हुई चमारों की सामूहिक पिटाई के बाद के प्रसंग को कलात्मक चित्रण और अवांच्छनीय ही सही, यथार्थ का रूप स्वीकारते हुए उसके अंत की लेखकीय टिप्पणी[39] (कमेंट) को लेखक की पक्षधरता बताते हुए उस पर एतराज करते हैं क्योंकि इसको वास्तविकता का पहलू मानकर ग्रहण करने में उन्हें विशेष सुख नहीं मिलता। ध्यातव्य है कि यहाँ लेखक की मोहग्रस्तता की चर्चा करते-करते समीक्षक खुद ही पूर्वग्रह युक्त हो गया है। इससे आलोचना नितांत व्यक्तिपरक

38. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 179-80.
39. चारों तरफ खुशी की लहरें मचल उठीं। चरनी पर बैठे ठकुराने के लठैत एक दूसरे की ओर कनखी ताककर मुस्करा उठे। उन्हें हँसते देखकर भी चमारों के मन में उद्वेग नहीं आया। चौधुरी लोगों को प्रसन्न देखकर चमारिनें भी अपनी बेइज्जती करने वालों की ओर लाजभरी चितवनों से देखने लगीं। जैसे उन्हें बलात्कार को स्वीकार करने में भी खुशी हो रही है। चारों तरफ शांत रस की शीतल धारा बह उठी। अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 589.

(सब्जेक्टिव) हो गयी है और लेखकीय मंशा भी आलोचक के मस्तिष्क से फिसल (स्लिप कर) गयी है। अब अगर समीक्षक को किसी बात से विशेष सुख नहीं मिलता 'यद्यपि वह वास्तविकता का पहलू है' तो उसके लिए जिम्मेदार कौन हो सकता है? दूसरे, यथार्थ बस यथार्थ होता है। उसके लिए वांच्छनीय-अवांच्छनीय कुछ नहीं है, वह इसकी परवाह करके नहीं आता। असल में तत्कालीन (जमींदारी) युग में निरंतर प्रताड़नाओं में पिसा निम्नवर्ग इतना दब गया था, उसके संस्कार इतने जड़ हो गये थे कि उसके लिए नैतिकता, इज्जत, मानवीयता, अत्याचार, स्वाभिमान आदि में कोई फर्क नहीं रह गया था। किसुन के कहने से प्रेरित होकर विरोध हुआ था, पर सभी चमार बेहद आतंकित थे और ठाकुर जैपाल सिंह के मान जाने पर उनकी जान में जान आयी। इसी संस्कारगत जड़ता की स्थिति के यथार्थ को दर्शाने के लिए उक्त चित्रण व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। अब इसे यदि डॉक्टर (बांदिवडेकर) साहब पक्षधरता मानते हैं तो उसी वक्तव्य में आये वाक्य—ठकुराने के लठैतों को हँसते देखकर भी घायल चमारों के मन में उद्वेग नहीं आया—को क्या कहेंगे?

इसी की तुलना में चमारों के बटोर और सुगनी को सुरजू सिंह के घर डाल आने वाला प्रसंग भी आजादी के बाद की स्थितियों में उभरे लच्छीराम, सूरजभान जैसे लोगों के बल पर उत्साहित निम्न वर्ग की संघर्ष-चेतना का परिचायक है जिसका अंत अपने यथार्थ में कई-कई व्यंजनाएँ लिए हुए है। बांदिवडेकर जी इसे भी लेखक की तटस्थता को खंडित करने वाले 'लेखकीय मोह' या पक्षधरता का प्रमाण मानते हैं क्योंकि वे सुगनी जैसी हरजाई लड़की को अलग से एक इकाई मानकर देखते हैं और ऐसी हरजाई के लिए यह बटोर, गोलबंदी, भाषण, और खून सब इन्हें वितंडावाद लगता है।[40] वे सुगनी को सामाजिक विपन्नता और आज के जमाने की उस रुग्ण मानसिकता का प्रतीक चरित्र मानकर नहीं देख पाते जिनमें फैशनपरस्ती के तहत पनपती कृत्रिम सभ्यता सभी महनीय मूल्यों को लीलने पर उतारू हो गयी है और व्यक्ति 'जिन्स' बनकर भी 'फैशनेबल' दुनिया से जुड़े रहना चाहता है। इस कटु वीभत्स यथार्थ से आँखें चुराकर डॉ० बांदिवडेकर 'गोदान' की सिलिया के पातिव्रत्य और समर्पण वाले आदर्श को तरजीह देते हैं। वहाँ चमारों द्वारा ब्राह्मणपुत्र मातादीन के मुँह में हड्डी डाल देने वाला प्रसंग जो बांदिवडेकर जी को बहुत भाता है, लेखकीय उद्गार तो है, पर वर्तमान सदी के चौथे दशक का यथार्थ नहीं; जबकि 'वैतरणी' में चमारों का मोर्चा अपने समकालीन संदर्भों की सहज स्थिति हैं। उसका अंत तो और भी व्यंजक यथार्थ का नमूना है जो वर्तमान व्यवस्था की सारी विद्रूपताओं को ही उघाड़कर रख देता है। अब इस सब कुछ को नजर अंदाज करके अवांच्छित रूप से बरियाई 'लेखक की मोहग्रस्तता' पर तान तोड़ना कुछ सही विश्लेषण नहीं कहा जा सकता। अब हरिया के कथन—सुखदेवराम जी के वोटरों पर गुलाब यानी से छिड़-

40. हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 180.

कंगे—में दिशाहीन नयी पीढ़ी की कुण्ठित—अनाचारी मानसिकता व्यंजित हुई है। यह कोई लेखक का विचार नहीं है पर डॉक्टर साहब इसे भी लेखक की ठाकुर-परस्त मोहग्रस्तता मान लेते हैं। वे जैपालसिंह के अत्याचारों का और अधिक वर्णन (जितना हुआ है, उस पर तो ध्यान नहीं देते) करके संतुलन स्थापित करने की राय जाहिर करते हैं। क्या यह लेखन कोई जोख-तौल या तराजू है कि दोनों पलड़े बराबर हों। फिर संतुलन ही तटस्थता है क्या ?

इस प्रकार 'वैतरणी' के यथार्थ को संदर्भों से काटकर अन्यथा भी विश्लेषित किया गया है जिसका खुलासा करना जरूरी लगा। वैसे 'वैतरणी' के यथार्थ पर उँगली नहीं उठायी जा सकती। प्रमाणस्वरूप मौके निकालकर डॉ० सिंह के लेखन में खामियाँ निकालने वाले उनके नातिप्रीत आलोचक डॉ० गोपालराय को लिया जा सकता है। वे लिखते हैं—डॉ० सिंह ने गाँव के क्रूर यथार्थ को एक दर्द के साथ देखा और अनुभव किया है और उसकी अभिव्यक्ति भी उपन्यास में हुई है।[41] सचमुच ही 'लेखक में गाँव की सारी कुरूपताओं को आदि से अंत तक झेलने की साहसिकता है', वह उसमें रम गया है, घुलमिल गया है। इसीलिए खेत-खलिहान, बन्नी-बोझ, बुवाई-कटाई से लेकर गँवई घरों की बेहद अंदरूनी सचाइयाँ इतने यथार्थ रूप में शायद पहली बार चित्रित हुईं। एक औसत भारतीय गाँव में जितना कुछ हो रहा है और जितना कुछ होने की संभावना है, इन सबको निर्व्याज भाव से समेटते हुए 'करैता' की सर्जना हुई है।

इस हू-ब-हू यथार्थ की वीभत्सता को अधिकांश लोग (अक्सर पढ़े-लिखे लोग) सह नहीं पाते और उससे दूर भाग जाते हैं। इन भागनेवालों के भी अपने-अपने यथार्थ हैं। प्रेम के झटके से भागते विपिन का यथार्थ और पाँच दिन के फाँके से व्याकुल विंधेसरी अथवा जिन्दगी के नरक से बिदके सुरजितवा के गाँव छोड़ने के यथार्थ भिन्न-भिन्न हैं। सुरजितवा और विंधेसरी जहाँ यथार्थ को झेलते हुए वांच्छित जिन्दगी में साँस लेने निकले हैं वहीं विपिन का निकलना, 'रागदरबारी' के शब्दों में—'भागो-भागो यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है' जैसा है। विपिन का इकहरा द्वंद्व यथार्थ का तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करता है और उसका निर्णय (दूसरे का लिया हुआ) भी अपनी आकस्मिकता में वास्तविक यथार्थ से दूर खिसक गया है।

गाँवों में होते बाल-विवाह, अनमेल विवाह (निबाह) आदि की स्थितियाँ सामाजिक यथार्थ के रूप में चित्रित होकर उनके मूल में, और उनसे प्रतिफलित संदर्भों में, आर्थिक कारणों से निर्मित यथार्थ की बड़ी तीखी पहचान कराती हैं।

उपन्यास में एक यथार्थ यौन संबंधों का भी है। यह सोलहों आने गाँव का है। 'आधागाँव' में इसकी अतिशयता भदेसपन की सतहों तक खिंच गयी है परंतु 'वैतरणी' में बिल्कुल निःसंकोच होकर भी पूर्ण संतुलित और मर्यादित है। इसे भावों

41. समीक्षा—नवंबर—दिसंबर-1974—हिन्दी उपन्यास (1960-1970)—गोपालराय, पृ० 14.

की सहज मानवीय मसृणता और मात्र उपभोग की बाजारू ऐहिकता, दोनों ही रूपों में चित्रित किया गया है। पहले में जग्गन-भाभी, देपाल-राजमती, केशो-सोनवां और विपिन-पुष्पा आदि आते हैं तो दूसरे में बुझारथ-सुगनी या सुगनी-सुरजू और बुझारथ-पुष्पी जैसे यौन संबंध उल्लेख्य है। इसके अलावा दूसरी प्रवृत्ति के कुछ प्रसंग अनाम-अस्पष्ट, सांकेतिक भी हैं—गंगाजली (उपाधिया की लड़की) का गर्भपात-प्रसंग या फिर यह वाक्य कि 'जिन्होंने अपने को नंगा करके सीरी का विश्वास अर्जित किया है।' अपने-अपने रूपों में ये सब गाँवों के अनुपेक्षणीय यथार्थ चित्र हैं जिन्हें तदनुकूल परिप्रेक्ष्यों में लेखक ने बिल्कुल सहज से समाहित कर लिया है।

इनके अलावा भी यथार्थ के बहुतेरे पहलू हैं जो आगे के शीर्षकों में ही व्यक्त हो सकेंगे।

(2) आधुनिकता के रचना-संदर्भ

आधुनिकता और यथार्थ एक दूसरे के प्रणेता और प्रेरक हैं,[42] क्योंकि यथार्थ के प्रति निर्मम दृष्टिपात की शक्ति आधुनिक परिप्रेक्ष्य है[43] और आधुनिकता जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण।[44] इस तरह 'अलग-अलग वैतरणी' के यथार्थ को देखने के बाद निःसंकोच रूप से यह कहा जा सकता है कि इसके मूल्यांकन का दूसरा आयाम आधुनिकता ही हो सकता है।

लेकिन इसके मूल्यांकन के दौरान इस भ्रमजन्य और भ्रामक मान्यता के पूर्वग्रह से मुक्त होना अपरिहार्य होगा कि ग्रामीण जीवनाधारित कृतियाँ आधुनिकता से दूर होती हैं। हालाँकि कुछ सुधी विद्वानों ने 'अलग-अलग वैतरणी' के संदर्भ में ही इस धारणा की संकुलता का उल्लेख करते हुए इसका खंडन भी किया है,[45] फिर भी चूंकि इसका रचना-संदर्भ पूर्णतः ग्रामीण है और ग्रामांचलाधारित कथा को आधुनिकता के संदर्भ में चित्रित करना खतरनाक अवश्य होता है, परंतु डॉ० सिंह ने उसकी पूरी संभावना सिद्ध कर दी है।[46] तो आइए इसे 'वैतरणी' के प्रवाह में ही देखें।

---

42. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ 84.
43. स्वातंत्र्योत्तर ग्रामांचल की कथा—जितेन्द्रनाथ पाठक—कल्पना—अंक-221 में संकलित निबंध, पृष्ठ 27.
44. नये प्रतिमान : पुराने निकष—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृष्ठ 41.
45. (अ) परमानंद श्रीवास्तव—धर्मयुग—10 अगस्त, 1969, पृष्ठ 10.
    (ब) विजयदेवनारायण साही—आलोचना—अप्रैल-जून अंक 1969, पृष्ठ 101-102.
    (स) जितेन्द्रनाथ पाठक—कल्पना—अंक 211, पृष्ठ 28.
46. कल्पना—अंक 197 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट, पृष्ठ 38-39 से डॉ० बच्चन सिंह का मत।

सर्वप्रथम आधुनिकता की उद्भावना—भूमि-मूल्यों के द्वंद्व की प्रक्रिया[47]—ही 'अलग-अलग वैतरणी' की सृजन भूमि है। उसे लेखक ने आजादी के लगभग बीस साल पहले के तमाम सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक जीवनमूल्यों और आजादी के इतने वर्षों बाद के जीवनवास्तवों के बीच चलते संघर्ष की प्रक्रिया के दौरान चित्रित किया है। इस द्वंद्व का परिणाम, 'वैतरणी' के साक्ष्य पर ही, जीवन के हर क्षेत्र में मूल्यों के विघटन के रूप में सामने आया है और आधुनिकता मूल्यों के विघटन का पर्याय है।[48] इस प्रकार 'अलग-अलग वैतरणी' की आधुनिकता के संदर्भ में पहली बात यह कही जा सकती है कि आधुनिकबोध की पीड़ा से ही इसका सृजन हुआ है, न कि इसके सृजन में आधुनिक दृष्टि कार्यरत मात्र है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार आधुनिकता एक समग्र ऐतिहासिक दृष्टि है जो अपने समय के जीवन को देश और काल के सही परिप्रेक्ष्य में देख सकती है और 'अलग-अलग वैतरणी' को वे इसी दृष्टि से आधुनिक कृति मानते हैं[49] क्योंकि डॉ० सिंह ने मूल्यों के इस द्वंद्व को लगभग 50-60 सालों की क्रमिक गत्यात्मकता के परिप्रेक्ष्य में उभारा है जो भारतीय ग्राम-जीवन के विकास की समग्र इतिहास-चेतना के बिना संभव नहीं और आधुनिकता भी इतिहास चेतना ही है। जब हम आधुनिकता की बात करते हैं तो अनिवार्य रूप से पतिवर्तित और परिवर्तनशील तत्वों को रेखांकित करते हैं जहाँ से हम युगविशेष से अलग होते हैं।[50] ये दोनों ही तत्व (परिवर्तित तत्वों का रेखांकन और युगविशेष से अलगाव) प्रस्तुत कृति में केन्द्रीय भूमिका निभा रहे हैं। युगविशेष के अलगाव को आगे हम एक अलग शीर्षक में विस्तार से देखेंगे।

ऐतिहासिक क्रम में मूल्यों के द्वंद्व की प्रक्रिया से आये विघटन की स्थितियों के कारण करैतावासियों का गाँव में रहना मुहाल हो जाता है। वे इनसे छूटने के लिए शहरों की ओर भागने लगते हैं। वहाँ के उद्योग उन्हें खींचते हैं। यह नगरोन्मुखता तथा औद्योगीकरण अपने आप में आधुनिकता के नियामक तत्व हैं।[51] किन्तु यही नगरोन्मुखता गाँवों के लिए एक विकट समस्या बन गयी है जिसका आज तक भी कोई समाधान नहीं मिल सका। यह समस्या 'अलग-अलग वैतरणी' में मुख्य प्रश्न बनकर उभरी है और हालात के मुताबिक ही कृति के अंत तक इसका कोई व्याव-

---

47. (अ) आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास—डॉ० अतुल वीर अरोड़ा, पृ० 20.
 (ब) आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में—गंगाप्रसाद विमल, पृष्ठ 38.
48. आधुनिक बोध—रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 36.
49. कल्पना—अंक 197 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट के आधार पर।
50. नयी कहानी की भूमिका—'कमलेश्वर' पृष्ठ 129.
51. आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में—गंगाप्रसाद विमल, पृष्ठ 68-78 के बीच विवेचित शीर्षक 'औद्योगीकरण सतत आधुनिकता की ओर' के आधार पर।

हारिक उत्तर (जग्गन की 'थियरी' के बावजूद) नहीं मिल पाया है। वस्तुतः वैतरणी-कार के समक्ष जो समस्याएँ उभरी हैं, उनका समाधान समय के पास है ही नहीं। उसने 'तटचर्चा' में ही इसका संकेत कर दिया है—'यह अंतिम रूप भी मेरे मन के करैता की सही ठनक को बाँध नहीं पाया है।' यह 'प्रश्न की निरंतरता' या 'समस्या का बने रहना' भी आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण पहलू है।[52]

'प्रश्नों की निरंतरता' को आधुनिकता का पहलू मानते हुए भी डॉ० अतुलवीर अरोड़ा एक जगह पर लिखते हैं कि आधुनिकता का मूल आधार ही निर्माण और खंडन है।[53] पर सूक्ष्मता से सोचा जाये तो ये दोनों ही कथन परस्पर विरोधी हो जाते हैं। खंडन के साथ यदि निर्माण आ गया तो प्रश्नों की निरंतरता वहाँ रह जाती है और निर्माण की स्थितियों में आधुनिक दृष्टि वह होगी जो उससे अगले बिन्दु की तलाश करने लग जाये क्योंकि 'आधुनिक भावबोध दो विभिन्न और विपरीत स्थितियों के बीच की स्थिति है।'[54] इस संदर्भ में 'अलग-अलग वैतरणी' का जीवन बिखराव की ओर है। यह नये संयोजन की बेचैनी भी हो सकती है और मात्र संकल्पहीनता की स्थिति भी। यह बेचैनी ही आधुनिकता की गहन स्थिति है। इसमें अभी संघटन या निर्माण का कोई प्रारूप स्पष्ट नहीं हुआ है, इसीलिए। जब यह बेचैनी कोई निश्चित रूप ग्रहण करके व्यक्त होने लगेगी याने निर्माण तक पहुँच जायेगी तब तक तो आधुनिक बोध की प्रक्रिया अपनी पूर्णता पर पहुँच चुकी होगी।

किंतु खंडन के इस संदर्भ में आधुनिकताबोध एक विकल्प भी अख्त्यार करता है। वह समसामयिक या प्राचीनकाल से चली आती परंपराओं का खंडन सदसत् विवेक के बाद ही करता है याने चिरकाल से चली आती परंपरा के भी स्वस्थ जीवंत अंश आधुनिकता के लिए सदैव ग्राह्य होते हैं और इसीलिए आधुनिकता दृष्टिसापेक्ष्य प्रक्रिया है, देशकालगत जीवनमूल्य नहीं। 'अलग-अलग वैतरणी' में यथार्थ के तहत जहाँ भी स्वस्थ परंपरा खंडित या तिरस्कृत हुई है, लेखक की अभिव्यक्ति में उसकी कसक देखी जा सकती है।

अब 'अलग-अलग वैतरणी' के रचना-संदर्भ में आधुनिकता की उन स्थितियों का भी मूल्यांकन कर लिया जाये जिनका सीधा संबंध मनुष्य-चरित्र से होता है। इनमें प्रमुख हैं—टूटन, संत्रास, कुण्ठा, विरोध, विद्रोह, अजनबीपन, अकेलापन, व्यर्थताबोध, निरुद्देश्यता, खोखलापन, विक्षोभ, मोहभंग, अस्वीकार, आत्म-रति, भग्नाशा, बेमानी और झूठी पड़ती जाती जिन्दगी आदि। यही वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनको लेकर यह धारणा बन गयी कि आधुनिकता का समावेश मात्र शहरी जीवन में ही होता है, ग्रामीण जीवन तो आधुनिकता से रहित होता है। किंतु डॉ० सिंह ने अपनी

---

52. आधुनिकता के संदर्भ में आज के हिन्दी उपन्यास—डॉ० अतुलवीर अरोड़ा, पृष्ठ 9.
53. वही, पृष्ठ 8.
54. नये प्रतिमान : पुराने निकष—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृष्ठ 44.

पैनी दृष्टि और धारणाओं के माध्यम से इस मान्यता का मिथ्यात्व साबित कर दिया है। बड़ी ही सूक्ष्मता और सफाई के साथ उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि ग्रामीणजन भी इन तनावपूर्ण स्थितियों को उतनी ही गहराई से झेलते हैं जितनी कि शहरों में रहने वाले। पर चूंकि यहाँ अभी शहरों की भाँति व्यक्ति अपने को सामाजिक सूत्रों से काट नहीं सका है अतः ये प्रवृत्तियाँ अंतस् में छिपी रह जाती हैं। वैतरणीकार ने इन्हीं को बड़ी कलात्मकता के साथ उघाड़ा है और हम पाते हैं कि ग्राम (करैता) वासी इन संघर्षों को बेहद अंदरूनी धरातल पर झेलते हुए धुँधुआते रह जाते हैं और इधर ढिंढोरा पिट जाता है कि ग्रामीण जिन्दगी तो नितांत सरल (प्लेन) और इकहरी जिन्दगी है।

उक्त सभी प्रवृत्तियों को अपने-अपने स्तर पर झेलने-जीने वाले पात्रों से ही 'वैतरणी' का पाट निर्मित हुआ है। न चाहते हुए भी करैता के नवयुवकों का गाँव छोड़ना जिन परिस्थितियों का परिणाम है, वे संत्रास, घुटन, भग्नाशा, व्यर्थताबोध और निरंतर झूठे पड़ते जाने की स्थितियों से ही निर्मित हुई हैं। महत्वाकांक्षाओं की भ्रूणहत्या के अलावा अपनी प्रेमिका को चाहते हुए भी मुँह पर ताला लगा लेने, सगे-भाई के कुचक्रों को जानते हुए भी अपने सर पर बदनामी ओढ़ लेने, दरोगा के सामने गिड़गिड़ाने और इन सबके बीच मिथ्या प्रतिष्ठा का ढोंग करने तथा अपने निर्णय भीरु, डरपोक होने का नग्न अहसास करने की स्थितियों से बढ़कर और कौन-सा संत्रास हो सकता है? योग्यता के रहते अनिर्णय की स्थिति में पड़े रहने को आत्म-रति और आत्मविस्मृति के अलावा और क्या कहा जायेगा? व्यर्थताबोध और झूठी पड़ती जाती जिन्दगी का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है? इन सबको झेलते विपिन को साही जी ने व्यक्ति नहीं देखने का ढंग कहा है तो सचमुच वह देखने की आधुनिक दृष्टि का ही वाहक बन गया है। अचानक रुपये छिन जाने और पीटे जाने से उत्पन्न शशिकांत का संकट आकस्मिक होकर उसके जीवन को विसंगत बना देता है। सार्त्र ने इस स्थिति को संत्रास न कहकर 'कांटिजेन्सी' कहा है। विपिन और शशिकांत के साथ पिता के समक्ष त्रस्त-पराजित देवनाथ भी है। इन तीनों ही के गाँव छोड़कर भाग खड़े होने में आधुनिक बोध बुद्धिजीवियों का विद्रूप बनकर उभरा है।

हरिया का संत्रास ज्यादा ही जीवंत है। बाप के अंधेपन के कारण संभावित भविष्य को त्यागकर समूचे श्रम की ईमानदार कोशिशों के बावजूद उसका जीवनस्तर सामान्य स्थिति तक भी नहीं पहुँच पाता। पारिवारिक कलह से उसका मन नितांत विक्षुब्ध हो जाता है। इधर गाँव वाले उसकी प्रतिभा और ऊँची जाति सब कुछ को नजरअंदाज करके उसे तिरस्कृत करते रहते हैं। इन सबसे उत्पन्न विक्षोभ और कुण्ठा के कारण हरिया के मन में अपनी व्यर्थता का बोध जागता है। प्रतिक्रिया स्वरूप हरिया जीवन से विरोध विद्रोह कर बैठता है जो आधुनिकता के संदर्भ में 'आउटसाइडर' की स्थिति है। जगेसर के भागने में यही स्थिति विद्रूप बन गयी है।

परिवार को जोड़ने और कुलमर्यादा को बनाये-बचाये रखने के प्रयत्न में नित्य टूटती कनिया और नपुंसक पति को झेलती ऊपर से परिवार-पड़ोस के ताने सहती पटनहिया भाभी के संत्रास मूक रहकर भी क्या छिप पाते हैं ? अपनी दी गयी रोटी के टुकड़ों पर पलनेवालों द्वारा ज़मीन हड़पे जाने और पग-पग पर आत्मसम्मान के कुचले जाने की पीड़ा से गाँव छोड़ने पर मजबूर खलील चाचा भी भयंकर संत्रास का जीवन बिता रहे हैं। ये सभी चरित्र सबके बीच रहकर भी कितने अकेले पड़ गये हैं। शशिकांत, विपिन, कनिया, पटनहिया भाभी, खलील चाचा आदि अपने में ही सिमटे, अपनी आंतरिक दुनिया में सबसे कटे रहकर गाँव के सामान्य जीवन में भी अजनबीयत को जिस स्तर पर झेल रहे हैं, वह क्या लेखक की बनावटी स्थितियों (सिचुएशन्स) में जीवन जीते पात्रों से किसी मायने में कम हैं जिन्हें अजनबी (अपने-अपने अजनबी) नाम दिया जाता है। बस में, रेलवे स्टेशन पर, समुद्र के किनारे या हिलस्टेशनों पर तमाम अपरिचितों के बीच अकेलेपन और अजनबीयता की जिस स्थिति का वर्णन शहरों पर आधारित कथाओं में होता है, उसके मुकाबले यह स्थिति कहीं ज्यादा संगीन है जिसमें पति के रहते पत्नी (कनिया, पटनहिया भाभी) और भाई-भाभी, नौकरों-चाकरों के बीच विपिन तथा पत्नी-बच्चों के साथ रहकर भी खलील आदि पात्र अकेले और अजनबी बनकर रह गये हैं।

इन्हीं कारणों से 'अलग-अलग वैतरणी' के प्रायः सभी पात्र किसी न किसी स्तर पर बेहद व्यक्तिवादी हो गये हैं—जग्गनमिसिर तक, विपिन का अपने प्रति ध्यान देना तो है ही। यह व्यक्तिवादिता भी आधुनिकता की एक विशिष्ट भंगिमा है। संत्रास और जिन्दगी के झूठी पड़ जाने का अहसास पुष्पी में कहीं ज्यादा है। उसे जिस रूप में जीवन को स्वीकार करना पड़ता है, वह अत्याधुनिकबोध नहीं तो आधुनिकता से आगे की स्थिति जरूर है। उसकी शादी को तो शादी प्रथा का विद्रूप कहा जा सकता है पर उस जीवन को क्या कहा जाये—कुरूप, विरूप अरूप ? आधुनिकता को इसके लिए शब्द तलाशना पड़ेगा।

पटनहिया भाभी की कुण्ठा-भग्नाशा (फ्रस्ट्रेशन) यदि अपने मौलिक-रूढ़ अर्थ (अतृप्त काम से उत्पन्न) में आधुनिकबोध का आयाम बनती है तो जाँगर रहते काम करते हुए भी जिस कुण्ठा-भग्नाशा से आक्रांत दुक्खन झिनकू का जीवन है या फिर हरिया की कुण्ठा और सुखदेव राम की राजनीतिक भग्नाशा है, वह उससे किसी मायने में कम नहीं है। झिनकू-दुक्खन की मालिकों के प्रति आस्था-प्रतिबद्धता हालात से विवश होकर अनास्था और अप्रतिबद्धता में तब्दील होती हुई आधुनिकबोध के स्तरों को छूती हैं।

'वैतरणी' के पात्रों में उक्त सभी स्थितियों को लेकर भयानक विक्षोभ है, जिनमें कुछ का विक्षोभ विद्रोह-विरोध पर उतर आता है और बहुतों का नहीं भी उतरता है, पर सब के सब टूटने के शिकार होकर रह गये हैं। इनकी टूटन और

विद्रोह कई स्तरों पर व्यक्त होकर कृति के प्रमुख स्वर बन गये हैं, अतः इनका विवेचन अलग-अलग शीर्षकों में आगे विस्तार से किया गया है।

प्रस्तुत कृति में तमाम पात्रों की भीड़ लग गयी है। इसके संबंध में श्याम-तिवारी का मत है कि आज समाज में हर जगह भीड़ है तो उपन्यास में क्यों नहीं होती, यह भीड़बोध भी उपन्यास को आधुनिक बनाता है।[55]

इस प्रकार 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता बड़े व्यापक रूप में व्यक्त हुई है, फिर भी गंगाप्रसाद विमल लिखते हैं कि फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी आदि ऐसे नाम हैं जिनकी रचनाओं में आधुनिकता की संकुचित स्थितियों का अंकन हुआ है।[56] इसमें औरों की बाबत तो मैं इस वक्त कुछ नहीं कह सकता पर डॉ० सिंह के संबंध में तो यहाँ आलोचक की संकुचित दृष्टि का ही अंकन हुआ है, जो एकांगी होकर मात्र शहरी चित्रण में रम गयी है। शिव-प्रसाद सिंह ने तो आधुनिकता के उक्त तमाम तत्वों को नगरबोधाश्रित आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में रूपायित करके उनकी मौलिकता और विशिष्टता की रक्षा की है।[57]

इस प्रकार कुछेक अपवादों के अलावा अधिकांश विद्वानों की स्वीकृति और उक्त विवेचन के बाद डॉ० बच्चनसिंह का कथन बिल्कुल सही लगता है। 'सच पूछा जाये तो इस उपन्यास का केन्द्रवर्ती बिन्दु यही आधुनिकता है।'[58]

टूटन के स्वर

टूटन आधुनिकता का महत्वपूर्ण पक्ष है और इसके विविधस्तरीय स्वरों की अनगूंज 'वैतरणी' के यथार्थ का एक सशक्त पहलू। इस टूटन को मुख्यतः पात्रों की टूटन के रूप में देखा जा सकता है। इसके सभी पात्र, चाहे वे सफल हों या असफल, अंदर से टूटे हुए ही हैं। इनके टूटे हुए पात्रत्व की चर्चा तो चरित्रांकन के अंतर्गत ही होगी, यहाँ सिर्फ इस टूटन की लेखकीय व्यंजकता का विवेचन अपेक्षित है जो मानव-मूल्यों के टूटने की व्यंजकता का द्योतक बनाकर पेश किया गया है।

कृति की घटनाओं के साक्ष्य पर जीवन में नैतिकता, वसूल, ईमानदारी, भलमंसाहत जैसे कोई मूल्य रहे ही नहीं। इसलिए करैता में (कुछ आदर्शवादी अप-वादों को छोड़कर) किसी दो के बीच कोई संबंध रहा ही नहीं यहाँ तक कि खून के रिश्ते भी झूठे होते जा रहे हैं।[59] बाप-बेटे (देवनाथ-झब्बू), भाई-भाई (विपिन-बुझारथ), पति-पत्नी (बुझारथ-कनिया) तक में कोई लगाव क्या, संवाद तक नहीं रह गया

55. कल्पना—अंक 197, 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट से।
56. आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में—गंगाप्रसाद विमल, पृष्ठ 182.
57. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकीराय, पृष्ठ 532.
58. कल्पना—अंक 197 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट से।
59. अलग-अलग वैतरणी—पृष्ठ 675.

है। विपिन का 'सबसे कटकर अपने प्रति ज्यादा ध्यान देना' में भी यही प्रवृत्ति स्पष्ट है। संबंध नहीं रहे की ये स्थितियाँ तो फिर भी ठीक हैं पर जब बेटा (जगेसर) अपने बुड्ढे बाप (देवी चौधरी) से अपना बक्सा ढुवाए और खुद जूते मचमचाता पीछे-पीछे चले तो इस संबंध को क्या नाम दिया जाये, विचारणीय हो जाता है। इसी तरह रुतबे और 'पोजीशन' के नीचे दबते संबंध अपनी गरिमा खोते-खत्म होते जा रहे हैं। अब बड़े-छोटे का निर्णय भौतिक समृद्धि के आधार पर होने लगा है। यह भी मूल्यों का विघटन ही है।

आज के इस जमाने में सबके अपने-अपने स्वार्थ हैं और उन्हें पूरा करने के रास्ते भी अपने-अपने हैं। यह बात शीर्षक—अलग-अलग वैतरणी में ही खूब स्पष्ट हो गयी है। यहाँ कौन किसको पार कराता है वैतरणी ?'[60] अपने-अपने रास्तों पर चलने से निर्मित टूटन की स्थितियाँ और व्यक्तिवादी तनातनी के चलते करैता में वह सब कुछ टूटता गया है जो समाज के लिए वांच्छित था और तमाम अवांच्छित को बेतरह बढ़ावा मिलता गया है। इस तरह 'वैतरणी' स्वतंत्रता के बाद के टूटे हुए और टूटते हुए गाँव की कहानी है। वास्तव में कितनी बड़ी विडंबना है कि बुरी चीजें टूटकर भी नहीं टूटीं और अच्छी चीजें टूटने लगीं तो टूटती ही चली गयीं....जिसे वास्तव में टूटना था, वह नहीं टूटा। जाति-पाँति नहीं टूटी, सत्ता का अहंकार नहीं टूटा, शिक्षा का प्रसार हुआ लेकिन अज्ञान नहीं टूटा, समृद्धि बढ़ी लेकिन आर्थिक विषमता नहीं टूटी। चारों तरफ बिखरे हुए आहत जीवनमूल्य, सामाजिक संबंध, विवेकचेतना....[61]

ऐसा नहीं है कि जैपाल, खलील, देवी चौधरी, विपिन, देवनाथ, शशिकांत, कनिया आदि पात्रों की टूटन मात्र व्यक्तिगत या पारिवारिक टूटन तक ही सीमित है वरन् इनसे संबंधित वे संस्थाएँ, मूल्य और विश्वास भी टूट जाते हैं जो ग्रामीण समाज व्यवस्था चलाने के लिए कभी स्थापित किये गये थे। स्वतंत्रता पूर्व के ग्रामीण समाज में जमींदार स्वयं एक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित था—कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इसी के लिए ग्रामपंचायतें बनीं, सभापति नियुक्त हुए। और इन दोनों ही रूपों में जैपालसिंह के कारनामे व्यवस्था संबंधी मूल्यों के पतन की व्यंजनात्मकता लिए हुए है। इसी तरह देवी चौधरी द्वारा सरे-आम पोते के सर पर हाथ रख, शिवजी की पिण्डी उठा झूठी कसम खा जाने में धार्मिक मूल्यों का टूटना भी बड़ी स्पष्टता से व्यक्त हुआ है। ये विश्वास सदियों से मनुष्यता के मानदंड बने हुए थे।

खलील खाँ के साथ आशावादी-उदात्त मूल्य टूटते हैं तो विपिन के चले जाने से कनिया की खानदानी इज्जत के त्यागमय आदर्श भी टूटे बिना नहीं रहते। स्वरूप-

---

60. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 316.
61. संचेतना, दिसम्बर 1971, रामदरश मिश्र का लेख, पृष्ठ 38-39.

भगत के तटस्थ कर्मशीलता भी की आखिर में हत्या हो ही जाती है। युवापीढ़ी में विपिन-देबू के मानसिक ग्राम सुधार के लक्ष्य टूटते हैं तो मास्टर शशिकांत के कोरे समाज सुधार भी अंधेरे में मुँह छुपा पलायन कर जाते हैं। नैतिक मूल्य इस हद तक टूट गये हैं कि सबके सामने गाँव की बहू-बेटियों को बदजुबान बोल देने में कोई संकोच नहीं होता। यहाँ तो खुल्लमखुल्ला योजनाबद्ध रूप से उनकी इज्जत पर धावे बोले जाने लगे हैं, परिवार को अन्यथा ढंग से परेशान किया जाने लगा है।

जनतंत्र शासन में बढ़ती शक्तियाँ मजदूरों को डंडे-मुक्के से मारती हैं और उनकी मजदूरी भी काट लेती है। लेकिन वही शक्तियाँ जब स्थितियों से लाभ उठाते हुए अवांतर आकर्षण दिखाकर व्यभिचार करती हैं और पूरे गाँव के सामने से निकल जाती हैं तो भी कोई कुछ नहीं बोल पाता। यह अवमूल्यन इतना निर्लज्ज हो गया है कि बाप (डोमन) भी बेटी (सगुनी) के व्यभिचार से दुखी नहीं होता। किसी जुर्म की कोई सुनवाई नहीं, इसलिए कहीं अपील भी नहीं—अब तो इस गाँव में ऐसी वारदातें होती हैं कि कोई थाना-पुलिस में रिपोर्ट भी करता....चोरी, चमारी, आश-नाई ? खेत कट जाते हैं दिनदहाड़े, पर कोई रपट नहीं, कहीं पंचायत नहीं ? सबको मालूम है कि किसने क्या किया। चोरी का जवाब चोरी, चमारी का जवाब चमारी।[62]

उपन्यास के ऐसे मूल्यहीन परिवेश में एकमात्र जग्गन मिसिर का मूल्यवादी दृष्टिकोण (अच्छे दिन आने की उम्मीद और उजड़े खेमे को बनाने का संकल्प) उन्हीं का मुँह बिराता है।[63] किंतु टूटन को लेकर पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत ऐसा नहीं है। यहाँ उसका सादर उल्लेख करना अत्यंत आवश्यक है—आज का जीवन विविक्तीकरण की ओर उन्मुख है। लेखक इसी के भीतर समन्वय की खोज करता है। इसे टूटते केन्द्रों की कथा मात्र कहना ठीक नहीं है....यहाँ केन्द्र टूटता है, पर उसी के भीतर से एक नयी परिधि एक नया केन्द्र प्रकट होता है।[64] पर दुर्भाग्य यह कि उपन्यास के साक्ष्य पर ऐसी कोई परिधि या केन्द्र प्रकट होता दिखता नहीं। सिर्फ टूटन और पतन ही समकालीन करैता (समाज) की पहचान है। इसके परिणाम-स्वरूप यदि कुछ बन रहा है तो वह पार्टी बंदी ? गोलबाजी, फिरकापरस्ती के अलावा कुछ नहीं और इसे हम उस अर्थ में केन्द्र या परिधि नहीं कह सकते, जिसमें आचार्य द्विवेदी जी ने कहा है। ये सब या तो केन्द्र या परिधि के विकृत रूप कहे जा सकते हैं या फिर टूटन की परिधि के पुंजीभूत केन्द्र। इस तरह लेखक ने समाज की सही तस्वीर पेश की है जिसमें ये पनपते मूल्य अपनी सारी पतनोन्मुखी संभावनाओं के खुले संकेत बन गये हैं। निश्चय ही आचार्य जी का कथन उनकी ही वैचारिक आस्था-आशा से युक्त होकर रह गया है। और गाँव ही क्या, करैता तो एक प्रतीक है।

---

62. अलग-अलग वैतरणी
63. आधुनिक हिन्दी उपन्यास—सं० नरेन्द्र मोहन में बच्चन सिंह का लेख, पृष्ठ 44.
64. 'कल्पना'—अंक 197—जून 1968 में छपी रिपोर्ट, पृष्ठ 39-40 के आधार पर।

यही हाल पूरे भारतीय लोकतंत्र का है जो लगातार टूटते आदर्शों और मूल्यों के बीच आज तक अपनी नयी या स्वस्थ परंपरा कायम नहीं कर सका है।[65] सुखदेवराम और गोंगई के रूप में गांधीवादी मूल्यों का पतन और उसकी विकृति भी द्रष्टव्य है।

इस प्रकार अपनी शक्ति ? राजनीतिक चेतना के बावजूद समूचा गाँव टूट जाता है....यह टूटने की विवशता, अलगाव, लाचारी उपन्यास की आत्मा है।[66]

(4) युगों की तुलनात्मकता

टूटन के ये स्वर 'अलग-अलग वैतरणी' में दो युगों की तुलनात्मकता का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि आधुनिकता वाले शीर्षक में संकेत किया गया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बीस साल बाद लिखा गया यह उपन्यास लगभग इतने (या कुछ अधिक) ही पीछे तक के कालखंड को समेटते हुए चलता है। समय की इस निरंतरता के साथ-साथ नित परिवर्तित होते यथार्थ का गत्यात्मक रूप भी खूब उभरकर चित्रित हुआ है।

इस तुलनात्मकता को रेखांकित करने के लिए लेखक ने दोनों ही कालखंड में घटित होने वाली कुछ समान (सिमिलर) घटनाओं का सोद्देश्य सृजन किया है। उदाहरण स्वरूप हरिजनों पर होते अत्याचार भारतीय ग्राम-समाज के अनिवार्य अंग रहे और हैं भी। ठाकुर जैपालसिंह के जमींदारी जमाने में हरिजनों की सामूहिक पिटाई के बाद बटोर में बारहो गाँव के सभी चौधरियों ने भाग लिया था और हरिजन बस्ती में 'बेहरी' वसूल कर सूअर कटवाये गये—चौधरियों की खूब खातिर-तवज्जह हुई। फिर अंत में परिणाम क्या निकला ? ठाकुर के पाँव पर खुद तो गिरे ही देव-किसुन को भी गिराकर माफी माँग ली गयी। अब जनतंत्र भारत में, आजादी मिलने के बीस साल बाद भी कोई फर्क नहीं आया है बल्कि अत्याचार बढ़ ही गये हैं। हरिजन कन्या सुगनी के साथ व्यभिचार करते हुए पकड़े गये ठाकुर सुरजू सिंह के खिलाफ वैसा ही बटोर होता है। अब चमार चौधरी की जगह हरिजन नेता हैं जो सूअर के गोश्त की खातिरदारी के साथ अपनी कीमत में नकदी भी लेते हैं किन्तु ऐन मौके पर भाग खड़े होते हैं। बचे-खुचे लोगों द्वारा ले जाये गये मोर्चे पर ठकुराने के लठैत उसी तरह पिल पड़ते हैं और इस बार कत्ल तक हो जाता है। इस तरह एक ही घटना के माध्यम से दो युगों की स्थितियों का यथार्थ विवेचित हुआ है और देव-किसुन की जुबानी युगबोध भी व्यक्त हो गया है कि दोनों (जैपाल और हरिजन चौधरी लोग) एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं।[67]

इसी प्रकार करैता में दरोगा के आने की घटनाएँ हैं जो दो युगों के बीच बढ़ते भ्रष्टाचार की कहानी कहती हैं। पहली बार दरोगा आते हैं—देवाकांड में और जैपालसिंह द्वारा दी जाती घूस की रकम को ठुकराकर देवा की चालान कर देते हैं। दूसरी बार जग्गन-जगेसर मामले में दरोगा गलत की पक्षधरता करना चाहता है पर

65. धर्मयुग—10 अगस्त 1968—परमानंद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 22.
66. कल्पना—जून 1968, पृष्ठ 38.
67. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 589.

विपिन की जोश भरी दखलंदाजी से कुछ कर नहीं पाता। किंतु तीसरी बार रेलवे डकैती में गिरफ्तार बुझारथ सिंह को छोड़ने के लिए बड़ी रकम ऐंठ लेता है। देवा-कांड से यहाँ तक का फासला उल्लेखनीय है। और फिर अंतिम बार तो सारी हदें टूट जाती हैं। जब ठाकुर-हरिजनों के बीच हुई फौजदारी में ठाकुरों को न पाने पर शोषित-पीड़ित-पिटे चमारों से ही दरोगा पैसे खा लेता है क्योंकि अब तो यदि कुछ आमदनी न हुई तो दरोगा के आने का क्या अर्थ ? यह विविधरूपी थानेदारी का चित्रण लेखकीय सोद्देश्यता में यथार्थ की बायस्कोपी पेशकश है जो अपनी गत्यात्मकता में बदलते ज़माने के साथ व्यवस्था की ढहती नैतिकता को संरजाम देती है। न चित्र मूल्यों की गिरावट के ऐतिहासिक दस्तावेज़ बनते गये हैं। दरोगा के आगे जैपाल का कुण्ठित अहं और नैतिक पतन यदि एक आयाम था तो जनतांत्रिक व्यवस्था में सभापति सुखदेवराम की मिलीभगत उससे बहुत आगे निकल गयी है। इससे भी आगे की कड़ी 'वैतरणी' की अनुवर्ती कृति 'रागदरबारी' में देखी जा सकती है जब वैद्य जी वाली न करने पर दरोगा की बदली हो जाती है और उसे आकर आखिर वैद्य जी के चरणों पर गिरना पड़ता है। इसमें बदली नैतिकता की सारी स्थितियाँ अपने छिपे कारणों के साथ प्रत्यक्ष हो उठती हैं। और भी विभागों के कर्मचारियों के पतन का हाल भी यही है। उदाहरण स्वरूप खलील खाँ कहते हैं कि पहले के पटवारी घूसखोर थे, जमींदारों के पिट्ठू थे, पर डकैत नहीं थे।[68]

ज़माने के साथ शोषण के पाट भी फैले हैं। जहाँ तब एक ज़मींदार था वहाँ अब अनेक पैदा हो गये हैं—पुलिस-दरोगा, धनी-छुटभइए, विभिन्न स्तरीय नेता और गाँव के छटे बदमाशों की गोल। इसलिए इस ज़माने का यथार्थ ज्यादा जटिल और लड़ाई बड़ी मुश्किल हो गयी है। तब लड़ाई व्यक्ति-व्यक्ति की होती थी और ज़मींदार का एक अंकुश था पर अब पार्टीबंदी-गोलबाजी की लड़ाई हो गयी है और किसी पर कोई अंकुश नहीं रहा। अतः अत्याचार व जुर्म की वारदातें बेइंतहा बढ़ गयी हैं।[69] अब तो शोषकों का दृष्टिकोण एकदम साफ है—अकेले-अकेले की लड़ाई में चार-पाँच सौ निकालना मुश्किल होता है। बाकी दो गोल में ठन जाये तो देखते-देखते हजार रुपये का चंदा उतर आता है।[70]

युगों की यह तुलनात्मकता प्रेम और व्यभिचार के प्रसंगों में भी पूरी तरह स्पष्टता के साथ चित्रित हुई है। सरूप भगत की बहन सोनवाँ के साथ ठाकुर केशो के लड़के शोभनाथ का फिर भी प्रेम था पर अब तो सगुनी के साथ मालदार ठाकुरों के संबंध नये युग की ही देन हैं। इसी तरह तब देपालसिंह अपनी सारी मर्यादा और संकोच के साथ अपने प्रेम की ईमानदार माँग को बड़े भाई के सामने रख सकते थे, पर अब तो उसी परिवार के विपिन का व्यवहार बदलते जमाने की कृतघ्नता,

68. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 268 पर द्रष्टव्य।
69. वही, पृष्ठ 621-22.
70. वही, पृष्ठ 340.

कायरता की प्रवृत्ति को ही दरसाता है। अब तो 'मौके पर ऐसे कतराना ही चालाकी समझा जाता है'[71] का युगबोध समाज की नयी पहचान बन गया है।

सुरजू और बुझारथ सिंह की चार-पीढ़ियों के क्रमवार चित्रण भी समसामयिक वास्तविकता की पकड़ के परिप्रेक्ष्य में युगों की तुलनात्मक दृष्टि का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। मेघन-पियाऊ की शान के मुकाबले सुरजू की नीचता और जैपालसिंह के दबंगपन के मुकाबले बुझारथ की उच्छृंखलता, असामाजिक करतूतें जमाने को कहाँ ले जा रही हैं, बताना ही लेखक का अभिप्रेत रहा है। शांत, गंभीर, संयमी पुरानी पीढ़ी के बाद पतनोन्मुख नयी पीढ़ी-हरिया-सिरिया-छबिलवादी की करतूतें देखकर समाज का जो स्वरूप उभरता है उससे विपिन के शब्दों में जमाने की चिंता ही व्यक्त हुई है—समझ में नहीं आता आखिर गाँव में इतनी गंदगी कहाँ से आ गयी? ऐसा दमघोंट वातावरण पहले भी था या आज ही हो गया है। जिधर देखिए, वहाँ अनैतिक संबंधों की चर्चा है। आखिर लोगों को क्या हो गया है।[72] और जग्गन मिसिर के शब्दों में इसका जवाब नये जमाने और पीढ़ी को और बेबाकी के साथ प्रस्तुत करता है—कुछ न कुछ ऐसा तो हमेशा ही था विपिन बाबू, मगर उस समय का तरीका कुछ अलग था....उस समय का चलन था जो किया, उसे अंत तक स्वीकार करने को तैयार रहना, चाहे जो बीते। (और आज के लोग)....ये तो कुत्ते हैं, ससुरे बिना कुछ सोचे-समझे इधर-उधर कुकरलेढ लगा देते हैं। ये तो कुछ समझते ही नहीं। न अपने को, न दूसरों को।[73] फिर इसके बाद दोनों युगों की प्रवृत्तियों को लेकर एकदम सुलझा हुआ लेखकीय विचार शशिकांति के शब्दों में—यही तो अवमूल्यन का रूप है। पहले शोषण था, अत्याचार था, गरीबी और जहालत थी पर दिमाग में कुछ ऐसा था जो इंसान को सीमा लाँघने से रोकता था। अब वह अंकुश नहीं रहा। न ईश्वर का डर है, न इज्जत और प्रतिष्ठा के जाने का खतरा है। न जमींदार का डर है, न समाज का। अब आदमी सचमुच स्वतंत्र है।...स्वतंत्रता बिना अकल के आदमी के हाथ में दुधारी तलवार की तरह होती है जो दूसरे पर वार कम करती है, अपने पर ज्यादा....इंसान है कि पहले से तंग हो गया है—तन से मन से और कर्म से। जिधर देखिये आपको दमघोंट सन्नाटा मिलेगा। सभी जैसे ऐंठनों के बीच में डाल दिये गये हैं और कसते चले जा रहे हैं। पर न तो उन्हें कहीं परेता दीखता है और न ऐंठनेवाला व्यक्ति ही।[74]

इन सबसे एक बात साफ व्यंजित होती है कि पहले के जमाने में, चाहे संकुचित-सीमित ही सही, कुछ जीवनमूल्य निर्धारित थे और चाहे-अनचाहे स्वतः या बरियाई, वे माने भी जाते थे। इसीलिए तब समाज में एक तरह की व्यवस्था बनी

71. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 572.
72. वही, पृष्ठ 443.
73. वही, पृष्ठ 443-44.
74. वही, पृष्ठ 444-45.

थी, पर अब तो टूटन से सिवा कुछ रहा ही नहीं। नये जमाने ने ऐसे कोई मूल्य नहीं बनाये जो समाज को व्यवस्था दे सकें। इसका कारण भी लेखक ने संकेतित कर दिया है— नयी पीढ़ी के विपिन, शशिकांत आदि की अकर्मण्यता, अधैर्य, क्षीण संकल्पशक्ति व आत्मबल की कमी तथा हरिया-सिरिया-छबिलवा जैसों की उच्छृंखल-असामाजिक वृत्तियों के माध्यम से।

(5) मनुष्यता की खोज : अनुभूति का माध्यम

भारतीय गाँव की यह कहानी, चाहे यथार्थ के जिस रूप की अभिव्यक्ति करती हो, अनुभूति के सहारे ही कही गयी है। जिस तरह लेखक में व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से समाज के टूटने को स्वर दिया है उसी तरह व्यक्ति-व्यक्ति की अनुभूति के सहारे वह पूरे गाँव के स्पंदन को वाणी दे गया है। 'वैतरणी' में एक मुख्य कथा और कुछ प्रमुख पात्र नहीं हैं। लेखक ने चुनी हैं कुछ अनुभूतियाँ, कुछ संवेदनाएँ अपने जीवन के स्पंदन जिनको घनीभूत, साकार और जीवंत करने के लिए पात्र अपने-आप आकर जुड़ गये हैं, क्षण अपने आप आकर थम गये हैं, स्थितियाँ अपने आप उभर आयी हैं। अनुभूति के ये मोती छोटे-बड़े हैं किन्तु उनकी दीप्ति बराबर है।[75] अनुभूति के कारण आयी सूक्ष्मता ही प्रस्तुत उपन्यास को पुराने और नये अन्य उपन्यासों से अलगाती है। कुसुम वार्ष्णेय ठीक ही कहती हैं कि अनुभूति की ऐसी गहराई प्रेमचंद में भी नहीं है।[76] गाँव पर लिखे गये उपन्यासों के मुकाबले 'अलग-अलग वैतरणी' में जो गतिमयता और सहजता है वह अनुभूति की तीव्रता और प्रवाहमयता के कारण ही है जिसके अभाव में इसी भूमि पर लिखी गयी समकालीन रचनाएँ स्थूल सी लगती हैं।

अपने पात्रों के 'अंतरतर में पैठ' डॉ० सिंह की निजी विशेषता है और उनकी अतल गहराइयों से मनुष्यता के रजतकण निकाल लाना उनके लेखन का सहजलभ्य लक्ष्य कहानियों के अध्ययन के अन्तर्गत इसी प्रवृत्ति को 'मनुष्यता की खोज' के रूप में विश्लेषित किया गया है। वहाँ इन रजतकणों का समाज से धीरे-धीरे विलुप्त होते जाना भी रेखांकित किया गया है। कालक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास 'मुरदासराय' और 'भेड़िए' के बीच की रचना है। पूर्ण और सच्चे मनुष्य का एकदम से विलुप्त हो जाना 'भेड़िए' (1975) में होता है, पर इस कटु सचाई तक पहुँचने की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) 'वैतरणी' में लगभग दस साल पहले ही हो चुका था।

इसकी पहचान के लिए हमें कुछ प्रसंगों पर ध्यान देना होगा। शुरुआत में लेखक के आस्थावान मन में यह आशा कहीं सुगबुगाती रही है कि समाज में दबी-छिपी मनुष्यता है जरूर। इसी विश्वास पर खलील खाँ, देवी चौधरी के अंतस् को कुरेदते हैं, 'इंसान समझकर' रामकरन लेखपाल से मिलने भी जाते हैं और तब उन्हें पता चलता है कि 'इंसान भी अजीब है, कुछ बना सकने की ताकत उसमें नहीं पर

75. 'सम्मेलन' पत्रिका—भाग 57, संख्या 1-2, डॉ० कुसुम वार्ष्णेय का लेख—भारतीय गाँव की कहानी अनुभूति के सहारे, पृष्ठ 78.

76. वही, पृष्ठ 77.

मिटा सकने का गरूर वह हमेशा ढोता रहता है।'[77] इस तरह 'मनुष्य की' अंदरूनी अच्छाई में ईमान लाने की कोशिश में खलील खाँ सब कुछ गँवाकर बैठ जाते हैं। मनुष्यता पर विश्वास करने वाले खलील खाँ की इस बेबसी और हार को देखकर विपिन के रूप में लेखक का अहसास एकदम साफ-साफ बयान हुआ है—'मानो आँखों के सामने मनुष्यता की हत्या के दृश्य एक के बाद एक उभरते चले जा रहे हैं।'[78] करैता में एक दूसरे की पीड़ा, शोक के प्रति सहानुभूति-संवेदना आदि मानवीय भावनाओं के स्तर पर आदमी की विरक्ति और तटस्थता की पहचान करते हुए जग्गन मिसिर के रूप में भी लेखक को कहीं मनुष्य विद्यमान नहीं लगता—हर व्यक्ति की आत्मा में कोई अतृप्त-प्यासा बेचैन प्रेत हाहाकार कर रहा है।

जग्गन-खलील की अनुभूतियाँ जहाँ मुखर होकर हमारे सामने प्रकट हो जाती हैं वहीं विपिन, शशिकांत, दयाल महाराज, कनिया, चचिया, पुष्पा, पटनहिया भाभी आदि का अंतस्संसार अंदर ही अंदर धुँधुवाने के रूप में अनुभूतियों को प्रकट कर गया है। आनुभूतिक पीड़ा की अव्यक्त तड़प उसके झेलने में ही समझी जाती है और उक्त सभी पात्र अपने-अपने ढंग से, अपने-अपने स्तर पर इसे सहते-झेलते हुए देखे जा सकते हैं—विशेषकर नारी पात्रों—पटनहिया भाभी, पुष्पा, कनिया आदि का जीवन तो पूर्णतः ऐसा ही है।

गाँव से काटकर थोड़ी दूर बसायी गयी चमटोल में आइए, यदि अनुभूतियों का सागर देखना हो तो। सरूप भगत की निर्वासित यायावरीयता, झिनकू-दुक्खन के ग्राम-निकाले की कसक, धनेसरी का जीवन वास्तव आदि जिन कुचक्रों, शोषणों से उपजे अभावों के परिणाम हैं, वे सब बड़ी गहन अनुभूति की प्रवाहमयता में व्यक्त होते गये हैं।

पारतंत्र्योत्तर जीवन में परिस्थितियों के दबाव और जीवन वास्तव की जटिलता के बीच मनुष्य की भावप्रवणता-संवेदना खोती-दबती-विलीन होती जा रही है और उसकी बाहरी व्यावहारिकता (औपचारिकता के रूप में) की माँग बढ़ती जा रही है। इस विसंगति पूर्ण स्थिति में मनुष्य के भीतरी संसार (के उद्वेलन) का अनावरण-प्रकाशन कलाकार की जिम्मेदारी बन जाता है। दुर्भाग्य से आज वह इसी चपेट में बहता जा रहा है। इससे बचते हुए वैतरणीकार उन अपेक्षाओं को अपने सायुज्य कौशल से सहज ही पूरा कर सका है जो मूलभूत प्रवृतियों से संवलित कला से की जाती है। 'अनुभूति के सहारे कही वैतरणी की कहानी में इतनी तल्लीनता और सजीवता है कि वह मन-प्राण में समा जाती है।'[79]

(6) गाँव से निर्वासन की समस्या

ग्रामीण यथार्थ की जटिल संकुलता को झेलते हुओं का प्रतिनिधित्व करता है,

77. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 272.
78. वही, पृष्ठ 273.
79. सम्मेलन पत्रिका—भाग 57—संख्या 1-2, पृष्ठ 78.

विपिन का यह वाक्य कि जायें कहाँ ? यहाँ से तो भागने का मन हमेशा करता है, पर जाने का कहीं ठौर-ठिकाना सूझता नहीं।[80] और आखिर में यही चितना अपनी व्यावहारिक परिणति में गाँव से निर्वासन की भयावह परिणति ले आती है। फलतः अपनी सारी कलाकारी के बावजूद पाँच दिन से होते फाके को सह सकने में असमर्थ 'वैतरणी' का विधेसरी लोहार मिर्जापुर के जंगलों में चला जाता है। सूरजितवा मुफ्त में नरक न साफ करके कस्बे में लांड्री खोल लेता है। अपनी सारी कर्मठता के बावजूद जब हरिया अपनी गरीबी से उबर नहीं पाता और शहर भाग जाता है तो लोग कहते हैं कि अच्छा ही हुआ, कहीं जाकर चार पैसा कमाएगा।[81] इस तरह होने वाले निर्वासन को ही गाँव के लोग अपनी समस्या के समाधान के रूप में देखते हैं। किंतु असल में यही अपने आप में 'वैतरणी' की समस्या है जो भारतीय गाँव के लिए सुरसा होने जा रही है।

वस्तुतः गाँव से निकलकर शहरों की ओर प्रयाण वृहतर पृष्ठभूमि में एक विचारणीय प्रश्न बन गया है। प्रायः सभी विकासमान समाज को इससे गुजरना और निपटना पड़ता है। शहरों में विकसित उद्योगों के नकद और निश्चित आकर्षण होते हैं जिससे खिचे ग्रामीण नौजवानों का शहर आना वर्तमान शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक से ही शुरू हुआ पर युद्धकालीन माहौल और व्यवस्था के संक्रमण में पिसते ग्रामीण युवकों की जीविका का संकट जैसे-जैसे बढ़ता गया, यह निर्गमन की गति तेज से तेज होती चली गयी। आजादी के बाद गाँवों-ग्रामीणों के लिए योजनाएँ बनीं, भाषण बाजियाँ हुईं, अब भी होती हैं, पर कोई व्यावहारिक परिवर्तन नहीं हो पाया। फलतः गाँव दिन-ब-दिन टूटते-बिगड़ते-उजड़ते चले गये। औद्योगिक क्रांति के हाथों हरितक्रांति की भ्रूण हत्या हो गयी।

इन्हीं संदर्भों की पृष्ठभूमि के तहत 'वैतरणी' के युवकों का निर्गमन शोक या चाकचिक्य भरी रंगीनी के प्रति उनका आकर्षण मात्र नहीं वरन् संबंधित जीवनवास्त को झेलते हुए उसकी कशिश से निजात पाने की सार्थक और समझदार कोशिश है। यह सब व्यक्तिगत और पारिवारिक स्तर पर, जैसा कि गाँववाले सोचते हैं, सहज भी है और शुभ भी। पर 'वैतरणीकार' ने संपूर्ण गाँव को केन्द्र में रखकर व्यापक धरातल पर इसके दूरगत परिणामों की तरफ संकेत किये हैं। सच में ही ये समाज और राष्ट्र के लिए कितने असहज और हानिकार होते जा रहे हैं। इस समस्या को लेखक ने भूमिका में ही संकेतित किया है। ये मौजे नाचिरागी क्यों हुए ?...बाढ़, विप्लव, युद्ध, सूखा, अकाल या और कुछ ?[82] इस 'और कुछ' की समस्या ही उपन्यास के सभी प्रसंगों के केन्द्र में हमेशा विद्यमान रही है। और इसीलिए लगभग सभी पात्रों

80. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 652.

81. वही, पृष्ठ 155.

82. तटचर्चा से।

के साथ चलते हुए भी लेखक इसे ही गंतव्य मानकर उनके रास्ते नियत करता रहा है। फलतः प्रायः सभी चरित्र जीवनकामना को सफलीभूत करने की कोशिश में गाँवों से निर्गमन की यातना को झेलते रहे हैं। इस पूरी निर्गमन-प्रक्रिया का उल्लेख विभिन्न चरित्रों के संदर्भों में उनके विश्लेषण के दौरान किया जायेगा।

अस्तु, यहाँ अपने निर्दिष्ट उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए 'वैतरणी' में आये जग्गन मिसिर के वक्तव्य से अपनी बात शुरू करें—

'हमारे गावों से आजकल इकतरफ रास्ता खुला है। निर्यात। सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहाँ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे-ताजे जानवर जाते हैं। हट्टे-कट्ठे, मजबूत आदमी, जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिए जाते हैं, पल्टन में, पुलिस में। मलेटरी में। मिल में। फिर वैसे लोग, जिनके पास अकल है, पढ़े-लिखे हैं, यहाँ कैसे रह जायेंगे? वे जायेंगे? वे जायेंगे ही। जाना ही होगा।...इतना बड़ा गाँव है, मुर्दम शुमारी वाले कहते हैं कि आबादी दो हजार हो गयी है....ऐसे दो हजार का क्या मतलब? इन अंधेरी गलियों में रोज ही सैंकड़ों बिना चेहरे वाले लोग घूमते हैं....ये भी क्या ध्यान देने लायक लोग हैं? बिना चेहरे वालों की भीड़ में चेहरे वाले लोग बहुत कम हैं।....और जिनके पास चेहरा है, वे चले जा रहे हैं....यहाँ रहते वे हैं, जो यहाँ रहना नहीं चाहते, पर कहीं जा नहीं सकते। यहाँ से आते वे हैं, जो यहाँ रहना चाहते हैं, पर रह नहीं पाते।[83]

'अलग-अलग वैतरणी' की नितांत संगतिपूर्ण कथा के साक्ष्य पर उक्त लंबा-विस्तृत वक्तव्य सोलहो आने सच है। इसमें इस चले जाने के पीछे निहित उन समस्त संभावित स्थितियों को लेखक सहेजकर प्रस्तुत कर सका है, जो आजादी के बाद के भारतीय गाँवों की जीवन पद्धति ही बन गयी है। पुश्तैनी दुश्मनी के आधार पर पनपी गुटबंदी से फैलता जातिवादी जहर, ईर्ष्या-द्वेष, औरों को नीचा दिखाने की आदत, प्रतिशोध, भयंकर स्वार्थपरता आदि इस जीवन-पद्धति के प्रमुख अंग हैं। करैता से निर्गमन करने वाला हर चरित्र इनमें से किसी न किसी का शिकार हुआ है। हालाँकि प्राकृतिक प्रकोपों सूखा-बाढ़ आदि की चर्चा भी प्रायः हुई है, जिसका बिल्कुल आंशिक ही सही, असर भी पड़ा है, पर कोई पात्र ऐसा नहीं है जो मात्र इसी से प्राप्त गरीबी के कारण गाँव छोड़ रहा है। काम करने वाले प्रजा वर्ग के सदस्य सुरजितवा धोबी और विंधेसरी लोहार की गरीबी गँवई रीति-रिवाजों से बँधे मेहनताने के नियमों की जड़ता के कारण है जिससे तंग आकर ये गाँव छोड़ते हैं। झिनकू-दुक्खन जैसे मजदूरों का गाँव छोड़ना जमींदाराना-ठकुराना शोषण के तहत निष्कासन ही है। हरिया के गाँव छोड़ने का सीधा कारण खेती की मार से उपजी गरीबी जरूर है, पर गाँव के प्रतिष्ठित लोगों के बीच (सम्मान जनक) जगह न बना पाने की कुण्ठा कम नहीं है और इसके लिए किये गये हरिया के प्रयास बिल्कुल गँवई राजनीति चकमेबाजी, लफंगई-लुच्चई

83. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 674-75.

के स्तर पर ही होते हैं। इस प्रकार गरीबी की बुनियाद पर आहत 'अहम्' की प्रतिक्रिया भी निर्गमन का द्वार खोलती है।

इनके अलावा बाकी पात्रों के निर्वासन में ऐसे किसी कारण का पुट भी नहीं है। प्रायः सभी पात्रों को ग्राम निकाला देकर लेखक गँवई स्थिति की दुर्निवारता प्रस्तुत करता है। यहीं याद आता है जग्गन मिसिर का वाक्य—'यहाँ रहते हैं वे जो रहना नहीं चाहते और जाते हैं वे, जो जाना नहीं चाहते। देवनाथ, खलील, पटनहिया भाभी आदि सभी तो योग्य, समझदार, गाँव में रहने के इच्छुक लोग हैं, पर देवनाथ अपने पिता के स्वार्थ परक रवैयों से विवश कस्बे में दुकान खोल लेता है तो खलील चाचा बदले जमाने (जगेसर की मार्फ़त) के गर्द-गुबार (गर्दिश-ए-वक्त) की इंतहा से ससुराल में पनाह लेने को मजबूर होते हैं। जिन कारस्तानियों की बदौलत जैपालसिंह करैता में सरगना बनकर रह रहे थे, उन्हीं की असफलता से मुँह की खा जाने पर वे भी हमेशा के लिए मीरपुर चले जाते हैं। अपने अत्याचार की सफलता पर गर्व करने वाला जगेसर अपनी उच्छृंखलता का मुँहतोड़ जवाब पाकर करैता में कदम न रखने की कसम खा लेता है। पटनहिया भाभी का हमेशा के लिए मायके जाना भी पति की नपुंसकता और फिर मृत्यु के कारण होता है। ग़रज ये कि सभी पलायन गरीबी-अभाव से नहीं, गाँव में उपजी अन्य दुष्प्रवृत्तियों के परिणाम हैं जिन्हें पूरी कुशलता से लेखक ने उरेहा है।

'अलग-अलग वैतरणी' में समाविष्ट बुद्धिजीवियों का पलायन भी बड़ा मार्मिक है। देवनाथ, विपिन, शशिकांत—तीनों बुद्धिजीवियों—के सुधारवादी सपनों के कुचले जाने को तीन स्तरों पर दिखाया गया है। देवनाथ का स्तर पारिवारिक है। वह पिता की तू-तू-मैं-मैं से उखड़ जाता है तो शशिकांत का सुधारवाद गँवई पार्टीबंदी के कुचक्र में दम तोड़ देता है। विपिन का स्तर बहुआयामी है। करैता की कारगुजारियों को देखते-देखते उसकी समझ में आ जाता है कि पूरा गाँव नरक है। ये बुद्धिजीवी गाँव से बाहर निकलकर साबित करते हैं कि उनकी उपयोगिता के अवसर गाँव में नहीं रहे। अब तो यही हाल राष्ट्रीय स्तर का भी है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक-टेक्नीशियन आदि विदेशों में जाकर शरण ले रहे हैं।

इनके अलावा उपन्यास की समाप्ति पर सुरजू, सिरिया तथा युद्ध-कांड में शरीक सभी राजपूत भी करैता से ओझल हो जाते हैं। हालाँकि इन ठाकुरों का भागना प्रासंगिक और स्थितिजन्य तथा सामयिक (फार टाइम बीइंग) है फिर भी सभी निर्गमन-प्रसंगों को देखकर लगता है कि ये जरूरत से ज्यादा ही हो गये हैं। यदि कुछ और कम पात्र गाँव छोड़ते तो भी समस्या की प्रभान्विति पर कोई फर्क नहीं पड़ता बल्कि वह ज्यादा सहज और विश्वसनीय ही लगती। यहाँ तो कभी-कभी लगने लगता है कि उपन्यासकार जानबूझकर ऐसा कर रहा है जिसकी जरूरत किसी भी लिहाज से लगती नहीं। दयाल महराज का निर्गमन, ऐसा ही है। बेवजह ऐसा करना कहीं-कहीं औपन्यासिक स्तर को थोड़ा हल्का भी कर देता है।

जो भी हो, पर अंत में जग्गन मिसिर के वक्तव्य के माध्यम से अपनी प्रस्तुति में गाँव छोड़ने को लेकर उभरी लेखकीय टीस से कोई भी पाठक अप्रभावित नहीं रह पाता। इस संदर्भ में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन बिल्कुल ही निराधार, उलटा और असंगत लगता है कि लेखक नगरीकरण की ओर उन्मुख है।[84] वह तो नगरोन्मुखता की अतिशयता से क्षुब्ध और ग्रामोन्मुखता का पक्षधर है। खैर, सबके चले जाने पर करैता में रह जाते हैं—बुड्ढ़े हरखू सरदार, बीसू धोबी, मजबूर बुझारथ, असहाय कनिया आदि। याने बिना चेहरे वाले लोग, जो कहीं जा नहीं सकते। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इस तरह उपन्यासकार ने गाँवों का भविष्य गहरी अंधेरी परतों में डुबा दिया है।[85] 'वैतरणी' के साक्ष्य पर शत-प्रतिशत ऐसा नहीं है। डॉ० सिंह ने डूबते को सहारा दिया है—जग्गन मिसिर का जो चेहरेवाले होकर भी करैता में है। वैसे मौजूदा हालात में यह सहारा तिनके-सा ही साबित होता है, पर गाँवों के इस अँधेरे पथ को सुबह तक पहुँचाने के लिए वे पूरी आस्था और आशा के साथ तत्पर है।

आस्था और आशा के संकेत

उक्त वर्णित सब कुछ के बावजूद 'अलग-अलग वैतरणी' में 'अभी भी स्वार्थ की जड़ता और विवेक की चेतना का, यथार्थ और स्वप्न का, हल्का-हल्का द्वंद्व बाकी है। समूचे अंधकार में प्रकाश की रेखाएँ रह-रहकर कौंध जाती हैं और यह अहसास दिलाती हैं कि अभी सब कुछ समाप्त नहीं हुआ है। यही अवशिष्ट मुक्ति-बोध इस सारे विकृत यथार्थ के फैलाव को एक 'अन्तर-रचना' की ओर प्रेरित करता है अर्थात् लेखक इस सामयिक यथार्थ लोक के भीतर से गुज़रता हुआ उसके कुछ ऐसे मर्म बिन्दुओं की तलाश करता है जो अपनी दीप्ति से रचना को सामाजिकता का दस्तावेज़ मात्र बनने से बचाकर उसे व्यापक मानवीय संवेदना से जोड़ते हैं। वैतरणी में ऐसे अनेक आलोक-बिन्दु हैं जो उतने ही यथार्थ हैं, जितना कि अंधकार। और ये आलोकबिन्दु स्वयं अँधेरे की कई पर्तों से लिपटे हुए अपनी वास्तविकता का अहसास दिलाते रहते हैं।'[86] इनमें सबसे प्रमुख हैं जग्गन मिसिर जो कटु यथार्थ की समझ रखने, उसे बहुत हद तक भोगने तथा शहरों की ओर भागने से पैदा होती गाँव की रिक्तता की तीखी चुभन को महसूस करने के बावजूद कहीं न कहीं आश्वस्तता लिए रह जाते हैं। जग्गन मिसिर को गाँव के प्रति आशान्वित छोड़कर लेखक ने पूरे गाँव को आशावादी बना रहने दिया है।'[87] विपिन के पूछने पर कि गाँव का क्या होगा? वे बड़े साफ-साफ शब्दों

84. द्वितीय विश्वयुद्धोतर हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 124.
85. स्वातंत्र्योतर हिन्दी साहित्य और ग्रामजीवन—डॉ० विवेकीराय, पृष्ठ 532.
86. आधुनिक हिन्दी उपन्यास—संपादक—नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ 65 पर डा० रामदरश मिश्र के लेख—स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी उपन्यास से।
87. दिशाओं के परिवेश में संकलित विवेकीराय के निबन्ध—गाँव की आत्मा की खोज, पृष्ठ 30.

में तपाक से कह उठते हैं—'गाँव क्या कोई आदमी है उसका कुछ होता रहेगा। अरे भाई, यह तो खेमा है। कभी उखड़ता है। कभी गड़ता है। कभी बुरे दिन आते हैं। कभी अच्छे दिन आते हैं। असली चीज तो धरती है। आप क्या समझते हैं कि अब दुनिया को धरती से कोई मतलब नहीं रहा ? धरती ही सब कुछ देती है विपिन बाबू। उसके बिना आदमी का गुज़र नहीं। यह पक्की बात है। खेमा खराब होगा। इंतजाम बिगड़ेगा। धरती से ज़रूरी चीजों का मिलना बन्द होगा। हाय-तौबा मचेगी तो झख मारकर खेमा दुरुस्त करना होगा। नहीं करोगे तो मरोगे। है कि नहीं ?'[88]

यह भविष्य दर्शन है जिसमें नगरोन्मुखता के फलस्वरूप उजड़ते गाँवों की आखिरी व्याख्या दी गयी है जो अत्यंत वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न और ऐतिहासिक विश्लेषण पर आधारित है। गाँवों से उखड़ना धरती से उखड़ना है। शहर भी तो आखिर गाँवों पर ही टिके हुए हैं। सो, लौटना तो होगा ही। ऑफिसों-फैक्ट्रियों में आखिर चावल-गेहूँ-सब्जी तो नहीं उगाया जा सकता। इसीलिए उक्त आशा बड़ी बुनियादी ज़मीन से उपजी है जो लेखक का मंतव्य भी है और लेखन का संबल भी। इस आशावादी स्वर का संकेत भूमिका (तटचर्चा) में ही कर दिया गया है—जाने कितने गाँव नाचिरागी मौजों में बदल गये। आज वहाँ झाड़-झंखाड़ के बीच सिर्फ करैत ठनकते हैं। लेकिन किसान हैं कि उसमें से भी बारिश के सगुन उचार लेता हैं।'[89] लेकिन यह व्यवस्था मात्र सगुन उचारने वाले किसानी भोलेपन तक ही सीमित नहीं है वरन् ग्राम सम्बन्धी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता, एक समग्र कालचिंतन की मुखर अभिव्यक्ति है। इसमें व्यक्तियों और परिस्थितियों के बीच घटित होने वाले मोहभंग के बाद भी डॉ० सिंह के आस्थावान मन में प्रतीक्षा के लिए कुछ जगह बनी रह जाती है।'[90]

डॉ० सिंह अपने लेखन में शुरू से ही सारी विकृतियों के बीच अविचलित रहते हुए आस्थावादी दृष्टिकोण के उन्नायक रहे हैं। आगे की बात आगे पर 'दादी माँ' से लेकर 'वैतरणी' के उक्त अंश तक उनकी आस्था की नौका तमाम विरूपताओं के तूफानी झकोरों के बावजूद टूटी नहीं है—डगमगायी ज़रूर है। डगमगाहट जग्गन के शब्दों में भी परोक्षतः झाँकती रहती है। 'यहाँ रहते वे हैं, जो रहना नहीं चाहते' वाले अपने कथन में अपने को विपिन—गाँव छोड़ने वालों—की श्रेणी में रखने की मिसिर जी की ललक छिप नहीं पाती, पर मजबूरी है—कहीं जा नहीं पाते। विपिन के जाने को लेकर उनकी आपत्ति जाने पर नहीं है (उसे तो उन्होंने कसक के साथ ही सही, स्वीकार कर लिया है) गाली देकर जाने पर है। इससे स्पष्ट है कि फिलहाल जग्गन मिसिर जैसे कर्मठ-दृढ़-उद्योगी पुरुष भी गाँव में रहने का आग्रह नहीं कर पाते

---

88. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 675-76.
89. वही, तटचर्चा।
90. धर्मयुग—10 अगस्त, 1969, पृष्ठ 22.

और न ही बरवक्त उनकी कोई ख्वाहिश गाँव को सुधारने की ही है, क्योंकि हालात ही ऐसे हैं। इस तरह व्यक्ति के रूप में नहीं, पर दृष्टि के रूप में बस एक विश्वास है कि एक दिन आयेगा 'जब हाय-तोबा मचेगी, झख मारकर खेमे को सुधारना होगा। नहीं सुधारोगे तो मरोगे। इसीलिए इसे आशा-आस्था के संकेत ही कहना उचित है'।

खलील चाचा की आस्था भी ऐसी ही है जो मौजूदा परिस्थितियों के दबाव से जीवन में तो टूट ही गयी है, पर विचारों में प्रकट होती रही है। वे पहली बार उपन्यास में प्रकट होते ही किसी शायर का प्रमाण देते हुए विपिन से कहते हैं कि अँधेरी रात के बाद उजाला होगा, इसके वे अब भी मुंतजिर हैं।[91] जमाने के प्रति खलील चाचा की आशा तब भी प्रकट हुई है जब विपिन जग्गन मिसिर के पक्ष में दरोगा को डाँट देता है—यह एक नये किस्म की आँधी है बेटा, जिसमें गर्द नहीं, गरमी होती है। इसकी आँच में तमाम पुख्ता दीवालें गल जाती हैं जो इंसाफ के रास्ते में रुकावट बनकर खड़ी होती हैं।[92] पर क्या हुआ पुख्ता दीवालों का ? ढ़हना तो क्या, वे दरकीं भी नहीं और बदले जमाने के मुंतजिर खलील चाचा इस नये दौर से नावाकिफ़ ही रहे, जिसने उन्हें पस्त कर दिया। उन्हें भाग जाना पड़ा। इस प्रकार खलील चाचा में आस्था का बिखर जाना बहुत स्पष्ट है जो स्वतंत्रता परवर्ती मोह भंग की व्यंजना लिए हुए है। यही जग्गन मिसिर में मजबूर होकर भी (शायद अन्दर से बिखरकर भी ऊपर से) संयमित रहकर लेखकीय संकेत का द्योतक बन गया है। खलील चाचा की आशा इंसानियत पर आधारित थी जो लेखक की कहानियों में अपनी मनुष्यता की खोज का विकासमान और एक तरह से अंतिम रूप है। इस तरह डॉ० सिंह भी वहीं पहुँचते हैं जहाँ आदमी को साफ देखने की ख्वाहिश रखने वाले गालिब साहब पहुँचे थे—'आदमी को भी मयस्सर नहीं, इंसां होना।' (प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय 'कथ्य' के अन्तर्गत दूसरे शीर्षक के अन्तिम अनुच्छेद की निरंतरता में द्रष्टव्य)।

आशा और आस्था की बड़ी चटक रोशनी चमटोल की जिंदगी में भी चमकती हुई दिखती है। सरूप के विचारों से संवलित प्रेरित उनकी टोली की गतिविधियाँ, धनेसरी का स्वावलंबी, साहसी, स्वाभिमानी, प्रेरक रूप अत्याचारों के खिलाफ देवकिसुन-रामकिसुन झिनकू के संगठन आदि संबद्ध वर्ग में अपने हकों के प्रति जागरुकता के सशक्त प्रमाण हैं। इनमें आशा के दूरगामी और स्वस्थरूप के बीज विद्यमान हैं जो वर्तमान समाज सुधार में सुलभ भी हैं।

कुल मिलाकर लेखक की संपूर्ण प्रस्तुति बड़ी संतुलित है। यदि मिसिर के तमाम यथार्थपरक अनुभव और उक्तियाँ न होतीं, उक्त डगमगाहट न होती, खलील चाचा का उखड़ना और हरिजन बस्ती का दर्दनाक पराभव न होता तो इस टूटमान आस्था को आदर्श में बदलते देर न लगती और साहित्य में फिर आदर्शोन्मुख यथार्थ-

91. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 274.
92. वही, पृ० 263.

वाद दुहराया जाता। लेकिन लेखक इस खतरे से बखूबी वाकिफ रहा है। इसीलिए स्थितियों और चरित्रों के बीच इस आस्था को बिरवे के रूप में जिलाए रखा है और धरती, जमीन की उपयोगिता का अहसास कराते हुए गाँवों के पतन और इसकी प्रतिक्रिया में नगरोन्मुखता की अंतिम परिणति का यथार्थ भी सफलतापूर्वक चित्रित कर सका है।

इस प्रकार चारों तरफ के दमघोंट वातावरण में फैली बदमली के बीच ये संकेत इस गरज से बिल्कुल आकलित नहीं किये गये हैं कि श्रेष्ठ रचना का स्वर आशावादी होना चाहिए वरन् ये जमाने के यथार्थ के साथ संपृक्त भी हैं।

(8) **व्यंग्यात्मकता**

'अलग-अलग वैतरणी' का प्रमुख स्वर व्यंग्यात्मक नहीं है। वैसे तो मूलतः डॉ० सिंह के लेखन का रूप ही व्यंग्यकार का नहीं है, पर कहानियों में व्यंग्यात्मकता सहज ही समाहित हो गयी है और इतनी की उसे हम अपर्याप्त भी नहीं कह सकते। उसी तरह प्रस्तुत उपन्यास में भी व्यंग्य लाने के उद्देश्य से किसी खास घटना या पात्र का सृजन नहीं हुआ है फिर भी व्यंग्य सहज ही प्रस्फुरित होता गया है। और जहाँ हुआ है वहाँ इतना प्रखर व प्रमुख तो है ही कि उसे नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता।

असल में जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के दवाब से गिरते टूटते मूल्यों के कारण उपजी विसंगतियाँ ही 'वैतरणी' की मुख्य उपजीव्य रही हैं और यही वह उपयुक्त जमीन है जहाँ व्यंग्य का पौधा बिना बोये ही उग आता है। इसलिए व्यंग्य के उद्देश्य से सुनियोजित पात्रों-घटनाओं से न सही, माकूल प्रसंगों और उनके बीच प्रयुक्त वाक्यों से निकलने वाले एकदम सटीक व्यंग्य का कोई अवसर लेखक कभी नहीं चूकता। ऐसे वाक्य जो किसी आम पात्र के मुख से उसकी सहजता और संक्षिप्तता में ही व्यापक क्षेत्र के संकेत बनकर भरपूर व्यंग्य कर जाते हैं। मिसाल के तौर पर 'सुगनी कांड' के बाद 'सुरजू-शोकसभा' में सिरिया द्वारा झिड़के जाने पर हरखू सरदार अनायास ही कह उठते हैं—महावीर सामी कसम, ई राज तो खाली चढ़ा-उपरी में बिला रहा है। अब यह बात आज की जितनी व्यापक प्रवृत्ति पर व्यंग्य करती है उसके मुकाबले प्रस्तुत प्रसंग या पात्र की क्या औकात पर डॉ० सिंह के व्यंग्यकार का यही कौशल है जिसके सामने व्यंग्य को ध्यान में रखकर अलग से पात्र-घटना के संयोजन की शैली पानी भरती है।

वैतरणीकार के व्यंग्य की मुख्य लक्ष्य रही हैं—राजकरण और बुद्धिजीवी वर्ग की प्रवृतियाँ। बुद्धिजीवी वर्ग में विशेषतः नयी पीढ़ी ही इस व्यंग्यदृष्टि के केन्द्र में रही है—समसामयिक यथार्थ के आधार पर। वैसे समग्र नयी पीढ़ी के प्रति लेखक की तिर्यक् दृष्टि हम कहानियों में देख चुके हैं। हरिया-सिरिया, छबिलवा, शशिधर, जीत्रनाथ आदि के चित्रण में वही मानसिकता और उग्र रूप में व्यक्त हुई है। डॉ० सिंह को इस पीढ़ी से कोई आशा नहीं है। पहली पीढ़ी के मुकाबले इसकी 'उच्छृंख-

लता अनैतिकता, नीचता उन्हें बहुत सालती है जिससे अभिव्यक्ति में बड़ी कड़वाहट आ गयी है—'खेखर की तरह मुँह बनाये, बीड़ी सुड़कते मजनू बने गली-गली घूम रहे हैं—ये तो कुत्ते हैं ससुरे, बिना कुछ सोचे-समझे इधर-उधर 'कुकरलेढ़' लेगा देते हैं। ये तो कुछ समझते ही नहीं। न अपने को, न दूसरे को।'[93]

बुद्धिजीवियों में नयी पीढ़ी के तीन नवयुवक समाहित हैं—विपिन, देवनाथ, शशिकांत। तीनों ही पढ़े-लिखे, बुद्धिमान, भावुक, ग्राम (समाज) सुधार के इच्छुक और एक हद तक आदर्शवादी हैं। तीनों ही अपने इरादों में अनपेक्षित रूप से असफल होते हैं। उनकी थोथी भावुकता तथाकथित सम्मान-हनन का निराधार डर (शशिकांत) रूमानियत, अकर्मण्य चिंतन और कायरता (विपिन), मामूली विरोधी स्थितियों के समक्ष त्वरित निर्णयच्युतता (देवनाथ) आदि समकालीन बुद्धिजीवी मानसिकता की सही पहचान कराते हैं। सब कुछ समझते हुए भी विपिन का झूठी कुलमर्यादा और शान को निभाने के लिए किये जाते फालतू कार्य भी इस वर्ग की ढोंगी प्रवृत्ति पर व्यंग्य ही है जिसमें फँसकर आज का बुद्धिजीवी अजीब विरोधाभास-विकृति का शिकार हो गया है। इन सभी प्रवृत्तियों को लेकर किये गये व्यंग्य पूरे हालात-विचार-क्रिया प्रतिफलन की संश्लिष्टता में संकेतित होते हैं। ये यदि और खुलते तो व्यंग्य और साफ तथा प्रहारात्मक होता लेकिन संबंधित पात्रों के प्रति लेखक की सद्भावना संसक्ति आड़े हाथों आती है। और लेखक की द्वंद्वपूर्ण उभयमुखी मानसिकता के चलते हमें इतने से ही संतोष करना पड़ता है।

राजकरण को लेकर छिटपुट रूप में कई स्थल उल्लेख्य है। लेखपाल और थानेदार को लेकर स्पष्टोक्तियों में व्यंग्य उभरा है—'दोगालपन किसी अफसर के लिए अयोग्यता तो है नहीं।'[94] इसी तरह वोट के संबंध में मास्टर जद्दू बाबू के पूछने पर हरिया की स्पष्ट बयानी—लोचन को बेवकूफ नेताओं के झूठे भाषण नहीं सुनते पड़ते। वह किसी का उपदेश नहीं सुनता। फिर यह कि किसी की चापलूसी भी नहीं करता। न तो वह किसी की निंदा ही करता न किसी का पक्षपात....(ऐसे बहरे लोगों की गवर्नमेंट बने) तभी कुछ हो सकता है इस कंडमपुराणपंथी देश में[95]—आज के हालात पर बड़ा तीखा व्यंग्य करती है। इसके अलावा राजकरण के सबसे प्रमुख पक्ष नेताओं को लेकर सुनियोजित रूप से व्यंग्य की स्थिति प्रस्तुत की गयी है। आजादी मिलने के बाद किस तरह बड़े नेता छोटे स्तर के वफादार तथा कर्मठ कार्यकर्ताओं को पहचानते तक नहीं और यदि किसी ने पहचाना भी तो मीठी-मीठी बातों से दिलासा देकर दर किनार कर दिया—देखिये सुखदेवराम जी, यह तो बड़ा बीहड़ रास्ता है। अगम चढ़ाई औघट घाट। धीरे-धीरे बढ़ना होता है। पैर सँभालकर रखिए....हिम्मत न हारो। जमीन तैयार करते रहो, डटे रहो अहिंसा के रास्ते। पहले गाँव सभापति के लिए

93. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 444.
94. वही, पृष्ठ 484.
95. वही, पृष्ठ 142.

कोशिश करो। फिर आगे देखा जायेगा।[96] इस मीठी छुरीबाज ने ग्रामस्तर के नेताओं को कुंठित करके काफी भोथरा बना दिया जिससे गांधीवादी सिद्धांतों में भी विकृतियों (गोंभई महाराज) को प्रश्रय मिला।

इसके बाद तो आजाद भारत में लच्छीराम के रूप में नेताओं की स्वार्थी, अवसरवादी, शोषक और काइंयापन की प्रवृत्तियों पर एकदम सीधा खुला व्यंग्य किया गया है। वे अपनी प्रतिभा (इमेज) बनाये रखकर अंदर ही अंदर गरीब जनता से पैसे वसूलते हैं और फिर ऐन मौके पर बहाने बनाकर खिसक लेते हैं। यही हाल वर्तमान व्यवस्था में लगभग हर जगह है। इस स्थिति को नेताओं की प्रवृत्ति पर व्यंग्य के रूप में गौर न कर पाने के कारण ही डॉ० बांदिवडेकर को सूरजभान का गायब हो जाना लेखकीय दखलंदाजी का अस्वाभाविक रूप लगता है।[97] हर क्षेत्र में फैली इस प्रवृत्ति को बहुत साफ-साफ सुनना ही 'वैतरणी' के पहले अध्याय में आये भोलू साह के कथन पर गौर करना काफी होगा—यह नया ज़माना है। जो जनता को जितना ज्यादा चूतिया बनाता है, उतना ही मजा करता है।'[98]

कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, नेताओं की कमीनगी, नयी पीढ़ी में आयी गिरावट और बुद्धिजीवियों की पराङ्मुखता आदि के अलावा बढ़ती हुई आबादी जैसी सामयिक समस्या पर भी कटूक्तियों में व्यंग्य हुआ है—'जमाना तो है चच्चा। खाने को नहीं मिलता पर बेटवा खातिर मनौती की भीड़ घटती ही नहीं। सारे देहात से चार-पाँच सौ बहिला बाँझ तो आज आयी ही रही होंगी....हम भगवती माई से मन ही मन मनाते रहे कि कम से कम ई पाँच सौ दरवज्जा तो बंद ही रखो मइया। जितना आय गये हैं बाहर, उतने ही को खाने को नहीं मिलता। जो बंद हैं, ऊ भी खुल जायें कहीं तो ई बानरी सेना पेड़ के पत्ते भी चाट जायेगी।'[99] फैशनपरस्ती और उसके आगोश में पनपते अनैतिक मूल्यों और भ्रष्टाचार का खुलासा भी व्यंग्यात्मक रूप में व्यक्त हुआ है। सगुनी की वृत्तियों और उसे लेकर धनेसरी व दयाल पंडित के वक्तव्यों में इसे देखा जा सकता है।

इस प्रकार वैतरणी में तत्कालीन संदर्भों से जुड़े मुद्दों पर नितांत संक्षिप्त-संयत पर जिम्मेदारी पूर्ण और स्पष्ट व्यंग्य सहज ही उभरता गया है। लक्ष्कीकांत वर्मा के शब्दों में 'अलग-अलग वैतरणी' पूरे समाज के विभिन्न वर्गों की चेतना, उसके संपूर्ण लेकिन अनिवार्य संदर्भों की विषमता और व्यंग्य को व्यक्त करती है।'[100]

---

96. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 64.
97. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 184.
98. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 9.
99. वही, पृष्ठ 16.
100. ज्ञानोदय—फरवरी 1968, लक्ष्मीकांत वर्मा का लेख, पृष्ठ 140.

चरित्र-विन्यास

चरित्रांकन की दृष्टि और सृष्टि

कहानियों के अध्ययन में शिवप्रसाद जी की चरित्र संबंधी धारणा का जो उल्लेख किया गया है, उसे 'अलग-अलग वैतरणी' के संदर्भ में मानक नहीं माना जा सकता। वहाँ अक्सर लेखक के दिमाग में चरित पहले आता है किन्तु यहाँ तो 'करैता' गाँव ही पहले आया है जो स्वतंत्रता-पूर्व और बाद के दो युगों की पृष्ठभूमि में संपूर्ण भारतीय गाँवों का प्रतिनिधि बन गया है। इस गाँव की निरंतर बदलती स्थितियों के बीच संपूर्ण गति-अगतिपूर्ण विकास को रेखांकित करना लेखक का उद्देश्य रहा है, जिसके लिए चरित्र निर्मित किये गये हैं। इन पात्रों में गाँव की एक-एक प्रवृत्ति में, एक-एक रूप को प्रतीकित किया गया है ताकि पूरा गाँव साकार हो उठे। चूँकि शिवप्रसाद सिंह अपने उद्देश्यों के प्रति सावधान रहे हैं इसीलिए सभी पात्र उसी के मुताबिक ही सिरजे गये हैं। इनकी कहानियों और उपन्यासों के चरित्रांकन में यही सबसे बड़ा अंतर है कि कहानियों के उद्देश्य चरित्रोन्मुख हैं पर इस उपन्यास के चरित्र उद्देश्योन्मुख हैं। इससे उद्देश्य तो खूब स्पष्ट हुए हैं पर चरित्रों के विकास की सहजता बहुत बाधित हुई है।

शिवप्रसाद सिंह कथा कहने में इतने सिद्धहस्त हैं कि पाठक को उसी रौ में बहा ले जाते हैं। वह प्रथमतः लक्ष्य नहीं कर पाता कि वे असहज मोड़ कब और कैसे आ गये। इसीलिए प्रायः विद्वान समीक्षक विवेच्य चरित्र-सृष्टि को सहज[101] और यथार्थ कह जाते हैं, और इस बारीकी तह में पहुँचने की कोशिश नहीं करते। यदि वस्तुतः सूक्ष्मता से देखा जाये तो इस उपन्यास में पात्रों की सृष्टि औपन्यासिक दृष्टि की अनुवर्तिनी बन गयी है। प्रायः सभी पात्रों में इसे देखा जा सकता है। करैता गाँव से निर्वासन और कस्बे या नगर की ओर प्रयाण के उद्देश्य ने अकेले ही कितने चरित्रों में असहज मोड़ ला दिया है। जिस पात्र को गाँव से निकालना है, उससे संभावित प्रयत्न न करवाना और गाँव के अन्य पात्रों से कुछ असंभावित प्रयत्न करवाना लेखक के लिए अनिवार्य हो गया था। ऐसे भी पात्र हैं जिनके बारे में यह अनिवार्यता सहज यथार्थ बन गयी है। इसे हम बिस्तार से उन पात्रों के चरित्रांकन के दौरान देखेंगे।

इसके अलावा आलोच्य कृति के पात्र किसी और सिद्धांत या आदर्श की बैसाखी नहीं लगाते। जिस चरित्र में जितना अधूरापन है, उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्शपूर्ण चरित्र रचने के लिए उसकी भरायी नहीं की है....वह महानता में भले चूक गया हो, पर सज्जनता में नहीं चूका है। सभी अधूरे हैं....[102] लेकिन समग्रता में देखने पर उपन्यास में पात्रों की सृष्टि तयशुदा प्रवृत्तियों का प्रच्छन्न

---

101. (अ) सम्मेलन पत्रिका – भाग 57, अंक 192, कुसुम वार्ष्णेय, पृष्ठ 82.
(ब) दिनमान—31 अगस्त, 1969, पृष्ठ 37 पर छपी रिपोर्ट।
102. दिनमान—31 अगस्त, 1969, 'बिना वैसाखियों वाला उपन्यास', पृष्ठ 37.

प्रमाण ज़रूर देती है। कनिया, जग्गन, देबू, शशिकांत, सरूपभगत, खलील खाँ आदि भलेमानुस पात्र हैं। ये प्रायः गलती नहीं करते। मूलतः इनका सृजन अच्छी प्रवृत्ति-वाले पात्रों के रूप में किया गया है। दूसरी तरफ सुरजू, हरिया, सिरिया, छबिलवा, जगेसर, बुझारथ, सुगनी आदि पात्र हर जगह प्रायः दुष्ट कार्य ही करते हैं। यह श्रेणी-बद्धता मनुष्य को खानों में बाँट देती है। जैपाल दोनों के मिश्रित रूप हैं—दो युगों की संधि पर खड़े।

इन्हीं अच्छे पात्रों को डॉ० रामदरश मिश्र ने आलोक बिन्दु कहा है[103] और डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर ने सरूप, जग्गन, कनिया आदि को बहुत दिनों तक याद रखने योग्य।[104] इन्हीं में से कनिया, खलील, पटनहिया भाभी ने आचार्य द्विवेदी को बहुत प्रभावित किया है।[105] इनकी आदर्शमयता, सूझबूझ, बात-व्यवहार का अद्भुत संयम-संतुलन मोहक है चिताह्लादक है, पर संसारिक प्रवृत्तियों के आधार पर ये सभी पात्र यथार्थाधारित नहीं हो पाये हैं।

असल में सातवें दशक के लेखन में भी ऐसे पात्रों की दुनिया किसी न किसी रूप में बनी रही। सतीश (जल टूटता हुआ,) विमल (रीछ) आदि इसी की कड़ियाँ हैं। अपने पात्रों के चरण-चिह्नों पर समाज को चलाने का लेखकों का आग्रह पूरी तरह खत्म नहीं हुआ है। प्रेमचंद अलबत्ता अपने सभी उपन्यासों के अनुभव के बाद 'गोदान' के होरी को इस आग्रह से बहुत कुछ मुक्त रखने में सफल रहे थे। परंतु इसके बाद जाने कौन सी ऐसी अनिवार्यता है कि आज भी औपन्यासिक चरित्र-सृष्टि इस मोह से उबर नहीं रही है। डॉ० रामदरश मिश्र ने 'अलग-अलग वैतरणी' के संबंध में ही इस मानसिकता का उल्लेख किया है 'गाँव खराब हो गये हैं, यह ठीक है, किन्तु इस खराब गाँव में ही ऐसे कुछ पात्र मिल जायेंगे या संभावना के आधार पर हमें गढ़ लेने पड़ेंगे जो मानवीय मूल्यों के लिए संघर्ष न भी करते हों, तो कम से कम इन मूल्यों के टूटने की बेचैनियों तो अनुभव करते हों।'[106] इन बेचैनियों को अनुभव करना तो ठीक है, पर अच्छे-बुरों की यह प्रवृतिगत घटकबद्धता क्यों, जिससे जीवन खानों में बँट जाये। उक्त लेखक अपने प्रिय पात्रों में स्वयं को कहीं न कहीं 'इनवाल्व' कर लेते हैं या फिर अपने उद्देश्य को वहन कराने में पात्र को आरोपण से बचा नहीं पाते। शायद इसीलिए वह तटस्थता-संतुलन नहीं आ पाता। शिवप्रसाद जी का विपिन उनके खुद के और जग्गन मिसिर उनके उद्देश्यों की आसक्ति (इन्वाल्वमेंट) और आरोपण (क्रमशः) के शिकार हुए हैं। कनिया, शशिकांत आदि अपनी प्रतिकित

---

103. आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सं० नरेन्द्र मोहन में संकलित—डॉ० रामदरश मिश्र का निबंध—स्वतंत्रता —परवर्ती हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 65.
104. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 82.
105. कल्पना—197, जून, 1968 में छपी 'सेतु' गोष्ठी की रिपोर्ट से।
106. आधुनिक हिन्दी उपन्यास—सं० नरेन्द्र मोहन में संकलित लेख—स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी उपन्यास—डॉ० रामदरश मिश्र, पृष्ठ 65.

प्रवृत्तियों को बहुत जल्दी दरसा देते हैं। ये सब जीवन जीते मनुष्य कम, औपन्यासिक पात्र ज्यादा लगते हैं। 'आधागाँव' का लेखक अपने पात्रों को इससे बहुत हद तक बचा ले गया है।

इन सबके बावजूद 'अलग-अलग वैतरणी' के चरित्रांकन की बहुत बड़ी खूबी है कि इसमें उद्देश्यों की डोर पकड़े निरन्तर गंतव्योन्मुख पात्रों की इतनी बड़ी दुनिया में भी कोई बेशिनाख्त नहीं रह पाया है। सभी पात्र चाहे छोटी भूमिका में हों या बड़ी, अपने-अपने ढंग से जरूरत के मुताबिक उभर सके हैं। लेखक का यह संचालन निश्चित रूप से सराहनीय है। 'इसमें साधारण से साधारण और बड़े-से-बड़े कथा-पात्रों को एक साथ समभाव से ले चलने की दक्षता है....लेखक की पैठ सारे पात्रों में एक साथ रमती है और उसमें यह विवेक भी है कि किस घटना या पात्र का कितना उपयोग उसकी रचना के साथ है। बिना मोह के वह उसका उतना ही उपयोग करके छोड़ देता है।'[107] इस रूप में लेखक में एक साथ ही तटस्थता और आसक्ति दोनों हैं।[108]

हालाँकि लेखक नहीं मानता,[109] पर समीक्षकों का कथन है कि 'अलग-अलग वैतरणी' महान् चरित्रों का विराट अलबम है,'[110] बहुत सही है जो लेखक की क्षमता का परिचायक है क्योंकि 'यह कोई छोटी नहीं, बड़ी बात है। यह खेल नहीं, इसमें जीवंत चरित्रों की सृष्टि उपलब्धि है।'[111]

वैसे ऐसा कोई विभाजन करना उपयुक्त तो नहीं, पर 'अलग-अलग वैतरणी' के पात्रों में पुरानी पीढ़ी के मुकाबले नयी पीढ़ी के पात्र दबे जरूर हैं—जितना आत्मबल और सुदृढ़ व्यक्तित्व पुरानी पीढ़ी के लोगों में है, उतना नयी पीढ़ी के लोगों में नहीं है।'[112] लेखक का विश्वास शुरू से ही पुरानी पीढ़ी के साथ जुड़ा हुआ है जो यहाँ तक आते-आते भी कम नहीं हुआ है। कहा तो बहुत गया है[113] और कहानियों के पात्रों में ऐसा है भी, पर यहाँ पुरुष पात्रों के मुकाबले नारी पात्र प्रबल सशक्त नहीं

107, ज्ञानोदय—फरवरी, 1968—लक्ष्मीकांत वर्मा के लेख से, पृष्ठ 141.
108. धर्मयुग—10 अगस्त, 1969—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.
109. कल्पना—197, जून 1968 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट, पृ० 39.
110. (अ) धर्मयुग—10 अगस्त, 1969—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.
(ब) कल्पना—197 जून, 1968 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी में श्रीवास्तव का कथन, पृष्ठ 39.
111. वही—आचार्य द्विवेदी का कथन, पृष्ठ 39.
112. सम्मेलन पत्रिका—भाग-57, संख्या 192, कुसुम वार्ष्णेय का लेख, पृष्ठ 82.
113, (अ) कल्पना—197, जून 1968 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट में कृष्णनाथ का कथन, पृष्ठ 39.
(ब) आचार्य द्विवेदी का कथन, पृष्ठ 39.

हो पाये हैं। प्रस्तुत कृति के चरित्रों की यह विशेषता है कि उनमें 'हर एक की अपनी अद्वितीयता है'।[114] हर चरित्र अपनी कमजोरियों-विशेषताओं के साथ सामने आता है। न किसी को अधिक गरिमामंडित किया गया है, न एक को मिटाने के लिए दूसरे को उभारा गया है। लेखक की पूरी संवेदना सभी के साथ है[115]—चाहे वह पुरुष पात्र हो, चाहे स्त्री पात्र।

इसी तरह 'टाइप' और 'विशिष्ट' पात्रों को लेकर कुसुम वार्ष्णेय का मत है कि वे भारतीय गाँव के जनमानस को अभिव्यक्त करते हैं, पर टाइप या प्रतीक नहीं है[116] 'और डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव भी मानते हैं कि इसमें 'व्यक्ति' और 'टाइप' का भेद बहुत कुछ मिट जाता है।'[117] परन्तु इस संदर्भ में श्री जितेन्द्रनाथ पाठक का कथन ज्यादा सही है कि इसके चरित्र आज की वास्तविक जिन्दगी के प्रतिनिधि हैं। अतः 'टाइप' के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकते।[118] वैसे कुछ पूर्णतः विशिष्ट पात्र भी हैं—दयाल पंडित जैसे।

इस प्रकार 'अलग-अलग वैतरणी' की चरित्र-सृष्टि लेखकीय दृष्टि की अनुवर्तिनी जरूर है, पर समसामयिक जीवन को लेखक ने इस तटस्थ तन्मयता से चित्रित किया है कि ये चरित्र हठात् मन में बैठ जाते हैं।[119] आज के भारतीय जीवन की स्थितियों के इतने विपुल चित्र और चरित्र एक अरसे के बाद इतने बेबाक और जीवंत रूप में अंकित किये गये हैं।[120] काव्यशास्त्रीय भाषा में कहा जाये तो इस उपन्यास की चरित्र-सृष्टि 'आह्लादमयी' और 'नवरसरुचिरा' तो बन पड़ी है पर 'नियतिकृतनियमरहिता' और 'अनन्यपरतन्त्रा' नहीं हो पायी है।

नायक का प्रश्न

नायक का प्रश्न पारंपरिक अध्ययन पद्धति की याद जरूर दिलाता है, पर 'अलग-अलग वैतरणी' के संदर्भ में यह प्रश्न अब तक की सारी परंपराओं से हटकर एक अभिनव तलाश से जुड़ा हुआ है। नायक-नायिका को लेकर उन लक्षणों और परिभाषाओं के बखेड़े का जिक्र भी यहाँ नहीं होने जा रहा है जो संस्कृत से होता हुआ हिन्दी के महाकाव्यों तक फैला हुआ है। उपन्यासों के नायक-नायिका अक्सर स्पष्ट होते

---

114. धर्मयुग—10 अगस्त, 1969—डा० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.
115. दिनमान—31 अगस्त, 1969, में छपी रिपोर्ट, पृष्ठ 37.
116. सम्मेलन पत्रिका—भाग-57, संख्या 102, कुसुम वार्ष्णेय का लेख, पृ० 82.
117. धर्मयुग—10 अगस्त, 1969, डा० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.
118. कल्पना—197, जून 1968 में छपी रिपोर्ट में जितेन्द्रनाथ पाठक का कथन, पृष्ठ 39.
119. कल्पना—197, जून 1968 में छपी रिपोर्ट में आचार्य द्विवेदी का कथन पृष्ठ 39.
120. धर्मयुग—10 अगस्त, 1969, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.

हैं—होरी, सुनीता, वाणभट्ट भुवन रेखा, जितन या फिर हरीश-शैल, भूषण-मनोरमा अथवा सोमा आदि। दिव्या जैसे कुछ उपन्यासों में पृथुसेन, मारिश और रुद्रधीर के बीच नायकत्व तथा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निउनिया और भट्टिनी को लेकर नायिका के निर्णय की चर्चा उठी है, जो कुछ प्रमाणों-बहसों-विश्लेषणों के आधार पर निर्णित भी हुई है। साठोतरी काल में 'अलग-अलग वैतरणी' के समकालीन प्रमुख उपन्यासों में भी सतीश (जल टूटता हुआ) और विमल (रीछ), प्रमोद (अपने लोग) आदि नायक स्पष्ट ही रहे हैं और थोड़ी चर्चा के बाद वैद्य महाराज (रागदरबारी) भी प्रायः स्वीकृति हो जायेंगे परंतु 'वैतरणी' के संदर्भ में यह प्रश्न एक अलग ही रूप लेकर उभरा है जो नयी प्रवृत्ति के संकेत और युगधर्म की पहचान के कारण है। अतः इसकी चर्चा अत्यंत आवश्यक और महत्व की समझी जानी चाहिए।

जितेन्द्रनाथ पाठक ने इस प्रश्न के संदर्भ में किसी एक नायक के ठीक नाम लेने की कठिनाई को समसामयिक संदर्भों की जटिलता से जोड़कर एक बड़ी पते की बात कही है—इसके नायक का ठीक नाम लेने में कठिनाई का होना इसके समसामयिक संदर्भ की ठीक पकड़ का द्योतक है। आजादी के पहले राजा-महाराजा, जमींदार-तालुकेदार आदि की इकाइयाँ थीं। अपनी तमाम ग़रीबी और जहालत में भी आस्था का धनी होरी और सत्याग्रहों का धनी लगन का पक्का सूरदास भी संभव था, लेकिन जब राजा-रईस, जमींदार-तालुकेदार विघटित हो गये हों, आस्था के धनी गाँव की टुच्ची राजनीति के मोहरे हो गये हों और सत्याग्रही जनसेवक ग्रामसभापति से लेकर विधायक तक बनकर अपने सत्याग्रह का मूल्य चुकाने लगे हों, जब सारी श्रेष्ठताएँ प्रजातांत्रिक चुनावों में दिशाभ्रष्ट हो गयी हों तब करैता जैसे मामूली गाँव में किसी नायक की खोज गहरी रूमानियत की देन हो सकती है, हिन्दुस्तान के लाखों-लाख गाँव के प्रतिनिधित्व की खोज से युक्त यथार्थ की पहचान नहीं।'[121]

इसीलिए 'अलग-अलग वैतरणी' के करैता का कोई एक नायक नहीं है, उसके प्रत्येक अध्याय का एक नायक है, पर सम्पूर्ण रूप से यह अपने ढंग का मौलिक नायक-विहीन उपन्यास है।[122] टूटन की विवशता, अलगाव की लाचारी, घुटन की बेबसी उपन्यास की आत्मा है। इसमें न कोई नायक है, न कोई नायिका।[123] करैता ही सब कुछ है। यही उपन्यास का नायक भी है नायिका भी। कृति के सभी छोटे-बड़े पात्र करैता के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू हैं। इन सबसे ही उसके स्वरूप और प्रकृति का निर्माण हुआ है। इसीलिए यदि महत्ता की दृष्टि से जग्गनमिसिर या विस्तृत भूमिका, ऊँची योग्यता तथा एक युवती की आसक्ति को देखकर विपिन को नायक कहा जाये तो उपन्यास के स्वरूप की पूर्णता खंडित हो जायेगी। कृति के दृश्य के केन्द्र में विपिन हैं और लेखक की दृष्टि के केन्द्र में जग्गन, पर इन दोनों या किसी अन्य पात्र में भी

121. कल्पना—नवलेखन विशेषांक—दो अक्टूबर-दिसम्बर 1969, पृष्ठ 27.
122. सम्मेलन पत्रिका—भाग 57 संख्या 102, डॉ० कुसुम वार्ष्णेय पृष्ठ 80.
123. कल्पना—169, जून 1968 में छपी रिपोर्ट, पृष्ठ 38 से बच्चन सिंह का लेख।

यह क्षमता नहीं है कि वह अकेले करैता का नेतृत्व कर सके—नायक-नेता बन सके। यह 'करैता' ही है जो सभी पात्रों में फैलकर अपना स्वरूप प्रकट करता है।

'आधागाँव' का गंगोली भी इसी कोटि में आता है, पर 'वैतरणी' का लेखक बार-बार याद दिलाते हुए जिस तरह 'करैता' को प्रस्तुत करता है, उससे इसके 'नायकत्व' की पहचान बनती है। वैतरणीकार की यह सोद्देश्यता राही जी में नहीं है। शिवप्रसाद सिंह अंत में एकदम स्पष्ट कर देते कि यह व्यक्ति क्या नहीं है—'गाँव का क्या होगा ? गाँव क्या कोई आदमी है' ? याने यह पूरे गाँव, समाज की कथा है। यह गाँव समाज ही इसका नायक है। फिर 'करैता' अपने में पूर्ण है और 'गंगोली' को तो उसका लेखक भी 'आधा' ही कहता है जिससे उसकी नायक रूप में वैसी छवि नहीं बन पाती जैसे 'करैता' की।

इस प्रकार करैता का नायकत्व उपन्यास-संसार की एक अभिनव सृष्टि है। चाहिए तो यह 'करैता' का चरित्र-चित्रण किया जाये और उपन्यास में वर्णित-उल्लिखित प्रवृत्तियों के आधार पर यह संभव-सुलभ भी होगा, पर इन प्रवृत्तियों के अलग-अलग वर्णन करने से उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर पूरे विवेचन से जो छवि उभर रही है, उसकी प्रामाणिकता भी असंदिग्ध ही होगी।

उपन्यास के युगपुरुष जैपाल सिंह

ठाकुर जैपाल सिंह एक चरित्र या व्यक्ति नहीं, एक युग हैं। उन्हें उपन्यास के प्रथम सौ पृष्ठों का 'नायक' कहा जा सकता है। उनके चरित्र-निर्माण से जमींदाराना रुतबा ही जाहिर नहीं किया गया है, जो प्रत्यक्षतः दिखता है वरन् उनके माध्यम से जमींदार-जमींदारी के उत्थान-पतन, चरमराने-धसकने-ढहने के बीच उसके प्रभुत्व को टिकाये रखने के प्रयासों का पूरा इतिहास चित्रित हुआ है। वे कथा के युगपुरुष हैं। उनकी नयनाभिराम छवि दयाल पंडित के मन में हरसत बनकर छायी हुई है 'ऊ गोरा भीषण शरीर, दपदप मलमली साफा....यह-यह मुठिया गलगोच्छे, काले-काले जामुन की तरह....बड़ा ताप था बुढ़ऊ मालिक का।'[124]

रचनात्मकता के स्तर पर जैपाल सिंह का भव्य-दिव्य चरित्र लेखक का सोद्देश्य सृजन है जो दो युगों की तुलना का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। डॉ० सिंह के अनुसार आजादी के बाद ग्रामीण विकास के प्रायः हर क्षेत्र में काफी गिरावट आयी है, जिसके मुकाबले स्वतंत्रतापूर्व की स्थिति ही वरेण्य कही जा सकती है। चूंकि कोई भी मूल्यांकन अपने मूल रूप में सदा सापेक्ष्य होता है, अतः इस गिरावट को व्यक्त करने के लिए वर्तमान की सापेक्ष्यता में जीवंत अतीत को मूर्तिमान करना रचनात्मकता के लिहाज से वरेण्य स्थिति हो सकती है जिसके लिए जैपाल सिंह का चरित्र सर्वाधिक उपयुक्त साबित हुआ है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि विवेच्य चरित्र की भव्यता-दिव्यता के

124. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 28.

सम्मोहन में लेखक ज़मींदारी व्यवस्था का पोषण करता है वरन् इसके प्रति लेखक के मन में एक भयानक आक्रोश पलता रहता है जिससे उद्वेलित होकर वह प्रायः हर प्रसंग में इस दिव्यता की प्रतिमा पर ऐसा भितरघावी वार करता रहा है कि अंत तक आते-आते वह भग्न होकर टूट ही जाती है। जो व्यक्ति पूरे जीवन भीतरी घाव कर-करके लोगों को बेदम-बेकार करता रहा, उसके लिए लेखक ने भी वही तरीका अपनाया। इस बारीकी को लक्षित न कर पाने के कारण ही डॉ० चन्द्रकांत बादिवडेकर को लगा कि 'लेखक के मन में जमींदारी-व्यवस्था के प्रति एक मोह है, जो आधुनिक विचारधारा के प्रभाव के कारण संभवतः अवचेतन में छिपा पड़ा है। जैपाल के चरित्र को प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित करने में इस मोह ने उन्हें उत्साहित किया है। उस कोटि का चरित्र किसी अन्य व्यक्ति को उन्होंने नहीं दिया।'[125] उन भीतरी घावों की प्रासंगिक चर्चा के पहले इस कथन के परिप्रेक्ष्य में कुछ साफ मुद्दों पर विचार कर लेना उचित होगा।

शिवप्रसाद सिंह अपने उपन्यास में जैपाल की कोटि का चरित्र किसी निम्न-स्तरीय पात्र को नहीं देते क्योंकि ऐसे पात्र जीवन में है कहाँ ? यहाँ लेखक यही तो कहना चाहता है कि जैपाल जैसे लोग निम्न वर्ग तो क्या, किसी को भी, पनपने ही नहीं देते। और प्रायः सबके सब जमींदार, जैपाल जैसे प्रभावपूर्ण ही होते हैं। जमींदारी टूटने के पहले और बाद को सम्पूर्ण स्थिति को हू-बहू पेश करने के लिए लेखक ने जैपाल को जमींदारी के संपूर्ण वजूद के रूप में सिरजा है। इसीलिए उनकी समस्त मृदुता-कटुता, व्यवहार कुशलता-काइंयापन, वाक्‌कटुता-समझदारी, सादगी और दो-मुँहेपन को विभिन्न कोणों से दिखाने के लिए अनेक प्रसंग पूर्वापर के अद्‌भुत संयोजन के साथ उठाये गये हैं। उनके ये विविध रूप इतने यथार्थ भी हैं और वर्णन इतना निस्संग कि डा० बांदिवडेकर जी का वक्तव्य नितांत बेबुनियाद लगने लगता है। वे एक स्थल पर जमींदार को बाघ और संपूर्ण गाँव को मेमने का रूपक देते हुए लिखते हैं—'यहाँ कभी किसी ने यह सवाल नहीं किया कि कृपया आप इस नक्शे में वह रास्ता बताइए जिससे होकर बाघ बिना रास्ता भूले मेमनों के पास पहुँच जाये। यहाँ तो भूल-भुलैया में रास्ता ढूँढ़कर मेमने ही बाघ की मांद में आया करते थे।'[126] इस हिंसक रक्त-पिपासु—'रक्तच्छटा चर्चित चण्डचंचु'—बाघ का आतंक इस कदर छाया है कि 'जमींदारी टूट गयी फिर भी किसी को विश्वास नहीं होता था कि मांसाहारी बाघ शाकाहारी हो गया।' इतने बेबाक चित्र जमींदारी व्यवस्था के प्रति मोह से नहीं, घृणास्पद आक्रोश से ही उपज सकते हैं। मुझे नहीं याद आता कि इतने बेलाग रूप से हिंसक भाषा में किसी और रचनाकार ने जमींदारों की प्रवृत्तियों को उघाड़ा है। फिर भी यदि डॉक्टर साहब को मोहग्रस्तता लगती है तो मेरी समझ में बांदिवडेकर जी

125. उपन्यास : स्थिति और गति—डा० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 179.
126. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 47.

की इस जानकारी कि 'लेखक जमींदार घराने से हैं,'[127] ने उनके अवचेतन मन में मोह बनकर उन्हें इस दिशा में सोचने को बाध्य करके उक्त चित्रणों को नज़रअंदाज करने पर विवश किया होगा।

आदि से अंत तक जैपाल सिंह ज़मींदारी रुतबा और ज्ञान के प्रतिरूप हैं। जमींदारी टूटने के बाद उन्होंने जिंदगी करैता में पाँव न रखने की प्रतिज्ञा की क्योंकि 'अपनी ज़िंदगी के ज्यादे दिन उन्होंने लोगों के झुके माथे और झुकी आँखों में देखकर बिताये थे। उनमें नीच जात वालों को तने-सीधे देखने का ताव न था।'[128]

लेकिन 'बुड्ढ़ा फिर आ रहा है' की खबर करैता के लिए जितनी बड़ी घटना थी, उतनी महत्त्वपूर्ण उपन्यास के लिए भी। इसका सम्बन्ध ज़मींदारी घराने के पुश्तैनी बैर-विरोध से जुड़ा है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला करते थे और इसमें हार जाना ठाकुर के लिए मौत से बढ़कर होता था। इस जाती परम्परा (जमींदार-ठाकुर) का निर्वाह जैपाल पूरी प्रतिबद्धता के साथ करते हैं। तभी तो अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर फिर करैता आ रहे हैं। दयाल पंडित 'बुढ़ऊ को खूब जानते हैं। ऊ सब कुछ सह सकते हैं, पर मेघन के प्राणियों को गाँव का सरगना बनते नहीं देख सकते।' यहीं से शुरू होता है बदले ज़माने में अपने को फिट करने की कोशिश का वह सिलसिला और विगत जमींदारी के बाद शराफत की लिहाफ में दुबके जमींदारों का वह काइंयापन, जिसके तहत जैपाल गाँव की जनता के सामने माथा झुकाकर छिपे तौर पर उसके भाग्यविधाता बने रहते हैं। जैपाल में इस ऊपरी शराफत और भीतरी कुटिलता को लेखक ने पूरी बेबाकी के साथ कई स्थलों पर चित्रित किया है। आम आदमी इसी ऊपरी सरलता से तो मोहित होता है और कोई उस पर सीधे उँगली भी नहीं उठा पाता। जमींदारी के ज़माने और उसके बाद के काल में भी यह प्रवृत्ति जैपाल सिंह में एकाधिक स्थलों पर देखी जा सकती है, अपने दुश्मन पियाऊसिंह के लड़के को कुश्ती लड़ाने वाले सुब्बानट को यह जानते हुए भी कि, वह अच्छा आदमी नहीं है—बेईमानी व पक्षपात करता है, अपने दंगल के निर्णायक पद से नहीं हटाते क्योंकि वे यह नहीं चाहते कि कोई उन पर इसलिए ऊँगली उठाये कि वे व्यक्तिगत मामले से ऊपर उठाकर बड़ी हस्ती की इज्जत नहीं कर सकते। यहाँ 'पब्लिक इमेज' बनाए रखने का इरादा खूब साफ किया गया है। इसी तरह दुक्खन-प्रसंग में 'साँप मरे और लाठी भी न टूटे' वाले मध्यममार्गी मार्ग और चमारों की सामूहिक पिटाई वाले प्रसंग पर उनकी उदारता के पीछे छिपी ज़मींदाराना छल-छद्मभरी साजिश को भी पाठक सहज ही जान जाता है। व्यक्तित्व की भव्यता की आड़ में सब कुछ चल जाता है। सुखदेवराम के गाँव लौटने पर गोंगई महराज द्वारा उनके स्वागत पर किये गये जलसे में पहुँचकर जैपाल अपने व्यक्तित्व के कौशल से ही सुखदेवराम के आने और स्वागत की खबर को धूमिल कर देते हैं—सर्वत्र जैपाल सिंह के स्वागत में शामिल होने की चर्चा थी और

127. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ॰ चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 179.
128. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 32,

इसके पीछे छिपा जमींदार का असली चेहरा तीन-चार दिन के बाद सामने आता है जब गोंगई महराज को देवीधाम के पुजारी-पद से अलग करके उन्हें माफी में दिये गये खेत छीन लिए जाते हैं। इन्हीं सबको हमने ऊपर भितरघावी मार कहा है। इस संदर्भ में देवा-प्रसंग में उससे एक हजार रुपये वसूल कर 'गाँव की इज्ज़त' बचाने की खातिर कुछ भी उठा न रखने की घोषणा भी द्रष्टव्य है।

इस तरह पलक झपकते बातों की तह तक पहुँचने वाली ठाकुर की बुद्धि, कई सालों के अंतराल को लाँघकर मनुष्य को मोह लेने वाली उनकी मुस्कान, दिल की अतल गहराई में धँसकर थाह लेने वाली उनकी तेज आँखों के करिश्मे पूरे करैता पर छाये रहे। नये युग के पढ़े-लिखे युवकों की अगिया बैताल पार्टी को भी बुड्ढ़े की खोपड़ी का लोहा मानना ही पड़ता है। हर आदमी को उसकी तरह से मोह लेने की कला एक गाँव के मालिक की हैसियत से जैपाल की अपनी विशेषता है। खलील खाँ उनकी तमीज-तहजीब और बात-व्यवहार से मोहित हैं, प्रजा उनकी कृपादृष्टि से वश में हैं तो सुरजूसिंह उनकी पैंतरेबाजी से मात हैं।

रुतबा इतना बढ़ा हुआ है ठाकुर जैपाल सिंह का कि गाँव के अलावा अफसरान भी उनके खिलाफ नहीं जा सकते 'जज-कलक्टर का हाथ पकड़कर फैसला बदलवा दें, दारोगा-थानेदार की तो बात ही क्या ? चाहे थानेदार नया हो, चाहे पुराना, करैता गाँव में आने के पहले ठाकुर जैपाल के बारे में सब कुछ जान लेना उसका फर्ज था।'[129] इस स्तर पर वे एक बार 'रागदरबारी' के वैद्य महाराज के स्तर को छूने लगते हैं, पर उनमें वह तिकड़मबाजी नहीं, जो वैद्य जी में है। फलतः जहाँ वैद्य जी दारोगा की शामोशाम बदली करा देते हैं, वहीं, देवा के मामले में शिकस्त खाकर जैपाल दुबारा करैता छोड़ते हैं तो दमा के पिछले रोग के साथ यह हार का नया रोग भी मिलकर उन्हें खत्म ही कर डालते हैं—'एक गौरवपूर्ण अध्याय का अंत हो गया।'

अंतिम समय में मृत्यु-शय्या पर पड़े जैपाल के मन में बनते-बिगड़ते चित्रों में देवा वाले मामले की हार के अलावा एक और हार भी उन्हें सालती है—बेटे बुझारथ से संबंधित हार। जानते-देखते-समझते हुए भी वह कौन सी विवशता है, जो उन्हें मौन दर्शक बना देती है। न ही वे खुदाबख्श को हटाते हैं और न सुगनी को सामने पाकर ही कुछ बोलते हैं। इतने गतिशील चरित्र की यह स्थिरता कुछ समझ में नहीं आती। इसका एक कारण जैपाल की उस भावुकता में खोजा जा सकता है, जो सारी फितरतबाजी के बावजूद दिल में समायी हुई रहती है और जिसने जैपाल-प्रसंग में सारी जमींदारी-ठकुरई शान को छोड़कर उन्हें इतना लचीला बना दिया कि खानदान के पुश्तैनी दुश्मन के पैताने खड़े करके छोटे भाई की खातिर राजमती की भीख मंगवा ली थी। इस लचीलेपन में खानदान की इज्जत का भी प्रतिशत कम नहीं हे, पर छोटे भाई की ममता का निखार ज्यादा है। जिसकी याद आने पर उनकी आँखें हर बार नम हो जाती हैं। शायद ऐसे ही भाव बुझारथ को लेकर भी हों, लेकिन यहाँ वह

129. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 83.

किसी भी स्तर पर जाहिर नहीं होते—खानदान की इज्जत डूबने के साफ आसार दिखने पर भी। कथा की माँग के कारण जैपाल की यह निस्संगता लेखक की विवशता ही है, पर चरित्र की सहजता बाधित हो जाती है। इसी तरह पूरी जिंदगी गाँव के साथ सारी अनैतिकताओं को जीते-जिलाते, अंत समय में बहू कनिया को दिये गये उपदेश और खानदानी अस्मत की भूठी रक्षा के लिए, लिए गए वचन उन्हें जिस आदर्शमयी भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हैं, वह उनके व्यक्तित्व को परिवार के लिए और तथा बाकी के लिए और, दो रूपों में बाँट देता है।

रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में पूरे उपन्यास का यही ऐसा चरित्र है जो लेखक की कहानियों की तरह मन में पहले उभरा-सा लगता है और उसकी परिणति भी भैरो पाण्डे के समान ही होती है—फर्क सिर्फ इतना है कि वहाँ अपने पारंपरिक आदर्शों के खिलाफ जीवन की प्रवृत्तियों को लेकर विरोध है और यहाँ जीवन की प्रवृतियों के खिलाफ भूठे आदर्शों में पलायन।

उपन्यास के आलोक विन्दु—(आदर्श पात्र)

अलग-अलग वैतरणी में लेखक कुछ ऐसे आलोक-विन्दुओं की तलाश करता है जो अपनी दीप्ति से रचना को सामाजिक दस्तावेज़ से बचाकर उसे व्यापक मानवीय संवेदना से जोड़ते हैं...ऐसे अनेक आलोक बिन्दु हैं—जग्गन मिसिर, मास्टर शशिकांत, विपिन, खलील ख़ाँ, देवनाथ, सरूप भगत, कनिया, पटनहिया भाभी।[130] निश्चित रूप से ये लेखकीय विचारों को लेकर चलने वाले आदर्श पात्र हैं। इनमें से पटनहिया भाभी का चरित्र मनोवैज्ञानिक स्पर्श लिए हुए है और सरूप भगत से फूटने वाला आलोक अपनी जाति वालों के साथ जुड़ा है। अतः इन्हें इस श्रेणी में न रखकर यथा-स्थान विवेचित किया गया है।

विपिन

विपिन उपन्यास का सबसे प्रमुख पर सबसे कमजोर पात्र है। प्रमुख पात्र के रूप में विपिन के समकक्ष जग्गन मिसिर को रखा जा सकता है, योग्यता के लिहाज से देवनाथ और शशिकांत इसकी बराबरी में आ सकते हैं, पर निष्क्रियता के लिए वह अपना सानी नहीं रखता। लेखक स्वयं विपिन के सम्बन्ध में इस तरह नहीं सोचता—'विपिन सफल नहीं होता, पर वह साधारण पात्र नहीं है।'[131] इसके लिए उपन्यास में उसने मौका निकालकर कुछ कोशिश भी की है—दयाल महाराज को लगता कि यह लड़का कुछ करेगा। बड़ा तेज 'रोवाँ-पानी' का आदमी है। सत्य पर अडिग रहने वाला मरद है यह।'[132] खलील ख़ाँ भी कुछ ऐसा ही समझते हैं पर इस

130. आधुनिक हिन्दी उपन्यास—सं० नरेन्द्र मोहन—में संकलित लेख—स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी उपन्यास—लेखक—रामदरश मिश्र, पृष्ठ 65.
131. कल्पना—197—जून 1968 में छपी 'सेतु' की गोष्ठी की रिपोर्ट से उद्धृत—पृष्ठ 4.
132. अलग-अलग वैतरणी—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 413.

संदर्भ में इन साक्ष्यों और लेखक के विचारों से सहमत नहीं हुआ जा सकता। लेखक इस पात्र के साथ तटस्थ नहीं रह सका है। उसने स्वीकार भी किया है कि विपिन बहुत कुछ मुझसे मिलता है[133] और खलील खाँ व दयाल महाराज के विचारों को विपिन के सम्पूर्ण कृत्य स्वयं झुठला देते हैं।

उपन्यास के बारह-तेरह महीने की कालावधि में विपिन ने सिर्फ चार काम किये हैं—चार सौ रुपये देकर पुष्पी का घर कुर्क होने से बचाना, जग्गन मिसिर को लेकर थानेदार को ललकारना, कुलमर्यादा के लिए बुझारथ का दोष अपने माथे पर लेना और हवालात से छुड़ाकर बुझारथ सिंह को घर लाना। इसके अलावा वह सिर्फ सोचता है। यह सोचना गाँव की बाबत सोचने जैसा लगता है पर असल में गाँव सोचने का माध्यम भर बन गया है। जिन अतीत की यादों, भावुक लगावों की प्रेरणा और पढ़ने-लिखने से प्राप्त स्वस्थ-परिष्कृत सामाजिक दृष्टिकोण के कारण वह गाँव के लिए कुछ कर सकता था, उन्हीं में उलझकर रह गया है।

वैसे विपिन ग्राम-सुधार का सपना-इरादा लेकर गाँव आया है। उपन्यास के साक्ष्यों पर गाँव में उसकी प्रतिभा (इमेज) भी साफ और अच्छी है। जैपाल, कनिया, खलील चाचा, चचिया, दयाल पंडित, वंशीबो आदि सभी इसका प्रमाण देते हैं। एक स्थल पर जग्गन मिसिर पूरे गाँव का जैसे प्रतिनिधित्व करते हुए सबके मन में विपिन के प्रति आस्था और विश्वास प्रकट करते हैं—यह बड़ा भयानक सैलाब है भइया, इसे रोको। तुम्हीं रोक सकते हो इसे। तुम्हारी बात सभी मान लेंगे।[134] पर सुधार का सपना देखने वाला यह मेधावी (एम० ए० पास) कुलीन नवयुवक, पूरे गाँव का चहेता नायक इतना आत्मलीन, अंतर्मुखी, आत्मकेन्द्रित, सीमित, अतीतोन्मुखी, भावुक, रूमानी निकलता है कि सबकी आशाओं पर पानी फेर देता है। उसकी कायरता को कई स्थलों पर उपन्यासकार ने उसी के आत्मचिंतन, स्वप्निल काल्पनिकता के माध्यम से दिखाया है।

शुरू-शुरू में वह गतिशीलता लिए प्रकट ज़रूर होता है। उक्त वर्णित कार्य भी वह तभी करता है पर पुष्पी को खोना उस संपूर्ण सुधारवादिता के उत्साह को खत्म कर देता है। उसे खोने में भी विपिन का आत्मस्थ भरा अनिर्णय और फिर सब कुछ जानते हुए भी झूठी बदनामी से डरने की बुर्जुआ मनोवृत्ति ही उत्तरदायी है। इस प्रेम के मोर्चे पर शिकस्त खा जाने के बाद साही जी ठीक ही अंदाज लगाते हैं कि उसकी दो ही परिणतियाँ हो सकती थीं और वह पलायनवादी हो गया है।'[135]

यह सब तो जो है, प्रत्यक्ष है, पूरा उपन्यास कहता है और लगभग सभी समीक्षक इससे सहमत हैं, पर यहाँ सवाल यह उठता है कि उपन्यास की कथा व उद्देश्य

133. सारिका—15 फरवरी, 1980 में विश्वनाथ प्रसाद द्वारा लिया गया इंटरव्यू, पृष्ठ 13.

134. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 605.

135. आलोचना—अप्रैल-जून 1969, विजयदेव नारायण साही, पृष्ठ 106.

के संदर्भ में विपिन की चरित्र-सृष्टि कहाँ तक संगत और व्यंजक है, उपन्यास के कलात्मक स्तर में यह क्या भूमिका अदा करती है और यह चरित्र किस सीमा तक यथार्थ चरित्र है। इन सभी मुद्दों पर निस्संदेह रूप से विपिन की चरित्र-सृष्टि की बावत औपन्यासिक सृष्टि भी लचर साबित होती है। उद्देश्य के स्तर पर विवेच्य चरित्र दो बातों की तहत जुड़ा हुआ है—नगरोन्मुखता और जमींदार-परिवार की टूटन। पहले में उपन्यास के अधिकांश पात्र आते हैं, जिनमें विपिन को प्रमुख कहा जा सकता है, पर दूसरे में वह मात्र द्रष्टा ही है—साक्ष्य भर प्रस्तुत करता है। इन दोनों में किसी की भी बावत वह गतिशील नहीं होता। अतः जहाँ तक कथा का सवाल है, उसके न रहने पर कोई खास फर्क नहीं पड़ता। मात्र पुष्पी का घर नीलाम हो जाता शायद, वरना सीपिया नाले पर वह बच ही जाती—सुरजू-सिरिया के कारण और पुष्पी तथा खानदान तो बदनामी से फिर भी नहीं बचा—उन्हीं लोगों के ही कारण। सिर्फ विपिन के न होने से जो बदनामी कुछ दिन बाद हुई, उसी दिन हो जाती।

व्यंजकता के स्तर पर विपिन आज के शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है जिसमें लेखक ने उसी अपनी 'धारा' तथा 'इन्हें भी इंतजार है' आदि कहानियों के पात्र 'मैं' की मानसिकता का विस्तारित रूप देकर उतारा है। यह सच है कि बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति अपनी समस्त समस्याओं से कर्म के स्तर पर पराङ्मुखता की ही है, उसमें सोचने की ही प्रबुद्धता रह गयी है। सोचने-समझने में वे बेहद प्रगतिशील पर व्यवहार कर्म में उतने ही सामंती-बुर्जुवा होते हैं लेकिन विपिन जैसी अकर्मण्यता-कायरता-निष्क्रियता इस वर्ग में आज भी इतनी नहीं है कि वे किसी भी स्तर पर रंचमात्र भी प्रयास न करें। इससे विपिन का पात्रत्व उतना व्यंजक नहीं बन पाता। शिक्षा के बावजूद उसकी दृष्टि अपरिपक्व है। इसलिए उसकी इस व्यक्तिगत कमजोरी को नयी पीढ़ी के अधकचरे विचारों का परिणाम कहकर[136] टाला नहीं जा सकता। इन सबसे विपिन के चरित्र की यह निर्मित उपन्यास की कथा में स्थूलतः तो एकदम फिट लगती है, पर सूक्ष्मता से विचारने पर चरित्र में विस्तार के मुताबिक उसकी संगति नहीं बैठती। गाँव से जाते समय जग्गन मिसिर के सामने दिये गये उसके पूरे वक्तव्य की वकत सिर्फ एक प्रश्न 'इसके लिए तुमने किया क्या ?' के आधार पर आँकी जाये तो वह सिर्फ बहाना और लफ्फाजी बनकर रह जाता है। इसमें व्यक्त विपिन का मोहभंग फीका और बेजान है, यदि अर्थहीन ही नहीं कृत्रिम भी है।'[137] विपिन के गाँव छोड़ने में उसकी निरपेक्षता और अकर्मण्यता ज्यादा जिम्मेदार बन गयी है, गाँव की गिरावट कम और इसी वजह से उसका गाँव छोड़ना सुरजितवा के गाँव से भी कम असरदार है क्योंकि उसके पास भी अपनी असफलता के लिए प्रयासों की व्यर्थता का प्रमाण तो है। विपिन के पास

136. 'सम्मेलन' पत्रिका—भाग 57, अंक 1 और 2, डॉ० कुसुम वार्ष्णेय, पृष्ठ 42-43.

137. 'धर्मयुग'—10 अगस्त 1969, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 22.

तो कुछ है ही नहीं। वह तो बेहद आरामदेह वातावरण में सबसे सम्मान-इज्जत पाता हुआ मात्र गाँव के हालत को देखता है और भाग खड़ा होता है। इसीलिए उसका नगर की ओर प्रयाण न होकर निरापलायन है। विपिन अपने समकालीन पात्रों सतीश (जल टूटता हुआ) और विमल (रीछ) से बहुत पीछे रह जाता है। रंगनाथ (रागदरबारी) इसके समकक्ष ठीक है, पर उपन्यास में निर्मित उसकी स्थितियों द्वारा लेखक ने उसे कमजोर (दोषी) होने से बचा लिया है, पर अपनी स्थितियों के कारण ही विपिन बच नहीं पाता।

इन सबके बावजूद विपिन की 'चरित्र-सृष्टि के' लेखक का अकलात्मक कार्य[138] नहीं कहा जा सकता। विपिन का चरित्र चाहे जितना कमजोर-गतिहीन-निष्क्रिय हो पर लेखक की कलात्मकता चरित्र सृष्टि की औपन्यासिक स्थितियों में देखनी होगी। अतीत और वर्तमान की जिन सूक्ष्म स्थितियों का खुलासा इससे सहज-संभव हो सकता है, वह निश्चित रूप से इसे अकलात्मक होने से बचाता है। वस्तुतः विपिन का जो रूप चित्रित हुआ है, वह सोद्देश्य है, और अपनी सोद्देश्यता में ही चरित्र-सृष्टि को कलात्मकता प्रदान करता है। बुद्धिजीवी वर्ग की निष्क्रियता के रूप में विपिन का चरित्र अयथार्थ होते हुए भी अपनी बुनावट में कलात्मकता लिए हुए है। एक जगह विपिन सोचता है कि वह इस गाँव की मिट्टी में लोट-पोट कर बड़ा हुआ है, उसकी माटी की गंध कस्तूरी की तरह उसके कलेजे में व्यापी है[139] पर उपन्यास के अंत तक आते-आते वह गाँव के किसानों की प्रवृत्तियों में समरस नहीं हो पाता।[140] इस तरह गाँव के अंदर का बनते-बनते वह बाहरी होकर रह जाता है। इसे साही जी ने लेखक और पाठक के बाहरीपन का प्रतीक[141] कहा है, पर वस्तुतः यह एक बुद्धिजीवी के बाहरीपन का प्रतीक है जो उनके 'कथनी और करनी' के परस्पर विरोधी अंतर के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। इसी तरह वह अपनी कायरता से स्वीकृति पलायन के लिए गाँव को जिम्मेदार ठहराता है, पर असल में जिम्मेदार हैं उसकी वृत्तियाँ। यह छद्म रूप भी बुद्धिजीवी क्रिया-व्यापार ही है जो वर्णित न होकर सांकेतिक रूप में कलात्मक हो उठा है। एक और उल्लेख-नीय प्रसंग है जिसमें लेखक ने बुद्धिजीवी वर्ग की अवसरवादिता और घोषित नैतिकता के पीछे छिपी उनकी अनैतिक वृत्ति का संकेत किया है। मकर संक्रांति के दिन पटन-हिया भाभी को घर में अकेले पाकर फायदा उठाने की कोशिश अवसरवादी वृत्ति है। लेकिन पटनहिया भाभी पुष्पी की याद दिलाकर उसका हाथ झटक देती है। तब विपिन का पुष्पा को दोष देना—'उसने मुझे कहीं का न रखा' उसके अंतस् में छिपी अनैतिक वृत्ति का ही इज़हार करता है। यह पुष्पा के प्रति विपिन की भावनाओं का

138. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 192.
139. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 156
140. वही, पृष्ठ 659 पर उल्लेख्य।
141. आलोचना—अप्रैल-जून 1969, पृष्ठ 105.

दोगलापन भी है। इस रूप में विपिन का चरित्र में निश्चय ही रूमानी सिद्ध होता है लेकिन इसे लेखक की रूमानी दृष्टि का शिकार नहीं कहा जा सकता[142] बल्कि विवेच्य चरित्र में उसकी प्रतीकार्थी व्यंजनाओं को ढालने की लेखकीय कलात्मकता का नमूना कहा जा सकता है।

इन सबसे मिलकर निर्मित विपिन का गाँव के प्रति लगाव भी नितांत बौद्धिक होकर रह गया है। गाँव ही क्या परिवार—भाभी, कनिया तक के रिश्ते में बौद्धिक लगाव स्पष्ट हो गया है वरना वह इतनी जल्दी और आसानी से सबसे कट नहीं पाता। इसे लेकर साही जी ने एकदम सही बात कही है कि विपिन व्यक्ति नहीं, देखने का ढंग है[143] और लेखक ने भी इसे प्रमाणित किया है।

कथा की सम्पूर्ण अन्विति में एक ऐसे केन्द्रीय पात्र की सृष्टि लेखक की रचना-प्रक्रिया की प्रवृति है। इसे कथा संयोजन की सोद्देश्यता बनाकर पेश करने में लेखकीय कुशलता संगत और सराहनीय है, पर इसके लिए उसके साथ जुड़े प्रतीकात्मक वर्ग की प्रवृत्ति भुठला उठी है जिसके लिए भी लेखकीय सृष्टि के अलावा और कुछ को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

जग्गन मिसिर

यदि 'अलग-अलग वैतरणी' का विपिन देखने का एक ढंग है तो मिसिर लेखक के ग्राम विषयक चिंतन की एक बोलती मुद्रा। वे लेखकीय विचारों के संवाहक-प्रवक्ता पात्र हैं। वैसे तो जगह-जगह पर और भी तमाम पात्रों से लेखक यह काम लेता रहा है, पर जग्गन के चरित्र की प्रतिष्ठा इसी चिंतन की अभिव्यक्ति के लिए हुई है। पूरा उपन्यास मिसिर के चिंतन के गाढ़े और पक्के रंग में रंगा है। वे हर स्थल पर, जब भी प्रकट होते हैं, कोई-न-कोई चिंतनात्मक पहलू लेकर ही। हरिया-सिरिया-छबिलवा जैसे आवारा लड़कों तक के सामने वे 'फसल भेंट पालटी' द्वारा गाँव की दुर्दशा और गरीबी का विवेचन तथा शोषक वर्ग की मानसिकता का दो टूक खुलासा करते हैं। लेकिन चिंतन का सर्वाधिक उद्वेग दो स्थलों पर फूटा है—(1) शशिकांत तथा विपिन के साथ देवनाथ के घर में (2) थानेदार के दूसरी बार आने पर उसके सामने। हर जगह लेखक संकेत करता रहता है कि मिसिर गाँव की इन बदलती स्थितियों के बारे में गहराई से सोचते रहे हैं और इसीलिए मौके पर बड़ी निर्ममता और साफगोई के साथ उसकी चीरफाड़ कर देते हैं। मिसिर जी ज़मींदारी उन्मूलन का स्वागत करते हैं, पर इसके बाद की पनपी स्थितियों की दारुणता से क्षुब्ध हैं और ऐसे हालात में गाँव में कभी भी कुछ जाने से आशंकित भी। किन्तु इन सबके बीच अपने व्यक्तिगत चिंतन में अविकल रूप से आस्थावादी हैं। यह आस्था लेखकीय आस्था है जो उपन्यास की परिणति में जग्गन मिसिर के साथ जोड़ दी गयी है।

---

142. संचेतना—दिसंबर 1971, पृष्ठ 40 पर रामदरश मिश्र के लेख से।
143. आलोचना, अप्रैल-जून 1969, पृष्ठ 105.

विपिन की तरह जग्गन मिसिर मात्र चिंतन नहीं करते, उसके व्यावहारिक प्रतिफलन के लिए लाठी लेकर तैयार भी रहते हैं। खलील खाँ की समस्या पर उन्होंने जितना गुना है, उसके निष्कर्ष रूप में वे महाभारत करके खाँ साहब को उनका हक़ दिलाने के लिए तैयार हैं। लेखक की कृपा से प्राकृतिक वरदान स्वरूप उन्हें एक अदद पक्खड़ बदन भी प्राप्त है। वे कसरती पहलवान हैं। अतः महाभारत के काबिल भी हैं। इसी के फलस्वरूप जग्गन मिसिर का व्यक्तित्व एक अक्खड़, निडर, साहसी और स्पष्टवादी व्यक्ति का है, जो न्याय के पक्ष में असहायों, गरीबों की मदद और अन्याय पर चलने वाले सबल अत्याचारियों के प्रतिकार के लिए हमेशा दिल खोलकर, सीना तानकर खड़ा रहता है। थानेदार के सामने 'मैंने जगेसर को मारा' की स्पष्टोक्ति उनके साहस-निर्भीकता की ज्वलंत मिसाल है, जिसे सुनकर दरोगा भी भौंचक रह जाता है। जग्गन हमेशा थप्पड़ मारने वाले का सर फोड़ने के लिए तैयार रहते हैं। पुष्पी को लेकर बदजुबानी करने वाले हरिया को खुर्पी के सधे वार से सामने-सामने और दयाल की गाय को मवेशी पहुँचाने वाले सिरिया को कंबल की घोघी में छिपकर लँगड़ाने पर विवश करने वाले प्रसंगों में उनकी यही प्रवृत्ति नैतिकता और ईमानदारी के सुयोग से खूब निखर कर सामने आयी है। मिसिर का यह नैतिक बोध भाभी के साथ सम्बन्धों में अनैतिक जरूर हो गया है, पर वे उसे नैतिक रूप देने की हरचंद कोशिश करते हैं और यदि बना नहीं पाते तो यह उनकी कमजोरी नहीं, भाभी के संस्कार हैं। इसे लेकर आदित्यप्रसाद त्रिपाठी की अपेक्षा बुरी नहीं है[144], पर जग्गन का चरित्र इस सन्दर्भ में असफल होकर यथार्थ के ज्यादा करीब रहा है। मिसिर के इस अनैतिक कार्य को लेखक ने खूब संभाला है—भावुक सन्दर्भों और चित्रण शैली से तो सँभाला ही है, साथ ही जग्गन की जेहन में बैजू भइया को पापबोध के रूप में उभारकर उनकी नैतिक समझ को खत्म होने से काफी हद तक बचा लिया है।

जग्गन मिसिर के व्यक्तित्व में चिंतन और कर्मठता के साथ संस्कारगत आग्रह और प्रगतिशीलता, नम्रता और कठोरता तथा बुद्धिमत्ता, स्वमान और सामाजिक उत्तरदायित्व का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। उनमें प्रगतिशीलता इतनी है कि भाभी के साथ शारीरिक सम्बन्ध हो जाने पर खुलेआम पत्नी के रूप में स्वीकारने को तैयार हैं। उसमें उन्हें दुनिया की परवाह नहीं, कुजात होने का डर नहीं।[145] लेकिन इस प्रगतिशीलता के साथ हिन्दुत्व के पुरातन संस्कार भी इतने ही प्रबल हैं जो उन्हें उदास होकर सोचने पर बाध्य करते हैं—'क्या बद्री मिसिर का खानदान खत्म हो जायेगा। पितरों को एक चुल्लू पानी देने वाला कोई न रहेगा।'[146] इसी प्रकार यह जग्गन की विनम्रता ही है कि झब्बू परिवार द्वारा किये गये सारे शोषण और उनके घर बिताये बचपन की सारी कटुस्मृतियों के बावजूद वे मात्र जीवनदाता

144. औपान्यासिक समीक्षा और समीक्षाएँ—आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ 140.
145. अलग-अलग वैतरणी—पृष्ठ 312 के आधार पर।
146. वही, पृष्ठ 311.

के रूप में ही सही, पर उस परिवार के प्रति कृतज्ञता से भरे रहते हैं और हर मौके पर अपनत्व भरी खैरख्वाही से भी बाज नहीं आते। विपिन, खलील खाँ, कनिया, दयाल आदि के साथ उनके व्यवहार की विनम्रता देखते हुए हरिया, सिरिया, छबिलवा के साथ बरती जाती उनकी कठोरता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पर यही तो उनके चरित्र की विशिष्टता है। इन सभी व्यवहारों के निर्णायक तत्व हैं—मिसिर का सामाजिक बोध और व्यक्तिगत स्वमान की भावना, जो उनके जीवन को दिशा देते हैं। दोनों ही स्थितियों में जग्गन में प्रतिकार की भावना प्रबल है जो पौरुष और कर्मठता में इस हद तक गतिशील रहती है कि एक सीमा तक वे भाग्यवाद में अविश्वास प्रकट करते हैं—'जबर्दस्ती मेरा कोई कुछ छीन ले और भाग्य के नाम पर हाथ धोकर बैठा रहूँ, अपने को भूल जाऊँ, यह मुझसे नहीं हो सकता।'[147] पर चिंतन इस प्रतिकार भावना को संतुलित किये रहता है। मानवीय संवेदनासिक्त होने पर तो वह प्रतिकार न करके (भाभी प्रसंग में) उन्हें प्रत्यार्पण तक के लिए तैयार कर देता है।

इन सभी गुणों से गाँव में उनकी बड़ी साख है। उन्होंने जालिम से जालिम जमींदार देखे हैं पर आज तक किसी के सामने झुके नहीं। छोटे से लेकर बड़े तक सभी लोग उनका 'ओहूम' (रिस्पेक्ट) रखते हैं, विरोध करने की तो कोई सोचता तक नहीं। इसी से गोंगई महाराज, जगेसर को साफ-साफ सलाह देते हैं कि 'जग्गन मिसिर' से लड़ने में तुम्हारा कोई साथ नहीं देगा। लेकिन पूरा गाँव जग्गन मिसिर के फन पर उँगली भले न रख सके, उनकी नकेल मिसराइन के हाथ में है, उनके सामने वे भींगी-बिल्ली बने रहते हैं। पर यह उनका दब्बूपन नहीं, संवेदनात्मक संसक्ति है।

इस प्रकार प्राय: तमाम उदात्त मानवीय गुण-कर्मों के योग से सृजित जग्गन का व्यक्तित्व उपन्यासकार की मेधा का ही प्रतिरूप बनकर उभरा है। इसलिए मिसिर जैसा पात्र यथार्थ जीवन में मिलना शायद दूभर ही हो। उनकी इच्छा-भेदी आदतों से उभरा स्थितप्रज्ञ स्वरूप बड़ा मोहक-काम्य बन पड़ा है। उपन्यास के आलोक नक्षत्रों में वह सर्वाधिक दीप्यमान भी है, पर उसका ज़मीन पर उतरना शायद अपवाद स्वरूप ही संभव हो पाये।

मिसिर का चरित्र डॉ० सिंह की कहानियों के पात्रों से मिलता-जुलता होने पर भी रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से उसके विपरीत पड़ जाता है। यहाँ भी लेखकीय उद्देश्य इसी चरित्र के मुँह से निकलते हैं, पर यह चरित्र उद्देश्य को ध्यान में रखकर रचा गया है। औपन्यासिकता में यदि विपिन कथा का माध्यम है तो जग्गन लेखकीय संकेत के।

कनिया

कनिया पारम्परिक लोकचरित्र है। वह भारतीय नारी के त्याग, सहनशीलता,

147. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 316-17.

दृढ़ता, पवित्रता और परिवार के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा आदि गुणों से युक्त आदर्श पात्र है। लेखक ने बड़े सायुज्य कौशल से कनिया के व्यक्तित्व को अत्यंत गरिमामय बना दिया है। इससे सम्बन्धित उपन्यास की हर घटना, हर चरित्र उसकी गरिमा से अभिभूत हैं। वह जलती शिखा की तरह है जिसके सामने पति बुझारथ यदि घग्घू की तरह आँखें मुलमुलाते हैं, तो उनकी कुमार्गगामिता शायद इसका कारण हो। विपिन छोटा है, कनिया ने उसे माँ की तरह प्यार दिया है, वह इसके आदेशों को मानता है, पर उसकी समझदारी का प्रमाण यह है कि बकौल बंशीसिंह 'जैपाल भाई तक उसकी राय के बिना एक काम नहीं करते थे।'[148] यहाँ तक कि पूरे परिवार के दुश्मन सुरजू सिंह भी कहते हैं, क्या औरत है यह भी....गम्भीर इतनी कि बड़ी से बड़ी आफत भी जैसे हिला नहीं सकती।[149] 'बंशीबो उन्हें गऊलक्ष्मी मानती है[150] और जग्गन मिसिर तो कनिया के नाराज होने पर पूरे गाँव के भाग्य को खराब हुआ मान लेते हैं।'[151]

ठाकुर जैपालसिंह कनिया को माँ भवानी का प्रसाद मानते हैं[152] और पूरे उपन्यास वह सचमुच ही प्रसाद बनकर रह गयी है जिसका सर्वाधिक भोग खानदान की कुलमर्यादा के नाम पर हुआ है। पति से इस कदर टूटकर भी वह मीरपुर के बबुआने की इज्जत की खातिर सास की ममता और ससुर की सहानुभूति के सहारे वहीं पड़ी हुई है। अपने को भीतर से तोड़कर भी परिवार को जोड़े हुए है। यही भारतीय नारी का आदर्श है जिसका चित्रण डॉ० सिंह ने बड़ी तल्लीनता से किया है और बीसवीं सदी के सातवें दशक में भी अपनी सारी आधुनिकता के बावजूद कनिया को नारी के रूप में चित्रित करने की कोई कोशिश नहीं की है। सारे संदर्भों में उसे निहायत संयमी और स्थितप्रज्ञ-सी बनाकर प्रस्तुत करने में ही लगे रहे हैं। माना कि इक्की-दुक्की सचाइयों के रूप में गाँवों के लिए ऐसे पात्रों की यथार्थ स्थिति अब भी है, पर क्या इतनी मानसिक यंत्रणा के तहत पूरी जिन्दगी होम करती एक स्त्री को न्याय दिलाने के लिए इस ज़माने में भी एक जिम्मेदार लेखक से उस भंगिमा की दरकार नहीं, जिसमें यह सब कुछ विद्रूप और अमानवीय लगने लग जाये। यहाँ तो लेखक ने प्रशंसाओं की झड़ी लगाकर कनिया के इस रूप को श्लाघ्य ही नहीं, लोगों के लिए अनुकरणीय भी बनाना चाहा है। निश्चय ही लेखक का दृष्टिकोण इस संदर्भ में बेहद पारंपरिक रहा है। कनिया की गतिविधियाँ यदि किंचित् लेखकीय व्यंग्यात्मक पुट पा गयी होतीं, तो....। खैर,

कनिया की पूरी जिन्दगी ससुर को दिये गये वचन की धरोहर है और इस

148. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 614.
149. वही, पृष्ठ 381.
150. वही, पृष्ठ 157.
151. वही, पृष्ठ 605.
152. वही, पृष्ठ 90.

रूप में वह हाड़-मांस की नारी के सिवा और सब कुछ है। भूली-भटकी सिर्फ एकाध आदतें उसे रक्तमज्जा युक्त होने का आभास देती हैं—खुदाबख्श-विवाद जैसे प्रसंग पर इसे देखा जा सकता है जब उसे क्रोध और ग्लानि भी होती है, हालांकि वहाँ भी वह रोना मीरपुर के बबुआनों की इज्जत का ही रोती है, वरना अन्याय से समझौता न करने, गहन से गहन विपत्ति को भी मुस्कुराकर सह लेने, बिना कुछ और सोचे-समझे कर्त्तव्य निभाते जाने और इन सबसे कुलप्रतिष्ठा को बनाये रखने में वह अतिमानवीय रूप में जाज्वल्यमान हुई है। उसमें सच्चरित्रता, ईमानदारी और विश्वसनीयता इतनी कि पटनहिया भाभी अपने अंतरतर को खोलने के लिए कनिया के सिवा और किसी को नहीं पाती। शायद कुछ अपने से मिलते-जुलते दुःख के कारण भी उसने ऐसा किया हो। कुल मिलाकर कनिया का व्यक्तित्व एक पारदर्शी आईना बन गया है, जो पाठक के मन में थोड़ी-बहुत करुणा जरूर जगा पाता है वरना उसकी झोली में अधिकांश तो उसकी गरिमा का ही पड़ता है।

इस प्रकार कनिया के जिस प्रशांत, गंभीर और उज्ज्वल व्यक्तित्व को लेखक उभारता है, विवेकी राय के अनुसार इससे वह तीन जलते प्रश्नों को उठाकर पाठकों को संशयालु बना देता है। तीनों प्रश्न इस प्रकार हैं—

1—विपिन के विवाह पर दुखी और अतत्परता क्यों ?

2—पुष्पा की ओर प्रेम जानकर भी उनकी ओर से बढ़ावा क्यों नहीं ?

3—अंत में नौकरी पर जाने के अवसर पर गूढ़ एवं जटिल रंज क्यों ?[153]

किन्तु एक पाठक के नाते ये प्रश्न मेरे मन में नहीं उठे क्योंकि इनके समुचित उत्तर उपन्यास में ही हैं—

विपिन के विवाह को लेकर कनिया एकाधिक बार चर्चा करती है, चुप्पी है ही नहीं—विपिन का विनोद भरा लंबा जवाब भी उल्लेख्य है। 'अतत्परता क्यों', कहकर डॉ॰ राय कनिया से कैसी तत्परता चाहते हैं ? विपिन कोई लड़की तो है नहीं कि पंडित-नाई भेजकर घर-वर की तलाश करातीं और शादी का कोई प्रस्ताव आया नहीं कि मिसराइन की तरह टालमटोल किया हो। असल में यह अवांतर सवाल है। उपन्यास की समस्या इन पढ़े-लिखे लड़कों के विवाह को लेकर है ही नहीं। देवनाथ भी कुँवारा है और उसके माँ-बाप से डॉ॰ राय ने यह सवाल क्यों नहीं किया ?

दूसरे सवाल, पुष्पा के प्रति प्रेम को जानकर बढ़ावा न देने के संबंध में उपन्यास के साक्ष्य पर, पुष्पा-कनिया के घर आने पर वह विपिन को बुलाती है और मजाकिया लहजे में बड़ी प्रियता से परिचय कराती है, अत्यंत अर्थगर्भित बातें करती है। भाभी की हैसियत से इससे ज्यादा क्या किया कराया जा सकता है ? फिर पुष्पी के साथ शादी को लेकर कनिया के प्रति विपिन को पूर्ण आश्वस्त दिखाया गया है। इसलिए यह सवाल विपिन से करना मौजूँ है, कनिया से नहीं।

---

153. दिशाओं का परिवेश—सं॰ ललित शुक्ल में संकलित निबन्ध—गाँव की आत्मा की खोज—विवेकी राय, पृष्ठ 31.

तीसरे प्रश्न का उत्तर तो और भी विस्तार से उपन्यास में मिलता है। डॉ० राय से उसे याद रखने में अवश्य अनवधानता हुई है। मरते वक्त जैपाल सिंह की पूरी बात और उसके संदर्भ में नौकरी की खबर देते हुए बुझारथ की बात से भयानक अशुभ की आशंका के अलावा घर रहते विपिन की उपयोगिता—साल भर छाँह किये रहे। अब कौन देखेगा—आदि सभी चित्रणों पर ध्यान देने से ऐसे प्रश्न उठने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

कनिया-विपिन को लेकर डॉ० विवेकी राय ने जग्गन-भाभी प्रसंग की पुनरावृत्ति की शंका भी व्यक्त की है। आदित्यप्रसाद त्रिपाठी ने अपने लेख में इसका बड़ा ही सही और विस्तृत उत्तर दिया है।[154] वस्तुतः कनिया-विपिन के व्यवहार में ऐसा कुछ नहीं है। असल में डॉ० राय जग्गन-प्रसंग के बाद दूसरा देवर-भाभी का जिक्र आते ही शंकालु हो उठते हैं और भ्रमवश ऐसा वक्तव्य दे डालते हैं। यहाँ विद्वान् समीक्षक 'नागफास' कहानी की माँ की मानसिकता से ग्रस्त हो गया है जिसके कारण बिना किसी तथ्य के भ्रमजन्य पूर्वग्रह का शिकार हो जाता है। पहले से पढ़ा प्रसंग उसकी चेतना पर आरोपित हो जाता है।

खलील खाँ

करैता की तमीज-ओ-तहजीब, शराफत और ईमानदारी के एकमात्र अवशेष खलील चाचा के माध्यम से मानो लेखक समकालीन युग में इन सबकी शव-समीक्षा कर लेना चाहता हो। खलील चाचा के बकलमखुद अफसाने से विपिन की आँखों के सामने जिस मनुष्यता की हत्या के एक के बाद एक दृश्य उभरते जा रहे थे, वह अंत में सचमुच ही गये वक्त का ताजिया बनकर गाँव से निकल जाती है।

खलील चाचा की पूरी दास्तान का आदर्शवाद विपिन को एक ऐसी पीड़ा से भरा लगा, जिसके पक्ष या विपक्ष में वह कुछ भी नहीं कह पाता, पर जग्गन मिसिर उन्हें कह देते हैं—'करमनिखट्टू' क्योंकि मिसिर जैसा कर्मठ व्यक्ति ही ऐसा कह भी सकता है, विपिन नहीं। खलील-कथा की रीढ़ उनकी सिधाई और उससे ज्यादा लापरवाही है, जिसके चारों तरफ घिरा आदर्श छिपा नहीं पाता। यदि इस कहानी में यही रीढ़ नहीं होती तो उनके बाकी सभी गुण इंसानियत, समझदारी और उसूल उन्हें गाँव से निकलने न देते। उनके ख्याल इतने ऊँचे हैं और इंसान की अंदरूनी अच्छाई में ईमान लाने का जज्बा इतना पुरजोर और गहरा है, उनकी समझ और विश्लेषण इतना परिपक्व है कि वे करैता छोड़ नहीं सकते थे, पर लेखक की योजना तो करैता छुड़वाने की थी, सो मियाँ साहब को उतने दिन सुला देना जरूरी था जितने में कि जगेसर सारी कार्यवाही पक्की कर ले (वैसे रामकरन लेखपाल ने जो 20 साल पीछे के कब्जे का सबूत दिया, उसे कानूनी तौर पर कोर्ट में चुनौती (चैलेंज) दी जा सकती थी, पर कहानी को इसकी जरूरत नहीं थी)। लेखक की कृपा से एक नजर में खुदाबख्श को पहचान लेने वाले खलील खाँ उसी की अकृपा-हेला से जगेसर को इतने दिनों में भी

154. औपन्यासिक समीक्षा और समीक्षाएँ—डॉ० आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ 142.

नहीं समझ पाते। खैर, लेखक अपने उद्देश्य में सफल होता है—खलील मियाँ गाँव छोड़ जाते हैं। उसके लिए जो भावनात्मक प्रसंग चुने गये हैं, वे उक्त घटनाओं की इरादन असंगति को बहुत कुछ संतुलित कर सके हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' के खलील खाँ याद किये जाएँगे—अपने उसूलों के लिए ही। बदरुल की बातों में आकर करैता वालों को काफिर न मानना, जगेसर के किये से पूरी हिन्दू कौम को गुनहगार न ठहराना आदि, मात्र भावुकता और वैयक्तिक उदारता ही नहीं है वरन् उसके पीछे खलील चाचा की वह बारीक विश्लेषण बुद्धि है, जिसमें कौम की ऐतिहासिक समझ निहित है और जिसने पुख्ता उसूलों को सीखा ही नहीं, उस पर दृढ़ता की मुहर भी लगायी है।

चाचा सिर्फ कोरे आदर्शवादी, भावुक, अतीतोन्मुखी और सांस्कृतिक मानस संपन्न व्यक्ति ही नहीं हैं, जमाने में 'तबदीली के मुंतजिर' भी हैं। उन्हें नये ज़माने के परिवर्तनों से गिला नहीं है और इसीलिए पाँच बीघे खेत पर चौधरी का अधिकार ज़माना उन्हें नागवार नहीं लगता। इन बातों में खलील खाँ पर्याप्त प्रगतिशील हैं, मगर यह नया दौर उन्हें पस्त-हिम्मत बनाने आ रहा है, इससे वे ज़रूर नावाकिफ रह गये हैं। इस रूप में खलील खाँ का चरित्र कुछ-कुछ समकालीन मानसिकता से मेल खाता है, जिसमें आजादी के पहले लोग आने वाले ज़माने से बड़ी आशाएँ लिए बैठे थे और मोह-भंग के शिकार हुए। जैपाल सिंह तो ज़माने के इस तरह के बदलावों के मुंतजिर न होते हुए भी, अपने को उसके अनुरूप ढालने की कोशिश करते हैं, पर खलील मियाँ बिल्कुल ही नहीं करते, एकदम स्थिर पात्र बनकर रह गये हैं। वे मध्यकालीन संस्कारों की जड़ता से उबरते नहीं—'मैं भला इन टुच्चे लोगों के रू-ब-रू अदालत में खड़ा हूँगा।' खुदफ़रामोशी को ईमान मानकर चुप बैठ जाते हैं, किंतु जब वे अपने पस्त मंसूबों को प्रमाणित करने के लिए अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति को आधार मानकर पूरे ज़माने का मूल्यांकन करने लगते हैं—कि इस फिज़ाँ में ही कुछ ऐसा दमघोंट और मुर्दा-सा है—तो स्थिति और भी विद्रूपमय हो जाती है। शायद लेखक यहाँ यह संकेत करना चाहता है कि खलील के रूप में इंसानियत हारी है, मरी नहीं है और इसीलिए उन्हें प्रच्छन्न रूप से आस्थावान बनाये रखने की कोशिश में 'अंधेरी रात' के बाद उजाला होगा और 'मैं गया वक्त नहीं हूँ जो आ भी न सकूँ,' आदि वाक्य बोलवाता है, लेकिन लेखक का यह आस्थावाद खलील के मुँह से निकलकर उन्हें ही मुँह चिढ़ाता-सा लगता है।

इस प्रकार खलील मियाँ के जो गुण उनके चरित्र को स्मरणीय बनाते हैं, वही उनके कथा-व्यक्ति के लिए गलफाँस बन गये हैं। इस स्तर पर आकर यह चरित्र एक और संकेत करने लगता है कि बदले ज़माने के लिए ये मानवीय जीवन मूल्य फालतू बन गये हैं। इसमें सिर्फ भरोसे और ईमानदारी पर जीने वाले का वही हस्र होगा, जो खलील खाँ का होता है—उस ताजिए का सा, जिसे रखा तो जाता है ऊँचे मंच पर, लेकिन वहाँ से उठाकर पानी में बहाने के सिवा उसकी कोई दूसरी परिणति

नहीं हो सकती, उसकी यादें कुछ भावनात्मक क्षणों को उकसाकर मात्र आँसू भरी 'चीत्कार' 'हायहुसेन'—ही पैदा कर सकती हैं।

मास्टर शशिकांत

करैता के प्राइमरी स्कूल पर हुई है शशिकांत मास्टर की नियुक्ति, पर पूरा प्राथमिक शिक्षा विभाग इसे 'डम्प' किया गया समझता है। लोगों को यकीन नहीं होता कि चोलापुर के 'इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स' का दुलारा अध्यापक करैता में इस प्रकार 'डम्प' किया गया होगा। उसका नाम इतना अर्थगर्भित है कि मंडल का जो विकास अधिकारी करैता के नाम पर चिढ़ गया रहता है, शशिकांत के नाम का मतलब (माहात्म्य) सुनते ही शांत हो जाता है। पर इतनी सारी शोहरत से लेखक शशिकांत का कम, करैता का मतलब ज्यादा समझाना चाहता है कि विभाग का इतना नामी-गरामी सर्वोत्तम भी जब वहाँ नहीं टिक सकता तो करैता को मानना पड़ेगा।

खैर, शशिकांत अपनी नियुक्ति को 'डंप' नहीं मानता। वह इस बात में विश्वास करता है कि 'इंसान के लिए उसकी प्रतिभा और शक्ति के अनुसार कार्यक्षेत्र सौंपने का काम कोई अदृश्य शक्ति किया करती है।'[155] लेकिन दृश्य शक्तियाँ जब अदृश्य बनकर प्रतिभा और शक्ति को पहली ही बार कुचलती हैं तो इतना लागी-पुरुषार्थी मास्टर पलक झपकते ही एकबारगी टूट जाता है। वह बेशिनाख्त गाँव-स्कूल छोड़कर भाग खड़ा होता है। उसके इस धीर-प्रशांत, कर्मवीर पात्रत्व की यह त्वरित टूटन और पलायन ही उसके चरित्र की जहनियत को संदिग्ध बना देता है। और अन्य चरित्रों की तरह यहाँ भी आड़े हाथों आयी लेखकीय दखलंदाजी साफ-साफ दिखने लगती है। इतना समझदार जाना-माना व्यक्ति यह कैसे मान लेता है कि उसे लोग चोर समझेंगे? शरीर पर घाव के निशान भला असलियत नहीं बताते और फिर जवाहिरलाल और पुरसोतम सिंह बवाल कैसे बनाते? माना कि वह गँवई राजनीति में उलझना नहीं चाहता, इसलिए सिरिया की नामजद रिपोर्ट नहीं करता, पर इसकी सूचना तो पुलिस को दी जा सकती है। जिस तरह शशिकांत विपिन से रुपये पा जाने पर स्कूल नहीं छोड़ता, उसी तरह अगले महीनों में अपनी तनख्वाह से भी ये पैसे लौटा सकता था। इस तरह उसकी मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में भी पलायन की स्थितियाँ बनती नहीं। लेकिन शशिकांत के ऊपर तो ग्लानि-बेबसी-विपन्नता का जैसे दौरा पड़ गया हो, जिसमें उसे मात्र करैता से पलायन के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं। लेखक ने यथार्थ स्थितियों को ग़ैर हाजिर करके एकतरफा फैसला कर दिया है जो शशिकांत को असहज ही नहीं, कर्मठता-ज्ञान-विवेक से परिपूर्ण उसके समग्र व्यक्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा देता है। यहाँ शशिकांत की थसमसाहट विपिन की निष्क्रियता की श्रेणी में ही आ जाती है बल्कि कुछ और भी असंगत इसलिए हो गयी है कि यह विपिन से कहीं ज्यादा गतिशील और कर्मरत पात्र है। इसीलिए शशिकांत

155. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 175.

का चरित्र-विन्यास विपिन के चरित्र-विन्यास से भी ज्यादा विश्रृंखलित-असहज हो गया है।

शशिकांत का व्यक्तित्व विद्रोही ज़रा भी नहीं है, बिल्कुल समझौतावादी जैसा है। वह मुंशी जवाहिरलाल की सारी ज्यादतियों को नजर अंदाज करता है, सिरिया, बुझारथ-सुरजू के बीच में नहीं पड़ना चाहता। इस तरह 'अपने काम से काम' रहकर वह स्थितियों में से बीच का रास्ता निकालना चाहता है। गाँव में नयी रोशनी लाने, बच्चों के भीतर दबी चिनगारी को जगाने के सपनों को अपने सद्गुणों के बल पर पूरा करना चाहता है।

उपन्यास में शशिकांत की स्थिति प्राइमरी शिक्षा-स्थितियों की पोल खोलने के अलावा करैता में एक और बुद्धिजीवी पात्र के आ जाने से रचना के बौद्धिक स्तर को एक ऊँचाई प्रदान करती है। गाँव की गप्पबाज बैठकों का सहारा लेकर लेखक शशिकांत के माध्यम से तमाम सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलुओं और जीवनमूल्यों की गिरावट आदि विविध समस्याओं पर तेज रोशनी डालता है। इस संदर्भ में शशिकांत को लेकर डॉ० बांदिवडेकर का विचार कि उसके विवेचन की सीमा सिर्फ नयी पीढ़ी पर पड़ने वाले दुष्परिणामों तक सीमित हैं[156] सचाई से बहुत दूर लगता है। असल में इन दुष्परिणामों के पीछे जीवन के हर क्षेत्र में फैले विघटन का इतिहास छिपा है। नयी पीढ़ी के बीच रहते हुए उसी के माध्यम से विवेचन संबंधित चरित्र (शशिकांत) के लिए बड़ी तार्किक-संगत स्थिति है और फिर बच्चों के बारे में दिये गये 'उन्हें हँसाओ तो भी, रुलाओ तो भी, चेहरे पर कोई फर्क नहीं पड़ता' जैसे विचारों को सिर्फ नयी पीढ़ी तक सीमित करके देखना आलोचनात्मक बुद्धि की सीमा ही है। इसके अलावा जीवन में व्यावहारिकता, नैतिकता, उत्तरदायित्वबोध और सामाजिक विसंगतियों को लेकर उसके विचार इतने स्पष्ट और वैज्ञानिक हैं कि कहीं कोई सीमारेखा निश्चित हो ही नहीं सकती। अपने चिंतन में यह पात्र एक स्वच्छ बुद्धिजीवी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत हुआ है—विपिन जैसी अवसरवादिता-दोषारोपण आदि इसमें नहीं दिखता।

शशिकांत हमारे आजाद देश के भ्रष्ट अध्यापक समाज में एक अध्यापक के आदर्श की याद दिलाता है। सादगी से भरा उसका स्वावलंबी जीवन गाँधी-शैली की याद ताजा करा देता है। कुशल अध्यापक के गुणों से ओतप्रोत, बच्चों के सर्वांगीण विकास—'कच्ची मिट्टी से मनचाही मूरत गढ़ने की अदम्य इच्छा'—और वृहत्तर जीवन के संदर्भ में ऊँचे विचार उसके चरित्र को आज के जीवन वास्तव में एक ज्वलंत मिसाल के रूप में स्थापित करते हैं।

शशिकांत की व्यवहारकुशलता, विनम्रता, सहनशीलता, संयम, विवेक और सामर्थ्य भर दूसरों की मदद करने की तत्परता आदि को देखकर पटनहिया भाभी का कथन बिल्कुल सच लगता है—हीरा आदमी था मास्टर।

---

156. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 190.

दयाल महराज

विपिन का चरित्र यदि कथा का माध्यम है तो दयाल महराज उस कथा की अधिकांश घटनाओं को आगे बढ़ाने, उसके विभिन्न अंशों के पूर्वापर और कथापात्रों के आपसी संबंधसूत्रों को जोड़ने के माध्यम हैं। लेखक ने इन रूपों में उन्हें कालजयी बनाकर पेश किया है। जैपाल से लेकर बुझारथ-विपिन तक की तीन पीढ़ियों के बीच आने वाले सभी व्यक्तियों के वे अंतरंग हैं। अपने भेद भरे कामों तक का जिम्मा दयाल महराज को सौंपते हुए ठाकुर जैपालसिंह की मुस्कान का अर्थ वे समझते हैं कि 'यह बात गोपनीय है। इसलिए यह काम दयाल महराज को सौंपा जा रहा है।' इसी तरह बुझारथ-सुगनी या सुरजू-सुगनी के अनैतिक सम्बन्धों से लेकर विपिन-पुष्पा के स्नेहिल मिलन तक के वे एकमात्र साक्षी हैं।

परन्तु दयाल महराज सिर्फ गोपनीय कामों के ही साक्षी नहीं हैं, वे 'करैता की हँसी-खुशी के सफरमैना हैं। करैता गाँव में कोई शादी-व्याह हो, कोई मुण्डन-जनेऊ हो, कोई व्रत-त्योहार हो या कोई उत्सव-समारोह हो, दयाल महराज उनमें सबसे पहले तैयार दिखेंगे....किसी को किसी चीज की ज़रूरत हो, दयाल महराज से कहें। वे आकाश-पाताल छानकर चीज़ बरामद कर देंगे।'[158] ये कार्य दयाल महराज द्वारा सोद्देश्य अपनाये गये हैं—'क्या करूँ भाई! बाभन हूँ। हरवाही-चरवाही कर नहीं सकता। मिहनत-मजदूरी कोई करायेगा नहीं। ऊपर-झापर के कुछ काम कर देता हूँ। इसी से तो दो प्रानी का गुज़र चलता है। लेकिन इस महँगाई में तो वह भी गया। कितने लोग हैं जिन्हें बाजार से सौदा-सुलुफ मँगवाना रहता है।'[159] इसलिए उन्होंने अब अपने पेशे में समयानुसार थोड़ा परिवर्तन और इजाफा कर लिया है। अब वे फेरूसिंह के लड़के नन्हकू को कंधे पर लादकर मेला दिखाने से लेकर बहू-बेटियों के लिए पाउडर-तेल, चोटी-फीता लाने आदि तक का काम कर लेते हैं। सिर्फ बहू-बेटियों के लिए ही नहीं, इस या उस हरजाइयों के लिए भी उनके चहेतों के हुक्म पर उन्हें टहल बजानी पड़ती है, जीवन-यापन की अनिवार्यताओं के तहत।

किन्तु ऐसा भी नहीं है कि दयाल महराज सारे कार्य सिर्फ धंधे के तौर पर रोजी-रोटी के लिए करते हैं। लेखक जानता है कि कुछ ऐसे कामों में भी उनकी प्रवृत्ति रमती है, जिसमें उनका निजी फायदा कुछ नहीं होता, पर उनके मन में जिनके प्रति स्नेह श्रद्धा होती, उसकी सेवा-सहायता करना वे अपना फर्ज समझते और बावजूद सबके कुछ भी करने के, यदि वे अपने मन माफिक कोई काम कर लेते तो खुशी से विह्वल हो जाते। पेशे के अलावा उनके कुछ इस तरह के कार्य 'स्वांतः सुखाय' किये गये सेवा-कार्य की श्रेणी में आते हैं। कथाकार स्पष्ट करता है कि दयाल महराज की आत्मा में ऐसे नेक कामों की खुशबू ही गमकती है। उस तरह के काम तो दयाल

158. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 4-5.
159. वही, पृष्ठ 5.

महराज नहीं, उनका शरीर कर रहा होता है।'[160] इस प्रकार दयाल महराज का चरित्र भी आलोक विन्दु कनिया की तरह जैविक धरातल पर रहते हुए भी उससे ऊपर उठ जाता है। भौतिक जगत् के सही-गलत कामों का जलता हुआ धुँधुआता राज़ अपने सीने में छिपाये रहना उनका प्रयत्न नहीं, प्रकृति बन गया है।

दयाल की इस प्रकृति से अज्ञात उनकी बुढ़िया माँ उनके ऊपरी कार्यों को देखकर 'चरघुसुरा' कहती है और करैता के छोकरे तो बुल्लु चाचा को 'मउगा' की उपाधि दे चुके हैं, जिसके लिए उनकी शारीरिक बनावट भी, जिसमें चालीस की उम्र तक मूँछ-दाढ़ी नहीं निकली है, भी काफी जिम्मेदार है। इस तरह उपन्यास के साक्ष्य पर दयाल महराज का शरीर निस्तेज-निष्क्रिय ज़रूर है, पर अनेक बातों को लेकर उनका मस्तिष्क बहुत सक्रिय है। हालाँकि वे किसी से कहते नहीं और 'परपंच' में पड़ना नहीं चाहते पर वे बुझारथ-सुरजू जैसों की असलियत, गाँव की पार्टीबन्दी, आपसी बैर-विरोध, लोगों के व्यभिचार-भलमंसाहत आदि को बखूबी समझते हैं। मस्तिष्क की उनकी सक्रियता मात्र मन की है, कभी वह क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त नहीं होती। सिर्फ एक बार ठाकुर जैपाल सिंह की काइंयापन भरी कोफ्त के समर्थन में स्वीकृति-सूचक सर नहीं हिलाते, जिसका उपयोग दो अध्यायों की निरंतरता कायम रखते हुए जैपाल सिंह के 'बिथरने' के संकेत के रूप में हुआ है।

इस प्रकार अपनी सभी गतिविधियों में दयाल महराज का चरित्र 'अलग-अलग वैतरणी' की चरित्र-सृष्टि के अनुरूप लेखनी भोग्य बनकर रह गया है। इससे लेखक ने 'पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर' का काम लिया है। इसीलिए रचना-प्रक्रिया के स्तर पर कहना हो तो यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दयाल महराज का महत्व गाँव के लिए सौदा-सुलुफ लाने का बहाना है उसी प्रकार लेखकीय चेतना के लिए इस चरित्र का महत्व कथा के विभिन्न अवयवों की संगति बिठाने, उसे आगे बढ़ाने और बिखरे-टूटे सम्बन्धों को जोड़ते रहने का बहाना है जो अंत में विपिन की देखभाल के बहाने अचानक अनपेक्षित नाटकीय अंदाज में गाँव से शहर की ओर प्रयाण करके कृति के उद्देश्य के साथ जुड़ जाता है। फिर भी दयाल महराज के चरित्र-निर्माण में पूर्वापर-संयोजन, उसकी प्रवृत्तिगत अन्विति आदि का कुशल निर्वाह बड़ी बारीक कलात्मकता का उदाहरण बन गया है। इस प्रकृति-प्रवृत्ति-उपयोग का चरित्र हिन्दी साहित्य में एक सर्वथा नवीन और अनोखा सृजन है।

मनोवैज्ञानिक पात्र

कहानियों की तरह 'अलग-अलग वैतरणी' में भी पात्रों (मनोवैज्ञानिक) की मनोवैज्ञानिकता उनके व्यवहारों की प्रतिक्रियात्मकता या प्रतिक्रियात्मक व्यवहारों में ही उजागर हुई है जिसके मूल में यहाँ भी सामाजिक विसंगति ही है—समाजोन्मुख मनोविज्ञान। पर वहाँ वे पूर्ण संतुलित रहने का निर्वाह कर ले गये हैं जबकि यहाँ उनकी सहज अनिवार्य विकृति भी झलक मार गयी है। वैसे मनोवैज्ञानिकता के थोड़े

160. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 413.

बहुत असर से उपन्यास का शायद ही कोई पात्र अछूता रह गया हो, पर जिन पात्रों में इस प्रवृत्ति की प्रमुखता है, वे हैं—पटनहिया भाभी और हरिया। जगेसर की उद्दण्ड उच्छृंखलता भी उसके मनोवैज्ञानिक उद्गार का ही परिणाम है जिसके मूल में जातिगत श्रेष्ठता-नीचता की सामाजिक विसंगति ही कार्यरत है,[161] पर यह उसके व्यक्तित्व का सूक्ष्मांश मात्र है, प्रमुख पक्ष नहीं। उसका समग्र चरित्र दूसरी श्रेणी में आता है। अतः यहाँ सिर्फ पटनहिया भाभी और हरिया ही विवेच्य हैं।

पटनहिया भाभी

पटनहिया भाभी का असली नाम दीपा है पर पटना में मायका होने के कारण ससुराल (करैता) में उसे पटनहिया भाभी कहते हैं। अपेक्षाकृत छोटी भूमिका में भी करैतावालों की कृपा से उपन्यास में उसके कई 'फेसेज़' देखने को मिलते हैं—

सास के लिए गाँव की औरतों के बीच बड़वर्गी दिखाने के लिए वह 'गुन-सहूर कुल से भरी-पूरी, सुन्दर-पढ़ी-लिखी, कपड़ा-वपड़ा भी ढंग से पहनने-सवख से रहने' वाली आज्ञाकारी बहू है, पर अपने नपुंसक बेटे का बचाव करने के लिए वही बहू, नारी तक नहीं रह जाती। गाँव के शोहदों के लिए पटनहिया भाभी बड़ी चार्वाक औरत है—'पढ़ी-लिखी है न, सुना दो चोटी काढ़ती है, कनपटी के पास माँग काढ़कर सिंदूर लगाती है। किंतु वही भाभी गाँव के लिए अन्य दुलहिनों के मूल्यांकन का मानदंड भी है—वाह, दुलहिन हो तो ऐसी एकठो वो दुलहिन है....ऐसे घर में लक्ष्मी न रहेगी तो क्या....। गाँव के पढ़े-लिखे लोगों विपिन-देवनाथ—के लिए आड़ में तो वह प्राप्य-काम्य है पर प्रत्यक्षतः हरामजादी कुतिया है।

गरज़ यह कि पटनहिया भाभी करैता में काव्यशास्त्रियों के 'उल्लेख-अलंकार' का उदाहरण बनकर उस 'हरिमूरति' के समान है जिसे अवसरानुकूल अपनी-अपनी भावनाओं के मुताबिक देखा जा सकता है। लेखक इसे अपनी रचनाप्रक्रिया के एक मोर्चे पर उस 'टॉर्च' की तरह काम में लाता है जो अन्य तमाम चरित्रों के अंधेरे में छिपे चेहरों को दिखा देती है।

रूपवर्णन में भाभी के शरीर में कल्पू के लिए तो उसके तलवे को गुदगुदाने वाली पतली उँगलियाँ ही काफी हैं, पर अकेले कमरे में नारी न होने के आरोप की व्यर्थता साबित करने के लिए शीशे के साक्ष्य पर 'गोरे चंपई रंग के बीच हल्की कालिमा लिए ललछौंहे गदराये वक्ष भी हैं। (शुक्र है शीशा आदमकद नहीं है) विपिन की पारखी निगाहों में भाभी (शादी के दस साल बाद भी) के चेहरे का आधा हिस्सा भुवनेश्वर की पत्र-लेखिका के मुख मंडल की तरह सुडौल, चिकना और बारीकी से कोरा हुआ लगता है, कान-कपोल और चिबुक की भंगिमा बड़ी पूर्णकाय लगती है।

---

161. मैं इन बेवकूफ, जाहिल लोगों के सामने माथा नहीं झुका सकता। ई बाबू साहब हैं। ई पंडित जी हैं। ई मुखिया जी हैं। हुँह। अब ऊ ज़माना गया कि ठकुराने के अदने छोकड़े को देखकर बड़े-बूढ़े चारपाई छोड़कर उठ जाते थे।—अलग-अलग वैतरणी—शिवप्रसाद सिंह पृष्ठ, 337.

पटनहिया भाभी जिस दुख से पीड़ित है, वह शादी के खोखलेपन के रूप में सामाजिक विसंगति से उपजा है। अच्छे परिवार में लाड़-प्यार से पली यह लड़की कल्पनाथ जैसे नामर्द के पल्ले बाँध दी जाती है। पर भाभी पारंपरिक ढंग से निष्ठा-पूर्वक अपनी नियत को स्वीकार करके जीवन से समझौता कर लेती है 'चलो अपने करम में यह था ही नहीं। सब है, एक नहीं ही है तो क्या हुआ। सब खाया, एक चीज नहीं खाया तो क्या हुआ !' किन्तु यह समझौता इतना आसान नहीं साबित होता। तन की प्यास, मन का खालीपन जिन्दगी भार लगने लगती है। अतृप्त काम-कुण्ठाएँ लड़कों को नंगा करने में त्राण खोजती है। यहाँ कुसुम वार्ष्णेय का यह कहना कि 'पटनहिया भाभी की कुण्ठाएँ कुछ तो परिस्थितिजन्य हैं और कुछ शहरी वातावरण और शिक्षा से उत्पन्न अर्धचेतना का परिणाम'[162] सही नहीं लगता। असल में शिक्षा और शहर के परिष्कृत वातावरण ने उसकी प्रतिक्रियात्मक विकृति को बेकाबू होने से बचाया है, अन्यथा परिणाम और भी भयंकर होते। उपन्यास के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर लेखक ने बड़ा संयम रखा है वरना यह चरित्र मनोविज्ञान की विपुल संभावनाओं वाला था। बच्चों के नंगे अंगों को कनखियों से देखते हुए उनकी डबडबायी आँखें इस अवचेतन चालित व्यापार की वास्तविक पीड़ा को चेतन स्तर पर प्रकट कर ही देती हैं।

जीवन से समझौते के दौरान गाँव में रहकर भी भाभी अपने पैरों पर खड़ी होना चाहती है। इसके लिए वह गाँव के तीन पढ़े-लिखे लोगों के बारे में मददगार के रूप में सोचती है और किसी न किसी रूप में वह इन तीनों (हीरोनुमा) नवयुवकों के संपर्क में आती है। फिर भी अंत तक यह कहने लायक बची रह जाती है कि उसने जाना ही नहीं कि आदमी के माने क्या होता है। असल में इस पवित्रता को जबरन और मजबूरन ढोते रहने में वह आम भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय नारी को लेकर लेखक की यह दृष्टि रही है कि वह अपने वातावरण के बीच मर्यादा और सम्मान के साथ अपनी राह बना लेती है। 'फलतः अंधकूप' की सोना भाभी की तरह पटनहिया भाभी भी दुखी है, पर बेचारी नहीं। वह किसी की कृपा नहीं चाहती। शहरी उन्मुक्तता के बावजूद मर्यादाओं का पालन करने वाले भारतीय परिवार के संस्कार और शिक्षा की पृष्ठभूमि में उसकी यह मानसिकता बिल्कुल सही और प्रामाणिक लगती है।

इसी तरह उसका करैता छोड़ना भी बिल्कुल सहज और विश्वसनीय लगता है। वह हमेशा के लिए मायके जाती है, पर कल्पू के मरने के बाद ही। उसी के साक्ष्य पर 'यह गाँव मुझे चारों तरफ से काटने दौड़ता है।' शायद कल्पू की कच्ची निरर्थक डोर भी एक सहारा थी। कैसी-कैसी बैसाखियों के सहारे घिसट रही है— भारतीय ग्रामनारी ! यहाँ करैता से भाभी का निर्गमन नितांत उपयुक्त और मर्मस्पर्शी

---

162. 'सम्मेलन पत्रिका'—भाग 57, संख्या 1-2 कुसुम वार्ष्णेय का लेख, पृष्ठ 85.

है, बिल्कुल स्थितिजन्य है । उद्देश्य के साथ घुल-मिल गया है । अधिकांश चरित्रों के समान यहाँ उद्देश्योन्मुखता के बहाव में थोड़ी भी असहजता लक्ष्य नहीं की जा सकती।

पटनहिया भाभी का चरित्र इतना यथार्थ और जीवंत है कि उपन्यास का कोई भी चरित्र इस सूक्ष्मता को छू नहीं पाता । नारी-सुलभ निष्ठा के साथ भाभी में बड़ी तीव्र संवेदनशीलता भी है । विपिन के एक वाक्य 'अभी आपका भी किसी मर्द से पाला नहीं पड़ा है' का आघात वह चाहकर भी कभी भुला नहीं पाती और मौका पाकर या निकालकर उसकी तथाकथित मर्दानगी की भरपूर खबर ले लेती है—'ऐसे ही मरद हैं आप' ! स्थितियों को अपने काबू में लेने की अद्भुत क्षमता भी उसके पास है । जिस भाव के वशीभूत होने के बावजूद वह विपिन से हाथ छुड़ाकर अपनी शर्म (नारी-धर्म) को बचा लेती है, सही समय और स्थल पर वह उसी भाव से प्रेरित होकर बेशर्म होने में भी सकुचाती नहीं क्योंकि उसे पता है कि 'निर्लज्ज होना खुद में एक पीड़ा भरा व्यापार है ? वह निर्लज्ज कहीं और तो नहीं हो रही है ?'

इस प्रकार अपनी भावप्रवणता, व्यावहारिकता, कार्यपटुता, समझदारी और भारतीय नारी के स्वभावगत शील-संस्कारों के साथ स्वस्थ प्रगतिशीलता तथा मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के बीच संतुलन बनाकर सिरजा गया भाभी का चरित्र साहित्य के लिए संग्रहणीय निधि बन गया है । डॉ० बांदिवडेकर बिल्कुल ठीक कहते हैं—'हिन्दी साहित्य में यह नया रूप है ।'

हरिया

हरिया के चरित्र की मनोवैज्ञानिकता बड़ी स्पष्ट और दोहरी है । उसकी प्रतिक्रियाओं के मूल में हीनभाव (Inferiority Complex) उत्पन्न कुण्ठाएँ हैं । यह हीनभाव सामाजिक विसंगति के तहत उसके भौतिक अभावों से जुड़ा है, पर कुण्ठाओं के लिए इससे ज्यादा जिम्मेदार है उसकी मानसिकता जो योग्यताओं के मुताबिक स्तर न पाने के कारण निर्मित हुई है । अकाल, सूखे के साथ बढ़ते परिवार की जिम्मेदारियों से उत्पन्न आर्थिक अभावों की पीड़ाएँ तो प्रत्यक्ष ही हैं, पर उसका वास्तविक दर्द इसमें छिपा है कि 'सुरजू, बुझारथ, पुष्पा, विपिन, कनिया कोई भी उसे नहीं समझ सकता । सब बड़प्पन दिखाते हैं, उसे नीच समझते हैं, छोटा समझते हैं । 'यह उसके हीनभाव की खुली प्रस्तुति है । सबका बड़प्पन वह सह नहीं पाता । इसकी प्रतिक्रिया इतनी जोरदार होती है कि वह जाने क्या-क्या कहता-फिरता रहता है, जिसे वह खुद नहीं समझ पाता कि आखिर ऐसा क्यों हो गया ।' हरिया सबको जानता है पर यही नहीं जानता कि वह क्या करे । सो, उसके सारे कार्य प्रायः अवचेतन में छिपी ग्रंथि (हीनभाव) से परिचालित होते हैं ।

मनोवैज्ञानिक परिवर्तन के स्थान ग्रहण करने के पहले भी हरिया का प्रारम्भिक व्यक्तित्व दोहरी भंगिमा लिए हुए है । बाहर से वह जितना लोफर, आवारा, बड़बोला

163, हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति—डा० चंद्रकांत बाँदिवडेकर—पृष्ठ 187.

और उद्दण्ड है, अंदर से उतना ही जिम्मेदार ज़हीन, समझदार, चतुर, कर्मठ और लगन का पक्का भी है। उसकी ऊपरी दुष्टता के आवरण के भीतर छिपी दृढ़ आत्म-शक्ति के कारण उसे वैयक्तिकता मिली है, वह विपिन, देबू, शशिकांत आदि से प्रभ-विष्णु पात्र है।[164] इस चरित्र के अंकन की सफलता उसकी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के आकलन में ही है। हीन और दुर्गम परिस्थितियों के बीच पिसकर विनष्ट होती प्रतिभाओं का वह प्रतिनिधि पात्र भी है। जद्दू बाबू मास्टर उसे 'प्रतिभावान दुष्ट' कहा करते हैं और सच में वह सिर्फ प्रथम श्रेणी में पास ही नहीं होता वरन् सम-कालीन समय और संदर्भों की बड़ी सही पहचान भी रखता है। 'बहिर लोचन, चपरासी' को वोट देकर इस कंडम पुराणपंथी देश में कुछ हो सकने की बात इसका बेहतरीन सबूत है। इसी तरह उसकी शरारतें भी बड़ी अचूक होती हैं। बुझारथ को उकसाकर गुस्सा कराना और मिसिर से बदला लेने के लिए मिसराइन को भड़काना सब ऐसी ही शरारतें हैं। इनकी सफलता से उसकी कुण्ठित मानसिकता को राहत मिलती है और जब ये कारगर नहीं होती—कनियां, पुष्पा आदि के साथ—तो अंदर की धुँधँवाती आग भड़क उठती है।

ऐसी तीखी और जानदार चेतना (सेंसबिलिटी) का, माकूल अवसर न पाने पर वहीहस्र होता है, जो हरिया का हुआ। वह संपूर्ण परिस्थिति और समाज को ठोकर मारकर चल पड़ता है। यह एक सच्चे, बुद्धिमान और कर्म के प्रति समर्पित युवक का विद्रोह है, प्रयाण नहीं—पलायन तो बिल्कुल नहीं। गाँव में रह पाने के नामाकूल जिन परिस्थितियों के बीच करैता के व्यक्तियों का 'अनत-गमन' लेखक दिखाना चाह रहा है, उनका सही रूप हरिया की परिस्थितियों में देखने को मिलता है। इसीलिए उसका—'यह अंधा समझता है कि मैं इसे कावड़ में बिठाकर ढोता रहूँगा—जैसा तीक्ष्ण कथन भी पाठक को घायल नहीं करता वरन् हरिया के मन के साथ लगी घावों पर मरहम का काम करता है। यह संपूर्ण युवावर्ग की विवशता है, विपिन की तरह का चोंचलापन नहीं। उसकी क्रमशः टूटन और अंत में छिन्न होकर बिखर जाना बहुत विश्वसनीय और प्रामाणिक बन गया है।

उपन्यास के खल पात्र

इसके पहले 'चरित्र : दृष्टि और सृष्टि' शीर्षक के अंतर्गत कहा जा चुका है कि 'अलग अलग वैतरणी' में अच्छे और बुरे विचारों तथा काम करनेवाले पात्रों की श्रेणियाँ बड़ी आसानी से अलगायी जा सकती हैं। ध्यातव्य है कि उपन्यास के अच्छे चरित्रों में भी कमजोरियाँ हैं, कुण्ठाएँ हैं, पर वे मूलतः बुरे व्यक्ति नहीं हैं, जबकि खलपात्रों के अंतर्गत बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं, शायद भूले से भी कहीं कोई अच्छाई नहीं आने पायी है। अधिकांश खलपात्रों में मानवीय संवेदना की कोई झलक तक नहीं मिलती। इसीलिए ऐसे पात्रों के लिए अलग से शीर्षक देना ही उपयुक्त प्रतीत हुआ।

---

164. उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृष्ठ 186.

इसके अंतर्गत सुरजू सिंह, सिरिया, मुंशी जवाहिरलाल, बुझारथ सिंह, खुदाबख्श और जगेसर आदि पात्र आते हैं।

सुरजू सिंह

सुरजू सिंह को खलपात्रों के सरगना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनका प्रथम परिचय ही इसी रूप में सामने आता है और साथ में 'उनकी पूरी खलसेना का परिचय भी मिल जाता है—' सुरजू सिंह ने अपनी अलग पाल्टी बना ली है। उनकी पाल्टी में एक से एक नंगे, लुच्चे भर गये हैं। हरिया, सिरिया, छबिलवा, शशधर और सूरत, ई साले सबके सब एक से एक हरामी हैं।'[165]

हालाँकि सुरजू सिंह में सरदार बनने योग्य कुछ भी नहीं है—न ही अक्ल और न ही जिस्म। पर उनकी प्रस्तुति का लेखकीय प्रारूप यही है। शरीर के नाम पर तो हरिया की ज़बानी सिर्फ 'नेवले जैसे मुँह' का ही वर्णन मिलता है और कारस्तानियाँ तो सभी फेल हो जाती हैं। उनकी शिकस्त का इतिहास ही सुर्खियों में छपता है—चुनाव से इश्क तक। इतना ही नहीं हर हार के बाद उनका तिलमिलाना या गिड़गिड़ाना उनके खलनायकत्व को निरंतर हेठा बनाते-बनाते अंततोगत्वा उस गर्त में गिरा देता है जहाँ पुश्त-दर-पुश्त पोषित विरासत (खलनायकी का दारोमदार) भी दफन हो जाती है। गरज़ यह कि सुरजू सिंह की हर कारगुज़ारी गुनाहे बेलज्जत बनकर रह गयी है क्योंकि बकौल हरिया नहीं उनमें विरोधी (जैपाल और बुझारथ) से लड़ने का दमखम और वीरता है और नहीं बकौल हरखू सरदार कोई काम (इश्कबाजी) करने का सलीका-काहे नहीं पकड़ लेता कोई बुझारथ या और किसी को। संक्षेप में कहना चाहें तो सुरजू सिंह अपने बेलज्जत गुनाहों के इतिहास की साक्षी में निहायत मूर्ख-नादान, बेहया-बेगैरत, कायर-कृतहन, कंजूस-नीच, तुच्छ-स्वार्थी और ढोंगी-तिकड़मी के रूप में ही उजागर होते हैं। इन सबमें एक बेशर्मी का उदाहरण देना ही काफी होगा। सुगनी के साथ सरेआम पकड़े जाने पर कोठरी से बाहर निकलते हुए—'जो कुछ हाथ लगा, वह उनके चेहरे पर बेशर्मी की चादर की तरह फैल गया। भीड़ ने उनका यह रंग देखकर खुद गर्दन झुका ली। बेशर्मी की चादर ने हजारों चिनगारियों को अपने ऊपर झेल लिया।'[166]

रचना में बहुत कम पृष्ठों पर आकर भी यह चरित्र अपेक्षित प्रभाव छोड़ जाता है। गाँव को साकार करने के लिए गँवई चंडाल चौकड़ी के अड्डे की ज़रूरत थी और ज़मींदारी युग की खांदानी अदावती के लिए प्रतिवादी की। सो, सुरजू सिंह का किरदार प्रतिवादी के वंशज और अड्डाधिपति, दोनों की पूर्ति एक साथ ही कर देता है। कहानी के अंत में गाँव छुड़वाकर मूल उद्देश्य की सांकेतिक पूर्ति (भर्ती) भी करा दी गयी है।

---

165. अलग-अलग वैतरणी—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 47.
166. वही, पृष्ठ 571-72.

इस तरह वर्ण्य चरित्र अपने नियोचित प्रारूपों के आधार पर सटीक बना है—बजुज कुछ अफसानापरस्त विशेषताओं के।

सिरिया

हरिया-हरिप्रसाद के वचन पर पूरा शुद्ध नाम श्रीप्रसाद होना चाहिए, पर उल्लेख कहीं हुआ नहीं है। हरिया के गाँव छोड़ जाने के बाद 'सीरीमास्टर' ही सुरजू-पार्टी का सबसे 'सीनियर' और 'ऐक्टिव' सदस्य है। ज़ाहिर है, इस पद की गरिमा के उपयुक्त अनिवार्य योग्यताएँ उसके अंदर होंगी ही। वह छँटा बदमाश है। धूर्तई, काइंयापन, लुच्चई-लफगंई से लेकर तीन में तेरह मिलाकर लकड़ी लगाने, बेवजह लोगों को तंग करने की सभी कलाओं का उस्ताद है। इसे कायम रखने के लिए सरदार सुरजू सिंह की 'जीहुज़ूरी' और 'गुप्तचरी' की विशेष योग्यता भी उसे हासिल है। पर सिरिया उनसे अपनी योग्यताओं-वफाओं की पूरी कीमत भी लेना जानता है। इस 'फ़ील्ड' में उसका वसूल है—'हम तो भाई जिसका हाथ पकड़ते हैं, ओरे-माथे तक उसका साथ देते हैं, चाहे ऊ डाका डाल के आवें तो, कत्ल करके आवैं तो।'[167] और इस सिद्धान्त से वह सुरजू सिंह से भरपूर उगाहता ही है, खुद भी इस पर खरा उतरता है। पूरे गाँव की नज़रों में बदनाम और गिरे हुए सूरजू सिंह का ऐन मौके पर स्वागत करके सहारा वही देता है—'आओ सुरजू भइया, अपनी ढ़ेढ़र कोई नहीं देखता। दूसरे की फुल्ली सभी देखने चले आते हैं, जेबा से।'[168] यह 'जेबासे' उसका तकिया कलाम ही नहीं, उसके व्यक्तित्व का अविभाज्य हिस्सा बन गया है जो उसे हर संदर्भ में एक निराली वैयक्तिकता प्रदान करता है। सिरिया जहाँ कहीं भी हो, उपेक्षित रहना या हेठी का व्यवहार, उसे सह्य नहीं है। तब वह मुँहफट होने की सीमा तक जा सकता है। ठकुराना 'अहम्' भी इस शान को मज़बूत बनाता है। ठाकुरों की मानिंद ही प्रतिशोध भावना उसमें बड़ी प्रबल है। अपने बैर-विरोध को वह भूल नहीं पाता और बदला लेने के लिए कोई भी कदम उठा सकता है—गुंडई, पिटाई, लुटेरी और कत्ल तक। 'मुरव्वत' शब्द से उसका कोई परिचय नहीं। वह सिर्फ जग्गन मिसिर से डरता है और हरिया के फन का मुरीद हो चुका है वरना और किसी को कुछ नहीं समझता।

हरिया की तरह इसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि न होने की कमी पाठक को महसूस होती है। पूरे उपन्यास अपने काम को बेखौफ़ अंजाम देने वाला सिरिया अंत में सरूप भगत का कत्ल करके बेहद डर जाता है और फिर जो गाँव छोड़कर भागता है तो उपन्यास भर करैता में लौटकर नहीं आता—याने जिनकी बदौलत करैता में अच्छों की रहाइस नहीं, उन्हें भी अपने किये वारों से घायल होकर गाँव छोड़ना पड़ता है—क्या उद्देश्यों के तहत ?

---

167. अलग-अलग वैतरणी—पृष्ठ 511.
168. वही, पृष्ठ 572.

मुंशी जवाहिरलाल

वैसे तो करैता स्कूल के हेडमास्टर मुंशी जवाहिरलाल की प्रस्तुति शशिकांत के बहाने हुई है, पर गँवई स्कूलों के अध्यापकों का प्रतिनिधित्व हुआ है जवाहिरलाल से ही। शशिकांत तो एक आदर्श है पर मुंशी जी बिल्कुल यथार्थ पात्र हैं। इसके अलावा शशिकांत जैसे व्यक्ति को करैता से बाहर कर देने में मुंशी जी की औपन्यासिक उपयोगिता पर उँगली नहीं उठायी जा सकती।

मुंशी जवाहिरलाल का पूरा व्यक्तित्व मय वेश-भूषा, बातचीत, और कार्य-व्यापार के, एक बेहद 'टिपिकल' गँवई प्राइमरी मास्टर का है। लेखक धीरे-धीरे उसकी एक- एक परत को बड़ी खूबी के साथ हटाता है। इसके लिए कथा में शशिकांत ही चश्मदीद और भोक्ता के रूप में माध्यम है। करैता स्कूल में उसके आने पर खड़ाऊँ घसीटते हुए आये हेडमास्टर' जवाहिरलाल अधेड़ उम्र के आदमी थे। उनकी खोपड़ी पर बीचोंबीच बाल नदारद थे। चौगिर्द बचे हुए बाल इस कदर उठे हुए थे जैसे उन्होंने कोई धूलसनी काली गोल टोपी पहन रखी है। उनका शरीर काफी झुका था, पर तोंद काफी उभरी थी। ये घुटने तक की गंदी धोती पहने थे। शरीर में आधी बाँह की बंडी थी, जिसकी बाँही और गरदन का हिस्सा चीकट और काला हो गया था।[169] इसके बाद तो इतना-इतना साबका पड़ना था कि शशिकांत ने मुंशी की उपस्थिति से समझौता कर लिया, पर जब भी उसके बारे में सोचने की कोशिश की है, उसे उबकाई आने लगती है।

मुंशी जी की सारी हरकतें अजीब हैं। वे अपने लोटे को मुँह से, अंगोछे को बदन से और सुरती को दाँतों से अधिक महत्व देते हैं। यदि मोगरे के फूल पानी में करके वे अपने सिरहाने रख लेते हैं तो इसलिए नहीं, कि हसीन ख्वाब आयें बल्कि इसलिए कि यह पानी वे चुनौटी में डाल देते हैं, जिससे सुरती थोड़ी खुशबूदार हो जाती है। इन सबसे उनका जो खांटी रूप सुशोभित होता है, शशिकांत का मन होता है कि थूक दे उनके मुँह पर।

सचमुच ही मुंशी का चरित्र थूकने जैसा ही घिनौना है। उसके सारे कार्य-कलाप दोहरे हैं। वह मास्टरी के साथ-साथ गाँव की राजनीति में भी समान रूप से सक्रिय है। मुंशी ऊपर से मिठबोलवा, पर अंदर से उतना ही कड़वा है। सामने तो शशिकांत की तारीफ के पुल बाँधता है पर अंदर से कतरता है। चाहे स्कूली खेल-कूद के कार्यक्रम की शुरुआत का प्रस्ताव हो, चाहे रहन-सहन, खान-पान का, मुंशी की जुबान और अंतर में फर्क रहता ही है—उसके चेहरे पर छायी लतरें जूही की होती हैं और फूल धतूरे के। रात में लड़कों को पढ़ाने के नाम पर तेल-लालटेन के पैसे लेना, न दे पाने वाले को इरादतन पीटना, बात-बात में लड़कों को माँ तक की गाली देना मुंशी का स्वभाव बन गया है। वह इतना स्वार्थी और सुविधापरस्त है कि स्कूल की क्यारियों में भाजी उगाने से लेकर उसे लड़कों से बनवाने तक के सारे

169. अलग-अलग वैतरणी—पृष्ठ 176.

कार्यों को वह नियम रूप में लागू कर चुका है और उसके दो मुँहे व्यक्तित्व के कारण बड़ी से बड़ी जागृति की लहर भी इसे बदल नहीं सकती क्योंकि मुंशी इसका विरोध ही कब करते हैं। वे तो इसकी बाढ़ की तारीफ करते हैं। ऐसे शब्दों और ऐसी मुद्रा के साथ कि इसमें बहने वाला हर आदमी अपने को निकृष्ट मानकर आत्मग्लानि में डूब जाये।'[170] इसीलिए उन्हें इस बात से खुशी होती है कि जिलापरिषद के कामों में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो रहा है। सब कुछ पूर्ववत है। और यह बोध उनके लिए बड़ा प्रीतिकर लगा। उन्हें सहसा अपने व्यक्तित्व पर बेहद प्यार हो आया।[171]

उन यथातथ्य स्थितियों में परिवर्तन लाने की कोशिश पर जवाहिरलाल भीतर ही भीतर बहुत विचलित होते हैं और उनका विरोध हर ऐसे अवसर पर व्यंग्यात्मक रूप में प्रकट होता है। इकन्नी का जीरा कम लाने के अपराध में किसी लड़के को पिटते देखकर जब शशिकांत बड़ी नम्रता से 'अरे जाने दीजिए मास्टर साहब' कहता तो मुंशी मारना बंद कर देते लेकिन इस 'रिमार्क' के साथ 'जाओ भाई, तुम तो देश की आशालता हो, अब तुम्हें कौन महान् बनने से रोके। शशिकांत का अपने हाथों अपने काम कर लेना उनके लिए गलत परंपरा की शुरुआत है, पर इसका विरोध वे सामने नहीं करते, अन्यों के सामने इस प्रकार कहते हैं—अब तो नये ज़माने के कपिल कणाद खुद बर्तन मलते हैं, बाबू साहब। लड़कों से सेवा लेना पाप समझते हैं। ऐसे में भी अगर लड़के गावदी रह गये तो उनके भाग का ही दोस है, और क्या ?'[172]

किंतु जवाहिरलाल की सेवाएँ यहीं तक सीमित नहीं हैं। वे सेवा के रूप में ही लड़कों को रात में अपनी खाट पर सुलाते हैं और देख लिये जाने के बाद भी इस घोर नीचता पर शर्माते नहीं, उलटे इसका औचित्य साबित करते हैं मैं लाचार हूँ। बीमार आदमी ठहरा। घर से कितना दूर रहता हूँ। फिर मैंने किया ही क्या। लड़के हैं। मास्टर लोग जाने कितनी सेवाएँ लेते हैं। मैंने भी थोड़ी सेवा ले ली, तो इससे क्या बिगड़ गया।'[173] इस व्यवहार पर शशिकांत ठीक ही कहता है—साला, हरामी। ऐसे लोग सहज मन से प्रायश्चित भी नहीं कर सकते।

मुंशी जी का दोहरा व्यक्तित्व और छिपा विरोध अंतिम रंग लाता है—शशिकांत को भागने पर मजबूर कर देने में। सुरजू सिंह से मिलकर मुंशी ऐसी साजिश करता है कि या तो गँवई राजनीति में फँसकर शशिकांत मुंशी का अनुगामी बन जाये और उसकी सारी प्रतिभा मिट्टी में मिल जाये अथवा तो छोड़कर भाग जाये। यह मार भी उसके व्यक्तित्व की तरह दोहरी है।

---

170. अलग-अलग वैतरणी—पृष्ठ 495.
171. वही, पृष्ठ 187.
172. वही, पृष्ठ 494.
173. वही, 453.

इस प्रकार मुंशी का चरित्र सभी पक्षों में बड़ा पूर्ण है, भगवान ऐसे लोगों को जितनी सावधानी से बनाता है उससे अधिक कलात्मकता और सूझबूझ के साथ लेखक ने यह चरित्र सिरजा है। जैपाल हरिया की तरह यह चरित्र भी बिना किसी आग्रह आरोपण के बिल्कुल यथार्थ बन पड़ा है और करैता को सही रूप देने में भी इसकी भूमिका बड़ी जबर्दस्त है।

जगेसर

जगेसर के कार्यों में मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियात्मकता का पुट वर्गभेद की विसंगति के तहत मिलता है, पर कुल मिलाकर उसका चरित्र अपने संपूर्ण प्रभाव में मनुष्यता विरोधी (ऐण्टी ह्यूमन) गतिविधियों याने खलपात्रत्व वाला ही ठहरता है। इसकी सफलता खलील खाँ को करैता छुड़वाने की स्थिति पैदा करने में है। आजादी के बाद राज्याश्रय में पलने वाले पुलिस महकमे के भ्रष्टाचार का पर्दाफ़ाश करते हुए जगेसर का चरित्र तमाम गलत-सही कामों के बल पर आगे बढ़ने वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने फायदे के लिए अनैतिकता-अत्याचार-अनाचार की किसी भी हद तक जा सकता है। नवधनिकों की दिखावे वाली प्रवृत्ति भी इसमें है। अपनी मौज-मस्ती और तथाकथित बड़प्पन के लिए वह धर्म-मनुष्यता, सामाजिक मर्यादाएँ सबका गला घोंट चुका है। उसके व्यवहार में उच्छृंखलता चरमसीमा पर है जो परिवर्तित स्थितियों में पनपे नये धनीवर्ग की मुख्य प्रवृत्ति है। इस वर्ग के युवकों का विकास इतना असहज और व्यवहार इतना असंतुलित है कि ये माँ-बाप तक की बेइज्जती भी बड़ी आसानी से कर सकते हैं। व्यवहार-ज्ञान उनमें आया ही नहीं है, घमंड कूट-कूटकर भरा है। यह वर्ग आर्थिक शोषण ही नहीं करता, मनुष्यता को भी सोख लेता है। जगेसर इन सभी प्रवृत्तियों को हू-ब-हू वहन करता है। जिस तरह की वक्रता उसके बात-व्यवहार और चाल-चलन में आयी है, वैसा ही कार्टूननुमा परिवर्तन उसके शरीर में भी आया है। उसका साँवला शरीर पीला हो गया था, उसके चेहरे पर एक खास तरह की ऐंठ हमेशा छायी रहती थी। उसका सिर किंचित लम्बोतरा था और जब वह चार अंगुल चौड़ी पट्टी काट लेता था तो उसका चेहरा ऐबी शीशे की परछाई की तरह अजब नुकीला लगता था।'[174]

ऐसे जगेसर को भी हमेशा के लिए करैता छोड़ना पड़ता है। ऐसे ही लोगों का तो करैता है, फिर जगेसर क्यों इसे त्यागता है। क्या यह लेखकीय कृपा है। जहाँ एक से एक क्रांतिकारी देशभक्त इन पुलिसवालों के हाथों पिट रहे हों और कहीं फरियाद भी न सुनी जाती हो, वहाँ जग्गन जैसे निरावलंब व्यक्ति को इतना मजबूत-प्रबल दिखाना उपन्यास के कथ्य की दृष्टि से अनुकूल भले हो, मौजूदा स्थितियों के यथार्थ से दूर पड़ जाता है। वहाँ तो जग्गन का गाँव छोड़कर हमेशा के लिए जेल में रहना और जगेसर का गाँव में जमना ही जमाने की दो टूक सचाई होती, पर लेखक को और भी बहुत कुछ कहना था जिसके लिए जगेसर की नहीं, जग्गन की ज़रूरत

---

174. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 319.

थी, जो पूरी हुई है, पर जगेसर के साथ दरोगा के चरित्र की यथार्थता के सामने भी प्रश्नचिह्न लग जाता है—जगेसर का वर्ग तो आज गाँवों का शासक है। शायद जगेसर के भागने में उसकी ईहाएँ भी हैं जो इस पिछड़े गाँव में पूरी नहीं हो सकतीं। बहरहाल, जगेसर का पलायन अपनी हार की कसक से जितना झिलमिलाया हुआ है, उसके पूर्व का उसका व्यक्तित्व 'राख लगाकर सट् के जीभ खींच लूंगा' वाले अंदाज में उतना ही दपदप भी है।

बुझारथ सिंह

बुझारथ सिंह उन अर्थों में खल पात्र नहीं है, जिनमें सुरजू सिंह पर अपनी दुष्प्रवृत्तियों के कारण इसी श्रेणी में उनका समावेश मौजूं लगता है। एक अमीर घराने के बिगड़े बेटे के रूप में बुझारथ का चरित्र सिरजा गया है जो सभी संभव-असंभव कामों में निर्व्याज भाव से लिप्त रहता है।

सही अर्थों में बुझारथ सिंह 'यथा नाम तथा गुणों' हैं। पिता जैपाल सिंह सोचते हैं—जाने क्या सोचकर पिताजी ने इसका नाम बुझारथ रखा था। ऐसा बुझारथ और ये ऐसे सारथी (खुदाबख्श)। जैपालसिंह को पता चल गया है कि उनका वंशवृक्ष अब खड़ा रहेगा नहीं, बुझारथ इसकी जड़ में घुन की तरह लगा है, इसे खोखला करके रहेगा....ई बंस में घमोय जन्मा है, सारी इज्जत मेट के जायेगा। 'जाहिर है कि जैपाल की चिंता बुझारथ की कम, खांदान की बर्बादी की ज्यादा है। इसी तरह कनिया को भी सरे बाजार नवहँसाई और जवान लड़की के सर पर खड़ी होने से प्रतिष्ठा का डर ही ज्यादा है, पर इससे बुझारथ सिंह के चरित्र पर रोशनी पड़ती है। इस संदर्भ में दयाल महराज के विचार बिल्कुल दो टूक हैं—पूरे गाँव का प्रतिनिधित्व सा करते हुए—'बुझारथ को गाँव जानता नहीं क्या ? एक लुच्चा और बदमाश है ई आदमी। और सचमुच गाँव इतना जानता है कि पटनहिया भाभी का सहज रूप से कनिया के पास आना भी बुझारथ द्वारा बुलाये जाने के रूप में समझा-समझाया जाता है।

बुझारथ सिंह के चरित्र में ठकुरपन भी है जिसकी शान सरपंच चुनाव के मौके पर हरिया के साथ उछाल मारती है, सिरिया को पीटने में कारगर होती है और सुरजू सिंह के शरण में आ जाने पर पूरे जोश-खरोश के रूप में देखी जा सकती है। पर परिवार की तरफ से इन्हें 'निर्बुद्धि' (जैपाल द्वारा) और 'मूर्ख' (कनिया द्वारा) की उपाधि मिलती है। यह तो तय ही है कि बुझारथ की शान हमेशा उनके और परिवार के लिए बड़ी महँगी साबित हुई है खुदाबख्श-प्रसंग इसका सबसे बड़ा सबूत है।

उपन्यास के अंत तक आते-आते बुझारथ सिंह की गोल खत्म हो जाती है और मजबूरन वे भले आदमी दिखने लगते हैं। कनिया के साथ भी जुड़ते हैं। दुख-सुख, आशा-निराशा, अवसाद-आह्लाद आदि सभी मौकों पर भगवंत हो भगवंत।' का ठेका उन्हें गँवई विशिष्टता प्रदान करता है।

अय्याशी, फिजूलखर्ची, आवारागर्दी, गैर जिम्मेदारी, नृशंसता से लेकर चोरी तक के कुकर्मों में लिप्त बुझारथ का खलपात्रत्व अपने परिवार के सामने दबा-दबा सा रहता है—पिता के सामने तो ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे रह जाती ही है, छोटे भाई से भी वे कुछ पूछ सकने का अधिकार खो चुके हैं और पत्नी कनिया के सामने तो उनकी 'आँखों में इतना ताव भी नहीं कि उसकी ओर देख सकें....सारी दुनिया में वह कितना भी बेहया बनकर घूमें आँख की लाज-शरम को भले ही पानी की तरह बहकायें, कनिया के सामने आते ही उनके भीतर का कालुष्य उसे पूरी तरह जकड़ लेता। यह दब्बूपन उनके आंतरिक बोध के कारण है। वे जानते हैं कि यह सब गलत हो रहा है—'जानामि धर्मं न च में प्रवृतिः'। इन सबसे उनका खलव्यक्तित्व उतना दबंग होकर उभर नहीं पाता। अन्य खलपात्रों से बुझारथ का भिन्नत्व उनके भावनात्मक संस्पर्श के कारण भी है जो बच्चों और भाई के प्रति व्यक्त और पत्नी के प्रति अव्यक्त रह गया है।

सीपिया नाले पर की सिवान में पुष्पी के साथ व्यभिचार करने की कोशिश के अलावा बाकी सभी प्रसंगों की बाबत बुझारथ सिंह का चरित्र बिल्कुल यथार्थ की जमीन पर खड़ा है। इसके द्वारा गाँव की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के अंकन के साथ ही जमींदार-परिवार की क्रमशः टूटन और उसके कारणों को दिखलाने में बुझारथ के चरित्र की रचनात्मक उपयोगिता सहज सिद्ध है।

चमटोल के पात्र

करैता की चमटोल की दुनिया 'अलग-अलग वैतरणी' की एक अलग ही दुनिया है। यहाँ के लोग शोषण-अत्याचार-उत्पीड़न को ऐतिहासिक शृंखला की कड़ियों के रूप सहते-झेलते जा रहे हैं, अपमान-दर्द को पीते जा रहे हैं। बकौल सरूप भगत सिगरी जिन्दगी बड़े लोगों का तलवा चाटते बीत गयी''''हम लोग सहते हैं, सहने की आदत पड़ गयी है।'[175]

दलित समाज के साथ लेखक की संसक्ति बड़ी पुरानी और गहरी है। कहानियों में नटों, मुसहरों, कुंजड़ों, डोमों और चमारों की एक विस्तृत दुनिया हम देख चुके हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' के करैता में सिर्फ चमार ही हैं जिन्हें लेखक ने दलित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में लिया है और उनका सम्यक्रूप से बड़ा प्रभावशाली चित्रण किया है। सारे दुख-दर्द, त्रास-यातना के बावजूद इनकी जिन्दगी स्वामि भक्ति, कर्त्तव्यपरायणता, वफादारी और कर्मठता का दस्तावेज है। सरूप, झिनकू, दुक्खन, धनेसरी आदि सभी पात्रों में यह भरपूर देखा जा सकता है। यहाँ तक कि घुरबिनवा जैसे नन्हे से बच्चे को भिनुसारे 3 बजे से लेकर पूरे दिन काम करना पड़ता है। चमटोल में घुरफेक्कन भी हैं जो सच्चे अर्थों में 'चर्मकार' चमार-शब्द को सार्थक करता हैं। मरे जानवरों को उठाकर ले जाना भी इस जाति को जातीय पेशे के रूप सौंपा गया है। घुरफेक्कन उन्हें उठवा ले जाने और उनके चमड़े निकालने में माहिर

175. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 573.

हैं। वह और कुछ न करके इसी से अपनी जीविका चलाने में विश्वास करता है फिर भी लेखक जानता है कि इतने कठिन परिश्रम के बावजूद इस वर्ग को भरपेट भोजन और तन ढँकने भर को कपड़े तक के लाले पड़े रहते हैं। सो, बहू-बेटियों को भी बाहर निकलकर खेतों में काम करना पड़ता है। इसका फायदा उठाते हुए बबुआन के लोग छोटे-छोटे प्रलोभन दे-दिखाकर जवान बहू-बेटियों को फुसलाते हैं और मजबूरी में 'चमार बेचारे गोड़े में गर्दन डालकर सब देखते हुए भी आन्हर की नाई बैठे रहते हैं।[176] इस व्यभिचार को सहज रूप से स्वीकार करने वाली जहाँ सुगनी जैसी लड़की है, वहीं इसका जोरदार विरोध करने के लिए दुलरिया भी है जो अपने विचारों और व्यवहारों से संस्कारग्रस्त मानसिकतावाली उन चमारिनों, जिन्होंने अपने जीवन को निराशा और नीरसता से भरा मान लिया है, को यह विश्वास दिलाती है कि 'चमार भी आदमी है।'

इन सबके बीच बड़ी सूक्ष्मता से लेखक चमटोल में एक जागृति की चिनगारी भी सतत दिखाता चला है जो हर जोर-जुल्म से विरोध की कोशिश करती है किन्तु ताकतवर उच्चवर्ग के सामने उसे राख के अंबार में मिल जाना पड़ता है। देवकिसुन-रामकिसुन ऐसी ही विद्रोही लपटे हैं जो अपने-अपने समकालीन जातीय रहनुमाओं की भीरु और स्वार्थी प्रवृति के कारण अँधेरे में छिप जरूर जाती हैं, पर निरर्थक बिल्कुल नहीं जातीं। इस प्रकार चमटोल के सम्पूर्ण जीवन को पूरी संसक्ति और तटस्थता के साथ इतनी विविधता में चित्रित किया गया है कि इसका कोई पक्ष अछूता नहीं रह पाता। कुछ प्रमुख पात्रों को हम अलग-अलग देखें—

सरूप भगत

वैसे उपन्यास के पात्रों की कोटियों के मुताबिक सरूप भगत आलोकबिन्दु वाली श्रेणी में आते हैं, पर चमटोल से पूर्णतः सम्बद्ध होने और उसी के लिए सोचने-विचारने की प्रवृति को लेकर इस शीर्षक के अंतर्गत ही इनका विवेचन ज्यादा प्रासंगिक है। चमार पात्रों में सरूप भगत सबसे बड़ी उम्र वाले और सबसे अनुभवी व्यक्ति हैं। वे करैता के मूल निवासी नहीं, देवीचक गाँव के रहने वाले हैं पर दीघा, कोइलर, बेटावढ़ और करैता तथा अन्य तमाम जगह के लोग सिर्फ देवीचक का नाम सुनते ही समझ जाते हैं कि जुल्म का मतलब क्या होता है और इंसान उससे कैसे जूझता हैं। सरूप भगत बचपन में ही अपनी बहन की हत्या, बाप का पागलपन और माँ को मरते तथा बसे-बसाये घर को एक अंधड़ से उजड़ते-टूटते देख चुके हैं। इस असह्य दुख के अनुभवों ने ही शायद उन्हें संसार में रहते हुए भी भगत-विरागी बनाया है, जीवनदृष्टि दी है। वे अपनी जाति की दुर्दशा को, विश्लेषण के दौरान, मानवता के विकासक्रम में देखते हैं कि कैसे मखजनों से अलगाकर 'गिरहस्थ' बनने के मोह में यह जाति परिजन और फिर 'चमार' बनकर रह गयी है। 'आर पार की माला' कहानी के जुम्मन के

---

176. अलग-अलग वैतरणी।

विचारों को ही विस्तृत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में निष्कर्षित करते हैं—'जबसे चमार गाँव बसा के रहने लगे, सारी कौम बुजदिल हो गयी। अरे, खेत सिवान के पंछियों को घोंसला से का काम भाई ? घोंसला बनाओ तो गीध-कौओं की नज़र लगेगी ही। इस-उस के तलवे चाटने और मार खाकर भी पूँछ हिलाने के सिवा चारा क्या है ? गोसैयाँ ने देह में ताकत दी है, हाथ में कूबत है भी जहाँ भी रहेंगे, दो रोटी मिलेगी।'[177] इस तरह सरूप भगत स्वतंत्रता के हिमायती हैं और गृहमोह को इस जाति का अभिशाप मानते हैं। गृह मोह को त्यागने के कारण ही वे ठाकुर के सामने कह सकते हैं 'जैसी आपकी इज्ज़त वैसी हमारी इज्ज़त'....हम काम करते हैं, मजूरी लेते हैं। हमें गरज़ है कि करते हैं, आपको गरज है कि कराते हैं। इसका मतलब ई थोड़े हो गया कि हम आपके गुलाम हो गये।'[178] इस बेवाकी पर सिरिया भले उन्हें कमनिस्ट कहे पर समझदार पाठक जान जाता है कि यह आवाज जीवन की किन दुर्गम घाटियों की अनगूँज है।

इसी तरह चमार कन्याओं और ठाकुरों के सेक्स संबंधों की सामाजिक विसंगति भी उनके मस्तिष्क में एकदम साफ है। वे समझते हैं कि कभी भौतिक प्रलोभनों और कभी प्रेम के बहाने यह सीधा शोषण है। अपवाद स्वरूप कुछ काले रंग वाले सवर्ण और अपनी जाति-बिरादरी से बहिष्कृत लोगों द्वारा चमार-लड़कियों से शादी करने को वे प्रमाण मानने को तैयार नहीं हैं, पर अपने वर्ग की पेट-पीड़ा को भी नजर-अंदाज नहीं करते। हाँ ऐसा करते पकड़े जाने पर डोमन जैसी लीपा-पोती वाली विवृत प्रकृत्ति से संजीदा ज़रूर हैं।

इन इतने स्वस्थ पर विरोधी विचारों और तदनुरूप रहन-सहन के बावजूद वे घर बसाने वाले चमारों को लेकर उतने उत्साहित नहीं हैं, क्योंकि विवेकी दूरदृष्टि ने समझा दिया है कि 'सहते-सहते यह कौम अब वहाँ पहुँच गयी है, जहाँ उसे जहा-लत में ही आराम मिलने लगा है।' अतः अपनी जाति को जुल्म से निजात दिलाने के लिए प्रयत्नशील विद्रोही युवकों को वह बड़ी सही सलाह देते हैं कि इस कौम को ऊपर उठाना चाहते हो गाँठ बाँध लो कि अब लड़ाई भीतर है, बाहर नहीं। फिर भी बहुमत के फैसले पर वे बाहरी लड़ाई का मौन समर्थन करते हैं और दूर खड़े रहने के बावजूद उनकी जान जाती है। स्वतंत्र दृष्टि और साफगोई का नतीजा उन्हें मिल जाता है।

इस तरह सरूप भगत का बलिदानी चरित्र दिखाकर लेखक यह सिद्ध करता है कि आज भी गुलामी से पिण्ड छुड़ाकर अपने बलबूते की कमाई से स्वतंत्र जीवन जीने का अधिकार प्राप्त करने की कोशिश करने वाले दलित वर्ग के किसी भी व्यक्ति को हमारा समाज जीने नहीं देगा। लेकिन इसी के साथ लेखक इस कुर्बानी से चमार

---

177. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ २43.
178. वही, पृष्ठ 249.

जाति के झिनकू जैसे आम आदमी के मन में उत्साह और प्रेरणा की एक हल्की चिनगारी के रूप में इस वर्ग के विस्तार की आशा को संपूर्ण रूप से खत्म हो जाने से बचा लेता है। इन्हीं रूपों में सरूप भगत की जिन्दगी और मौत, दोनों ही बड़ी व्यंजक बन पड़ी है।

धनेसरी

चमटोल के सभी पात्र श्रमजीवी ही हैं, पर धनेसरी बुढ़िया तो कर्मठता और जिजीविषा की मिसाल है। भरी जवानी में पति की मौत के बाद जिस साहस, धैर्य और मर्यादा के साथ उसने अपनी जिन्दगी को सँभाला है, वह उसकी कौम के लिए तो क्या पूरी मानवता के लिए स्पृहणीय है। घनी आसक्ति और पूरी तटस्थता के साथ वह जिजीविषा की अनिवार्यताओं को निभाती रही। ढलती उम्र और छीजती शक्ति के मुताबिक उसे कितने पेशे बदलने पड़ते हैं, पर वह जीवन से न तो मुख मोड़ती है न ही निराशा, अवसाद को पास फटकने देती। दूसरों को इस स्थिति से उबारती जरूर है। हमेशा न्याय और नैतिकता के पक्ष में शक्ति भर लड़ती रहती है।

सरूप भगत की तरह धनेसरी को भी लेखक ने विपत्तियों से उद्भूत जीवन-दृष्टि संपन्न पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। वह भी चमारों के बंधुआ जीवन के मुकाबले छुट्टा जीवन की हिमायती है, पर गाँव-घर छोड़ने को कायरता मानती है—जहाँ मन आये, वहाँ जाकर कमाओ-खाओ, पर फ़ुर्सत मिलते ही अपनी मँड़ई में लौट जाओ। तबै सान है नहीं कसाई सोचेंगे कि तू हार के भाग गये।[179] इस प्रकार सरूप और धनेसरी के रास्ते थोड़े भिन्न भले हों, पर मुकाम दोनों का एक ही है—स्वतन्त्रता (लिबर्टी) जिसे लेखक ने इन दोनों पात्रों के माध्यम से द्विरूपीय जीवन-दृष्टि के रूप में संकेतित किया है। दोनों से भुक्त दुख दो तरह के हैं और धनेसरी के हाथ विजय आयी है, इसलिए उसका चरित्र अपेक्षाकृत (ऐग्रेसिव) आक्रामक है। यह बड़ा जीवंत चरित्र है जिसके बिना कृतिकार की आस्था अपेक्षित दृढ़ता से वंचित रह जाती है और चमटोल का जीवन अधूरा। थोड़े बहुत साहित्य सुलभ आदर्श-लेप के बावजूद ऐसा चरित्र गाँवों में यथार्थतः अलभ्य नहीं है।

झिनकू-दुक्खन

झिनकू-दुक्खन दोनों मालिक के प्रति वफादारी और विश्वास के साथ खटते हुए पूरी जिंदगी बिता देने की प्रतिबद्ध मानसिकता लिए अपनी जाति के मामूली आदमी हैं, पर इन्ही गुणों के नतीजतन वे ठकुराने द्वारा किये जाते अत्याचार शोषण को, नितांत शारीरिक स्तर पर भी, झेलने वाले का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों को उनकी स्वामिभक्ति का फल मात्र डंडे-मुक्के ही नहीं, परिवार की भुखमरी, बर्बादी और देशनिकाला के रूप में मिलता है। दुक्खन करैता छोड़कर मीरपुर जाता है और फिर लापता हो जाता है, फिर झिनकू करैता में ही रह जाता है, पर मात्र रहता

179. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 524.

भर ही है। सिर्फ पानी पीता है शायद गाँव का। बाकी एक सच्चे किसान की तरह करैता की मिट्टी के प्रति बेपनाह प्यार-लगाव के बावजूद उसके संसर्ग से वंचित रह जाता है, न चाहते हुए भी उसे सड़क पर काम करने जाना पड़ता है। वह सड़क के काम के मुकाबले खेतों के काम के स्थायित्व सुरक्षा से वाकिफ है, पर हर रोज सुबह 'मेहरारू-लड़िका' लेकर 'हमीं बेगाने हैं' सोचते हुए, माटी की सोंधी गंध की हूक कलेजे में लिए सड़क की ओर जाने के लिए मजबूर है। इस प्रकार दुक्खन का करैता से निष्कासन स्पष्ट है और झिनकू का संकेतित, पर इतना तो साफ है कि भूपुत्रों को गाँव रहने नहीं देता। उपन्यास की रचनाधर्मिता में दलित वर्ग के प्रतीक ये चरित्र अपनी जाति की दुर्निवार जुल्मी जिंदगी के जीते-जागते चित्र ही नहीं, कृति में मुख्य उद्देश्य से जुड़कर लेखक की कलात्मक क्षमता के प्रमाण भी बन गये हैं।

दुलारी

दुलारी का चरित्र अपने उन्मुक्त स्वभाव, निश्च्छल प्रकृति और संतुलित विचारों से संचालित व्यवहारों के कारण बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेता है। दुलारी सरूप भगत की बेटी है—वैसी ही विचारशील, कर्मठ। युवा शरीर के सहज आकर्षण को संजोने योग्य कठोरता और शालीनता के साथ उसमें नारी सुलभ संवेदन-शीलता भी है। वह चमटोल को अपनी उन्मुक्त हँसी और रोचक कहानियों से गुलजार ही नहीं करती, तर्कपूर्ण विचारों से उसका पथ-प्रदर्शन भी करती है। चमार होने के बावजूद अपने को आदमी समझने, सफाई से रहने जैसी 'बेसिक' बातों से लेकर अपनी कौम के साथ हो रहे अत्याचार-व्यभिचार का जमकर विरोध की क्षमता के कारण वह पूरी जाति के लिए स्पृहणीय बन गयी है। रचना प्रक्रिया में वस्तुगत दृष्टि से, कहानी को निर्णायक मोड़ देने में, उसकी भूमिका चमटोल के हासविलास पूर्ण जीवन खंडों को दरसाने के अलावा भी महत्वपूर्ण बन गयी है।

राजनीतिक रंगत वाले पात्र

पूर्ण राजनीतिक व्यक्तित्व गाँवों में रहते ही नहीं, शहर चले जाते हैं—राज-धानियों में। अतः 'अलग-अलग वैतरणी' में ऐसे चरित्रों का न होना सहज स्थिति है, पर छोटे स्तर पर राजनीतिक खेल खेलने वाले और ऊंचे दर्जे की राजनीति में असफल लोग अपने लटके गाँवों में ही जारी रखते हैं। अतः विवेच्य कृति में ऐसे पात्रों की झलकियाँ मिलती हैं जो पूर्ण राजनीतिक तो नहीं, पर राजनीतिक रंगत वाले जरूर कहे जा सकते हैं। इनमें सबसे प्रमुख सुखदेवराम जी हैं।

सुखदेवराम

नरवन के कांग्रेसी नेता सुखदेवराम जी आज के संदर्भ में नेताओं की सपज के सही उदाहरण हैं। दलगंजन चौधरी के बेटे के रूप में जब काम-धाम के लिए बिल्कुल नालायक सिद्ध हो गये तो सुखदेवराम जी आजादी की लड़ाई में शरीक हो गये। पर इनका वहाँ भी वही हस्र होता है। आजादी के बाद अपने साथियों द्वारा समझा-

बुझाकर सुखदेवराम जी गाँव भेज दिये जाते हैं और अब वे यहाँ आकर राजनीतिक तरीके से करैता के घूरेपन को बढ़ा रहे हैं।

गांव में सरपंची के चुनाव में एक बार हार जाने पर दूसरी बार (ठकुराने के आपसी झगड़ों के फलस्वरूप) किसी तरह सरपंच होकर भी ठाकुर जैपालसिंह के हाथों की कठपुतली ही बने रहते हैं और उनके मरने के बाद तो इनमें वह हुनर है नहीं कि दो फरीकों को लड़ाकर बारी-बारी से दोनों से थैली वसूल लें। अतः वे ज़माने से बहुत नाराज रहते हैं—'नया ज़माना क्या आया, साले सब चालाक हो गये हैं' क्योंकि उनकी सेवाओं—चमारों के लिए कुआँ, स्कूल की इमारत और गाँवों में नाबदान बनवाने—को तो कोई सोचता नहीं, खरच-बरच के लिए जो बीस-पच्चीस लिया, उसकी खोज सभी करते हैं।[180] सरकारी सेक्रेटरी आ जाने से ग्रामसभा की निश्चित आमदनी भी बंद हो गयी है। कोई ग्रामसभापति को पूछता ही नहीं। इसका नतीजा यहाँ तक हुआ है कि 8-9 महीने में 25 या 30 रुपयों तक का भी जुगाड़ नहीं हो पाता कि सुखदेवराम जी एक 'ड्रेस' बनवा लें। लिहाजा वे बहुत चिड़चिड़े और दुखी हो गये हैं।

लेकिन करैता किसी ऐसे व्यक्ति को निराश नहीं करता। चमारों और ठाकुरों के बीच फौजदारी हो जाती है और सुखदेवरामजी को घर बैठे अपनी नेतागीरी की चालें दिखाने का अवसर मिल जाता है। वे साबित कर देते हैं कि अपने स्तर पर भ्रष्टाचार, स्वार्थ, धूर्तई, धोखेबाजी और गरीबों के शोषण में वे किसी 'टाप' नेता से कम नहीं हैं। उनकी बड़े-बड़े अफसरों (दरोगा आदि) से मुँहबोली निकटता है। सुखदेवराम जी जमींदार-परिवार से ही दरोगा को कमवाना चाहते हैं, पर गोटी सही न बैठ पाने से चारों ओर से सताए हुए चमारों से पैसा निकलवा लेने की जो अद्भुत तदवीर सुखदेवराम के मन में आती है, वह तो बकौल थानेदार 'उसके फरिश्ते भी नहीं सोच सकते'। दया, करुणा, न्याय, शराफत आदि नेताजी को छू तक नहीं पाये हैं। 'बायस्कोप' दिखाने वाले के 15 आने पैसे भी, जगेसर की मदद से छीन लेने वाले सुखदेवराम जैसे नेता ही हो सकते हैं।

इस प्रकार आजादी के बाद बदलते नेताओं की मक्कार प्रवृत्तियों का, यथार्थ गँवई स्थितियों के संदर्भ में, बड़ा सटीक प्रतिनिधित्व हुआ है। नवविकसित सरकारी शासनपद्धति और उसमें ढहते जीवनमूल्यों तथा बढ़ते भ्रष्टाचार को दिखाने के लिए सुखदेवराम के चरित्र का सुन्दर उपयोग किया गया है।

गोंगई उपधिया

सुखदेवराम जी की नेतागीरी से अनायास प्रभावित निरे देहाती-उजड्ड गोंगई उपधिया उनके पहले और अंतिम सहायक-पार्टी सदस्य और पब्लिक सब कुछ हैं। शहर में हुई एक ही मुलाकात में सुखदेवराम के परम भक्त हो जाने वाले उपधिया जी अपने 'कौल के पक्के' नेता के गाँव आने पर जलसे में जो स्वागत करते हैं, भाष

180. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 368-69.

देते हैं कि तीसरे दिन ही मन्दिर के पुजारी पद से अलग कर दिये जाते हैं। लेकिन उपधाइन की विनती पर मंदिर में बेटे की नियुक्ति हो जाने और ज़मीन बच जाने से खुश गोंगई महाराज 'फुल टाइम' सुखदेवराम जी के सहयोगी बन जाते हैं। 'ज़मीन तैयार करने' और 'जोत जगाने' के काम में लगे रहते हैं, पर पूरी कोशिश के बाद भी कुछ सिराता नहीं। गोंगई उपधिया इकन्नी की सुरती के लिए भी महँगे हो जाते हैं, बात-बात पर बेटे पत्नी की फटकार सुनते हैं, पर 'मूँड़ में मूँड़ डालकर अमिराने में हिरे रहते हैं।'

गोंगई के चरित्र की पहचान उनकी नासमझी गँवरपन और बात-बात में रामायण की चौपाइयों-उदाहरणों से होती है। उनकी समझ में हर बात का महत्व उसमें गांधीजी का नाम आ जाने में है। इसीलिए जगेसर के पक्ष में गवाही देते हुए भी वे अपनी यह वैयक्तिकता खोते नहीं, और थानेदार से जाहिल-उजड्ड तथा जगेसर-परिवार से जातिवादी-पक्षपाती और धोखेबाज-नमकहराम आदि की खिताब से विभूषित होकर अपने घर वापस चले आते हैं। बेटा-पत्नी खुश कि 'लौट के बुद्धू घर को आये'। इस प्रकार गोंगई महराज का चरित्र गाँवों में राजनीतिक प्रभाव का विद्रूप बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

लच्छीराम

एक और नेता की भूमिका खास झलकी के रूप में प्रस्तुत है, जो कथ्य की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। लच्छीराम चमार है और शायद जिले स्तर के हरिजन नेता हैं। सुगनी-सुरजू 'केस' के लिए रामकिसुन द्वारा बुलाये जाने पर आने की कीमत के लिए सौदेबाजी करते हैं। बटोर में बिना कुछ खास बोले ही बीच में अपना पैसा लेकर वापस चले जाते हैं। उनके संबंध में सूरजभान ठीक ही कहता है—'ये ठहरे कांग्रेसी नेता। राम की जय, रावण की जय, दोनों साथ-साथ बोल देंगे और मामला हँसी-खुशी निपट जायेगा। इस प्रकार लच्छीराम जी अत्यंत छोटी भूमिका में निहायत स्वार्थी, अवसरवादी, नमक-हराम और चंद सिक्कों के लिए बिके हुए आज के नेताओं का रूप साकार करते हैं।

अध्याय : छः

'गली आगे मुड़ती है'

'अलग-अलग वैतरणी' के बाद 'गली आगे मुड़ती है' शिवप्रसाद सिंह का दूसरा उपन्यास है। यह बिल्कुल ही भिन्न जमीन पर अवस्थित है—स्थान, परिवेश को लेकर ही नहीं, 'कंटेंट, कथावस्तु को लेकर भी; पर इन सबके अलावा यदि एक-दम अतल गहराई में पैठकर देखा जाये तो एक ऐसा बिन्दु भी मिलेगा जहाँ दोनों रचनाएँ अपने उद्देश्यों को लेकर जुड़ती भी हैं। वहाँ विपिन करैता छोड़ने पर मजबूर होता है और यहाँ रामानंद बनारस। दोनों के हालात अलग-अलग हैं, यथार्थ भिन्न हैं पर इनके भुक्त रूप और परिणतियाँ एक जैसी हैं। हर लेखक की एक विचारधारा एक व्यक्तित्व होता है और प्रायः उसके सामने एक अहम् समस्या होती है। वह अपनी रचनाओं में उससे जूझता टकराता उसे हल करने या उससे निजात पाने की कोशिश करता है। संदर्भ बदल जाते हैं, जमीन बदल जाती है, पर अंतर्धारा के रूप में वह समस्या निरंतर प्रवाहित होती रहती है। इन दोनों उपन्यासों में इस अंतर्धारा के प्रवाह को लक्षित किया जा सकता है। मुझे दिनकर जी याद आते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के बाद जब उन्होंने 'उर्वशी' लिखी तो ऐसा लगा दोनों दो छोरों पर खड़ी हैं पर वे स्वयं उर्वशी की भूमिका में लिखते-लिखते स्पष्ट कर देते हैं—'समस्या चाहे युद्ध की हो या प्रेम की, कठिनाइयाँ सर्वत्र समान हैं। इसी तरह 'चित्रलेखा' और 'सबहि नचावत रामगुसाई को भी देखा जा सकता है जो बिल्कुल भिन्न लगती हुई भी एक के ही केन्द्र पर अवस्थित है—'देखियत (कहियत की जगह) भिन्न न भिन्न।' इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि शिवप्रसाद सिंह या उक्त रचनाकार या ऐसे सभी लेखक-कवि अपनी रचनाओं में पिष्टपेषण के शिकार होते रहते हैं। यह अंतर्धारा सर्जक की केन्द्रीय प्रवृत्तिगत चेतना की है जिसमें रचनाधर्मिता के तहत कृतित्व उनके व्यक्तित्व का आईना बन जाता है वरना परिस्थितियाँ-समय साक्ष्य और तदनुसार लेखकीय 'अप्रोच' में उनकी कृतियाँ एक दूसरे से नितांत भिन्न इयत्ता स्थापित करने में सहज ही समर्थ होती हैं। खैर,

'गली आगे मुड़ती है' का दुर्भाग्य है कि वह 'अलग-अलग वैतरणी' के बाद लिखी गयी और तब तक साहित्यिक दुनिया में इसकी शक्ति-परीक्षा की जगह शव-परीक्षा का माहौल तैयार हो गया था। एक तरफ तो इसे 'अलग-अलग वैतरणी' के समकक्ष रखकर देखा जाने लगा और उसकी महत्ता से अभिभूत लोग इस पूर्वग्रह से अलग होकर इसका मूल्यांकन कर ही नहीं सके कि शिवप्रसाद सिंह अपना सर्वोत्तम (बेस्ट) दे चुके हैं और दूसरी तरफ पहले ही उपन्यास से मिली लेखक की ख्याति से बौखलाए लोग दुबारा ऐसा सेहरा लेखक के सिर न बँधने देने के लिए कटिबद्ध इसे

नजर-अंदाज करते रहे। इन सबके बीच 'गली आगे मुड़ती है' की अपेक्षित चर्चा नहीं हो सकी। यदि यह पहले लिखी गयी होती तो निस्संदेह इसकी महत्ता इससे कहीं अधिक होती जितनी आज है और वही इस कृति का सही प्राप्य होता।

असल में लेखक इस कृति में अपनी मौलिक प्रतिभा के अलावा पहली रचना के अनुभवों के साथ उतरा है। इसके सभी पक्ष इस बात की गवाही देते हैं। लेखक के अध्ययन-मनन, पर्यवेक्षण विश्लेषण की गहराई इसमें एकदम साफ लक्षित की जा सकती है। स्थितियों की वीभत्सता-कटुता से मर्माहत लेखक की अकुलाहट-बेचैनी और इनकी प्रतिक्रियास्वरूप उभरे आक्रोश की अभिव्यक्ति अपेक्षित परिपक्वता लिए हुए है। किंतु अपनी उपलब्धियों के साथ ही हर रचना और रचनाकार की एक सीमा होती है जहाँ भटकाव अनिवार्य नहीं तो अवश्यम्भाव्य ज़रूर होता है। विवेच्य रचना भी इससे परे नहीं है। तो आइये इन सबको हम अलग-अलग विस्तार से देखें।

(अ) परिवेश : एक स्पष्टीकरण

'गली आगे मुड़ती है' का परिवेश शहरी है। जिस प्रकार लेखक गाँव के तहत करैता से जुड़ा था (अलग-अलग वैतरणी) उसी प्रकार शहर को लेकर काशी से भी जुड़ा है। अतः काशी का परिवेश अपनी समग्रता में पूरी प्रामाणिकता के साथ व्यक्त हुआ है।

इसमें समकालीन काशी को संपूर्णता में प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य भी रहा है।[1] अतः रचना को परिवेश प्रधान होना ही था और इसीलिए इस कृति में परिवेश के विविध रूप कथ्य से जुड़े हुए हैं। काशी हिन्दुओं के धर्मकेन्द्र के रूप में प्रसिद्ध है और लेखक ने रचना में संस्कृति को पृष्ठभूमि के रूप में लिया है तथा उपन्यास की कथावस्तु राजनीति का अनिवार्य स्पर्श लिए हुए हैं अतः इन सभी रूपों का विवेचन आगे 'कथ्य' के अंतर्गत होगा ही। बच जाता है सामाजिक परिवेश जिसकी कोई सीधी और स्पष्ट इयत्ता यहाँ बन नहीं पायी है और ऐसे भी शहरों में कोई निश्चित समाज और सामाजिक नियम-बंधन रह और बन ही नहीं पाते। इस तरह प्रस्तुत परिवेशप्रधान कृति में परिवेश (काशी) का चित्रण कथ्य के अन्तर्गत ही करना ज्यादा मौजूं और संगत होगा।

कथ्य

'गली आगे मुड़ती है' कथ्यधारित कृति है। अब तक के लेखन में शिवप्रसाद सिंह के कथाकार का मुख्य ध्यान चरित्रों पर रहता था, उसी के माध्यम से कथ्य प्रस्फुटित होते थे, पर यहाँ पहुँचकर कथ्य ने अपनी स्वतंत्र इयत्ता बना ली है, चरित्र प्रायः इसके इंगित बनकर आये हैं। यह प्रक्रिया शायद 'अलग-अलग वैतरणी' से ही शुरू हो गयी थी। वहाँ कथ्य के मुताबिक पात्रों में मोड़ आये हैं, पर रचना में मुखर रूप से वर्चस्व रहा है। चरित्रों का ही। यहाँ अपनी स्वतंत्र इयत्ता के कारण ही कथ्य बिल्कुल साफ और सहज बोधगम्य है। अपनी अजस्र प्रवाहमयता और अकूत

1. सारिका—1 फरवरी 1980, पृष्ठ 14.

रोचकता के साथ चलती कथा के साथ कथ्य अनायास ही जुड़ते गये हैं। पाठक के लिए तय करना मुश्किल हो जाता है कि वह कथ्य तल्खी से मर्माहत ज्यादा है या कथा की रसमयता से मुग्ध। दोनों के मणिकांचन संयोग से उपन्यास काफी हद तक स्तरीय बन सका है।

'अलग-अलग वैतरणी' की तरह ही इसमें भी किसी सिद्धांत, मतवाद अथवा विचारक या विचारपीठिका की वैसाखी नहीं लगायी गयी है। वैसे जिस प्रकार इसमें समसामयिक समस्या (युवा आक्रोश) को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में उठाया गया है, उससे रचना में राजनीतिक प्रमुखता की काफी गुंजाइशें थीं। इधर सोद्देश्य लेखन कुछ खास राजनीतिक क्षेत्र में सीमित होकर प्रतिबद्ध लेखन का पर्याय हो गया है, पर कथाकार इस मिथक को तोड़ना चाहता है। उसने समस्या का सीधा साक्षात्कार शुद्ध साहित्यिक अंदाज से किया है।[2]

युवा-आक्रोश की पृष्ठभूमि में संभावित राजनीति को न रखकर सुनियोजित रूप से संस्कृति (बनारस की) को रखना उक्त मिथक को तोड़ने के अलावा भी महत्व-पूर्ण है। बनारस पर आधारित होने से रचना की संगति के लिए इस सांस्कृतिक माहौल की बड़ी ही मौजूं स्थिति बनी है जिसकी रचना को बड़ी जरूरत थी। फिर लेखक ने इसे युवा-आक्रोश की पृष्ठभूमि के रूप में सोद्देश्य ही नहीं रखा है वरन् रचना का दूसरा प्रमुख उद्देश्य बनाकर प्रस्तुत किया है।

अपनी ही संस्कृति के चित्रण में काशी नगरी जिस प्रकार ढंकी-तुपी रह सकती थी, अस्तु इसकी समग्र प्रस्तुति भी रचना का एक महत्वपूर्ण आयाम बनकर उभरी है। कक्षा क्षेत्र के रूप में काशी का चुनाव दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पहला तो लेखक के शब्दों में ही 'काशी का नाम युवा-आक्रोश के साथ बदनामी की हद तक जुड़ गया है।' इसीलिए उसने काशी को ही उपन्यास का केन्द्र बनाया।[3] दूसरे, काशी में ही बहुत दिनों से रहने के कारण करैता की तरह ही लेखक इस नगरी के साथ भी संवेदनात्मक गहराइयों तक जुड़ा हुआ है जो औपन्यासिक धरातल की उर्वरा के लिए बहुत उपयोगी-उपयुक्त साबित हुआ है। इस प्रकार काशी सिर्फ परिवेशगत पृष्ठभूमि के रूप में ही नहीं, वरन् मुख्य उद्देश्य के साथ जरूरी संगति की रचनात्मक सोद्देश्यता और अभिव्यक्ति की सहजता के कारण कथा का अनन्य केन्द्र सिद्ध हुआ है।

प्रस्तुत उपन्यास में युवा-आक्रोश के नाटक का रंगमंच यदि बनारस और उसकी संस्कृति है तो इस पर लगे पर्दे निश्चित रूप से राजनीति के हैं। जहाँ राज-नीति है वहाँ भ्रष्टाचार होगा ही और इनमें सफलता पाने के लिए नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में टकराव तथा बुद्धिजीवियों का पतन भी होगा। सो, ये सब सहज रूप से कथ्य के अनिवार्य आयाम बनते गये हैं। इन्हें तो विस्तार से देखना हमारा अभीष्ट

2. समीक्षा—नवम्बर-दिसम्बर 1974—विवेकीराय का लेख, पृष्ठ 29.
3. गली आगे मुड़ती है—'नुक्कड़ सभा' (भूमिका) से।

है ही, पर इसके पहले रचना से व्यंजित होती लेखकीय दृष्टि का विवेचन करना जरूरी लग रहा है।

कृत में व्यंजित लेखकीय दृष्टि

कथ्य के उक्त आयाम जितने स्पष्ट हैं, इसमें व्याप्त लेखकीय दृष्टि उतनी ही जटिल-उलझी हुई, अतः (समझ पाने में) दुरूह हो गयी है।

'गली आगे मुड़ती है' शीर्षक से ही बात शुरू करें। यही उपन्यास का अंतिम वाक्य भी है। इसमें आगे के रास्ते का संकेत व्यक्त हुआ लगता है। तो क्या शहर छोड़कर जा रहे रामानंद को कोई और गली-रास्ता मिल जायेगा ? क्या लेखक कहना चाहता कि युवा-आक्रोश जो आज भटक गया है, कोई राह पकड़ लेगा ? रामानंद अपनी 'सर्टीफिकेट्स' लेकर शहर से बाहर जा रहा है तो क्या कहीं और वह नौकरी पा जायेगा ? और यदि 'हाँ' तो क्या काशी ही बुरी है जिसके बाहर संभावनाएँ हैं, आशाएँ हैं ? यदि ऐसा है तो बात बहुत संकुचित हो जायेगी। फिर वे आशाएँ कहाँ हैं ? गाँवों में तो निश्चित रूप से नहीं हैं क्योंकि 'अलग-अलग वैतरणी' के बाद अभी इतना कुछ क्रांतिकारी परिवर्तन तो गाँवों में नहीं हुआ है और यदि कहीं शहर से आशाएँ हैं तो क्या अन्य शहर काशी से भिन्न और अच्छे हैं ? क्या 'शिवपालगंज' (रागदरबारी) की तरह काशी भी देश भर में व्याप्त नहीं है ? फिर इस अंत से लेखक क्या कहना चाहता है ?

शिवप्रसाद सिंह के कथा-लेखन में शुरू से ही एक आस्था-आशा की डोर चली आ रही है। स्थितियों के भयावह यथार्थ को वे खूब समझते हैं और कहते हैं। यहाँ भी युवा-आक्रोश, भ्रष्टाचार, राजनीति आदि को लेकर खूब स्पष्ट विवेचन हुआ है, पर जैसे 'वैतरणी' में जग्गन मिसिर कहते हैं कि गाँव की ओर लौटना पड़ेगा, वैसे ही यहाँ भी आवाज आती है 'गली आगे मुड़ती है'। वहाँ तो ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर किये गये भविष्य-दर्शन की सचाई है, पर यहाँ यह कोरा काग़जी ही बन गया है। यह लेखकीय उत्तरदायित्व या संस्कारबोध है जो शिवप्रसाद जी को छोड़ता नहीं। कोई स्वरूप नहीं, आधार नहीं, पर एक विश्वास है। इनके गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी ऐसा ही विश्वास रहा है। उनके समक्ष खुद डॉ० सिंह इस आस्था के विरुद्ध शंकालु बनकर खड़े होते हैं और अंत में गुरुत्व की गरिमा के आगे शिष्यत्व की शिष्टता चुप हो जाती, पर बाद में यह निराधार आस्था अंदर तक प्रवेश करने लगती[4]—कर जाती। शायद यह वही है जो हर जगह अपनी वाली करा जाती है। प्रस्तुत कृति में एकदम ऐसा ही एक दृश्य आता है जब लेखक की शंका ठीक इसी रूप में उभरती है और उसके भीतर का उन्मत्त भैरव (क्या द्विवेदी जी ही तो नहीं ?) उसे शांत करता है—प्रतीक्षा करो। लेकिन लेखक यहाँ चुप नहीं होता, प्रश्न कर बैठता है—कब तक ? इस तरह यह आस्था की डोर का कच्चापन लेखक समझता है—व्यक्त भी करता है। अत्यंत उत्साही आस्थावान रामानंद की क्रमिक टूटन और

4. शांति से शिवालिक तक—सं० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 11-13 के आधार पर।

अंत में जड़ से उखड़ जाना इसी का प्रमाण है। तो फिर यह 'गली आगे मुड़ती है' क्या है? युवा पीढ़ी के मुड़ने या आगे जाकर मुड़ने की क्या स्थितियाँ हो सकती हैं, कृति में कुछ जाहिर नहीं है। किंतु लेखक की चिन्ताधारा के संदर्भ में निश्चित रूप से यह सवाल उठता है कि यदि विपिन (अलग-अलग वैतरणी) को शहर में 'सेटिल' करना गाँवों के संदर्भ में समीचीन था तो शहर से भागकर अब कहाँ जाना होगा, क्या ग्रहों पर? यह सब कुछ सोचना अवांतर भी कहा जा सकता है, पर तब उपन्यास की शुरुआत में शीर्षक बनकर तथा एकदम अंत में आया यह वाक्य 'गली आगे मुड़ती है' निरुद्देश्य और निरर्थक हो जायेगा जबकि इन दोनों से लगता है कि लेखक ने किसी खास संकेत के लिए ही इसका प्रयोग किया है।

हाँ, हरिमंगल वाले प्रसंग की आस्था सर्जनात्मक आशावादी स्वर का सशक्त संकेत बन गयी है, पर रामानंद के चिंतन वाले प्रसंग में आये वाक्य के रूप में यही कहा जा सकता है कि इसकी अभी प्रतीक्षा है। इतनी जहीन और ईमानदार प्रतिबद्धता के साथ जूझने वाला चरित्र वर्तमान परिस्थितियों में पैदा होना संभव तो दिखता नहीं। यहाँ फिर लेखक की चिंतन-प्रक्रिया में जग्गन मिसिर याद आते हैं जिनका सुलभ होना गाँवों में अपवाद स्वरूप ही सही, तब संभव था लेकिन हरिमंगल के बारे में भी ऐसा ही नहीं कहा जा सकता। हाँ, शोषण-अत्याचार से निपटने का जो जग्गन मिसिर का तरीका था—महाभारत, वह यहाँ हरिमंगल में आकर पूरा हुआ लगता है। इसका अंत भी उतना ही यथार्थ है जितना महाभारत का अंत—दोनों पक्षों का विनाश। इस तरह प्रस्तुत प्रसंग में लेखकीय संकेत सर्जनात्मक साहित्यिकता के साथ ही यथार्थ से दूर भी नहीं है।

नारी के संबंध में प्रेम और शादी को लेकर लेखक का चिंतन ठीक वैसा ही है जैसा शुरुआत (आर-पार की माला) में था। वहाँ की शीला (बरगद का पेड़) व चंपा (महुए का फूल) से लेकर 'अलग-अलग वैतरणी' की पुष्पा से होता हुआ 'गली आगे मुड़ती है' की किरण-जयंती तक में परिस्थितियों और वक्तव्यों की भिन्नता के सिवा कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। लेखक की मान्यता कि 'भारतीय नारी इन दोनों (पति और प्रेमी) में से किसी एक को झटके बिना ही अपनी राह बना लेती है, मर्यादा और सम्मान के साथ'[5] अभी जारी है। किरण भी अपनी राह बना लेती है—'शरीर मेरे वश में नहीं, पर आत्मा तुम्हारी है, वह जन्म-जन्मांतर तुम्हारी रहेगी। मुझे क्षमा कर देना।'[6] यह इस बुर्जुआ समाज की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सदियों से चली आती वर्जनामूलक परंपरा का ही पोषण है। यहाँ किरण के संदर्भ में उसकी छोटी बहन कम्मो कमजोरी बनकर आयी है जिसके भविष्य को ध्यान में रखकर वह पिता की बात मान लेती है। यह आज के परिवारों में घटित होता यथार्थ भी है, पर हरिमंगल की सृष्टि करने वाला और 'गली आगे मुड़ती है' जैसा

5. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 147-48.
6. गली आगे मुड़ती है—शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 471.

निराधार संकेत करने वाला लेखक यहाँ कम्मो (भावी पीढ़ी) के लिए कौन सी जमीन तैयार करता है ?

ऐसा ही सवाल रामानंद की माँ के व्यवहार (अटीट्यूड) को लेकर भी खड़ा होता है जो लेखकीय मेधा से टकराने वाला है। उसका पति इसकी उपेक्षा करके अपना वश चलने तक गुलछर्रे उड़ाता रहा। अंत में मजबूर होने पर उन्हें चिट्ठी लिखता है जिसे ये आंचल में गठिया लेती हैं और बेटे रामानंद से पति के प्रति सहानुभूतिमय जिक्र करती हैं। छठे दशक में ही 'देवा की माँ' (कमलेश्वर) ऐसी ही परिस्थिति में सिंदूर की डिबिया तुलसी के बिरवे पर गिराकर बीमार पति को देखने जाने के लिए उद्यत बेटे देवा को भी दृढ़ता के साथ रोक चुकी है। अब इसे पढ़ चुके पाठक आठवें दशक में यह पढ़कर क्या व्यंजना ग्रहण करेंगे ? क्या इसे रामानंद की माँ की चारित्रिक दुर्बलता कहकर टाल दें तो फिर पूरी कृति में दमकता व्यक्तित्व रखने वाली माँ और उसके निर्माता लेखकीय मंतव्य का क्या होगा ? यहाँ पर माँ द्रवित हो जाती है और बेटा दृढ़ है तो क्या नयी पीढ़ी के पुरुषों के मुकाबले औरतों की भावुकता का संकेत लिया जाये तो भी क्या यह सतीत्व के तहत मर्यादित, बुर्जुवा परंपरा की अभिव्यक्ति नहीं है ? तो फिर यह गली किधर मुड़ती है ?

प्रेम के चित्र जरूर कुछ खुले हैं—शहरी वातावरण और जमाने के लिहाज पर, लेकिन शारीरिक पवित्रता पर आधारित सतीत्व की मर्यादा बनी रह गयी है। कंबल ओढ़कर साथ सो जाने पर युवक-युवती (रामानंद और जयंती) यदि लेखक की मर्यादित परंपरा के हाथों मजबूर न होते तो उनका पवित्र बने रहकर बाहर निकलना क्या संभव होता ? किरण को लेकर तो अन्य युवकों के मुकाबले रामानंद के प्रति आकर्षण का जिक्र है किंतु जयंती यह सब जानते हुए भी इतनी आसक्त कैसे हो गयी ? क्या और कोई युवक उससे मिला ही नहीं ? जो भी हो, पर यह प्रश्न जरूर उठता है कि जयंती का इतना भावविगलित होना किस भावनात्मक या सामाजिक मर्यादा की सचाई बन सकता है ? ठीक है कि लेखकीय रचना-प्रक्रिया में किरण और जयंती अपनी-अपनी संस्कृतियों की अभिव्यक्ति के लिए सिरजी गयी हैं, पर यह प्रेम का त्रिकोण रचना प्रक्रिया का कौन-सा आयाम बनता है ? या इससे कौन-सी अभिव्यक्ति की सार्थकता सिद्ध होती है ? क्या बिना इस त्रिकोणीय प्रेम के सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में बाधा पड़ती ? यहाँ भी आचार्य द्विवेदी की याद आती है दो नायिका, एक नायक (भट्टिनी, निपुणिका और बाणभट्ट) वाली परंपरा के रूप में, वरना संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिए तीनों का प्रेम के स्तर पर ही जुड़ना क्यों अनिवार्य था ? इससे तो लेखक के जाने-अनजाने और शायद चाहे-अनचाहे भी प्रेमकथा ही उपन्यास की केन्द्रीय कथा बन गयी है। अंत में मुख्य पात्र की असफलता, टूटन और पलायन का कारण भी मुख्य रूप से (अस्सी प्रतिशत) यही प्रेम ही है। उसकी पारिवारिक समस्याएँ, सामाजिक विकृति, राजनीतिक असफलता तथा विश्वविद्यालय द्वारा हुए अन्याय आदि से उत्पन्न क्षोभ तो गौण बन गया है।

इस प्रकार आलोच्य कृति में लेखकीय चिंतन और संकेत उलझावपूर्ण हो गये हैं। प्रसंगों में लालित्य है, सरसता और रोचकता है, आभिजात्य सौन्दर्य का चर्वण है, पर इससे व्यंजित दृष्टि जटिलता में फँसकर स्पष्ट नहीं हो पाती। अब आइए, कथ्य के उन आयामों को अलग-अलग देखें—

कथ्य के आयाम

(1) युवा आक्रोश

यह तो कैसे कहा जा सकता है कि रचना में हुई प्रस्तुति के अलावा युवा आक्रोश की कोई और प्रकृति या आयाम बचते ही नहीं, पर जो इसमें समाविष्ट हुए हैं, 'उनका विश्लेषण लेखक ने खूब गहराई और विस्तार के साथ किया है।'[7] और इसमें व्यक्त युवा आक्रोश के विविध रूप अपने में इतने पूर्ण और पर्याप्त भी हैं कि इसे लेकर 'कुछ और' की गुंजाइश महसूस नहीं होने देते।

युवा आक्रोश हर देशकाल में ही किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है, पर समकालीन परिस्थितियों में वह देश के लिए एक अहम् सवाल बनकर खड़ा हो गया था। युवावर्ग से सीधे जुड़े होने के कारण लेखक इसकी प्रवृत्तियों को बखूबी समझता है और इसीलिए उसका इस पर कुछ कहना जितना सहज है उतना ही अधिकारपूर्ण (अथिण्टिक) और ज़रूरी भी। लेखक मानता है कि 'युवा एक शक्ति है, नयी पीढ़ी के हाथ में ही देश का भविष्य है। भले ही वे हाथ अभी कमजोर हों, भले ही कच्चे और बेडौल हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य को मोड़ने का कार्य इन्हीं हाथों सम्पन्न होगा। तो क्या यह ज़रूरी नहीं है कि इसके असंतोष के मूल कारण को ठीक समझकर इसे सही मोड़ देने की कोशिश हो ?'[8] पर उपन्यासकार यहाँ ऐसी कोई कोशिश नहीं करता, अपने बारे में उसे कोई मुगालता नहीं है। उसे अपनी, एक साहित्यकार की, शक्ति और सीमा मालूम है। इसलिए युवा आक्रोश की नाना शक्लों से लोगों को परचित करा देने में ही वह अपने श्रम को सार्थक समझ रहा है जो अपने आप में किसी उपलब्धि से कम नहीं। युवा आक्रोश जैसी जटिल और भयंकर समस्या की नाना शक्लों को लेखक ने उसके कारणों की पृष्ठभूमि के साथ चित्रित किया है जिसे पहले देख लेना अध्ययन के लिए ज्यादा, उपयुक्त होगा।

'गली आगे मुड़ती है' के साक्ष्य पर युवा आक्रोश के बीज को मुख्यतः हमारी व्यवस्था की मिट्टी ही जन्म देती है। इसमें व्याप्त भ्रष्टाचार की अनेकानेक किस्में ही मिट्टी को उर्वर बनाकर इस बीज को अंकुरित ही नहीं, पल्लवित-पुष्पित भी करती हैं। यह माहौल किसी भी युवा को अछूता नहीं छोड़ता। इसके मुख्य पात्र रामानंद में यह शिक्षा क्षेत्र में हो रहे भ्रष्टाचार के कारण जन्म लेता है और हरिमंगल में भ्रष्ट शासन व्यवस्था के परिणाम स्वरूप उभरता है। दोनों ही अपने कर्म-कर्त्तव्यों के

---

7. समीक्षा—नवम्बर-दिसम्बर 1974—मधुरेश का लेख, पृष्ठ 24.
8. गली आगे मुड़ती है—नुक्कड़ सभा (भूमिका) से।

प्रति ईमानदारी और एकनिष्ठ भाव से समर्पित हैं और इसीलिए अन्याय-शोषण के शिकार होते हैं। भ्रष्टाचार को मुख्य रूप से इंस्पेक्टर शर्मा और हरिमंगल के माध्यम से खूब स्पष्ट किया गया है और रामानंद के माध्यम से कई छोटे-छोटे प्रसंगों में इसके विभिन्न रूपों को उभारा गया है जो आक्रोश की स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं। इनमें रामानंद और हरिमंगल जैसों के आक्रोश अपनी संबद्ध परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही जनमते हैं और हम देखते हैं कि ऐसे हालात में इसके सिवा और कोई रास्ता ही नहीं रह जाता। इंस्पेक्टर शर्मा जैसे लोग 'जेनुइन' होने पर भी भ्रष्टव्यवस्था से साबका पड़ने पर समझौता कर लेते हैं। एक बार इसके कुचक्र में फँसने के बाद अब इन स्थितियों को निपटाने के लिए कोई कदम उठाने की तो क्या, इससे निरपेक्ष होकर भी नहीं रह पाते—इसी का एक हिस्सा बन जाते हैं।

रामानंद के माध्यम से इस आक्रोश के और भी कारण खुलते गये हैं। उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, उसके संघर्ष और अभावों की चर्चा करके लेखक ने युवा-आक्रोश के मूल उत्स को, उसके आर्थिक और भावनात्मक पहलू को खोजने एवं उस तक पहुँचने की सार्थक कोशिश की है।[9] अध्यापकों की आपसी राजनीति भी छात्र-आक्रोश का एक प्रमुख कारण है। रामानंद का परीक्षाफल इसी का परिणाम है और सुबोध के घेराव के बाद प्रो० पाण्डेय की बातचीत में भी यह राजनीति साफ-साफ ज़ाहिर हुई है।

इसके अलावा सबके पीछे छिपा सबसे मशहूर कारण है—'युवा आक्रोश सुविधा पाने की छटपटाहट है या युवा-आक्रोश की सारी लड़ाई हासिलवाद की लड़ाई है।'[10] इसी से यह उभरता है और इसी में ग़र्क हो जाता है। रामानंद और हरिमंगल (हीरो की मानिंद) इसके अपवाद हैं। लेकिन बाकी सब इसी के शिकार हैं। कुछ तो इस निहायत स्वार्थी महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपने साथ एक बड़े वर्ग को तमाम गलत-सही अनैतिक कार्यों में मुब्तिला कर देते हैं। इनकी गतिविधियाँ युवा-आक्रोश न होकर युवा पीढ़ी की भटकनें कही जा सकती हैं। वी० पी० एन० जैसे लोग इस भटकन के कारण और नियंता होते हैं। इन सभी कारणों के फलस्वरूप प्रस्तुत उपन्यास में युवा आक्रोश प्रायः इन शक्लों में व्यक्त हुआ है —

(अ) छात्र-असंतोष

प्रस्तुत उपन्यास में आम स्थितियों के मुताबिक ही युवा वर्ग का नेतृत्व प्रमुख रूप से छात्रों द्वारा हुआ है। अध्यापकों के घेराव, उनसे झड़प, हड़तालें आदि छात्र असंतोष के नियमित 'करिकुलम' बन गये हैं। इसी के तहत शुक्ला (नामक विद्यार्थी) डॉ० सुबोध भट्टाचार्य से उलझ जाता है। अब उसका विरोधी 'देबू अपने गुट के साथ उसकी खिलाफत करने लगता है। चूँकि प्रो० पाण्डेय के उकसाने पर शुक्ला ने ऐसा

9. समीक्षा—नवम्बर-दिसम्बर 1974, पृष्ठ 24-25.
10. गली आगे मुड़ती है—पृष्ठ 393.

किया है, अतः देबू का गुट अपने आप डॉ० सुबोध भट्टाचार्य के साथ जोड़ दिया जाता है। इसी तरह की गुटबंदियों के तहत जब रामानंद जैसे छात्र की प्रतिभा पर कुठाराघात करके उसकी जिन्दगी से खिलवाड़ किया जाता है तो आक्रोश का एक और रूप जनेऊतोड़ प्रतिज्ञा के रूप में फूट पड़ता है—'आज से मैं व्रात्य हूँ। यानी व्रात्या-धर्म पतितयाखंड परिणाम श्री रामानंद तिवारी। बस! आज से मेरा सिर्फ एक व्रत है—वह है सदाचारहीनता और सहनशीलता की बर्खास्तगी।'[11] इसका त्वरित रूपायन रामकीरत दास की पिटाई से होता है। इस तरह यह सब बहुत उलझा हुआ क्रिया व्यापार है। कब, क्या किस रूप में फूट पड़ेगा, कुछ पता नहीं। इस तरह की छिटफूट प्रतिक्रियाएँ तो आम हैं, पर कृति में छात्रों के आक्रोश की पुंजीभूत अभिव्यक्ति हुई है—हिन्दी आन्दोलन के रूप में।

(ब) हिन्दी-आंदोलन

'गली आगे मुड़ती है' का हिन्दी आंदोलन शायद सच्ची घटना पर आधारित प्रसंग है। इसकी जाँच-पड़ताल-परख, प्रायः सभी कोणों से की गयी है। छात्र इस आंदोलन को 'अभिव्यक्ति की समस्या' के रूप में अंग्रेजी का बहिष्कार करने के लिए छेड़ते हैं, पर हजारों छात्रों का जुमावड़ा जब भीड़ के गड्डलिका प्रवाह का रूप ले लेता है तो इनकी गतिविधियाँ असंयमित और अनियंत्रित होकर समाजविरोधी रूप धारण कर लेती हैं। उचित-अनुचित का विवेक लुप्त हो जाता है और तोड़-फोड़ पर उतरकर ये लोग राष्ट्र को क्षति पहुँचाने लगते हैं। इस बदमली के कारण शहर में धारा 'एक सौ चौवालिस लागू कर दी जाती है। ऐसे में छात्र जुलूस लेकर चलते हैं और उधर पी० ए० सी० बुला ली जाती है। जिलाधीश की चेतावनी के बावजूद छात्रनेता अपने प्रदर्शन को अहिंसक घोषित करते हुए संतुलित और अनुशासित तरीके से जुलूस को आगे बढ़ाने को कोशिश करते हैं। परिणाम स्वरूप सेना की गोलियों और आँसू गैस के सामने छात्रों के ईंट-पत्थर नाकाम साबित होते हैं। सारा माहौल बड़ा ही बर्बर और नृशंस रूप में बदल जाता है। जुलूस बिखर जाता है और घायलों से अस्पताल तथा गिरफ्तारियों से जेल भर जाते हैं। अब छात्रों की माँगें 'अंग्रेजी हटाओ' के बदले 'पी० ए० सी० हटाओ' और 'जाँच कमीशन बिठाओ' पर उतर आती है। इस प्रकार अंतरात्मा से जुड़ा अभिव्यक्ति के संकट का सवाल धरा का धरा रह जाता है। यहाँ सुबोध भट्टाचार्य के माध्यम से जब लेखक प्रश्न उठाता है कि 'इस आंदोलन से क्या मिला?' तो रामानंद के रूप में आंदोलनकर्त्ता छात्रों के पास कोई उत्तर नहीं जो किसी धरातल को छू सके।

युवा आक्रोश के रूप में इस जुलूस के साथ हुई उन शातिर चालबाजियों की शक्लें भी लेखक पेश करता है जो छिपी रहकर हथकंडों का इस्तेमाल करती हैं और ऐसे आंदोलनों को ग़लत रास्तों पर मोड़कर लक्ष्य भ्रष्ट कर देती हैं। 'अंग्रेजी हटाओ' के पीछे इस आंदोलन का मंतव्य 'भारतीय भाषाएँ लाओ' का था पर कुछ अंग्रेजी

11. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 50.

परस्तों का अभिजात वर्ग इसी के समानांतर 'हिन्दी लाओ' के बोर्ड लगवाकर इसमें नया अर्थ भर देता है और मसला हिन्दी-अंग्रेजी की लड़ाई में बदल जाता है। हिन्दी-अहिन्दी भाषियों के बीच छिड़ जाती है—असली उद्देश्य बाधित हो जाता है और युवा आक्रोश का यह विस्फोटक रूप छिन्न-भिन्न।

उपन्यास के आधार पर यह आंदोलन 1967 के अंत में हुआ और 1968 पूरे विश्व में आंदोलनों का वर्ष था। इस समयसूत्र को जोड़ते हुए लेखक छात्र-आंदोलन की थोड़ी चर्चा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी करता है—विशेषकर फ्रांस के संदर्भ में। तमाम सरकारी अवरोधों और आपसी मतवैभिन्न्य के बावजूद किस प्रकार छात्रनेता कोह्नबेण्डे के नेतृत्व में पूरे देश में हलचल मचा दी, की प्रस्तुति अति संक्षिप्त होकर भी बड़ी साफ और असरदार बन पड़ी है। इस प्रकार सब मिलाकर 'कृति में हिन्दी आंदोलन से जुड़े युवा आक्रोश का चित्रण बहुत ही अर्थपूर्ण ढंग से हुआ है।[12]

(स) युवा आक्रोश की भटकनें

छात्रों के उक्त आक्रोश अंततः भटकन के शिकार ही बनकर रह जाते हैं। नेतागीरी का चस्का इनमें आपसी फूट पैदा करता है और ये लोग बिखर जाते हैं। देबू से अलग रमेन्द्र अपना 'ग्रुप' बना लेता है और उल्टी-सीधी पढ़ाकर लोगों को अपनी तरफ मिला लेता है। शुक्ला और देवू पहले से ही अलग-अलग दल बनाकर लड़ रहे थे। इस फूट को बढ़ाने वाले तत्वों में गलत सही आमदनी और खर्च भी हैं। छोटे-मोटे स्वार्थों और सुविधाओं के चलते सबकी प्रतिबद्धता डाँवाडोल है। छात्रनेता सिर्फ 'एम्बेसी' या 'मद्रास कैफे' में बैठकर विद्रोह और क्रांति का मंसूबा बाँधते हैं और स्थितियों से निरपेक्ष होकर सभी अफीम-गाँजा-शराब और 'सेक्स' में अपने को ग़र्क किये जा रहे हैं। माथुर अपने दोस्त रामानंद की बहन आरती को ही फँसाकर धोखा देता है। जमना साधु के शब्दों में विद्यार्थियों के आक्रोश और तथाकथित गतिविधियाँ निरा पलायन ही हैं—तुम्हारे दोस्त सब जो पढ़े-लिखे विद्वान् होकर भाँग, गाँजा, अफीम, चरस, शराब पीते और धुत्त पड़े रहते हैं, वह पलायन नहीं है रामजी ?'[13] यही इनकी असलियत है।

छात्रों के अलावा भी युवा-पीढ़ी का आक्रोश यहाँ चित्रित है जो भटकाव को उजागर करता है। ये लोग 'ट्रेण्ड' लोगों की बड़ी-बड़ी गैंग के रूप में स्थापित हैं। इन्हें पता है कि इमारतें कैसे फूंकी जाती हैं, पी० ए० सी० से कारगर ढंग से कैसे लड़ा जाता है, पात्रर हाउस या डाकखानों पर कैसे कब्जा किया जाता है।[14] इनके जाल राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर तक फैले हुए हैं। बस, इनके लिए भीड़ को आड़ चाहिए। सो, ये छात्रों की वेश-भूषा में उन्हीं के साथ रहते हैं और इनके द्वारा चलाये गये आन्दोलनों-गतिविधियों में खुलकर अपने कृत्य संपन्न करते हैं और स्वार्थ साधते

12. समीक्षा—नवंबर-दिसम्बर, 1974—विवेकी राय का लेख, पृष्ठ 31.
13. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 324.
14. वही, पृष्ठ 285.

हैं। वी० पी० एन० जैसे चालाक और शातिर बदमाश लोग इनके नेता हुआ करते हैं जो युवाशक्ति को भटकाकर शान और रुतबे की जिन्दगी जीते हैं। ऐसे गैंग के कारनामों की कोई हद नहीं होती।

युवावर्ग की भटकन का एक रूप 'रात की मुसाफिरी' के रूप में भी चित्रित है। शाम के झुटपुटे में नावों को 'रिजर्व' करके जोड़े ऐसे स्थान पर जाते हैं जहाँ यौन सुख का आनंद प्राप्त कर सकें। नाविक इस कार्य में उनकी मदद करते हैं—एक-दो घंटे में उनकी अच्छी आमदनी जो हो जाती है। रामानंद जयंती को साथ आया देखकर एक माँझी की टिप्पणी संवेदनशील जयंती को लग जाती है। वह उद्वेलित होकर बड़ा ही सार्थक प्रश्न उठाती है कि संपूर्ण युवा आक्रोश 'सेक्स' में ही क्यों सिमटता जा रहा है। हरिजन कन्या राजो के साथ बलात्कार में भी युवा भटकन के इसी रूप को उघाड़ा गया है।

इस प्रकार संपूर्ण युवा पीढ़ी अपनी बुनियादी समस्याओं और उत्तरदायित्व को भूलकर दिशाहीन भटकन की शिकार बन रही है।

(द) आक्रोश का एक सार्थक रूप : आशा के संकेत

सारी दिशाहीन भटकन के बीच भी लेखक ने युवा-आक्रोश को एकदम ही गर्त में जाने से बचा लिया है। हरिमंगल का सृजन न जाने सामाजिक यथार्थ है या लेखकीय, पर आक्रोश का यह रूप है बड़ा ही जीवंत। इसमें भ्रष्ट व्यवस्था से लड़ने का बड़ा दमदार माद्दा है। इंस्पेक्टर शर्मा की सलाह और असहयोग के बावजूद वे अपनी जाँबाज कोशिशों के बल पर विरोधी दल को नेस्तनाबूद कर ही डालते हैं। लेखक ने इनकी मौत को बड़े ही कौशल से शहादत में बदल दिया है। यहाँ लेखक बड़ी खूबी से यह व्यंजित भी कर गया है कि जब तक जान तक की बाजी लगाने की प्रवृत्ति नहीं पनपेगी, हिम्मत नहीं आयेगी, आक्रोश की सफलता-सार्थकता संदिग्ध ही बनी रहेगी या फिर वह पलायन में ही ग़र्क होता रहेगा। हरिमंगल का अपने ऑफिस वालों से न लड़ पाना तो उनके अधिकारों की सीमा है पर 'वी० पी० एन० ग्रुप' तथा इनके बीच दुश्मनी किस प्रकार पैदा हो गयी, वे पेटफूली और 'अंटीपलट' आदि मामलों को कैसे जान गये, जैसी बातों के नितरां अभाव को लेकर प्रस्तुत प्रसंग अपने कथ्य की पुरजोर संप्रेषणीयता के बावजूद कथा में एक रिक्तता-टूटन का अहसास दिलाता है जो थोड़ा खटकता भी है। बहरहाल, लेखक ने आक्रोश के सर्जनात्मक रूप की झलक बताकर इसकी उपयोगिता को बना रहने दिया है। इसमें भविष्य की आशा का संकेत गर्भित है, यदि वह जन्म ले सके, पर मौजूदा हालात के आधार पर निकट भविष्य में इसकी संभावना के कोई आसार नज़र नहीं आते।

(य) आक्रोश का सैद्धांतिक विश्लेषण

डॉ० सुबोध भट्टाचार्य और रामानंद तथा देबू और शिवराम के बीच हुई बहस के प्रसंग उठाकर शिवप्रसाद जी ने युवा-आक्रोश के सैद्धांतिक पक्ष या फिर मार्क्सवाद और दक्षिणपंथ के बीच युवा-आक्रोश की स्थिति का बड़ा ही सुन्दर विवे-

चन किया है। सुबोध और रामानंद की चर्चा हिन्दी आन्दोलन के संदर्भ में है। इसका उपक्रम और उपसंहार दोनों प्रो० सुबोध ही करते हैं। रामानंद तो शिष्य के रूप में श्रोता मात्र हैं। गुरु अपनी चर्चा (भाषण के रूप में) 'इस आन्दोलन से क्या मिला' से शुरू करके समुचित प्रमाणों से सिद्ध करते हैं कि अंग्रेजी के हट जाने और हिन्दी आ जाने से देश की कोई समस्या हल नहीं हो सकती। भाषा तो एक प्रतीक है, असल बात तो देश की जनता में समझ का अभाव है। इस अभाव को पैदा करने वाले अभिजात वर्ग के कुछ खास लोग हैं जो पूरे देश को चंगुल में फँसाए हैं। आन्दोलनों के जरिए उनसे लड़ा नहीं जा सकता। वे अपनी शक्ति और चालाकी के बल पर इनके सामानांतर एक विरोधी आन्दोलन खड़ा कर देते हैं। अब भट्टाचार्य महाशय के अनुसार इस वर्ग को खत्म करने या उनसे लड़ने के लिए समाज को बदलना जरूरी है और इसका अचूक तुरुप है—वर्ग संघर्ष। इस पर शिष्य हाथ जोड़कर क्षमा माँग लेता है कि साम्यवाद में उसकी आस्था नहीं है।

चर्चा की इस अंतिम परिणति पर ऐसा लगता है कि लेखक ने समस्याओं के लिए मार्क्सवाद की उपयोगिता के प्रति अनास्था दिखाने के लिए ही इस प्रसंग को उठाया है और सुबोध के रूप में ऐसे मार्क्सवादी बुद्धिजीवी को प्रस्तुत करना चाहा है जो सभी मामलों के हल का एकमात्र रास्ता मार्क्सवाद को ही मानते हैं और अपनी तर्कपूर्ण वाक्पटुता के माध्यम से प्रचार रूप में लोगों को इसके लिए सहमत (कनविन्स) भी करते हैं।

दूसरी बहस का मुद्दा भी कुछ ऐसा ही है। पूरी बहस में मार्क्सवाद के प्रति आस्थावान पात्र शिवराम से कोई विचार व्यक्त नहीं कराया गया है। वह सिर्फ कोल्हवेन्दे को मसखरा, देवनाथ को रूमानी किस्म का बहेतू छात्र कहता है और लाल किताब पढ़ने की सलाह देता है। इसका बड़ा अच्छा मजाक भी बनता है—'मैं इसी की प्रतीक्षा कर रहा था कि आज 'बाइबिल' की चर्चा क्यों नहीं हो रही है।' इसके विपरीत देवनाथ और कथानायक रामानंद बड़े ही तार्किक विश्लेषण से सप्रमाण स्थितियों को स्पष्ट करते हैं कि कम्युनिस्ट और दक्षिणपंथी दोनों ही किसी भी जन-आक्रोश को अपनी दिशा चुनने का मौका ही नहीं देना चाहते। दोनों ही अतिवादी छोर बहुत संगठित हैं। दक्षिणपंथी हर आंदोलन को असामाजिक तत्वों की कारगुजारी कह देते हैं और क्रांति को अपनी 'मनोपोली' मानने वाले कम्युनिस्ट जिनसे सहानुभूति की उम्मीद थी, इन आंदोलनों को एक साँस में साहसिकतावाद या 'एडवेंचरिज्म' कह डालते हैं। यह विश्लेषण बहुत सही है और यथार्थ भी, पर इस पूरे प्रसंग में शिवराम की पेशकश को लेकर लेखकीय विचारों की बावत सोचना जरूरी लगता है। मेरी समझ में इससे दो बातें व्यंजित होती हैं। या तो शिवराम के रूप में मार्क्सवाद का मखौल उड़ाया गया है या फिर इसे ऐसे तथाकथित मार्क्सवादियों के प्रतिनिधि के रूप में पेश किया गया है जो मार्क्सवाद की पुस्तकों और अखबारों को ही आप्त वाक्य मानते हैं और जिसके बाहर उनकी गति नहीं होती या अन्य सब कुछ को वे निहायत

घटिया मानते हैं। यदि लेखक का संकेत दूसरी बात की तरफ है तो एकदम ठीक-ठाक ही है और यदि वह पहली बात को संकेतित करना चाहता है तो निश्चित रूप से प्रसंग एकतरफा हो गया है। ऐसी हालत में किसी प्रबुद्ध मार्क्सवादी पात्र के माध्यम से उसके विचारों की प्रस्तुति जरूरी थी। इसके बिना तो यह तुलसी के ज्ञान और भक्ति प्रसंग जैसा हो गया है। हालाँकि वहाँ तो फिर भी ज्ञान के कुछ पक्ष वर्णित हुए हैं, पर भक्ति का वर्चस्व दिखाने के लिए अतिरिक्त एकांगिता दिख जाती है। यहाँ एकांगिता तो क्या, विपक्ष से कोई भी मत व्यक्त कराया ही नहीं गया है।

मधुरेश जी अपनी समीक्षा में उक्त दोनों ही संकेतों को मानकर चलते हैं और दो जगह पर दो तरह की बातें करते हैं। इसी प्रसंग को लेकर एक तरफ तो वे शिवराम के प्रस्तुतीकरण को उग्रपंथ के नाम पर कुछ नामों-नारों की जड़ता में कैद, राजनीतिक दुराग्रहों से जुड़े व्यक्ति के रूप में देखते हैं और दूसरी तरफ इसी प्रसंग के आधार पर शिवप्रसाद सिंह को हिन्दी में मार्क्सवादी परंपरा के एकमात्र विरोधी दल (अज्ञेय, भारती) का समर्थक मानते हैं तथा उन्हें अतिरेकी आग्रह से युक्त, चीजों को अपनी तरफ मोड़ लेने के कौशल में निष्णात बताते हैं।[15] इस विरोधी दल की बात तो समीक्षक ही जाने, बाकी दोनों बातें बिल्कुल गलत तो नहीं हैं पर मधुरेश जी के ही शब्दों में कहूँ तो उनकी समीक्षा की 'टोन' आक्रामक ज्यादा है।

इस प्रकार इस प्रसंग में युवा आक्रोश का सीधा संदर्भ कम आया है पर उसी के चलते (बहाने नहीं) इस वाद-विवाद का प्रस्तुतीकरण हो पाया है। वैसे मतों-वादों के बिना भी ऐसी चर्चाएँ-चिंतन हुए हैं, पर उनका जिक्र यथा स्थान।

(2) बनारस की संस्कृति

युवा आक्रोश के बाद 'गली आगे मुड़ती है' का दूसरा प्रमुख कथ्य बनारस की संस्कृति को सामने लाना है। बक़ौल लेखक 'मेरा मुख्य उद्देश्य रहा है, इस प्राचीन नगर की बदलती संस्कृति को बाँधने का।'[16] यहाँ लेखक इसे प्रमुख उद्देश्य मानता है और कृति के प्रारंभ की रचनात्मक योजना से भी ऐसा ही आभास मिलता है। शुरू में ही इसका संकेत देखा जा सकता है। काशी को देखकर रामानंद को लगता है 'जैसे कोई तपस्वी कुमारी अपनी बल खाती कमर पर संस्कृति का कलश धरे चली जा रही है।'[17] पर संपूर्ण प्रस्तुति से ऐसा नहीं लगता और जो लगता है, उसे विवेकी राय के शब्दों में कह सकते हैं कि इसमें व्यक्त संस्कृति युवा-आक्रोश की पृष्ठभूमि के रूप में आयी है।[18]

काशी की संस्कृति बहु आयामी है। या इसे यूँ कहें कि संस्कृति को लेकर काशी 'कॉस्मोपोलिटन' शहर है। काशी की संस्कृति 'मेट्रोपोलिटन' है। अनेकानेक

15. समीक्षा—नवंबर-दिसंबर—1974, पृष्ठ 24-25-26.
16. सारिका—फरवरी—एक, 1980, पृष्ठ 14.
17. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 11.
18. समीक्षा—नवंबर, दिसंबर—1974, पृष्ठ 29.

आकर्षणों-प्रलोभनों से खिचकर देश के तमाम स्थानों से आकर लोग यहाँ बसे हैं। इसमें मुख्य रूप से 'गुजराती और बंगाली लोगों का प्राधान्य स्पष्ट दिखता है। उत्तरभारत का शहर तो यह है ही। इस तरह इन तीनों जगहों की संस्कृति इस कदर घुलमिल गयी है कि काशी की संस्कृति को किसी एक की नहीं कहा जा सकता वरन् ये सभी एक होकर काशी के हो गये हैं। कहा जा सकता है कि बंबई-कलकत्ता आदि भी 'मेट्रोपोलिटिन' शहर हैं। पर इन शहरों की संस्कृति पर अभी तक किसी अन्य का वर्चस्व नहीं है—जैसे बंबई की संस्कृति पर वर्चस्व महाराष्ट्र की गणेशपूजा का ही है। वैसे होता सब कुछ है। और यहाँ की आबादी में अन्य जगहों के लोग अलग-अलग भी महाराष्ट्र वालों से कम नहीं है। इसी प्रकार कलकत्ते में दुर्गापूजा सांस्कृतिक आयोजनों का राजा है। किंतु काशी ने जिस तरह अपने अंचल के साथ बंगाली और गुजराती संस्कृति को अपना लिया है और इस मिलाप से जो एक अभिनव संस्कृति का समन्वित रूप निखर आया है, वह सिर्फ काशी का ही है। शिवप्रसाद जी ने इसी अद्भुत संस्कृति को इस उपन्यास में उकेरना चाहा है। इससे पहले के लिखे उपन्यास 'बहती गंगा' और प्रेमचंद की 'हंस' पत्रिका के 'काशी विशेषांक' का हवाला देकर उपन्यासकार ने स्वीकार किया है कि काशी के निकटतम पूर्व की अच्छी छवि अंकित हो सकी है, पर उसका अपना विश्वास यह भी है कि बनारस-जैसे नगर की संस्कृति के प्रति पूरा न्याय करने के लिए उसके अतीत और वर्तमान के सही साक्षात्कार के लिए सैकड़ों समाजशास्त्रीय शोध प्रबंध और दर्जनों उपन्यासों की अब भी ज़रूरत है। तभी गंगा की कमर पर रखे संस्कृति के इस लबालब भरे कलश को सही ढंग से जाना जा सकता है।'[19] इस उपन्यास के अलावा काशी पर तीन और उपन्यास लिखने की योजना तो लेखक ने स्वयं ही बनायी है।'[20]

युवा-आक्रोश की उद्देश्यहीनता के मुताबिक उसकी प्रस्तुति जितनी विशृंखल है, संस्कृति की उतनी ही सोद्देश्य, सुनियोजित और संतुलित। जिसने बनारस की दुर्गापूजा देखी है, वह साक्षी देगा कि भाव, ज्योति और नृत्य की जो त्रिवेणी यहाँ बहती है, वह अन्यत्र कहीं शायद ही दिखे। बंगालियों का दुर्गा-उत्सव हिन्दी-भाषियों की रामलीला और गुजरातियों के 'गरबा के सम्मोहन' जैसा काशी में दिखता है, कृतिकार ने यहाँ वैसा ही उतार भी दिया है। तीनों संस्कृतियों के प्रतिनिधि पात्र व प्रसंग काशी के माफिक ही रचना में आपो आप आकर जुड़ गये हैं। ये शहर की संस्कृति को जितने सफल रूप में व्यक्त करते हैं, रचना प्रक्रिया के विन्दु पर उतने ही सार्थक रूप से लेखक की उच्चकोटिक सर्जनात्मकता को भी। बंगाली व गुजराती संस्कृति के लिए क्रमशः गांगुली व नागर परिवारों के साथ रामानंद को स्थानीय संस्कृति के प्रस्तोता के रूप में चुना गया है। भोजपुरी संस्कृति तो रामानंद के अलावा जमनादास व हरिमंगल आदि पात्रों से संबंधित प्रसंगों में भी उजागर होती चलती है

19. गली आगे मुड़ती है—'नुक्कड़ सभा' (भूमिका) से।
20. सारिका—1 फरवरी, 1980.

पर परमानन्द को उक्त दोनों परिवार की युवतियों—किरण और जयंती के साथ भावनात्मक स्तर पर जोड़कर संबंधित संस्कृतियों के तमाम भीतरी तत्वों को उरेहने का सहज ही अवसर निकाल लिया गया है। वैसे किरण-जयंती के साथ लाजो को रखकर तीन नारी पात्रों से भी तीनों संस्कृतियों की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इस चुनाव में एक और भी सांकेतिकता लक्ष्य है। तीनों तीन वर्ग के प्रतिनिधि भी हैं—किरण, उच्च गुजराती परिवार की, जयंती, मध्यवर्गीय बंगाली परिवार की और लाजो, निम्न वर्गीय परिवार की। इन तीनों वर्गों-समाजों में नारी की स्थिति भी संस्कृति के नितांत अस्पृश्य पहलू को प्रकट करती है। आइए, इन्हें अलग-अलग देखें—

(अ) बंगाली संस्कृति

बंगला संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्व दुर्गापूजा है। लेखक ने इसे ही प्रमुख माध्यम के रूप में लिया है। इस अवसर पर कलकत्ते के कारीगरों द्वारा बनायी हुई दुर्गा प्रतिमाएँ आती हैं। पूजा-स्थल को विशिष्ट (बंगला) रीति से खूब सजाया जाता है। 'कलश स्थापन' इस पूजा का मुख्य विधान है। कलश पर रोरी अंकित की जाती है। उस पर नारियल और पट्टवास रखकर आम्रपल्लवों से आच्छादित कर दिया जाता है। कलश के ऊपर दीप जलाने की रीति बंगाल के दुर्गापूजा की खास पहचान है। आरती के अवसर पर विविध वाद्य और नृत्य के आयोजन होते हैं। सूखे नारियल के ऊपर के रेशों की आग अगरु और गुग्गुल के चूर्ण को फेंकते ही ढेर-सा धुआँ फेंकने लगती और इन सबसे चारों ओर अजीब प्रकार का उल्लास और शक्ति की आराधना का वातावरण निर्मित हो जाता है। 'नवमी' को दुर्गापूजा होती है। रामानंद चाहकर भी जयंती के घर नहीं जाता, शायद लेखक चाहकर भी उसे नहीं भेजता। संस्कृति की अभिव्यक्ति का यह महत्वपूर्ण अवसर पता नहीं क्यों लेखक छोड़ देता है और चित्रण को दुर्गापूजा देखने आने वालों की भीड़ तथा उनके पहनावे तक ही सीमित कर देता है। रामानंद को अपने न जाने की कृतघ्नता खटकती है। क्या यह खटक लेखक की ही है ? पर तब कृतघ्नता....?

शायद यही खटक रामानंद को दशमी की सुबह वहाँ पहुँचा देती है। उस दिन दुर्गापूजा का समापन होता है, कलश हटा दिया जाता है। जयंती उद्यापन के बाद होने वाली विसर्जन की तैयारी कर रही होती है, पर उसके बदले पाठक को जयंती रामानंद की प्रेमभाव विभोर चर्चा सुनने को मिलती है जिसमें कुछ समसामयिक स्थितियों के संकेत भी मिलते हैं; पूजा का कलश और विसर्जन तो माध्यम मात्र बनकर रह गये हैं।

खान-पान व रहन-सहन के चित्रण कई जगह पर रामानन्द-जयंती के माध्यम से हुए हैं। प्रथम भेंट की बातचीत में तो अभिजात सांस्कृतिक प्रगल्भता का जैसे प्रवाह ही छूट जाता है।'[21] फिशकढ़ी व माछभात के प्रेमी बंगालियों में भी शाकाहारी परिवार होते हैं जैसे जयंती का परिवार और सुबोध स्वयं पकुड़ीवादी आचार्य है।

21. समीक्षा—नवंबर-दिसम्बर 1974—विवेकी राय का लेख, पृष्ठ 31.

उनके यहाँ गरम चाय में तंदुल पकाकर हिलसा या भाकुर भी बनता है, जो कढ़ी के साथ खाया जाता है। बंगाली मिठाइयाँ तो मशहूर हैं ही जो प्रेमी रामानंद का मान तुड़वा देती हैं। पर ये भी दुर्गापूजा के अवसर पर हैसियत के अनुसार ही बनायी-खरीदी जाती हैं। बड़े घरों में जहाँ सन्देश है, गरी की बरफी है, रसोमलाई और रसोगुल्ला हैं वहीं निर्धन परिवारों में बताशा, कदमा या मण्डी ही बहुत कुछ है। इसी तरह ताँत की चौड़े बॉर्डर वाली सारी बंगाली संस्कृति पर रूढ़ि की मुहर लगाती है, पर कुछ संपन्न महिलाएँ जॉर्जट और बनारसी सिल्क भी पहनती हैं। इस तरह उपन्यास के मुताबिक उत्सवों के अवसर पर खानपान का कोई निश्चित (रूढ़) रिवाज नहीं है, स्तर के अनुसार सब कुछ व्यवहृत होता है।

बंगाली तहजीब के चटोर होने की बात तो रामानंद करता है, पर यहाँ छोटी बच्चियों को 'सोन दी' कहा जाता है के अलावा और कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। हाँ, गांगुली महाशय के व्यवस्थित घर, शिक्षित व अनुशासित परिवार और मर्यादित जीवन-प्रणाली से एक संस्कारी तहजीब जरूर परिलक्षित होती है।

बंगला लोकगीतों के भी उल्लेख हुए हैं। जयंती को रामानंद बंगला लोकगीतों की नायिकाओं के ही नाम देता है—कांचनमाला, महुआ, देवयानी आदि और जयंती उसे बताती है कि दो नाम और ले लो—कज्जलरेखा और चंद्रावती, बस बंगला लोक-गीतों की सभी नायिकाएँ पूर्ण हो जायेंगी। जो गीत जयंती सुनाती है रामानंद को, उसका तो उल्लेख हुआ ही नहीं है पर बाउलगीत की दो पंक्तियाँ अन्त में मिलती हैं—

'ना लइओ ना लइओ बंधु कांचन मालार नाम
तोमार चरेण आमार शतेक प्रणाम'

वैसे तो रामानंद की प्रथम झलक के साक्ष्य पर ही जयंती की स्निग्ध आँखों में एक सांस्कृतिक रसमादन है, पर उसकी संपूर्ण प्रस्तुति बंगाली परिवार (खासकर मध्य-वर्गीय) में लड़कियों की स्थिति का संकेत करती है। उनकी गतिविधियों पर माँ-बाप का कठोर नियंत्रण होता है। उनकी अनुपस्थिति में किसी अत्यंत परिचित लड़के (रामानंद) के साथ बाहर जाने के लिए मामा (सुबोध) तक से पूछने में भी बड़ी हिम्मत जुटानी पड़ती है और अंत तक अंदेशा बना रहता है कि क्या होगा। शादी के संबंध में तो लड़की की इच्छा की कोई पूछ ही नहीं है। सब कुछ जैसे तय हो गया, उसे मानना ही है। इस मायने में बंगाली संस्कृति किसी भी प्रकार की प्रगतिशीलता के स्पर्श से दूर ही है।

(ब) गुजराती संस्कृति

गुजराती संस्कृति का मुख्य तत्व नवरात्र की 'मातृपूजा' ही है। घर के अन्दर दीपक जलाकर माँ की वन्दना की जाती है। 'गर्भ दीप घट' से कटते-छंटते अब 'गरबा' शब्द रह गया है जो गुजरात के विशिष्ट नृत्य के लिए प्रचलित हो चला है। इस नाच द्वारा ही माँ की वन्दना की जाती है। गुजरातियों में यह पर्व बड़ी धूम-धाम से मनाया

जाता है। वल्लभचंद्र नागर बड़े सेठ हैं। उनके यहाँ पूरी सजधज के साथ इसका आयोजन होता है। रामानंद उनकी बेटी किरण की ट्यूशन करता है। किरण की माँ रामानंद को उस दिन सबेरे ही अपने घर बुलाती है क्योंकि पहले तो पास-पड़ोस के सब लोग बिना बुलाए आकर सारे कार्य में हाथ बँटाते थे, पर अब वैसा नहीं रहा और किरण के घर कोई करने वाला है नहीं। सो, रामानंद सुबह से ही आकर मंडप तैयार करता है। इस प्रसंग से गुजराती संस्कृति के छोटे-छोटे भावतत्व बड़ी सहजता से चित्रित होते गये हैं। रामानंद मण्डप निर्माण में नीले के साथ सुनहले या सिंदूरी रंग का मेल करता है जिसे गुजराती में 'सोना मा मरकत' कहते हैं, ऐसा किरण बताती है। यही राधाकृष्ण का भावरंग भी है। कृष्ण भक्त डॉ० सुबोध को भी यह संयोजन बहुत जँचता है। गरबा के परिक्रमा-नृत्य के लिए बने केले के खम्भों से निर्मित मांडली के चारों तरफ झण्डियों के लहरिया वितान से पूरा आँगन 'सुधर्मा' में बदल गया है।

पूजानृत्य शुरू होता है। समान ऊँचाई की बारह गुजराती लड़कियाँ सिर पर गेंडुर में गरबी धरे मण्डप में आती हैं। सबसे आगे घर की लड़की किरण है जिसके सिर पर गरबी की जगह सहस्रछिद्र वाला कोरेला गरबा है। लड़कियों के हाथों में फूलों के गजरे बँधे हैं और बेनियों में श्वेत कुंद के गजरे सुशोभित हैं। सर्वप्रथम कालिकाजी का गरबा होता है—माँ की वन्दना के गीत गाये जाते हैं। लेखक ने विभिन्न गति-लय-ताल-यति, आकार और तालियों के निनाद आदि के वर्णन से गरबा नृत्य का हू-ब-हू चित्र खींच दिया है। पूजा-गरबा वाले वन्दना-नृत्य के बाद लोकनृत्य में वेश-भूषा और नृत्य, सब कुछ का रूप बदल जाता है। कोरेला गरबा की जगह अब किरण के सर पर भी गरबी है जो मूँगों और चुरियों से ढँकी हुई है। इस वेश में वह सच-मुच कोई गुजरिया लग रही है, रामानंद को। गरबा-नृत्य वर्तुलाकार होता है और समाप्ति पर नर्तकी बालाएँ कतारबद्ध होकर दर्शकों को नमस्कार करती हुई नेपथ्य में जाती हैं। गरबा-नृत्य के अवसर पर गाये जाने वाले एक मार्मिक गरबा-गान (लोक-गीत) का उल्लेख भी हुआ है—'मेंहदी रंग लायो री'। इस आयोजन की समाप्ति पर सभी लोग तो चले जाते हैं पर कुछ खास लोगों को जलपान के लिए रोक लिया जाता है।

गुजराती समाज में प्रचलित मुख्य भोजनों के प्रसंगानुरूप वर्णन मिलते हैं। मसलन मूँग गुजराती भोज्य का विशिष्ट पदार्थ है। इससे ढेर सारे व्यंजन बनाये जाते हैं जिन्हें देखकर रामानंद घबरा उठता है। इमली और गुड़ मिली खट्टी-मिट्ठी दाल भी गुजराती भोजन की विशिष्टता है। नाश्ते में मठरी और मिठाइयों का उल्लेख भी पिकनिक प्रसंग में मिलता है। स्वादिष्ट भोजन के बाद 'ट्रे' में मीठी सुपारी देना गुजराती पद्धति है। नागर लोग गुजरात के सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण होते हैं। उनके आचार-विचार की गरिमा भी रामानंद को खाने के अवसर पर दिखती है। इनके यहाँ हाट-केश (शंकर) की पूजा कुलदेवता के रूप में होती है। रामानंद की सुरक्षा के लिए किरण इन्हीं की मनौती मानती है।

ये सब तो सांस्कृतिक तत्व हैं ही, पर सबसे मार्मिक पहलू है, उस परिवार में किरण की स्थिति यानी उच्च वर्गीय गुजराती परिवार में लड़की (संतान) की स्थिति। पिता अपने व्यापार में और रात्रि के नौ बजे वाले 'सिनेमा शो' से फुर्सत नहीं पाते और माँ अपने बनाव-शृंगार में व्यस्त। बच्चों की देख-रेख तो बूढ़ी दाइयाँ ही करती हैं। वे माँ-बाप या किसी अपने के स्नेह-वात्सल्य के लिए तरसते रह जाते हैं। सुविधा और विलासिता भरे जीवन में मन का यह खालीपन। उनकी आत्मा घुटती रहती है।

इस वर्ग में एक-दूसरे परिवारों के बीच संबंध भी वैभव प्रदर्शन और प्रति-स्पर्धा के लिए होते हैं। इस समाज के नवयुवक हृदय के नाम पर वणिक भाव के स्तर पर सट्टाबाजार और प्रेम के नाम पर नकली हीरो, यानी एकदम, खालिस दिखावटी-संस्कारविहीन ही होते हैं। वे अपने साहित्य के प्रसिद्ध कवियों के नाम तक नहीं जानते। इसी संदर्भ में उमाशंकर जोशी जैसे ख्यातिलब्ध कवि का जिक्र भी हो गया है। शादी-विवाह के मामले में जातिगत कठोरता अपनी सीमा पर है। किरण की अंतरजातीय शादी के बाद छोटी बहन और भाई के विवाह में अड़चनें पैदा हो सकती हैं। रामानंद से शादी न करने के लिए खांदानी खोट ही कारण बनता है। सेठजी शादी नहीं करना चाहते, अतः पैसे देकर खोट खोजवाते हैं।

इस प्रकार गुजराती संस्कृति का बड़ा ही यथार्थ चित्रण हुआ है जिसमें लगभग सभी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तत्व समाहित हो गये हैं।

(स) भोजपुरी संस्कृति

जिस प्रकार बंगाली और गुजराती संस्कृति को व्यक्त करने के लिए दुर्गापूजा और गरबा के चित्रण हुए हैं, स्थानीय अंचल में प्रचलित उसी प्रकार का कोई पर्व-त्योहार-उत्सव यहाँ नहीं लिया गया है। कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर जमनादास रामानंद को अपने घर आमंत्रित करता है तो लगता है यह भोजपुरी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनेगा पर वह तो जमना-जीवन पुराण बन जाता है। बस, रात्रि बाहर बजे का घंटा बजने पर जमनादास राधाकृष्ण की मूर्ति को माला पहना, चंदन लगा अगरबत्ती जला देता है। शारदीय नवरात्र में होने वाली रामलीला और रावण की प्रतिमा को नकली बाणों से छेदने तथा जलाने का भी उल्लेख मात्र ही होता है। इसी प्रकार दीपावली के अवसर पर भी सिर्फ शहर की सफाई-सफेदी का वर्णन मिलता है और बाकी सब कुछ किरण रामानंद के प्रेमदीप (जलाने) को समर्पित हो जाता है। रक्षाबंधन पर अपने यजमानों की रक्षा के लिए ब्राह्मणों द्वारा 'रच्छा' बाँधने का जिक्र है पर यह भी तो अब सिर्फ गणेश तिवारी के खानदान में ही नहीं, प्रायः सब जगह खत्म हो गया है। अब तो रक्षा-बंधन की रस्म हर जगह प्रायः सामान्य हो गयी है। अतः आरती भी रामानंद की आरती उतारकर, टीका लगा, बाजार की लायी राखी बाँध देती है। इस दिन घर में उत्सवी भोजन भी बनता है।

इस प्रकार काशी की क्षेत्रीय तराई में रहने वाले लोगों जमनादास, हरि-मंगल, रामानंद आदि से संबंधित कथा-प्रसंगों में कोई ऐसा सांस्कृतिक तत्व प्रमुख रूप

से समाहित नहीं किया गया है। शायद इस अंचल में गरबा या दुर्गापूजा जैसा कोई प्रबल तत्व है भी नहीं जो पूरे प्रांत का प्रतिनिधित्व कर सके। लेकिन होली-दशहरा, रामनवमी आदि सब जिस रूप में मनाये जाते हैं, उसी रूप में कहीं चित्रित हो जाते तो तीनों संस्कृति के चित्रण में संतुलन भी बनता और निखार भी आता पर लेखक इसे बरा देता है। ऐसा करने के दो कारण हो सकते हैं—

एक तो शायद लेखक यह कहना चाहता तो (और शायद ऐसा हो भी) कि काशी में आये इस क्षेत्र के लोगों में ऐसा कुछ खास आयोजन होता ही नहीं, करीब होने से अधिकांश लोग जाकर अपने-अपने घर मनाते हैं और दूसरे, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि इस क्षेत्र की संस्कृति का चित्रण कृति में निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो शहर में ऐसा कोई आयोजन करने में असमर्थ होते हैं—रामामंद, जमना और हरिमंगल सभी की आर्थिक स्थिति ऐसी ही है। हाँ, इनकी बात-चीत, हाव-भाव से क्षेत्रीय वैशिष्ट्य दिखाने की कोशिश जरूर की गयी है। जैसे जमना पूछता है रामानंद से कि 'आपको आज तलक ई नहीं लौका कि हमरे भीतर बिहारी संस्कृति है, कुछ बुझाता नहीं, अयँ ?' और रामानंद स्वीकार करता है कि अब बुझाय रहा है पंडित जी, खूब लौकता है मुझे कि तुम बात-बात में बबुनी की तरह लजाय काहे जाते हो।[22] इसमें भाषा और हाव-भाव से ही लेखक पहचान कराता है जो इसे न जानने वालों के लिए बोधगम्य नहीं है।

हाँ इस वर्ग की नारियाँ जो कृति में आयी हैं, उनसे पूरे क्षेत्र की अंदरूनी संस्कृति खूब खुल सकी है। किरण और जयंती में तो उनकी वर्गीय स्थितियाँ ही प्रतिबिम्बित हो सकी हैं, पर लाजो, राजमती और रामानंद व जमना की माँएँ आदि सभी पूरे क्षेत्र की स्थितियों को फाड़कर रख देती हैं। यहाँ पुरुष प्रधान व्यवस्था में वर्जनामूलकता अपनी चरम सीमा पर है जो नारी के रूप में संस्कृति को सोखती जा रही है।

इनके अलावा कुछ अंधविश्वासपरक तत्व कथा के प्रवाह में सहज ही आकलित हो गये हैं। झूरी 'बरम बाबा' की फुनगी में नाव बाँधकर अपना बुखार भगाना चाहता है और राजो के परिवार वाले ओझइती को ही सभी मर्ज की अचूक दवा समझते हैं। और किसी सांस्कृतिक लोकतत्वों का समावेश प्रायः नहीं हुआ है।

(द) आधुनिक संस्कृति : भटकन के रूप

समसामयिक युग में एक नयी संस्कृति भी उभर रही है जिसमें कुछ तो पाश्चात्य संस्कृति की कोरी नकल है और कुछ 'मिक्सचर' के रूप में पनपी है, पर जो भी है, समाज को गलीज के गर्त की तरफ ही ले जा रही है। होटेल फिलाडेल्फिया में चल रहा सारा क्रिया-व्यापार इसका नमूना है। उत्तेजनात्मक नृत्य, नशीले प्रेम और उच्छृंखलता की हद को छूती पार्टियों के अलावा 'कालगर्ल्स' भी इस संस्कृति के अनिवार्य आयाम हैं। जिस शहर में दूसरी पत्नी रख लेने वालों की पत्नियाँ (रामानंद

22. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 316.

की माँ) अपनी शान-मान को सहेजती एक संयमित जीवन बिता रही है उसी शहर में लड़कियाँ तीस, चालीस और पचास की दर से रातों व घंटों के लिए बिक रही हैं। यह सब कुछ अब छिप-छिपाकर नहीं होता या इसे गिरी निगाहों से नहीं देखा जाता बल्कि यहाँ आना बड़े आदमियत और उच्च सामाजिक स्तर (हायर सोशल स्टेटस) की पहचान है। कॉलेज की लड़कियाँ भी 'काल गर्ल्स' के पेशे में आती जा रही हैं—लीला खन्ना का होटेल फिलाडेल्फिया में आना इसी का संकेत है। वैसे आज तो फैशन की ज़रूरतों के चलते बड़े शहरों में यह आमदनी का ज़रिया बन गया है।

'बर्थ डे पार्टियाँ' पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से ही शुरू हुई हैं। आरती की 'बर्थ डे पार्टी' में आयी उसकी सहेलियों की पोशाक, भाषा और विचार तक में सांस्कृतिक पतन की सीढ़ियाँ साफ-साफ दिखती हैं। आरती की भटकन में लेखक ने इसके परिणाम को भी व्यक्त कर दिया है। लड़कियों का 'ब्वाय फ्रेंड' रखना, सिगरेट पीना आदि इस आधुनिक संस्कृति के तत्व हैं पर इस आधुनिकता (की बुनियाद) पर रामानंद की टिप्पणी इनकी नकल और थोथे दिखावे को व्यक्त कर देती है—'क्या सचमुच हमारे देश की औरतें इतनी खुली और आधुनिक हो गयी हैं अथवा इस आधुनिकता को सिर्फ नकली केंचुल की तरह अपने ऊपर चिपकाए ये देशी धामिनें मादा कोबरा बनने का स्वांग करती हैं।[23]

लेखक ने दुर्गापूजा आदि उत्सवों पर होने वाले सौन्दर्य के प्रकाशन, विनिमय के भी संकेत किये हैं जो सांस्कृतिक आयोजनों को भटकाने वाले तत्व हैं। गरबा में तो अब इस तरह के बहुत से तत्व समा गये हैं जिनके संकेत भी अभीष्ट हो सकते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुजराती और बंगाली संस्कृतियाँ अपने-अपने मौलिक रूपों को संजोए हैं, भले वे अपने स्थल छोड़ आयी हैं, पर जब सब एक ही साथ एक ही अवसर (शारदीय नवरात्र) पर प्रस्फुटित होती हैं तो काशी इन्हें अद्भुत रूप से अपने में समाकर एक संस्कृति में प्रस्तुत करती है जिसे सामने लाना लेखक का उद्देश्य रहा है। इन्हें मुख्य रूप से उपन्यास की शुरुआत में ही एक-एक करके दिखा दिया गया है और फिर विस्फोट होता है—युवा आक्रोश का। इस तरह कथा के संयोजन में भी संस्कृति पृष्ठभूमि के रूप में ही प्रयुक्त हुई है।

(3) काशी की सम्पूर्ण प्रस्तुति

कथा का मुख्य स्थल होकर भी बनारस चित्रित हुए बिना कैसे रह जाता, पर यहाँ लेखक का इरादा भी ऐसा रहा है कि काशी अपने सही रूप में सामने आ जाये—'गली आगे मुड़ती है' में बनारस का असली रूप है। जो यहाँ की असली रंगत है, वह इसमें बहुत साफ होकर सामने आयी है।[24] जैसा कि उद्धृत किया जा चुका है कि काशी पर दो और उपन्यास लिखने की शिवप्रसाद जी की योजना है तो वे प्राचीन और मध्यकालीन काशी (के चित्रण) पर आधारित होंगे और प्रस्तुत उपन्यास में 'आज

23. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 277.

24. सारिका—1, फरवरी—1980, पृष्ठ 14 पर लेखक के साक्षात्कार से।

का बनारस है जो संस्कृतियों की टकराहट से धूमिल नहीं हुआ है।'[25] ऐसा लेखक का विश्वास है।

'गली आगे मुड़ती है' में बनारस का समग्र रूप देखा जा सकता है। उपन्यास के प्रथमार्ध में कथा-नायक शहर के दक्षिणी भाग में सक्रिय रहता है और वहाँ के सभी स्थल घाट, श्मशान, रास्ते-चौराहे, मंदिर-मूर्तियाँ, बाग-बगीचे आदि सब एक-एक करके चित्रित होते चलते हैं। फिर कथा के उत्तरार्द्ध में माँ की यात्रा और प्रेमिका के साथ पिकनिक के माध्यम से रामानंद को शहर के उत्तरी भाग में पहुँचाकर उसका भी चित्रण किया गया है। इसी को देखकर दिल्ली में हुई किसी गोष्ठी में श्री अजित कुमार ने इसे बनारस की 'गाइड' तक कह दिया, पर आलोचक महोदय इसके पीछे छिपी सांस्कृतिक झाँकी और काशी से संबद्ध ऐतिहासिक पौराणिक सन्दर्भ सम्पन्न लेखकीय दृष्टि पर यदि ध्यान दें तो समझ सकते हैं कि यह कितना अध्ययन परक, श्रम साध्य और जहीन कार्य है। न हो तो दिल्लीवासी महोदय दिल्ली की एक ऐसी ही गाइड लिखकर देख लें। खैर,

शहर के आकार और बनावट को लेकर अनेक स्थलों पर विभिन्न कोणों से बात की गयी है। (स्थलों के नाम और आकार-प्रकार आदि को पौराणिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों के तहत विश्लेषित किया है) शहर में पहुँचते ही रामानंद सोचता है, 'बनारस भी क्या अदा से बसा हुआ शहर है। गंगा को धनुषाकार होना था तो यहीं क्यों हुई और हुई तो अपने सारे मरोड़ को एक शहर में क्यों बदल दिया।'[26] फिर इस शहर की महिमा को लेकर 'ब्रह्मवैवर्त' का उदाहरण दिया गया है जिसमें काशी को शाश्वत और अमरज्योतिपुंज के रूप में माना गया है। उक्त धनुषाकार को ही अन्यत्र प्रकारांतर से चंद्राकार (अर्ध) भी बताया गया है। किसी नागा बाबा के घर टंगे बड़े-से शीशे में बने चित्र में भी काशी अर्धवृत्ताकार रेखा जैसी ही लगती है। शहर का मध्यबिन्दु पंचगंगा है जो उस छायाचित्र में नगीने की तरह जड़ा लगता है। परन्तु यही काशी अंत में विपन्न रामानंद को वनमानुषों की हथेली में सिमटी हुई-सी लगने लगती है। क्या यह काशी का आज का परिवर्तित रूप है, क्या वह ऐसे वनमानुषों की हथेली में आज ही सिमट गयी है कि सुशिक्षित, विद्वान रामानंद अपमानित-पराजित किया जाता है ? नहीं, लेखक ने काशी की इस परम्परा का उल्लेख भी किया है—तुलसी की अवहेलना भी इसी शहर में हुई और दयानंद को यहीं झूठ बोलकर, धोखेबाजी से पराजित किया गया। यह शहर आदि काल से ही ब्रह्महत्याओं का शहर है आधुनिक युग के लिए 'मासमर्डर ऑफ इंटेलेक्चुअल्स'।

काशी गुंडों का शहर भी है—बनारसी गुंडे मशहूर हैं। किन्तु हरिमंगल पर छिपकर वार करने वाले गुण्डे या वी० पी० एन० जैसे शातिर बदमाश काशी की गुण्डा-

25. सारिका—1, फरवरी—1980, पृष्ठ 14 पर लेखक के साक्षात्कार से।
26. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 11.

परम्परा के परिवर्तित विरूप हैं। हाँ रजुल्ली जैसे एकाध गुण्डे भंगड़भिक्षुक और दाता-राम नागर जैसे दिलावर गुण्डों की परम्परा के अवशेष रूप में जीवित है।

आलोच्य कृति में आये पौराणिक सन्दर्भ आज की काशी के साथ एकदम सटीक रूप से जोड़ दिये गये हैं। जैसे धुरहड्डी के दिन होली मनाने यहाँ के नागरिक आज भी पहले चौंसठी घाट ही पहुँचते हैं क्योंकि राजा दिवोदास के शासन में गड़बड़ी फैलाने के लिए विश्वनाथ द्वारा भेजी गयी योगनियाँ काशी के नागरिकों पर मुग्ध होकर यहीं रह गयी थीं। वे काशी के मशहूर मगही पान पर भी फिदा थीं। सूर्य का नाम 'लोलार्क' भी काशी का ही दिया हुआ है। वे भी योगनियों की तरह नगर के सौन्दर्य पर लुब्ध होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो गये थे। अंत में राजा देवोदास (रिपुंजय) के सुव्यवस्थित शासन—जहाँ न देवता थे, न राक्षस अतः न निन्दा थी, न स्तुति, न पूजा, न अंधविश्वास यानी सब बराबर थे—को अव्यवस्थित करने के लिए ढुण्ढिभण्डारक नामक ब्राह्मण को भेजकर विश्वनाथ सफल होते हैं और इस तरह आज की अव्यवस्था को बड़े कौशल से इसके साथ जोड़ दिया गया है कि यह तब से ही चली आ रही है। लेखक कहता है कि व्यवस्थित को अव्यवस्थित करने की यह कैसी लीला चल रही है ....हे विश्वनाथ मेरी रक्षा करो। कहाँ जायें…।'

इसी तरह पंचगंगा के साथ जुड़ी अन्य चार नदियाँ पौराणिक लोकश्रुतियों के आधार पर शापग्रस्त होकर काशी में रह गयीं। चार कन्याएँ हैं जिनके नाम पर ही इन नदियों के नाम रखे गये हैं—धूतपापा, चंद्रा, मैंगलागौरी और सरस्वती।

'गली आगे मुड़ती है' का पण्डाख्यान भी किसी पौराणिक कथा से कम नहीं है। अपनी बहादुरी, बुद्धिमानी से भरे कारनामों की खालिस गप्पें यहाँ के पण्डों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही हैं जिनमें ये लोग अपनी-अपनी कायरता, आवारगी और घरफूंकमस्ती को छिपाते चले आ रहे हैं। ये काशी के अविभाज्य अंग है जिनके बिना शहर का चित्रण कदापि पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

ऐतिहासिक वर्णन के एक दो स्थल इसके एकदम अछूते पहलू को उजागर करते हैं—खासकर सारनाथ को लेकर जो प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल है। वहाँ मूलगंध-कुटी बिहार में बने चित्रों को किन-किन परिस्थितियों में कैसे-कैसे कष्ट सहकर जापानी चित्रकार ने बनाये जबकि जापान सरकार ने उसे पैसे भेजने बन्द कर दिये थे। शायद यह अकुंठ समर्पित भावना ही है जो इन चित्रों के अनुपम सौन्दर्य में साकार हो उठी हैं। इसी तरह कर्दमेश्वर का मंदिर है। लेखक बताता है कि 'यही (काशी) एकमात्र मन्दिर है जो तोड़ा न जा सका और आज भी इसका स्वच्छ-सुडौल स्थापत्य हमारी परम्परा की धरोहर के रूप में खड़ा है।'[27]

काशी मन्दिरों का शहर है और 'यही एकमात्र ऐसा शहर है जो पाँच मील से भी लम्बी डोर में शिवालों की माला पहने खड़ा है। छोटे-छोटे देव विमानों की

---

27. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 466.

तरह साफ लिपे-पुते शिवालों की एक कतार पंचक्रोशी सड़क को घूरती चली जाती है।'[28] मुख्य रूप से दुर्गामंदिर, विश्वनाथ मंदिर, सिद्धेश्वरी, कर्दमेश्वर और सहस्र-रत्नदीप मंदिरों के उल्लेख हुए हैं। इन्हीं सबके कारण काशी से जुड़ी धर्मसम्मत मान्यताएँ व विश्वास भी हैं। काशी में दीपदान करने और यहाँ के किसी बाबा की कृपा से सेठ राजेश्वरीप्रसाद के लकवा मारे हाथ की टेढ़ी उँगलियाँ सीधी हो गयीं और उन्होंने कोठी व मंदिर बनवाए तथा काशीवास करने लगे। काशी में मरने से स्वर्ग प्राप्त होता है, इस विश्वास से भी तमाम लोग आकर काशीवास करते हैं और यह सब कुछ काशी के निर्माण में मुख्य भूमिका निभाने वाले तत्व हैं।

इनके अलावा काशी में बहती गंगा और उसमें चलती नावों से इधर-उधर जाने आने के अनेकानेक वर्णन आये हैं जो बनारस को मूर्त करते हैं। श्मशान के भी बड़े सजीव चित्र आकलित हुए हैं। इसमें ठठेरी बाजार की भीड़-गहमागहमी, सट्टा-बाजार की बोलबद व काईयाँपन भी है, रास्ते चलते जेब उड़ाने वाले भी हैं और सड़कों को मंसायन करने वाले तमाशबीन भी।

इस प्रकार लेखक एक-एक करके उन सभी तत्वों को आकलित करके काशी को संपूर्णता में प्रस्तुत कर सका है जिनसे इस नगरी की एक अलग ही पहचान बनती है।

कथ्य के कुछ अन्य पहलू

युवा आक्रोश और बनारस की संस्कृति की शक्लों के साथ समकालीन काशी को चित्रित करने में कुछ अन्य पहलू भी कथ्य में शामिल हो गये हैं जो अनिवार्य रूप से जीवन में व्याप्त हैं। इनमें प्रमुख हैं—

(अ) राजनीति

लेखक ने युवा आक्रोश की पृष्ठभूमि में संस्कृति को रखा है, पर इस मसले में राजनीति को आना तो था ही और वह आयी है, सिर्फ जरूरत भर ही किंतु जितनी आयी है, वह इतनी कम भी नहीं कि उसे नजरअंदाज किया जा सके।

सुबोध के बचपन की जिन्दगी को लेकर राजनीतिक घटनाओं की शुरुआत तो विभाजन और हिन्दू-मुस्लिम दंगों से होती है, पर इसमें आज की राजनीति का असली रूप ही विशिष्ट रूप से अंकित हुआ है। उपन्यास में राजनीति का व्यक्त रूप विविध स्तरीय है। हिन्दी आंदोलन में राजनीति का राष्ट्रीय स्तर एकदम सीधे व्यक्त हुआ है। संविधान की शब्दावली और नेहरू जी की बातों को लोग अन्यथा और अपने-अपने अनुसार विश्लेषित करते हैं, जिससे यह विशाल आंदोलन खड़ा हो जाता है। इसके बाद तमाम छोटे-छोटे स्तर पर व्यक्त रूप भी विस्तृत परिप्रेक्ष्य की राज-नीति के आईने बनकर ही चित्रित हुए हैं। जैसे जो प्रवृत्तियाँ विद्यार्थी-नेताओं के संदर्भ में उभरी हैं, विश्वविद्यालयीय स्तर पर, उसकी व्यंजनाएँ देश के बड़े राजनीतिज्ञों की तरफ संकेत करती हैं। उनके लिए गरीब लोगों की जहीन समस्याएँ भी छोटी

28. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 467.

और अपने निहित स्वार्थों के तहत छेड़े गये आंदोलन जुलूस आदि की योजनाएँ और भाषण प्रमुख होते हैं। इस रूप में देबू आदि विद्यार्थी भी वी० पी० एन० जैसे बदमाशों के समकक्ष ही लगते हैं क्योंकि इनके पास भी उन्हीं की तरह के अपने-अपने गिरोह हैं और ये भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति में उसी स्तर पर उतरकर कार्य करते हैं—मारपीट, लड़ाई-झगड़ा। रमेन्द्र जैसे विद्यार्थियों का निकलकर अलग गुट बनाना और झूठी बातों से फूट पैदा करना आधुनिक नेताओं की फितरत है। यहाँ विद्यार्थियों को उकसा-बहकाकर अपने-अपने हितों की सिद्धि के लिए राजनीतिक उपयोग में लगाने वाले राजनीतिज्ञों की टुच्ची राजनीति का रूप भी मिलता है जो देश की युवाशक्ति को बर्बाद करती जा रही है—भविष्यत् की हत्या करती जा रही है।

वोट के जमाने में लोकल नेताओं की कोशिश ज्यादा से ज्यादा उगाह लेने की होती है। लेखक बताता है कि इसमें वे गरम कपड़ों से लेकर एक प्लेट आमलेट और एक प्याली चाय तक पर उतर आते हैं! इनके लिए कुछ कमा पाने का 'एलेक्शन' ही 'सीजन' होता है। यही सब कुछ अब अपने लोकतंत्र की विशेषता बन गया है। लेखक यहाँ भी स्पष्ट कर देता है कि जब बड़ भैये कर रहे हैं तो छुट भैये क्यों न करें। इस तरह यहाँ भी राष्ट्रीय स्तर की राजनीति की व्यंजना देखी जा सकती है। अंत तक आते-आते आम-तौर पर राजनीति का सही रूप भी देवू रामानंद की चर्चा के दौरान स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में ईमानदारी नैतिकता, मानवीयता आदि को ताक पर रखकर सिर्फ अवसरवादी बनकर ही जिया जा सकता है। इसीलिए रामानंद से राजनीति नहीं हो पाती। वह अपनी ग़लती कबूल करता है कि वह पुराने ऋषियों की बातें भी भूल गया था—

राजशास्त्रं भवेद् गौरं सारिका वदनं शुभम्।
अक्षसूत्रं फलं विभ्रद् ननाहारं कमंडुलम्॥

(ब) भ्रष्टाचार

युवा आक्रोश की पृष्ठभूमि में भ्रष्टाचार ही मुख्य है। उपन्यास के साक्ष्य पर वर्तमान युग को 'भ्रष्टाचार युग' कहें तो अनुपयुक्त नहीं होगा। शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार प्रतिभाशाली विद्यार्थियों की जिन्दगी नष्ट हो रही है। सामाजिक भ्रष्टाचार के शिकार जमनादास व रामानंद की माँ हैं जो शादी प्रथा से जुड़ा हुआ है। इसी के दूसरे पहलू किरण-जयंती के संदर्भ में खुलते हैं और जाति प्रथा अपनी जगह पर है ही। धार्मिक भ्रष्टाचार भी राम कीरतदास और पंडों के प्रसंग से खूब जमकर खुल सका है। अनाचारी कारनामों में मुब्तिला सारी युवाशक्ति ही भ्रष्ट हो गयी है—रमेन्द्र माथुर देबू, रजुल्ली और सबका सरदार वी० पी० एन०। सरेआम घाटों पर सुनियोजित रूप से चोरी, धोखाधड़ी हो ही रही है। 'फिलाडेफिया' जैसे होटल हर तरह के भ्रष्टाचार के केंद्र हैं और तमाम भ्रष्टाचारों की जड़ है 'सेक्स।' इसी में ही सब कुछ सिमटकर रह गया है। जयंती कहती है 'हमारे बंगाली समाज में (पर यही हाल पूरे समाज का है) शराब और सेक्स, बस ये दो ही लक्ष्य रह गये

हैं....कोई कवि बनने चला तो बुभुक्षित पीढ़ी के नाम पर सेक्स का शिकार हुआ, चित्रकार बनने चला तो अश्लील, नंगे और भद्दे चित्र बनाने लगा। सर्वत्र एक ही मुद्रा है जिसके बीच में अंकित है एक लड़की....उसके हम उम्र क्रुद्ध लोग उसे नोचने के लिए मोरचा बाँधे खड़े हैं। उसे नौकरी तब तक नहीं मिल सकती जब तक वह अपना सौदा न कर ले।'[29]

किंतु 'गली आगे मुड़ती है' के भ्रष्टाचार का सर्वाधिक सशक्त पक्ष सरकारी महकमों में व्याप्त भ्रष्टाचार के रूप में व्यक्त हुआ है। वर्तमान युग में यह क्षेत्र भ्रष्टाचार के लिए सरनाम भी है और जीवन को सर्वाधिक प्रभावित भी करता है। दफ्तर में ईमानदारी से सही काम करने वाले, नाजायज खर्च पानी न लेने देने वाले व्यक्ति के साथ पूरा महकमा इस तरह असंतुष्ट होता है कि उसे (हरिमंगल को) बाहर निकलना पड़ता है। मनमानी लूटपाट चल रही है। यही हाल पुलिस विभाग का है। अव्वलन तो इंस्पेक्टर बिना माल-पानी के बंदोबस्त वाले मामले में हाथ लगाते ही नहीं, चाहे वह सोलहो आने सही क्यों न हो। अगर कहीं खुदा न खास्ते कोई (इंस्पेक्टर शर्मा) सही काम में हाथ लगाता भी है, गुण्डों बदमाशों की धरपकड़ करके भ्रष्टाचार को मिटाने की कोई पहल करता भी है तो उसे किसी गलत काम में फँसाकर या तबादला करके ऐसा तंग किया जाता है कि बस वह भी उसका एक अंग बनकर रहने पर मजबूर हो जाता है।

हमारी सरकार का रवैया ही ऐसा है कि व्यावहारिक जीवन में कोई सुधार लाने की गरज से कोई काम होता ही नहीं। हाँ, सस्ती प्रसिद्धि पाने के लिए दिखावे के रास्ते अख्त्यार किये जाते हैं। बाढ़ के दृश्य का हेलीकॉप्टर से मुआयना करना ऐसी ही 'चीप पाप्युलैरिटी' पाने का नमूना है। हमारी सरकार हरिजनों की सहायता करके अपनी नेकनीयती जाहिर करती है (हालाँकि यह वोट पाने की चालबाजी है) पर यह रुख भी उनकी तबाही का कारण बन कर रह जाता है क्योंकि अन्य लोग इसे सौतेला व्यवहार समझकर उत्तेजित हो जाते हैं।

इस प्रकार चारों तरफ व्याप्त भ्रष्टाचार को लेकर इतने सारे स्पष्ट चित्रणों के बाद लेखक इसकी अपरिमेयता प्रकट करने के लिए लिखता है कि 'यह कीचड़ जाने कहाँ तक पाल मारे होगा'....और इन सबसे घिरा हिन्दुस्तान लेखक के ही शब्दों में, एक बेहूदा 'मस्टर रोल' बनकर रह गया है।

(स) पीढ़ियों का टकराव

निरंतर परिवर्तमान स्थितियों के तहत हर देश काल में पीढ़ियों का द्वंद्व अनिवार्य रूप से एक समस्या बना रहता है। शिवप्रसाद सिंह के संपूर्ण कथा लेखन में शुरू से लेकर अंत तक इसकी व्याप्ति उल्लेखनीय है और जैसा कि कहानियों व 'अलग-अलग वैतरणी' दोनों के ही संबंध में कहा जा चुका है कि इन्हें भरोसा नयी पीढ़ी के मुकाबले पुरानी पीढ़ी पर कुछ ज्यादा ही है। यह दृष्टिकोण यहाँ

29. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 212-13.

भी पूर्ववत् बरकरार है या इसमें परिवर्तन नहीं हुआ है, जो कि कोई स्पष्ट उल्लेख भी मिलता नहीं, पूर्व लेखन के मुताबिक। यहाँ दोनों ही पीढ़ियों की आपसी टकराहट को उनकी कमियों के साथ खूब जहिराया गया है। मसलन—(1) हरिमंगल कहते हैं 'चाहे कुरसी हो, चाहे धन-दौलत हो, चाहे सुख-सुविधा हो, चाहे औरत हो, आज हर चीज पर कब्जा करने के लिए पुरानी और नयी पीढ़ी में कशमकश है।'[30] (2) डॉ॰ सुबोध स्वीकरते हैं कि दोनों ही पीढ़ी 'जिन्दगी में व्यक्तिगत लाभ को हमेशा तरजीह देती है[31] और (3) यहाँ तक कि 'बकौल देबू छात्रों और युनिवर्सिटी के अधिकारियों के बीच खिचाव का मुख्य कारण पीढ़ियों का वह अंतराल है जिसके कारण हम एक दूसरे को समझ नहीं पाते।'[32] इस प्रकार पीढ़ियों की यह टकराहट अपने-अपने स्वार्थ, सुख और सुविधाओं के तहत समस्त समस्याओं की जड़ के रूप में पेश हुई है जो एकदम हकीकत पर आधारित है। लेखक कहीं किसी आग्रहवश पुरानी पीढ़ी को साफ-पाक रखने की कोशिश भी नहीं करता। वह उनकी कमजोरियों को रामानंद, जमुना, श्रीकांत व किरण तक के पिताओं के माध्यम से खूब उघाड़ता है।

परंतु देश को सुधारने की आशा तो अमूमन नयी पीढ़ी से ही होती है और यह आशा पुरानी पीढ़ी वाले भी करते हैं कि वह अस्वस्थ प्रवृत्तियों को खत्म करके स्वस्थ सृजन कर सकेगी। प्रस्तुत रचना के आलोक में ऐसी आशाओं को पूरी करने की उम्मीद किसी भी नवयुवक से बँधती नहीं। पूरी की पूरी पीढ़ी, पढ़े-लिखे से लेकर अनपढ़-गँवार तक चाहे वह रामानंद-देबू हों या रजुल्ली; स्वार्थी, अहंनिष्ठ, कायर, व्यक्तिवादी, अकर्मण्य, बड़बोली और पाखण्डी हो गयी है। वह कर्म के नाम पर धोखेबाजी जालसाजी में मशगूल है। परिस्थितियों से जूझने और उसे माकूल बना लेने की हिम्मत और लगन उसमें है ही नहीं।

एक हरिमंगल सिंह है अलबत्ता, जिनकी बावत कहा जा चुका है कि सब कुछ दाँव पर लगाकर देश और समाज के लिए कुछ कर गुजरने वाले युवक के रूप में उनका रचनात्मक महत्व ही बन पाता है वरना बाकी सबके लिए तो बकौल राजमती, सिर्फ डींग हाँकना भी लोगों का, खासतौर पर नये लोगों का, स्वभाव बन गया है।'[33]

इस प्रकार दोनों पीढ़ियाँ अपनी सारी कमजोरियों के साथ आपसी द्वन्द्व की मुहिम बनाये और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को विस्मृत किये जिस प्रकार चल रही हैं, उसका वैसा ही चित्रण, अत्यंत संक्षिप्त होने के बावजूद, कृति में सार्थक रूप से उभर सका है।

(द) बुद्धिजीवी क्रिया-व्यापार

यह भी लेखक की चिंताधारा का बड़ा पुराना पहलू है जो कहानियों में बेहद

---

30. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 130.
31. वही, पृष्ठ 208.
32. वही, पृष्ठ 361.
33. वही, पृष्ठ 390.

सांकेतिक रूप से जाहिर होता रहा, 'अलग-अलग वैतरणी' में थोड़ी स्पष्टता लेकर उभरा और यहाँ एकदम खुलकर साफ-साफ शब्दों में बुद्धिजीवियों की असली प्रवृत्तियों का खुलासा करता हुआ व्यक्त हुआ है। लगता है कि लेखक का धैर्य टूट चुका है। चरित्रों की गतिविधियों में तो इसका प्रतिरूप है ही, पर रामानन्द जयंती की बात-चीत में इसका जैसे उफान आ गया। जयंती साफ-साफ पूछती है कि 'क्या यह सही नहीं है कि आज का साहित्यकार या अध्यापक इतना सुविधाजीवी और कायर हो गया है कि वह युवा की समस्याओं से अपने को जोड़ने में भय का अनुभव करता है।'[34] फिर तो साहित्यकार अध्यापकों के इसी प्रसंग के माध्यम से बुद्धिजीवियों की यह 'बौद्धिक वंचना' है और 'बौद्धिक हैं ही कहाँ', सभी नौकर हैं 'आदि तमाम बातें एकदम सीधे' और खुलकर कही गयी हैं। युनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग को खास तौर पर लिया गया है—'सब मुड़कर कट्टा वीर हैं'। आपस में खुल्लमखुल्ला खड्गप्रहार करके सब अपनी गरदनें काट चुके हैं। अब मुखौटा लगाकर अपने को बौद्धिक और 'अल्ट्रामाडर्न' साबित करते हुए अपने स्तर, पद की गरिमा को छोड़कर छात्रों के साथ चाय-नाश्ता कर रहे हैं।

इसके अलावा सुबोध का अतीत चिंतन और रामानन्द का अपने बारे में जयंती के सामने स्वीकार आदि सब कुछ बुद्धिजीवी क्रिया-व्यापार ही है।

इस प्रकार समस्याओं को लेकर बुद्धिजीवियों का निःसंग, निरपेक्ष बनकर 'टाइमपास' करने के पीछे छिपी उनकी कायरता, स्वार्थ व सुविधा परस्ती, नैतिक पतन, उच्छृंखलता आदि को बिना किसी लागलपेट के एकदम बेबाक ढंग से कह दिया गया है।

'चरित्र-विधान'

चरित्र-विधान के अंतस्सूत्र

'गली आगे मुड़ती है' का चरित्र-विधान कथ्यानुवर्ती है। इसके चरित्रों से कहानियों की तरह कथ्य प्रस्फुटित नहीं होते और न ही 'अलग-अलग वैतरणी' के चरित्रों जैसे इनमें असहज मोड़ ही आते हैं क्योंकि ये तो पूर्व नियोजित रूप से कथ्य के इंगित बनकर जनमते हैं, कथ्य में से फूटकर निकलते हैं। इस प्रकार यहाँ पहुँचकर लेखक के चरित्र-विधान की रचना-प्रक्रिया बिल्कुल दूसरे छोर पर अवस्थित हो गयी है।

पात्रों की प्रवृत्तिगत घटकबद्धता भी यहाँ नहीं है। इसके पात्र तमाम परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के तहत वास्तविक मनुष्य की जिन्दगी जी भोग रहे हैं। अधिकांश चरित्रों में प्रतिनिधि और विशिष्ट का फर्क करना भी खासा मुश्किल हो गया है। सिर्फ वी० पी० एन० ही युवा वर्ग को गलत राह पर ले जाने वाले वर्ग का स्पष्ट प्रतिनिधित्व करता है। प्रतिनिधि पात्रों के समानांतर एक नया आयाम उभरा है

---

34. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 214-15.

जिनमें अधिकांश पात्र प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुए हैं। जैसे किरण, जयंती व लाजो क्रमशः गुजराती, बंगाली और भोजपुरी संस्कृति के प्रतीक चरित्र हैं। शायद इसीलिए मधुरेश जी को लगता है कि 'गली आगे मुड़ती है' में स्त्री पात्रों का विवेचन रोचक भी हो सकता है और संभावनापूर्ण भी'[35] पर लाजो के अलावा और किसी नारी पात्र में वैसी कोई सम्भावना नज़र नहीं आती—हाँ किरण-जयंती के प्रेम प्रसंग रोचक ज़रूर हैं।

इसी तरह प्रारंभिक गतिशीलता के बावजूद अन्त तक आते-आते प्रायः सभी पात्र स्थिर साबित होते हैं। सिर्फ हरिमंगल अंत तक गतिशील रह पाते हैं जिसका मूल्य उन्हें चुकाना पड़ता है। पात्रों की यह स्थिरता स्थितियों की उस भयंकरता को व्यंजित करती है जिनके सामने जहीन व्यक्तियों की तेज़ धारें भोथरी बनकर रह जाती हैं।

कुछ चरित्रों की गतिविधियाँ व सोच-विचार के ढरें अस्तित्ववादी चिंतनशैली से मेल खाते हैं। जमनादास की आत्महत्याएँ व उन्हें लेकर उसका चिंतन और संत्रास घुटन-बेचैनी की स्थितियों में हरिमंगल की चिंतनधारा व उसमें प्रयुक्त भाषा इसके बड़े मुखर प्रमाण हैं। जमनादास की पत्नी रामकली अप्रत्यक्ष-अशरीरी होकर प्रकट हुई है, वह रामानन्द से बात करती है जिसे लेखक ने स्वयं ही 'हैलूसिनेशन' कहकर बता दिया है। वैसे रामानन्द को जयंती बहुत बड़ा 'साइकॉलोजिस्ट' मानती है। शिवराम तथाकथित मार्क्सवादियों को उजागर करता है और सुबोध में मार्क्सवाद के साथ कृष्ण-भक्ति का अभिनव (क्या चमत्कारित भी ?) संयोजन हुआ है जो 'अनकॉमन' (दुर्लभ) भी हो गया है।

प्रायः पात्रों से एक दूसरे के बारे में कहलवाकर उनकी चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट की गयी हैं। सभी पात्रों को जोड़ने की कोशिश रामानंद अकेले करता है जिससे उसका विस्तार, बिखराव सा लगने लगता है। लेखक अपनी रौ में इससे बचने की कोई कोशिश नहीं करता। कथा के अंत में काशी छोड़ते हुए रामानन्द प्रायः सबसे भेंट करता है। सभी के प्रसंग अलग-अलग होने से बड़ी जल्दबाजी करनी पड़ती है। रामानन्द को भागने की जल्दी थी, पर लगता है कि उससे ज्यादा जल्दी लेखक को थी, उसे भगाने और कथा को समाप्त करने की। रामानन्द ही क्यों, उपन्यास की समाप्ति पर प्रायः अधिकांश पात्र कथाभूमि से लुप्त रहते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' में भी ऐसा ही होता है पर यहाँ तो किरण के साथ-साथ उसी दिन अचानक जयंती की शादी व रामानन्द के भागते समय ही उसके पिता का शहर में प्रवेश आदि सब कुछ इतने आकस्मिक रूप से घटित होता है कि इतनी सब संयोगाश्रित (बेस्ड ऑन कोइन्सी-डेन्सेज) आपाधापी सहज नहीं लगती। इससे पात्रों-घटनाओं पर लेखक का नियंत्रण (कन्ट्रोल) जहिराने लगता है—जहिरा जाता है। यह सब कुछ जीवन की (वर्तमान भी) आपाधापी से मेल नहीं खाता। इस प्रकार चरित्रांकन संबंधी दृष्टि व प्रक्रिया

35. समीक्षा—नवम्बर-दिसम्बर—1974, पृष्ठ 27.

बदली है, पर इस बदलाव का अधिकांश यथार्थिकता के तहत साहित्य को रास आयेगा, इसमें सन्देह है। अब आइए कुछ प्रमुख चरित्रों को अलग-अलग देखें—

(1) रामानंद

चरित्रांकन के संबंध में यदि रामानंद को इस उपन्यास का सिर्फ नायक कह दिया जाये तो बात बनेगी नहीं। यहाँ तो रामानंद ही उपन्यास है और उपन्यास ही रामानंद है। वह कृति में सर्वत्र विराजमान आदिसत्ता की तरह है। सिर्फ हरिमंगल व लाजो के 'पंचगंगास्नान' के अवसर पर अपवाद स्वरूप वह पुण्यलाभ नहीं ले पाता। (हालाँकि बाद में आकर मंत्रोच्चार व आशीर्वचन का विधान संपन्न करता है) वरना उपन्यास का कोई ऐसा प्रसंग नहीं है जिसमें रामानंद मौजूद न हो। किरण-जयंती से संबद्ध प्रेमप्रसंग हों या सांस्कृतिक आयोजन, छात्रों का जुलूस हो या आरती की पार्टी, युवजनसभा हो या होटेल फिलाडेल्फिया के रंगारंग दृश्य, साधु जमनादास का जीवनवृत्त हो या हरिमंगल की संघर्षगाथा, कुछ भी बिना रामानंद के पूर्ण नहीं होता। झुलनी बुढ़िया को बाढ़ से बचाने व झूरी-दम्पति की दवा-एक्सरे से लेकर श्रीकांत को पागलपन और रूपचंद को रेलवे पुलिस के एक कर्मचारी के चंगुल से छुड़ाने तक के सारे कार्य रामानंद ही तो करता है। इन सबमें कथात्मक सूत्रों को जोड़कर सहजता लाने का प्रयास सराहनीय है पर, कहीं-कहीं यह उपस्थिति उसके अवसंगत (मिसफिट) होने की झलक दिखा जाती है—मसलन आरती की गीत पार्टी देखने के लिए घर में छिपना या फिर जन्माष्टमी मनाने के बहाने जमनादास की गाथा सुनने वाला प्रसंग। इन सभी कामों में शरीक होने को लेकर आलोच्य चरित्र के संबंध में सवाल उठता है कि क्या इतने सारे कार्य एक आम आदमी के लिए संभव हैं। किसी महापुरुष या राम-कृष्ण जैसे नायक के लिए तो ठीक है, पर रामानंद की प्रस्तुति एक साधारण आदमी के रूप में हुई है जो किसी भी प्रकार की दुष्प्रवृत्ति, छल-छद्म, बेईमानी, अनैतिकता से दूर सच्चे अर्थों में इंसान है और बनकर रहना चाहता है, पर क्रूर, भ्रष्ट व्यवस्था से कोई समझौता नहीं करता और इसीलिए असफल होता है। इस संदर्भ में विवेकी राय लिखते हैं कि 'यहाँ यदि कोई मारा जायेगा तो अपनी सिधाई-सचाई के कारण। यदि नायक आस्थावादी न होकर राजनीतिक समझौतावादी होता तो शायद इस प्रकार अकृतकाम नहीं होता'[36] और यह असफलता भी उसे आम आदमी ही बनाती है। एक आदमी के रूप में वह हरफनमौला जरूर है, पर इतने सभी कामों को अकेले सरंजाम देते रहना रामानंद को किताबी पात्र ज्यादा बनाता है, मनुष्य कम।

किंतु रामानंद के इस रूप की औपन्यासिक सांकेतिकता असंदिग्ध है। 'खांदान में एक विद्वान् बालक जन्म लेगा और दुनिया में नाम करेगा' की भविष्य-वाणी के साथ बहुमुखी प्रतिभासंपन्न बनाकर रामानंद को इतने सारे मोर्चों पर खड़ा करना एक होनहार व्यक्तित्व निर्माण की सुनियोजित और स्वस्थ पीठिका है। इसके बावजूद उसका ध्वस्त हो जाना इस बात का स्पष्ट संकेत बन गया है कि वर्तमान

36. समीक्षा—नवंबर, दिसंबर—1974, पृष्ठ 30.

समाज-व्यवस्था इतनी भ्रष्ट और स्थितियाँ इतनी भयावह हो गयी हैं कि इनमें सही रास्ते पर चलकर कुछ हासिल कर पाना नामुमकिन है। इसीलिए शुरू से कर्त्ता की भूमिका निभाते हुए रमानंद अंत में मात्र भोक्ता बनकर रह गया और इसी त्वरा में रामानंद की क्रमिक टूटन उसे आज के समय का प्रतिनिधि बना जाती है, वरना कर्त्ता के रूप में तो वह उपन्यास भर विशिष्ट दुर्लभ पात्र ही बना रहता है। वैसे यह कर्त्ता रूप ही उसे उपन्यास में चरित्र का दर्जा देता है वरना यह भी विपिन (अलग-अलग वैतरणी) की तरह माध्यम या दृष्टि बनकर ही रह जाता। डॉ० सिंह ने यहाँ विपिन के चरित्रांकन की लेखकीय कमजोरी का मार्जन करना चाहा है। विपिन स्थितियों के सामने निष्क्रिय बना रह जाता था इसीलिए परिणामों को लेकर उसके चरित्र के समक्ष प्रश्नचिह्न लगा कि 'उसने किया क्या'? यहाँ रामानंद भी उसी परिणाम को प्राप्त होता है, पर उसकी क्रियाशीलता व कर्मठता के चलते ही इस चरित्र और इससे उभरते लेखकीय मंतव्य को लेकर ऐसा ही सवाल नहीं किया जा सकता और वही व्यंजना काफी हद तक सिद्ध हो सकी है कि बड़े से बड़ा जीवट वाला व्यक्तित्व भी व्यवस्था की इस सड़ाँध में कूड़ा बना दिया जाता है। अब छठें दशक की भैरों पाण्डे (कर्मनाशा की हार) वाली आशाएँ लुप्त हो गयी हैं और सही रास्ते पर चलने वालों की यही अनिवार्य परिणति है अन्यथा फिर गलत कार्यों में मुब्तिला हो जाने के सिवा दूसरी राह नहीं।

यह व्यंजनात्मकता सही है और रामानंद के भोक्ता का रूप भी यथार्थ है पर प्रश्न एकदम समाप्त नहीं होता। रामानंद के कार्यों की मीमांसा, जाँच-पड़ताल करने पर हम पाते हैं कि यह क्रियाशीलता किसी लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। कारण चाहे जो भी, पारिवारिक स्थितियों या संस्कार; पर वह खुद स्वीकारता है कि उसने अपने को तल्ख स्थितियों से अलग रखा—चाहे हरिमंगल वाला मसला हो या युवा-आक्रोश। वह खुद नहीं जानता कि कब वह क्या कर रहा है और किस लक्ष्य के लिए। जब जो भी सामने आया लिपट गया। यह लक्ष्य का ढुलमुलपन ही उसे असफल करता है जो निश्चित रूप से सर्जक द्वारा पात्र का दोहन है। उसके अंदर सदिच्छा है, कर्म करने की शक्ति और प्रेरणा है, पर निश्चित योजना और लक्ष्य के अभाव में वह भावुकता में बह जाता है। हरिमंगल की सफलता का राज एक निश्चित योजना के तरत लक्ष्य की प्रतिबद्धता ही है। रामानंद की बिखरी गतिविधियों के कारण ही उसके भोक्ता रूप की व्यंजनात्मकता, जिसमें सामाजिक स्थितियों की पहचान उभरी है, लेखकीय वाक्यों या संवादों के माध्यम से करायी गयी है यानी रामानंद की असफलता आरोपित सी हो गयी है, जो माध्यम, (बहाना भी कह सकते हैं) स्वरूप काम में लाने (यूज करने) के लिए उपजायी गयी है। इस प्रकार कर्त्ता और भोक्ता रूपों के प्रति कोई संगति नहीं बैठती, एक दरार-सी बन जाती है। कर्त्तारूप में कर्मों की विशृंखलता, भोक्ता के रूप को छद्म् साबित कर देती है—बजज़ उक्त व्यंज-नाओं के।

रामानंद के चरित्र के इस दरार की संगति बैठती है—बुद्धिजीवी क्रिया-व्यापार के तहत। अपनी ईहाओं की तृप्ति करते रहना और असफलताओं को तथा-कथित बड़े कर्मों का जामा पहनाकर 'ग्लोरिफाई' करना बुद्धिजीवियों का स्वभाव है। इसमें पहला भाग तो पात्र करता है, पर दूसरा भाग लेखक पूरा करता है। रामानंद के चरित्र की सर्वाधिक सांकेतिकता इसी बुद्धिजीवी वर्ग की अभिव्यक्ति के साथ जुड़ती है। यहाँ भी वह विपिन (अलग-अलग वैतरणी) का समानधर्मी है। इस रूप में विपिन की कमजोरी ही इसकी कमजोरी है। इसे वह विपिन की माफिक खुद ही कबूल भी करता है। कभी किसी पात्र (जयंती या राजमती आदि) से वह खुद कहता है,[37] कभी उसका मन ही उसे धिक्कारता है,[38] और कभी उन्मत्त भैरव (वही मन या अवचेतन मन) उसकी चेतना पर सवार होकर बोलता है।'[39] इन्हीं के आधार पर विवेकी राय इसे 'इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स' से पीड़ित प्रेम-परंपरा-परिवार और खोखली नैतिकता के बोझ से दबा, वंशाभिमान ढोता, कामकातर, कायर[40] कहते हैं और इन्हीं सबको मधुरेश जी महानगर की आधारभूत विशेषताएँ[41] मानते हैं। इन सबसे मिलकर जो उसका व्यक्तित्व बना है, उसी के शब्दों में कितना तुच्छ और विगर्हणीय है। निश्चित रूप से यह उसके व्यक्तित्व का आंतरिक पहलू है जो छिपा रहता है और अपने इस रूप को हर बुद्धिजीवी जानता है। रामानंद से उसी को कह-लवा दिया गया है और उसका खुद कहना ज्यादा मौजूँ हैं। बाकी ऊपरी व्यक्तित्व का सब कुछ तो लेखक और अन्य पात्र कहते ही हैं।

उपन्यास के अन्य पात्र रामानन्द की विशिष्टता का वैसा ही उल्लेख करते हैं जैसा 'अलग-अलग वैतरणी' के पात्र विपिन का करते थे। क्यों न करें, सबके साथ उसके सम्बन्ध ही जो ऐसे हैं—वह माँ का लायक बेटा, आरती, शोभना का आदर्श भाई, रजुल्ली-जमना का प्रिय दोस्त, हरिमंगल का अंतरंग और नन्दकिशोर-राजमती से सच्ची सहानुभूति रखनेवाला इंसान है। पर उसकी तेजस्विता, प्रतिभा असंदिग्ध है। वी० पी० एन० के अनुसार यह सीधा तो है, पर गावदी नहीं। इंस्पेक्टर शर्मा भी इसी तेजस्विता से प्रभावित होते हैं, पर डरते हैं कि न्याय-न्याय चिल्लाते कहीं अंधी मशीन से टकरा न जाये। सुबोध का प्रिय शिष्य होने की योग्यता तो एकदम स्पष्ट है। इसी रूप में वह किरण जयंती को आकर्षित-मोहित भी करता है। किरण उसे अल्हड़ ब्रह्मपुत्र नद कहती है जो वैदिक ऋचाएं और शोहदों में प्रचलित भाषा को एक जैसी निर्लिप्तता के साथ बोलता। इस रूप में वह लेखक के ज्ञान-चिंतन मनन को ही अभिव्यक्ति देता है।

37. गली आगे मुड़ती है—पृष्ठ 212, 393.
38. वही, पृष्ठ १76, 473.
39. वही, पृष्ठ 456.
40. समीक्षा—नवंबर-दिसंबर 1974, पृष्ठ 30.
41. वही, पृष्ठ 24.

रामानन्द का प्रेमी रूप भी काफी संवेदनशील और पवित्र है। पवित्रता जमनादास स्पष्ट करता है 'ये कृष्ण भक्त हैं, लीला रस में डूब सकते हैं, शायद डूब भी रहे हैं पर ये वासनादेवी के भक्त नहीं हैं, रामजी।' संवेदना की गहराई तो इतनी है कि अंत में इन्हें तोड़कर रख देती है। वह किरण का त्याग करता है पर उसमें प्रेम के त्यागपरक रूप की दमक नहीं, विवशता भरा नैराश्य है। किरण से निराश होने के बाद जयंती की तरफ लौटाकर अंत में उसके प्रेम के ईमानदार रूप पर लेखक ने नाहक चोट पहुँचा दी है।

शुरुआत में रामानन्द की आस्था धर्म के कर्मकाण्डी रूप—स्नान-ध्यान-पूजा मन्दिर दर्शन आदि में थी जो धीरे-धीरे टूटती गयी, पर मनुष्यता के प्रति उसकी आस्था लेखक ने टूटने नहीं दी है। इसे लेकर वह खुद टूट गया है। मनुष्यता के साथ एक और आस्था भी नहीं टूटी है—अपने पितामह गणेशी तिवारी के पुण्य प्रताप के प्रति आस्था। यह रामानन्द की चेतना पर इस कदर 'हॉबी' है कि उससे जो कुछ भी अच्छा हो पाता है, उसे वह उन्हीं का प्रताप समझता है। पता नहीं असफलताओं में गणेशी तिवारी का प्रताप कहाँ चला गया था! संस्कारगत आदर की इस भावना में नम्रता-शालीनता हो सकती है, पर बुर्जुवापन के लटके से भी यह बरी नहीं है।

विवेच्य पात्र प्रगतिशील भी है, पर साम्यवादी नहीं। अपनी प्रगतिशीलता में वह नंदू हरिजन और भूरी मामी के घर चाय और खाना ही नहीं पीता-खाता, उनके साथ कहीं अन्दर से जुड़ा भी है। सारनाथ-पिकनिक में बच्चे को दूध पिलाती मजदूरिन की व्यथा भी इसी प्रवृत्ति से उद्भूत है। पर किरण से पैसे लेने में संकोच करता है क्योंकि वह लड़की है। यदि इस संकोच को उसका स्वाभिमान माना जाये तो प्रेमी रूप पर चोट पहुँचती है। यानी उसका 'अहम्' विसर्जित नहीं हुआ है—जमना कहता भी है—तो तुम अभी द्वैत में हो राम जी।

इस प्रकार काशी के धार्मिक, पौराणिक व अपने समय के प्रभाव से निर्मित रामानन्द का चरित्र अनेक विरोधाभासों से परिचालित आज के सही आदमी की तस्वीर पेश करता है। विवेकीराय के अनुसार वह न ही परम्परावादी बन सका और न ही आधुनिक। यह जीवन का अधकचरापन कितना भयावह है। भारत की संस्कृति में यह फसल बहुतायत में निकल रही है। इसी से क्रांति नहीं हो पाती, विद्रोह बुझ जाता है या सेक्स में डूब जाता है।'[42]

हरिमंगल

एक ऐसे युवा के रूप में हरिमंगल का प्रस्तुतीकरण हुआ है जो सभी तरह की कठिनाइयों-तकलीफों को सहर्ष झेल सकता है, पर किसी भी प्रकार की कुरीति-भ्रष्टाचार को किसी भी रूप में देखने तक को तैयार नहीं—सहने और समझौता करने की तो बात ही दूर—'उन्हें आगे बढ़ने की हविश होती तो समझौते कर लेते...

---

42. समीक्षा—नवम्बर-दिसम्बर-1974, पृष्ठ 32.

पर उन्होंने समझौतों की जगह ईमानदार बने रहने की गलती की।'[43] इसी कारण उन्हें सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ती है, घर-परिवार छोड़कर अकेले शहर में रहना स्वीकार करना पड़ता है, पर भ्रष्ट माहौल से वे जमकर विरोध-विद्रोह करते हैं। लगन का पक्कापन उनके अंदर जिद की सीमा तक है। प्रतिशोध का भाव उनमें संघर्ष करने की शक्ति की प्रेरणा है जिसका उत्स पूर्वजों से प्राप्त जातीय परंपरा में निहित है—दद्दू ने कभी नफा-नुकसान को अपने सम्मान से बड़ी चीज नहीं माना। वही खून है न ?[44] और इन्हीं सबकी वजह से उनका विरोध कारगर हो पाता है। इस मुहिम पर उन्हें जान तक गँवा देनी पड़ती है किंतु हरिमंगल के शब्दों में ही 'मैं अपने अपमान का बदला लेने के लिए मर मिटा, कोई हेठी की बात नहीं।'[45]

हरिमंगल का कत्ल और अपने निजी जीवन तथा समाज को लेकर उनके दृष्टिकोण में उपन्यास की समस्त चरित्रगत विशिष्टताएँ भर उठी हैं, पर इस पात्र का सोद्देश्य आकलन इसके अलावा भी महत्वपूर्ण है। लेखक संकेत करता है कि जब तक चरित्रबल (इस हद तक) नहीं आ जाता, परिस्थितियों को बदल पाना असंभव ही है और इसी रूप में हरिमंगल का चरित्र क्रुद्ध युवा-पीढ़ी का आदर्श बन जाता है।'[46] यदि यह सांकेतिकता लक्ष्य नहीं होती तो वी० पी० एन० ग्रुप के खात्मे के बाद लेखक हरिमंगल को बचाकर (जो बिल्कुल असहज नहीं लगता) प्रसंग को सुखांत बना सकता था लेकिन तब इस व्यंजनात्मकता के अभाव में एक हल्कापन आ जाता और पारंपरिकता भी।

हरिमंगल में वर्तमान समाज के इस ढाँचे की बड़ी गहरी समझ है, जिसके कटु अहसास ने उनकी नस-नस में कड़वाहट भर दी है। वे अंदर से बेचैन और तिलमिलाए हुए रहते हैं। व्यंग्य-विद्रूप से भरी इनकी बेलाग भाषा और तड़तड़ाहटभरी हँसी, इसी के परिणाम और प्रमाण हैं। रामानंद की प्रथम भेंट में यह सब खूब स्पष्ट दिखता है। ऐसे में यदि यह दृढ़ता और कुछ कर गुजरने की प्रेरणा न होती तो उनका भग्नाश व कुंठित हो जाना लाजमी था। समझ के साथ हरिमंगल में अध्यवसाय से अर्जित ज्ञान भी है जो उनकी बातों में झलकता रहता है।

हरिमंगल अपनी स्वाभाविक दृढ़ता और कठोरता के भीतर छिपे एक कोमल दिल के मालिक भी हैं प्रेमी और संवेदनशील। लाजो, हौसला, दद्दू, पत्नी व बच्चों के प्रति उनके 'अटीट्यूड' इसकी दृष्टि करते हैं। लाजो के साथ संबंध की सामाजिक अनैतिकता भी हरिमंगल के साथ भावना, कर्म और परिस्थितियों के संयोग से अनुचित नहीं, श्लाघ्य सी लगती है। इसमें स्नेह के बड़े निर्मल व जिम्मेदार रूप की झलक मिलती है साथ ही समर्पण की ईमानदारी का पुट पाकर हरिमंगल के चरित्र की

43. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 431.
44. वही, पृष्ठ 434.
45. वही, पृष्ठ 440.
46. समीक्षा—नवंबर दिसम्बर, पृष्ठ 31.

प्रगतिशीलता भी परिलक्षित हो जाती है। निस्संदेह यह सब कुछ लेखक का कौशल है, पर है कमनीय।

डॉ० सिंह आज के ज़माने में हरिमंगल जैसे चरित्र के पाये जाने की स्थिति के यथार्थ से अपरिचित नहीं हैं। शायद इसीलिए वे हरिमंगल से ही कहलवा देते हैं, मैं सिर्फ था....मैं सिर्फ एक अवधि था....शायद जिसकी आज ज़रूरत है, जिसे अवधि शायद पैदा कर सके।

शिवप्रसाद सिंह की सृजनमानसिकता में यह चरित्र बोधन तिवारी (हीरो की खोज) भैरो पाण्डे (कर्मनाशा की हार) और जग्गन मिसिर (अलग-अलग वैतरणी) की परंपरा की अगली कड़ी है—परिवर्तित-परिवर्धित रूप में। प्रस्तुत कृति की रचना प्रक्रिया में यह चरित्र लेखकीय सांकेतिकता के तहत कथ्य से जुड़ा हुआ है।

जमनादास

जमनादास की पूरी गाथा समस्त साधु-संन्यासियों के आविर्भाव के कारणों का दस्तावेज़ है। ऐसे में साधु बने जमनादास के चरित्र से हमें इस समुदाय पर व्यंग्य की उम्मीद बँधती है, पर यहाँ यह काम थोड़े में ही रामकीरतदास के चरित्र से लिया गया है और इस पात्र को लेखक का वरदहस्त प्राप्त है, सो जमनादास संसारी प्रवृत्तियों को एक हद तक व्यक्त करके साधु-संन्यासियों की वृत्तियों में रम गया, बिल्कुल समर्पित-सच्चे साधु के रूप में उभरता है। वह एकदम निर्विकार व स्थितिप्रज्ञ हैं—'सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।' काशी में ऐसे साधु सुलभ होंगे ज़रूर।

पिता के अत्याचारों को सहते जमना पाठक का बचपन बीता और युवा होते ही उन्हीं के द्वारा लगाए हुए झूठे कलंक को माथे पर पोते वह घर छोड़ देता है क्योंकि बचपन से ही वह आत्माभिमानी रहा है। नैतिक भावना उसमें भावुकता की सीमा तक है, तभी तो अपने से दूनी उम्र वाली औरत के साथ मजबूरी में शारीरिक संबंध हो जाने पर वह दूसरी बार आत्महत्या करने पर उतारू हो जाता है—पिता द्वारा लगाये कलंक की ग्लानि पर तो एक बार कोशिश कर ही चुका होता है। आत्महत्याओं की इन कोशिशों को लेकर उसके सोच-विचार एक हद तक अस्तित्व-बादी धारणा से प्रभावित हो गये हैं। दोनों आत्महत्याओं से बच जाने और फिर बचाने वाले के ही दामाद बन जाने आदि घटनाओं के संयोजन से बना यह चरित्र बहुत कुछ संयोगों (कोइंसीडेंसेज) पर आधारित हो गया है।

अपनी अच्छी शिक्षा और योग्यता के कारण जमनादास विचारों में काफी सुलझा और व्यवहारों में सुसंस्कृत है जो उसे साधुता के क्षेत्र में एक स्तरीय दर्जे पर प्रतिष्ठित करते हैं और वह साधुओं का आदर्श बन गया है। इसीलिए बात-बात में उसके मुख से निकलती दार्शनिक बातें जितनी सहज लगती हैं, सामाजिक पहचान के स्वर भी उतने ही संगत। आदमी की पहचान का तो कहना ही क्या। लोग चाहे कुछ समझें वह अपनी मस्ती में दुनिया को 'चेताए' जा रहा है। यह 'चेताना' उसकी

वृत्ति और 'राम जी' उसका तकियाकलाम है जो साधु के रूप में उसके चरित्र की अलग पहचान बनाते हैं। कृष्णभक्त तो हैं ही पर उन्हीं की तरह ही बहुत बड़ा प्रेमी भी है। पत्नी के रहते और बाद में भी उसकी एकनिष्ठता सराहनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी हैं।

मूलकथा से सीधा संबंध न होने पर भी, मुख्य पात्र के साथ जोड़कर लेखक ने इस पात्र को कथा में बाहरी व अवसंगत (मिसफिट) होने से बचा लिया है। इसके माध्यम से तमाम सामाजिक कुरीतियों को उघाड़ा जा सका है और इस बात की प्रतिष्ठा भी हो सकी है कि काशी में सिर्फ रामकीरतदास जैसे साधु ही नहीं हैं।

सुबोध भट्टाचार्य

बंगाल में उगे और बँटवारे के अंधड़ से उखड़कर बनारस में प्रतिष्ठित पाद्य हैं, सुबोध। ये कृति के बौद्धिक पात्र हैं और बुद्धिजीवी पात्रों में से एक। किंतु वे अन्य तमाम बुद्धिजीवियों से अलग इस मायने में हैं कि समाज में व्याप्त कुरीतियों में घुले-मिले नहीं हैं, उनसे समझौता भी नहीं किया है पर बुद्धिजीवी परांगमुखता वैसी ही है उनमें। कुछ करने के नाम पर अतीत चिंतन करते हैं और निस्संग पड़े रहते यानी एक तरह का पलायन, कायरता। उनके अंतर की रोशनी बुझी नहीं है पर प्रज्वलित होने की क्षमता भी नहीं है। शायद इसी से इनका व्यक्तित्व अंतर्मुखी हो गया है।

सुबोध में लेखक ने कृष्णभक्ति के साथ साम्यवाद का समावेश किया है—'सुबोध दा कम्युनिस्ट हैं, कृष्णभक्त हैं',[47] जिसे लेकर मधुरेश जी कहते हैं कि 'मार्क्सवाद के नाम पर लेखक उसके चरित्र में कृष्णभक्ति के समन्वय के रूप में अंतर्विरोधों और चरित्रगत असंगतियों के बीज बोकर अलग हो जाता है'[48] पर लेखक के अनुसार जयंती के शब्दों में 'यह विरोधाभास नहीं है। तुम बहुतों को ऐसा ही पाओगे खासकर हमारे लोगों में।'[49] हम लेखक की बात को मान भी लें कि ऐसे लोग होते हैं और इस समावेश से चरित्र अंतर्विरोधी या असंगत नहीं हुआ है तो भी इससे कृति में रचनात्मक स्तर पर कोई सार्थकता हासिल नहीं होती। ऐसे चरित्र बनारस में हो सकते हैं, होंगे भी पर कथा और कथ्य को लेकर अपनी अनुपयोगिता के कारण यह संयोजन निराधार होकर रह गया है। उसके दोनों ही रूप छद्म साबित होते हैं। एक उदाहरण लें। वह रामानंद और जयंती की शादी से तो सहमत हैं (प्रगतिशीलता) पर खुद तो कुछ नहीं करता, जयंती को भी पहल नहीं करने देता, लड़की जो है। अब यह कौन-सी मार्क्सवादिता है ? कृष्णभक्ति को लें। एक कृष्ण वे थे जो अपने दोस्त से अपनी बहन का अपहरण करवा देते हैं और एक कृष्णभक्त सुबोध जी हैं ! इस प्रकार इन दोनों रूपों की प्रवंचना इस चरित्र में मौजूद है।

इस व्यक्ति में आदर्शों की लिजलिजाहट इस हद तक है कि गांगुली-परिवार

---

47. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 484.
48. समीक्षा—नवंबर, दिसंबर—1974, पृष्ठ 25.
49. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 484, 85.

के टूटने के डर से वह शादी करके गृहस्थी तक नहीं बसा सकता। समाज को, स्थितियों को लेकर आक्रोश और ऊब उसमें है, पर इसकी असलियत जयंती बताती है, 'उनकी बात छोड़ो। वे सात-आठ सौ रुपये पाते हैं। उनके असंतोष के पीछे सिद्धांत का भार है। मनचाही जिन्दगी वे किन्हीं और कारणों से चुनना नहीं चाहते।'

कथा में सुबोध के चरित्र की उपयोगिता असंदिग्ध है। इसी के माध्यम से विश्वविद्यालय में चलती प्राध्यापकों की राजनीति, गुटबंदी, विद्यार्थियों द्वारा होते घेराव आदि स्थितियों को प्रस्तुत किया गया है। बंगाली परिवार और उनकी संस्कृति के ढेर सारे चित्रण करने के लिए मुख्यपात्र को जोड़ने के सूत्र तो हैं ही। चिंतन की निजता और एक विद्वान् सच्चे प्राध्यापक की स्थिति को लेकर भी यह चरित्र उपन्यास में अपनी अनिवार्य इयत्ता का अधिकारी है।

देवनाथ (देवू)

देवू प्रस्तुत तो हुआ है सिर्फ छात्रों के नेता के रूप में पर इसमें बड़े नेताओं की संपूर्ण प्रवृत्तियाँ सांकेतिक रूप से विद्यमान हैं। बड़े नेताओं का यह पॉकेट संस्करण है और इसी भूमिका में देवू प्रतीकात्मक रूप से प्रतिनिधि पात्र ठहरता है। नेता के रूप में वह काफी प्रभावी है—वेश-भूषा, चाल-ढाल और बात-व्यवहार सब कुछ में। विचारों में वह बड़ा तेज-तर्रार भी है। छात्र-आंदोलन को लेकर किया गया उसका विश्लेषण इसकी पुष्टि करेगा। सिद्धांतवादी भी है देवू। आरती के मामले में रामानंद की खिलाफत वह सिद्धांतों के लिए ही तो करता है और वी० पी० एन० से इसी नाते मिलता भी नहीं। यह सब तो है, पर जहाँ अपनी अस्मिता का सवाल आता है, एक सच्चे नेता के रूप में वह किसी भी प्रकार भी सामाजिक नैतिक जिम्मेदारी, कर्त्तव्य और वसूल को तिलांजलि दे देता है। तब गरीबी, शोषण, बलात्कार आदि समस्याओं पर ध्यान देने की फुर्सत वह नहीं निकाल पाता क्योंकि चुनावी गँठजोड़ में ही सारा वक्त लग जाता है जो और किसी भी काम से ज्यादा महत्वपूर्ण है। रामानंद को वह नेतागिरी छोड़ने की सलाह देकर उससे हमेशा के लिए नाता तोड़ लेता है क्योंकि वह सच बोल देता है जबकि देवू के लिए तो राजनीति एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें वक्त के मुताबिक सब कुछ करना पड़ता है। उसके अनुसार नैतिकता अब राजनीति में चुनावी बटखरा बन गयी है और नैतिक पतन राजनीति वालों की विवशता।

इस प्रकार उपन्यास में देवू का चरित्र अति संक्षिप्तता के बावजूद बेहद 'सजेस्टिव' (व्यंजनात्मक) है। लेखक ने इसे सिर्फ नेता के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है और किया है। इस नेता की जिन्दगी के बारे में बाकी कुछ भी हम नहीं जानते। शायद इसीलिए विवेकीराय कहते हैं कि 'देवू का चरित्र खुलते-खुलते रह गया।'[50]

रजुल्ली

ऐसा लगता है कि लेखक को संदेह था कि भूमिका और कृति के बीच में आये

---

50. समीक्षा—नवंबर-दिसंबर—1974, पृष्ठ 31.

उल्लेखों के बावजूद पाठक इसे समझ नहीं पायेंगे, इसीलिए अंत तक आते-आते वह स्पष्ट कर देता है कि काशी के दाताराम और भंगड़ भिक्षुक जैसे दिलेर गुण्डों की परंपरा के अवशेष रूप में रजुल्ली को पेश किया गया है। शायद इसीलिए इस चरित्र को लेखक 'भीतर हाथ सहारि दै' वाले कुम्हार की तरह गढ़ता है। वह बड़े स्मगलर के गिरोह का मशहूर सदस्य है, पैसे के लिए लूटपाट और कत्ल तक कर सकता है, गलत तरीके ही उसकी आय-आजीविका के साधन हैं पर साथ ही वह वफादार दोस्त तथा सहृदय इंसान भी है। जानते हुए भी कि यह सब कुछ कह देने पर किरण के पिता उसकी शादी रामानंद के साथ नहीं करेंगे, वह अपने दोस्त (रामानंद) की सारी खानदानी बुराइयाँ बताकर अपना फायदा उठा लेता है और बाद में आकर यह सब कुछ रामानंद को बताकर इस बात के लिए भी अपने को प्रस्तुत कर देता है कि यदि रामानंद कहे तो किरण के पिता को दो हाथ बताकर किरण को उठा लाये। इन्हीं सब प्रवृत्तियों के आधार पर यह बिल्कुल यथार्थ तथा मानव सुलभ पात्र है, बजुज कुछ औपन्यासिकता के।

जयंती

जयंती गांगुली परिवार की निहायत शालीन-सुशील स्वभाव वाली बंगाली लड़की है। हिन्दी में एम० ए० कर रही है। लेखक की योजना के अनुसार जयंती का सृजन बंगाली संस्कृति को सामने लाने के लिए माध्यम रूप में हुआ है। पहली ही मुलाकात में वह रामानन्द को सांस्कृतिक सहानुभूति का रसमादन लगती है और फिर तो उसे संस्कृतिमय बनाने के लिए रामानन्द बंगाली लोकसाहित्य की सभी नायिकाओं के नाम से संबोधित करता है—महुआ, देवयानी, कांचनमाला, काजलरेखा, चंद्रावती आदि। किन्तु लेखक की इस सारी योजना के बावजूद घर में एक वाक्पटु, प्रतिभावान युवक रामानन्द के सम्पर्क में आते ही वह अपने को सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की लेखकीय मंशा तक सीमित न रखकर एक ऐसी मायागाछ बन जाती है जो बिना माँगे ही सब कुछ लुटा सकती है। यहाँ लेखक और पात्र के बीच रचनाप्रक्रिया की वह द्वन्द्वात्मक स्थिति लक्ष्य की जा सकती है जिसमें वह करवाना कुछ चाहता है और होता कुछ और या और भी है। यह द्वन्द्व लेखक के चेतन-अवचेतन मस्तिष्क का भी है जिसमें कुछ के बदले पात्र में और भी बहुत कुछ समा जाता है।

ऐसी ही अंतर्विरोधी स्थिति जयंती के मानसिक गठन की भी है। लेखक की चेतना उसे एक बड़ी जहीन, नैतिक सोच-समझवाली, प्रगतिशील पर साथ ही थोड़ी उग्र व तेजतर्रार लड़की के रूप में पेश करती है—वह नारी-स्थिति-शोषण व स्वातंत्र्य को लेकर प्रश्न उठाती है पर जब यह जानते हुए भी कि रामानन्द किरण से प्यार करता है, वह उसकी तरफ आकृष्ट बनी रहती है तो अपने उक्त रूपों के समक्ष वह खुद ही विरोध की मुद्रा में खड़ी हो जाती है। एक ऐसा ही अंतर्विरोध और भी उल्लेख्य है। जयंती पूरी युवापीढ़ी को सेक्स में डूबने पर कोसती और दुखी होती है लेकिन बाद में तुरन्त ही घर आकर रामानन्द को बाँहों में भर लेती है। रामानन्द इस पर

टिप्पणी भी करता है। शायद प्रेमी दिलों का यही हाल होता है और जयंती एक सच्ची-समर्पित प्रेमिका है। मन-भावना की शुद्धता के साथ लेखक ने प्रेम में जयंती की शारीरिक शुद्धता का भी पूरा ख्याल रखा है। वह चुंबन, आलिंगन और कम्बल के नीचे सो जाने तक ही सीमित रहती है। इस प्रेम को अंतिम रूप देने के लिए (सुबोध की अनुमति पाकर) वह रामानन्द से सांकेतिक रूप में अपनी इच्छा जाहिर भी करती है और इस कार्य में बकौल लेखक नारी को कितना जहर पीना पड़ता है, कोई नहीं समझ सकता (यहाँ हमें पटनहिया भाभी (अलग-अलग वैतरणी) के वाक्य की याद आती है—निर्लज्ज होना अपने आप में एक पीड़ा भरा व्यापार है) पर परमानन्द ने उसके प्यार को प्रगल्भता, संकेतों को समर्पण और सहानुभूति को सस्तापन समझ लिया। इस तरह उधर से कोई आशाजनक उत्तर 'रिस्पांस' का संकेत न पाकर अंत में पिता के चुनाव को स्वीकार कर लेती है। रामानन्द को पत्र लिखकर निवेदन करती है कि वह उसे दुस्स्वप्न की तरह भूल जाये यानी भारतीय नारी का 'शिवप्रसादीय' रूप सार्थक।

हालाँकि रामानन्द को जयंती आसान लड़की नहीं लगती पर कुल मिलाकर वह एक आसान लड़की (बिल्कुल आम) ही सिद्ध होती है। उसकी गतिशीलता वर्तुलाकार परिधि तक चक्कर लगाने में ही सीमित है, इससे आगे वह एकदम स्थिर है।

किरण

जयंती की तरह यह भी गुजराती संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर प्रस्तुत की गयी है और प्रेम के क्षेत्र में भी वही भूमिका निभाती है। फ़र्क यह है कि रामानन्द के प्रति उसका आकर्षण ज्यादा संगत (रीजनेबल) और उसकी अप्रोच फर्स्ट हैंड है। शुरुआत में वह नटखट, शरारती व विद्रोही स्वभाव की लड़की है। रामानन्द के ज्ञान, वाणी व वेश सम्मत निराले व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मुग्धा व एकनिष्ठ प्रेमिका बन जाती है। उसकी विद्रोही प्रवृत्ति अंत में अपने पिता के समक्ष उभार मारती है पर स्नेहिल जिम्मेदारी के अतिरिक्त भार तथा परम्परा प्राप्त (लेखकीय) संस्कार के कारण शान्त होकर जयंती वाले हस्र को प्राप्त होती है।

किरन की पात्रगत गतिशीलता लहरों जैसी है जो किनारों के भीतर ही गतिमान रहती है और किनारों से टकराकर शांत हो लौट जाती है। इसी तरह कर-कपोल-स्पर्श से होठों तक उतर आने में तो वह देर नहीं करती, काफी गतिशील रहती है पर उसके आगे की लक्ष्मणरेखा (बॉर्डर) को न लाँघने की सीमा लेखकीय सीमा है। जयंती के मुकाबले किरण कुछ ज्यादा मुखर है और इसके प्रेम प्रसंग भी अधिक हैं जिनमें इसकी चुलबुली प्रस्तुति बड़ी कलामय है। अनिंद्य सुंदरी तो वह है ही। जमना के अलावा जयंती तक उसकी प्रशंसा करती है। कुल मिलाकर सभी मायने में वह अपने वर्ग से संबद्ध गुजराती समाज का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

लाजवंती (लाजो)

लाजो का चरित्र अकेले ही समाज में नारी के साथ हो रहे अत्याचारों का

दस्तावेज बन गया है। अनमेल विवाह के साथ जुड़ी आंतरिक पीड़ा की आनुभूतिक सचाई को लाजो के माध्यम से लेखक ने सहज ही व्यक्त कर दिया। फिर इसके परिणामों के तहत शारीरिक यातना और मानसिक यंत्रणा का अटूट सिलसिला भी है जिसे झेलना इसकी दुर्निवारता है। इस रूप में लाजो संपूर्ण निम्न-वर्ग की नारियों का प्रतिनिधित्व करने लगती है।

इस सामाजिक जुर्म-ओ-सितम की आग में तपते-तपते लाजो की काया भले दुनिया की निगाहों में भ्रष्ट-कलंकित हो गयी हो पर उसके विचार तो कंचन की तरह निखर आये हैं। यह सतायी हुई नारी इस पशु समाज के सामने विद्रोह की मुद्रा में खड़ी है। वह जानती है कि वह कमजोर है इसलिए इस दुनिया को अंगूठा दिखाकर उसने बदला लिया है, पर लिया ज़रूर। और यह विद्रोह बुद्धिजीवियों के काफी हाउस वाले विद्रोह के मुकाबले काफी जहीन (जेनुइन) है क्योंकि मुक्त यथार्थ की ज़मीन पर उभरा है। लाजो लोक से भी विद्रोह करती है और इसके नियामक शास्त्र से भी। वह थू-थू करती है और वेदमंत्रों को मुर्दा सिद्ध करती है। यह सब कहते हुए उसके चेहरे पर तमतमा आये नारी तेज से रामानंद के साथ पाठक भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। नारी द्वारा विद्रोह की लेखकीय परंपरा में यह चरित्र गुलाबो (उपहार) की जाति-जमात का है। फ़र्क यह है कि उसका विद्रोह एक वैचारिक संगत (रीजनेबल) पीठिका पर अवस्थित है और गुलाबो सिर्फ आक्रामक थी।

इस शोषक समाज के आगे मजबूरी में लाजो अपने तन का सौदा हजारों से करती है पर मन की संवेदना सूखी नहीं है। समान परिस्थितियों में समान दुख से पीड़ित हरिमंगल को पाकर बड़ी नाजुक स्थिति में एकदम सहज भाव से जब वह तरंगायित होती है तो हरिमंगल को पूर्ण तृप्ति की संजीवनी मिल जाती है और उसे पूर्ण समर्पण से मिले अपनेपन की तुष्टि, तभी तो लाजो के साथ बिताए पाँच दिन हरिमंगल को कार्तिक के पंचगंगा स्नान लगते हैं। पारस्परिक ऐक्य भावना से किये इस कर्म को लेकर लाजो एक सच्ची प्रगतिशील पात्र ठहरती है।

लाजो के अंदर वफादारी कूटकूटकर भरी है। हरिमंगल को अपना समझ लेने के बाद वह मात्र इंसानियत के संबंध से प्रेरित होकर क्या नहीं करती उसके लिए। इसीलिए हरिमंगल के मर जाने पर उसका बनारस त्यागना प्रेम के क्षेत्र में उसे बड़ी उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है। त्यागपूर्ण प्रेम का यह ईमानदार स्वरूप आदर्श मंडित परंपरा में भले गिना जाये पर इसका भावनात्मक यथार्थ अनुकरणीय बन गया है। सृजन के स्तर पर कथ्य और पात्र की ऐसी संसक्ति बहुत कम ही देखने को मिलती है। निश्चय ही लाजो का चरित्र लेखक की सृजनकला का अद्भुत नमूना है।

●

अध्याय : सात

रूपबंध

रूपबंध के अंतर्गत शिल्पविधान (भाषा-शैली) का विश्लेषण अपेक्षित है। वैसे तो पचासोत्तरी लेखन में कथ्य और शिल्प जैसा विभाजन बेमानी हो गया है। समकालीन रचना इतनी संश्लिष्ट हो गयी है कि उसकी सम्पूर्ण प्रस्तुति ही शिल्प बन गयी है तथा शैल्पिक 'कवेंचर' (संघटना) प्रस्तुति में अंतर्भुक्त हो गया है। शिवप्रसाद सिंह का कथा साहित्य ऐसी ही सृजन-प्रक्रिया का सुन्दर नमूना है। अतः समीक्षा के ये विभाजित मानदंड रचना की संपूर्ण अर्थवत्ता के लिए कदापि माकूल सिद्ध नहीं होंगे, पर अध्ययन की सुविधा के लिए ऐसा करना अनिवार्यता बन गया है और अध्येता के लिए 'नान्यपंथाः' वाली लाचारी।

'डॉ० शिवप्रसाद सिंह शिल्पचेता कथाकार हैं।'[1] 'मैंने जब-जब उनकी कहानियाँ पढ़ी हैं, उनमें एक सफल कथाकार को ही नहीं, एक दक्ष शिल्पकार को भी पाया है।'[2] इस तरह शिवप्रसाद सिंह पर लिखने वाले प्रायः सभी विद्वानों ने इस बात को अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है। लेखक ने स्वयं भी स्वीकार किया है, 'मैं शिल्प को वस्तु से कम महत्व नहीं देता। इसे आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य वस्तु मानता हूँ।'[3] फिर अपने चौथे कहानी-संग्रह 'मुरदासराय', जो लेखक की कहानीकला का चरमोत्कर्ष भी है, की भूमिका (कुछ न होने का कुछ) में आकर वह लेखन के कुछ ऐसे सूक्ष्म कला-तंतुओं की तरफ संकेत करता है जिन्हें समझना सचमुच ही हमारे लिए बहुत-बहुत दुरूह होता। निश्चित रूप से इतनी बारीक बुनावट कलामर्मज्ञ विद्वानों के अलावा आम पाठक के न बस की है और न ही काम की।

अपनी कहानी के दूसरे युग 'भेड़िए' में आकर लेखक अपनी पूर्ववर्ती कहानियों में रूपाश्रयी रुझानों की अधिकता को कबूल करता है और यह एलान भी कि अब रेशमी ताने-बाने को झटके के साथ तोड़ दिया गया है। लेकिन हम पाते हैं कि सहज प्रवृत्तियाँ सायास छुड़ाने पर भी एकदम छूटतीं नहीं।

जहाँ तक उपन्यासों का सवाल है 'अलग-अलग वैतरणी' वागर्थाविव संपृक्तौ की कसौटी पर एकदम खरा उतरता है और दूसरे उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में कहानियों के विपरीत रूपाश्रयी रुझानों की लपेट लगभग बढ़ गयी है या दिखने लगी

1. आधुनिक हिन्दी कहानी-साहित्य में प्रगतिचेतना—डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, पृष्ठ 408.
2. इन्हें भी इंतजार है—आवरण से—उपेन्द्रनाथ अश्क का कथन।
3. आर-पार की माला—शिवप्रसाद सिंह—भूमिका (एक मिनट) से।

है। मेरी समझ में इसकी वजह यह हो सकती है कि पहले में जहाँ संवेदनात्मक ज्ञान उफन पड़ा है वहीं दूसरे में ज्ञानात्मक संवेदन को उँड़ेला गया है। इस प्रकार कहीं सचेत-सायास और कहीं सहज-अनायास भाव से आये विभिन्न कलात्मक तत्व डॉ० सिंह के कथा साहित्य के नियामक आयाम हैं।

रूपबंध के विधायक तत्त्व : विवेचन की जटिलता

साहित्य में प्रचलित तमाम शैल्पिक तत्त्व शिवप्रसाद सिंह के कथा संसार में बड़ी बारीकी और सघनता से पिरोये गये हैं। इनका विधान कहीं पारंपरिक पद्धति के मुताबिक हुआ है तो कहीं नितांत मौलिक ढंग से प्रयुक्त हुआ है और कुछ नये आयाम भी तराशे गये हैं। इन सबके अलग-अलग अध्ययन-परख को लेकर बड़ी जटिल स्थिति बन गयी है जिसका स्पष्टीकरण करना जरूरी हो गया है। उनमें कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—

1—शैली को लेकर 'संस्मरण', 'आत्मकथा' व 'मैं' शैली इस तरह एक दूसरे से प्रवृत्तिगत स्तर पर संबद्ध हैं कि अलगाने पर पिष्टपेषण होता, इसलिए सबको 'आत्मकथात्मक शैली' के अन्तर्गत ही रखना संगत जान पड़ा। 'मैं' के माध्यम के कारण ही शिवप्रसाद जी की कहानियों को रेखाचित्र, 'स्केच' और 'रिपोर्ताज' आदि कहा गया। इन सभी स्थितियों को भी आत्मकथा के अन्तर्गत ही संकेतित कर दिया गया है।

2—आजकल 'प्रत्यावलोकन' और 'समाप्ति से आरंभण' आदि शैलियाँ भी विवेचित हो रही हैं जो 'फ्लैशबैक' में आ जाती हैं। बहुत अधिक अन्तर न होने से इन्हें अलग से विवेचित नहीं किया गया है।

3—सबसे बड़ी जटिलता प्रतीकों को लेकर है। मेरी समझ में प्रतीक, बिम्ब आदि भाषा के तत्व हैं, पर उन्हें प्रतीकात्मक व बिम्बात्मक शैली के रूप में भी विवेचित किया जा रहा है तो वहीं 'चेतना प्रवाही' व 'फ्लैशबैक' आदि को छोड़ दिया जा रहा है।[4] डॉ० सिंह के कथा-लेखन में प्रतीक शैलीगत वैशिष्ट्य भी प्रकट करते हैं और भाषागत सौन्दर्य भी। अतः इन्हें प्रयोग के अनुसार दोनों के अन्तर्गत विवेचित किया गया है। परन्तु 'बिम्ब' मुझे शैलीगत वैशिष्ट्य के साथ जुड़ते नहीं दिखे। अतः उन्हें भाषा के अन्तर्गत ही रखा गया है।

4—प्रतीक, बिम्ब, मिथक, संकेत व रूपक को लेकर भी मुश्किल है—प्रतीकात्मक संकेत, मिथकीय प्रतीक, मिथकीय संकेत, संकेतात्मक बिम्ब आदि भी हैं। इसी तरह रूपकात्मक प्रतीक, रूपकात्मक संकेत, मिथकीय रूपक भी होते हैं। अतः इनकी संश्लिष्टता को निबेरना बड़ा कठिन है। यहाँ फिर भी मतभेद की गुंजाइश हो सकती है। किन्तु इन सबको भी प्रयोग के आधार पर ही स्वतंत्र मानकों के रूप में आँका गया है—यथाशक्ति, यथा संभव।

---

4. 'नयी कहानी के विविध प्रयोग'—डॉ० शशिभूषण शीतांशु—पृष्ठ 131-32.

शैली

शैली और भाषा एक दूसरे से जलवीचिवत् भिन्न-अभिन्न भाव से जुड़े होते हैं। शैली का संबंध भाषा के प्रयोग और पाठ की प्रक्रिया से होता है। यह अभिव्यक्ति के उद्देश्य और कथा-प्रसंग के बीच की कड़ी है। प्लेटो ने कहीं कहा है कि जब विचार को तात्त्विक रूप का आकार दे दिया जाता है तो शैली का उदय होता है। बोलचाल की भाषा में इसे ढंग या तरीका कह सकते हैं। किसी प्रसंग को वर्णित करने का ढंग, तरीका ही शैली है। अपने कथ्य के अनुरूप लेखक इसका चुनाव करता है। 'शुष्को वृक्षः तिष्ठति अग्रे' के मुकाबले 'नीरस तरुरिव विलसति पुरतः' का वरण भाषा के प्रयोग पर आधारित शैली की ही वरीयता है। वर्ण्य की पूरी कायापलट कर उसे अभिनव संस्कार दे देने की क्षमता इसमें होती है। इसीलिए आचार्य वामन ने इसे 'काव्य की आत्मा' कहा—'रीतिरात्मा काव्यस्य'।

शिवप्रसाद सिंह की शैली को लेकर मतभेद भी है। 'अलग-अलग वैतरणी' विजयदेव नारायण साही के लिए 'सलीके से कथा कहने की दुर्लभ कला'[5] है तो गोपाल राय के अनुसार सदोष शिल्पविधि के कारण उपन्यास जीवंत और प्रभावी नहीं बन सका है।[6] अपनी लगभग 75 कहानियों और दो वृहदाकार उपन्यासों में शिवप्रसाद सिंह ने लगभग उन सभी शैलियों का प्रयोग किया है जो साहित्य में प्रचलित हैं। इनका प्रयोग इतना संश्लिष्ट है कि एक-एक कहानी या उपन्यासों के एक-एक प्रसंग या अध्याय के आधार पर फुटकल रूप से अलगायी नहीं जा सकतीं। कभी तो एक-एक में तीन-तीन, चार-चार शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं तो कभी यही विलगाना मुश्किल हो जाता है कि यह पूर्वदीप्ति है या चेतना प्रवाही। ऐसा इसलिए होता है कि कथ्य अपनी (स्थिति, मूड व चरित्र आदि की) माँग के मुताबिक आपोआप किसी विशिष्ट रूप में ढल जाता है जहाँ लेखक भी सचेतन रूप में बहुत कुछ अवश होता है। इसी को कमलेश्वर ने 'कथ्यसापेक्ष विलीन शैली' कहा है, जो कथ्य के कण में ऊर्जा की तरह विद्यमान है और कथ्य के कद और संदृष्टि (विजन) के अनुसार अपना प्रसार ग्रहण करती है।[7] इसीलिए चेतन रूप से जानबूझकर कुछ बनी-बनायी विधियों में से किसी एक कहानी या प्रसंग के लिए एक नाम दे देना समीक्षा के लिए बड़ा मुश्किल बन जाता है। इस कठिनाई के साथ शिवप्रसाद जी द्वारा प्रयुक्त शैलियों को निबेरने का प्रयास किया गया है।

(1) वर्णनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली में वर्णन की प्रधानता होती है। इसमें लेखक की प्रवृत्ति, रुचि व योग्यता को लक्षित किया जा सकता है क्योंकि इसमें बिना किसी शास्त्रीय

---

5. आलोचना—अप्रैल-मई-जून, 1969—विजयदेव नारायण साही के लेख का शीर्षक।
6. समीक्षा—नवम्बर-दिसम्बर—1974, पृष्ठ 13-14.
7. नयी कहानी की भूमिका—पृष्ठ 165.

(टेकनीकल) बंधन के एकदम खुलकर लिखने की स्वच्छन्दता होती है। यहाँ लेखक अपनी अनुभव-समृद्धि के आधार पर वर्णनों में विश्वसनीयता और कथा में यथार्थिकता लाने के लिए अपनी कलात्मकता का निर्द्वन्द्व उपयोग कर सकता है। अतः यह पद्धति कथाकार के लिए बड़ी सरल और उपयोगी होती है। स्वतन्त्रता के बाद इस पद्धति पर आधारित कथा-साहित्य का लेखन अपेक्षाकृत बढ़ा हुआ माना जा सकता है। शिवप्रसाद सिंह की पूर्ण वर्णनात्मक कहानियों में 'मंजिल और मौत', 'भग्नप्राचीर', 'मुर्गे ने बांग दी', 'चितकबरी', 'उपधाइन मैया', 'प्रायश्चित्त', 'कहानियों की कहानी', 'उपहार', 'भग्नप्राचीर', 'माटी की औलाद', 'बिना दीवार का घर', 'मरहला', 'बीच की दीवार', 'धतूरे का फूल', 'आँखें', 'तकावी', 'एक वापसी और' तथा 'भेड़िए' आदि प्रमुख हैं, पर शायद ऐसी कहानी खोजे भी नहीं मिलेगी जिसमें और शैलियों के साथ वर्णनात्मकता का प्रयोग न हुआ हो। बहुत सी कहानियाँ ऐसी हैं जो किसी न किसी अन्य शैली के साथ वर्णनात्मकता पर ही आधारित हैं। इनमें आत्मकथात्मक, चेतन प्रवाह और पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) के साथ वर्णनात्मक शैली का प्रयोग ज्यादा हुआ है। 'नयी पुरानी तस्वीरें', 'हीरों की खोज', 'दादी माँ', 'मास्टर सुखलाल', 'आर-पार की माला', 'गंगा तुलसी', 'कर्मनाशा की हार', 'उसकी भी चिट्ठी आयी थी', 'कबूतरों का अड्डा', 'उस दिन तारीख थी', 'बिन्दा महाराज', 'पोशाक की आत्मा', 'नन्हों', 'टूटे शीशे की तस्वीर', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'अन्धकूप', 'मैं कल्याण और जहाँगीरनामा', 'किसकी पाँखें', 'कलंकी अवतार', 'बेजुबान लोग', 'हत्या और आत्म-हत्या के बीच', 'धरातल', आदि प्रमुख कहानियों के अलावा इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली कहानियाँ और भी बहुत हैं।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों को वर्णनात्मक शैली पर आधारित नहीं कहा जा सकता; पर बीच-बीच में प्रकृति, गाँव व परिवार की स्थितियाँ, लोगों के आपसी सम्बन्धों आदि के चित्रणों में वर्णनात्मकता का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ऐसे वर्णन अधिकांशतः किसी न किसी पात्र की मानसिकता या दो पात्रों के वार्तालापों पर आधारित हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' में मेले वाला पहला अध्याय वर्णनात्मक कहा जा सकता है, पर पूरा चित्रण दयाल महाराज की मानसिकता में होने के कारण वह भी एकदम शुद्ध वर्णनात्मक नहीं रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक विशुद्ध वर्णनात्मकता से बचता है। इस प्रकार के जाहिर प्रसंगों में भी वह कोई न कोई रोगन लगा देता है। जैसे चमारों-ठाकुरों की लड़ाई वाले प्रसंग में जग्गन को दौड़ा दिया गया है, पुष्पी के घर नीलामी वाले प्रसंग को संवादों में भर दिया गया है और होली के चित्रण में खलील के आत्मचिंतन पर आधारित 'फ्लैशबैक' की पीठिका लगा दी गयी है। कहना न होगा कि ये रोगन अपनी कलात्मकता में गुलरोगन बन गये हैं। फिर भी जगेसर के क्रिया-कलाप, जग्गन-जगेसर की लड़ाई के प्रसंग, गोंगई महाराज के प्रचार व सुखदेव-स्वागत सभा आदि संक्षिप्त, पर सटीक वर्णन शैली के नमूने हैं। वैसे कोई अध्याय ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें एकाधिक प्रसंग में वर्णन शैली का उपयोग न हुआ हो।

'आत्मकथात्मक शैली' में लिखा होने के कारण 'गली आगे मुड़ती है' में इसके मौके और भी कम आये हैं। परन्तु पूर्ववत् 'फ्लैशबैक' आदि माध्यमों के अन्तर्गत सुंदर वर्णनात्मक स्थल उपलब्ध है। जमना, सुबोध आदि के विस्तृत जीवन सन्दर्भ जहाँ इसके उदाहरण हैं वहीं काशी व प्रकृति के चित्रणों में शुद्ध वर्णनात्मक शैली देखी जा सकती है—बजुज रामानन्द के स्मृतिपटल के, जिस पर तो पूरी कृति ही अंकित है।

(2) आत्मकथात्मक शैली—(मैं शैली)

यह शिवप्रसाद सिंह की बड़ी प्रिय शैली है। ऊपर उल्लिखित शुद्ध वर्णनात्मक कहानियों को बाद कर दें तो लगभग शेष कहानियाँ और 'गली आगे मुड़ती है' पूरा उपन्यास 'मैं' की डोर से बँधा हुआ है। हालाँकि इस डोर में बँधी कथाएँ दूर-दूर तक की अन्य तमाम यात्राएँ कर आती है। आत्मकथात्मक विधि का मुख्य आधार है—मैं का माध्यम याने पूरी कथा उत्तम पुरुष में कही जाती हैं और ऐसा करने से लेखक वस्तुविन्यास की तमाम जटिलता से बच जाता है तथा बीच के अन्य चारित्रिक माध्यमों को तोड़कर वह पाठक के साथ सीधे जुड़ जाता है। इस प्रकार पाठक के साथ आत्मीयता स्थापित करने और उसके अन्दर कथ्य के प्रति विश्वास पैदा करने में यह विधि सहज ही समर्थ सिद्ध होती है।

शिवप्रसाद जी इस माध्यम से अपनी कहानियों में इन सभी सहूलियतों का पूरा फायदा उठाते हैं। इसीलिए बहुआयामी प्रसंगों व विविधकोणीय कथ्यों से भरी विस्तृत 'थीम' भी सरलता व स्पष्टता के साथ एकसूत्र में बँध गयी है वरना 'इन्हें भी इन्तजार है', 'धारा', 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'अँधेरा हँसता है', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'बड़ी लकीरें' आदि कहानियाँ सहज बोधगम्य नहीं बन पातीं। फिर भी मधुरेशजी ने इस 'मैं' के प्रयोग को जटिलता उत्पन्न करने का कारण बताया है। वस्तुत डॉ० सिंह की कहानियों में जटिलता है ही नहीं, उनका गुण सहजता है और अगर कुछ है तो प्रतीकों और संकेतों को लेकर हो सकती है। अतः यह आरोपी बयान नितांत निराधार है।

इसी 'मैं' के कारण ही शिवप्रसाद सिंह की कहानियों को 'संस्मरण', 'रेखाचित्र' और 'स्केच' आदि कहा गया। शुरुआत की कहानियों, 'नयी पुरानी तस्वीरें', 'दादी माँ', 'देऊदादा', आदि में इसकी झलक है भी पर इनके कहानीपन में कोई संदेह नहीं। 'मैं' पर आधारित कहानियों में संस्मरणात्मकता का होना असहज नहीं, लेखक की बहुतेरी कहानियाँ संस्मरण पर ही आधारित हैं—'किसी पाँखें' 'हत्या और आत्महत्या के बीच', 'मास्टर सुखलाल', अँधेरा हँसता है' आदि। 'पत्रात्मक' व 'डायरी' शैलियों का मूल उत्स भी यही 'मैं' ही होता है जिनका वर्णन अलग से आगे होगा।

किंतु यही सब विशेषताएँ आत्मकथात्मक कृति 'गली आगे मुड़ती है' में समाविष्ट नहीं हो पायी हैं। शायद उसके लिए यह माध्यम अनुकूल था ही नहीं। जहाँ तक उपन्यास के प्रस्तुतीकरण की बात है, उसमें कहीं से जरा भी अस्पष्टता तो

नहीं आने पायी है पर मधुरेश जी के शब्दों में ही कहूँ तो यह बिल्कुल सही है कि इसे काशी की कथा बनाने में रामानंद के संपर्कसूत्रों को खींच कर बहुत दूर तक बिखेर देना पड़ा है। इससे रबर की तरह खिचते-खिचते रामानंद का चरित्र ही नहीं लड़खड़ाया है, वरन् ऐसा लगने लगता है कि रूपाकार में विषय अँट नहीं पा रहा है क्योंकि काशी न तो एक की है और न तो इकले की आँखों उसे देखना ही संभव है। यदि आत्म-कथात्मकता अतीत की यादों के सहारे 'फ्लैशबैक' या फिर चेतना प्रवाह (जो कि बहुत मुश्किल होता) के सहारे लायी गयी होती तो भी शायद किसी हद तक बात सँभल सकती थी लेकिन वर्तमान में प्रत्यक्षतः कहानी के साथ-साथ चलते 'मैं' (रामानंद) के लिए यह संपूर्ण संभार बहुत भारी पड़ा है। इससे उलझकर लेखक भी कहीं उत्तम पुरुष से अन्य और कहीं अन्य से उत्तम पुरुष के रूप में स्खलन का शिकार हो गया है।[8] अंत में तो किरण-प्रसंग में लेखक, रामानंद को छोड़कर उसी की आत्मकथात्मकता को अपना लेता है। इन भटकनों के बावजूद रामानंद के सीधे जुड़े होने के कारण ही युवा विद्यार्थी वर्ग, विश्वविद्यालयीय राजनीति तथा काशी के वर्णन अपेक्षाकृत जल्दी प्रतीति उपजाने में सफल हुए हैं।

इसी के समानांतर लेखक की एक टेक्नीक है, जहाँ वह 'मैं' के बदले किसी पात्र को स्थानापन्न कर देता है। 'भेड़िए' के केवल मुंशी और 'तो' का उदयी ऐसे ही पात्र हैं। विपिन भी इसी जाति का चरित्र है, पर वहाँ मात्र विपिन को ही 'मैं' के रूप में माध्यम बनाने से वही कठिनाई पैदा हो जाती जो 'गली आगे मुड़ती है' के रामानंद के साथ हुई है। इस प्रकार आत्मकथात्मकता शैली का 'मैं' अपनी उपा-देयता और कहीं-कहीं मामूली स्खलन लिए हुए पूरी अर्थवत्ता से इस आत्मकथात्मक शिल्प के आयामों को उद्‌भासित-प्रतिष्ठित करता है।

(3) पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक)

पूर्वदीप्ति के अलावा इसे हिन्दी में 'स्मृति अनुप्रकाशी' नाम भी दिया गया है; लेकिन इन नामों से कोई बात नहीं करता। इसकी ख्याति तो 'फ्लैशबैक' के नाम से ही है। इस शैली में कथासूत्र अतीतोन्मुख होता है[9] लेकिन यहाँ लेखक अतीत की इन घटनाओं के क्रम की सीधी रेखा न खींचकर उन्हें पात्र की स्थिर तरंगों में प्रस्तुत करता है।[10] इसमें वर्तमान अतीत को जगाने का निमित्त बनकर आता है,[11] पर अतीत से ही वर्तमान प्रकाशित भी होता है। इस प्रकार घटनाक्रम की जड़ अतीत में है, यह पद्धति गहराई से गोता लगाने की प्रक्रिया है। अमूर्त्त अवचेतन को कथाकार इस शैली के माध्यम से मूर्त्त कर देता है। अवचेतन में छिपा अतीत का वह अमूर्त्त खण्ड

8. गली आगे मुड़ती है—पृष्ठ 112, 359-60 पर द्रष्टव्य।
9. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प—डॉ० शिवप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ 165.
10. हिन्दी उपन्यास कला—डॉ० रामलखन शुक्ल, पृष्ठ 78.
11. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ 130.

वर्तमान की किसी समान (सिमिलर) घटना से कौंधता है और स्मृति के सहारे पात्र उसे व्यक्त करता जाता है। इस तरह समय की लघुतम परिधि में जीवन के विस्तृत लमहों को समेट लेने की इसमें अपूर्व शक्ति होती है। डॉ० सिंह भी यह मानते हैं कि स्मृति पुनरावर्तन की पद्धति में समयचक्र का सही नियोजन कथाकार की समय के प्रति प्रतिबद्धता या संचेतना का प्रमाण होता है।[12]

शिवप्रसाद सिंह की अनेक कहानियाँ और उपन्यास के कई-कई अध्याय प्रमुख रूप से फ्लैशबैक में ही लिखे गये हैं। वैसे तो लेखक के संपूर्ण कथा लेखन का आधे से अधिक भाग इसी पद्धति पर लिखा हुआ है। मेरी समझ में डॉ० सिंह के लिए दो कारणों से यह शैली ज्यादा उपयुक्त और सहज साबित हुई है। एक तो शहर में आकर गाँव की कहानी लिखना अपने आप फ्लैशबैक बन जाता है और दूसरे, गाँव की कथा भी अक्सर आजादी के पहले के अतीत से शुरू होकर उसे समेटती हुई चलती है। विषय के अनुरूप यह फ्लैशबैक का प्रस्तुतीकरण डॉ० सिंह के लेखन में इतना सहज और संगत बन गया है कि लगता है जैसे इसके बिना ऐसी अभिव्यक्ति संभव ही नहीं होती।

परंतु शिवप्रसाद सिंह के यहाँ महत्वपूर्ण फ्लैशबैक का प्रयोग भर नहीं है, वरन् महत्वपूर्ण यह है कि उन्होंने इसे कला के रूप में साधा है। फिल्मों में हम वर्तमान से अतीत में संतरण देखते हैं। वहाँ यह प्रक्रिया यदि सुन्दर दिखती है तो दृश्य चित्रों के माध्यम और कैमरा की तकनीक की सुविधा के बल पर, किंतु यहाँ तो बिना किसी ऐसे उपकरण के, अमूर्त्त-सूक्ष्म साधनों के बल पर इसे इतना कलामय बना देना एक महती उपलब्धि है। एक उदाहरण लें, 'आर-पार की माला' कहानी से—

'कहानी की नायिका नीरू नदी के किनारे बैठी है। वहीं सद्यः विवाहित जोड़ा नदी के दो किनारों को बाँधने आया है। उनमें से कोई आवाज लगाता है—'ओए ए मल्लाह, आना भाई'। नीरू यह आवाज सुनकर सारा दृश्य देखती है और इस मौके की सांकेतिकता (सिग्नीफिकेंस) को लेकर अपने अतीत में खो जाती है—उसकी उजड़ी-स्याह आँखों में बीते दिनों का रंगीन आसमान झाँकने लगा....' पूरी कहानी खत्म होने पर लेखक फिर इसे जोड़ता है—'नीरू का ध्यान टूटा। उसने देखा आसमान में फफोलों की तरह तारे उठने लगे हैं....नीरू मन में सोचती, आर-पार की माला। उसकी झोंपड़ी में मूंज की रस्सी है जिससे वह हजारों नदियों का पाट बाँध सकती है....वह एक किनारे बैठी है। दूसरा किनारे चाहिए....'[13]

लेखक समझता है कि भूत से वर्तमान अथवा वर्तमान से भूत में संक्रमण कहानियों में एक मामूली घटना भले लगे, परंतु समय-धारा का उद्वेग या परावर्तन इतनी सहज चीज नहीं। यह एक अणु विस्फोट की स्थिति है। इसे ठीक से न सँभालने के कारण कहानी का कलेवर जर्जर अथवा क्षतिग्रस्त हो सकता है। इसीलिए इसके

12. मुरदासराय—(कुछ न होने का कुछ), शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 20.
13. आर-पार की माला, पृष्ठ 145 और 154.

प्रति चेतना बहुत जरूरी है।[14] 'इन्हें भी इंतजार है', 'किसकी पाँखें', 'अँधेरा हँसता है', 'बेहया', 'बिन्दा महाराज', 'हत्या और आत्महत्या के बीच' आदि कहानियों में संपूर्ण कथा को फिट करने के लिए पर्याप्त पृष्ठभूमि का निर्माण इसी सजगता का प्रमाण है ताकि कलेवर क्षतिग्रस्त या जर्जर न होने पाये। ऐसी भी कहानियाँ हैं जिनमें यह संतरण प्रक्रिया अत्यंत संक्षिप्त रूप में बड़ी स्वाभाविक बन गयी है—'मास्टर सुखलाल', 'शहीद दिवस', 'बड़ी लकीरें', 'प्रायश्चित्त', 'धरातल' आदि में।

विवेच्य कहानियों में कहीं तो एक ही फ्लैशबैक में पूरी कहानी समाविष्ट है और कहीं एक ही कहानी में कई-कई फ्लैशबैक प्रयुक्त हुए हैं। 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'धारा', 'इन्हें भी इंतजार है', 'बहाववृत्ति', 'गंगातुलसी', 'धरातल', 'केवड़े का फल', 'नन्हों' आदि कहानियों में एकाधिक बार इसका प्रयोग हुआ है।

'अलग-अलग वैतरणी' का तो शायद ही कोई ऐसा अध्याय हो जिसमें 'फ्लैशबैक' का प्रयोग न हुआ हो। कुल मिलाकर लगभग चालीस बार तो इसका प्रयोग अवश्य हुआ है। जग्गन मिसिर, विपिन, शशिकांत, जैपाल, खलील खाँ आदि सभी प्रमुख पात्रों के माध्यम से इसका प्रयोग बड़े सटीक मौके पर पूरे कौशल के साथ किया गया है। इसके बिना इनकी वैतरणियों को प्रवाहित करना बड़ा मुश्किल होता। एक-एक अध्याय में कई-कई बार इसका प्रयोग यहाँ भी हुआ है। जग्गन मिसिर वाले अध्याय (सत्रह) में ही पाँच बार इसका प्रयोग हुआ है।

'गली आगे मुड़ती है' आत्मकथात्मक होने के कारण स्वाभाविक रूप से संस्मरणात्मकता लिए हुए है जिसके निर्वाह में फ्लैशबैक पद्धति सर्वाधिक उपयुक्त साबित होती है। सो, रामानंद, सुबोध, किरण, जमना सभी अपनी-अपनी यात्राएँ फ्लैशबैक के पोत से ही करते हैं। इसमें लगभग बीस बार तो इस प्रणाली का प्रयोग हुआ ही है।

इस प्रकार प्रस्तुतीकरण की विधियों को लेकर फ्लैशबैक डॉ० सिंह के कथा-साहित्य की रीढ़ है जो अतीत के झरोखे और वर्तमान के दर्पण को इस कदर मिला देती है कि यह इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज और समय का साक्षी बन जाता है।

(4) चेतना प्रवाही (स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस) पद्धति

फ्लैशबैक के माध्यम से किसी पात्र की चिन्ताधारा चेतनस्तर पर जब हू-ब-हू अभिव्यक्ति में बँधती हुई पूरे आवेश के साथ अप्रतिहत वेग से बहने लगती है तो इस पूरी प्रक्रिया को चेतनाप्रवाही नाम दिया जाता है। कहा जाता है कि चेतना प्रवाही शैली मनोविज्ञान और यथार्थवाद के मेल से बनती है।[15] किन्तु चेतना प्रवाह का खास संबंध पात्र और समय की चेतना से होता है। इसमें काल का प्रत्यय ही चेतना प्रवाह के सातत्य में परिवर्तित हो जाता है। इसके लेखक काल के आयाम के बंधन

14. मुरदासराय—पृष्ठ 20-21 (भूमिका)।
15. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प—डॉ० शिवशंकर पाण्डेय, पृष्ठ 165.

से मुक्त हो जाता है और वह पात्रों को स्थान और काल के परे चित्रित कर सकता है।[16] एक तरह से इसमें आगत-अतीत सब वर्तमान बनकर प्रकट होता है। 'इस शैली में लिखने वाला कथाकार मूलतया समय के आंतरिक और दार्शनिक रूप को पहचानने की कोशिश करता है।'[17] यह समय का अभिज्ञान शिवप्रसाद जी की रचना प्रक्रिया को अनेकानेक रूपों में प्रभावित करता है क्योंकि समय को बिना अधिकृत किये बीत जाने की विवशता उनसे सही नहीं जाती। वे समयातिक्रमण नहीं, तो समयानुक्रमण जरूर करते हैं। उनका कहना है कि आज भी कथा साहित्य में समय-तत्व की अभिव्यक्ति का सर्वमान्य तरीका चेतना प्रवाह पद्धति ही है।[18]

इस तरह शिवप्रसाद जी के लेखन में यदि चेतना प्रवाह विपुल मात्रा में प्रयुक्त हुआ हो तो वह सहज-स्वाभाविक ही है। कहानियों में तो प्रच्छन्न या आंशिक रूप में चेतना प्रवाह खोजना हो तो अधिकांश कहानियों में मिलेगा; पर 'उसकी भी चिट्ठी आयी थी', 'आर-पार की माला', 'प्रायश्चित्त', 'पापजीवी', 'बिन्दा महाराज', 'नन्हों', 'धरातल' आदि में वह सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है। जिन कहानियों में शुद्ध रूप से इस तकनीकी का प्रयोग शुरू से अंत तक हुआ है, उनमें 'कर्मनाशा की हार', 'शहीद दिवस' और 'कलंकी अवतार' के नाम बिना किसी मीन-मेष के लिये जा सकते हैं। 'ताड़ीघाट का पुल', 'अरुन्धती', 'किसकी पाँखें', 'अँधेरा हँसता है', 'बड़ी लकीरें' आदि में भी प्रस्तुति की यही तकनीक अपनायी गयी है। इन सबमें समय का सातत्य लिए सारी कथा चेतना प्रवाह में ही चलती है। परन्तु शिवप्रसाद जी के लेखन को लेकर इस संबंध में एक बात कहने जैसी लगती है। जब से 'रक्तपात', 'आईसवर्ग', 'पिता' जैसी कहानियाँ और विशेष रूप से 'मुरदाघर' जैसा उपन्यास आये हैं और इनमें इस शिल्प का जो संश्लिष्ट प्रवहमान रूप सामने आया है, तब से ऐसा लगने लगा है कि कहानीपन को बनाये रखने की कोशिश में चेतना प्रवाह को विश्रृंखल करना पड़ता है। कथात्मकता का ढर्रा चेतना-प्रवाह को बाँध-रोक देता है। यह शायद मेरा व्यामोह हो क्योंकि दोनों तरह के लेखन से उभरती निजी अवधारणा के अलावा कोई तकनीकी अवरोध नहीं दिखता पर परवर्ती लेखन की कथनभंगी शायद एक दिन ऐसे लेखन को चेतन प्रवाह के सर्वथा अननुकूल ठहरा दे।

इस खटक के साथ ही 'अलग-अलग वैतरणी' में छोटे-बड़े स्थलों को मिलाकर लगभग दस-बारह बार इस शिल्प का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए पहले अध्याय में दयाल महाराज की चेतना में प्रवाहित 'हलपर्वरी' प्रसंग (पृष्ठ 26-27) और तीसरे अध्याय में करैता की दशा और बुझारथ की कारस्तानियाँ (पृष्ठ 48-49)। छठें अध्याय में विपिन की चेतना में प्रवाहित पुण्यी-चचिया की स्मृति (104-109), उसका आत्मचिंतन (461-63)। सातवें अध्याय में हरिया की चेतना में प्रवाहित

16. हिन्दी उपन्यास कला—डॉ० रामलखन शुक्ल, पृष्ठ 76-77.
17. साहित्य और आधुनिक युगबोध—देवेन्द्र इस्सर, पृष्ठ 94.
18. मुरदासराय—(कुछ न होने का कुछ), पृष्ठ 19-20.

उसका पूरा जीवन (146-47)। इसके अलावा सत्रहवें अध्याय में जग्गन मिसिर का लम्बा चिंतन (282-302) और अठारहवें में जगेसर की चेतना में प्रवाहित शोभाराम के कारनामे (328-29)।

इसी तरह 'गली आगे मुड़ती है' में रामानन्द की चेतना प्रवाहित यादें (पृष्ठ 6-7 और पृष्ठ 370-71) की विचारधारा तथा 441-51 की यादें हैं। पृष्ठ 24 से 34 तक सुबोध की यादें व चिंतन तथा 457 से 471 तक किरण की कटु-तिक्त स्मृतियाँ भी इसी शिल्प में उरेही गयी हैं।

(5) वार्तालाप या संवाद शैली

दो पात्रों के बीच हुई बातचीत के माध्यम से कथा कहना संवाद-शैली के अंतर्गत है। इसमें पात्रों की स्थिति-योग्यता के मुताबिक ही भाषा का व्यवहार करना पड़ता है। शिवप्रसाद जी के कथा-साहित्य में इसका प्रयोग बहुतायत में मिलता है। लेखक बहुत कम सामने आना चाहता है। भोक्ता के रूप में पात्र की सीधी अभिव्यक्ति ज्यादा प्रामाणिक ठहरती है। उपन्यासों में तो जहाँ लेखकीय वक्तव्य होता भी है, पात्र भी मानसिकता में ही प्रयुक्त होता है। दोनों ही उपन्यासों में पात्रों की भरमार और 'गली आगे मुड़ती है' में तो भाषाबाहुल्य भी। इसके बीच रामानन्द को रखने से बार-बार लेखक को ताल-मेल करना पड़ता है। अतः भाषा का निर्वाह बहुत बार लड़खड़ा गया है, पर कथ्य की स्पष्टता और प्रभावान्विति निश्चित रूप से इस माध्यम में निखरी है। सम्पूर्ण कथा-लेखन में 'आखिरी बात' ही एक ऐसी रचना (कहानी) है जो हरखू और फुन्नन की बातचीत के रूप में पूर्णतः संवादशैली में है। इसमें प्रस्तुत शैली की रोचकता व निखार अपनी चरम सीमा पर है। बाकी सभी कहानियाँ और उपन्यास पूर्णतः इस शैली में न होने के बावजूद इसका बाहुल्य इस हद तक व्याप्त है कि कोई कहानी या अध्याय इससे अछूते नहीं रह सके हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' में कई स्थलों पर बड़े लंबे-लंबे संवाद आ गये हैं—विशेषतः जग्गन मिसिर के। ये निश्चित रूप से प्रलाप व भाषणबाजी बनकर सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं। उनमें पात्र की जगह पर लेखक दिखने लगता है। कुछेक कहानियों में भी ऐसा ही वेगवान प्रवाह आते-आते रह गया है। 'गली आगे मुड़ती है' के जमुना की भाषा में बातचीत की लपेट काफी ढीली हो गयी है और संवाद की जगह आख्यान के-से बयानों ने ले ली है।

इन सबके बावजूद कथा में प्रयुक्त वार्तालाप लेखकीय निपुणता में बेजोड़ हैं।

(6) दुहरी कहानी का शिल्प

वैसे शिवप्रसाद सिंह के अनुसार दुहरी कहानी का शिल्प कोई नयी चीज नहीं; यह उतना ही पुराना है जितना फ्रांसिस विवेन की 'शी वाण्टेड टु फाल',[19] पर जब मार्च, 1952 के 'प्रतीक' में प्रकाशित इन्हीं की कहानी 'बरगद का पेड़' को डॉ॰

19. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सं॰ डॉ॰ देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 147.

शीतांशु इस शिल्प की पहली कहानी बताते हैं,[20] तो निश्चित रूप से इनका मंतव्य हिन्दी कहानी से होगा। इस तरह हिन्दी में शिवप्रसाद सिंह इस शिल्प के जनक माने जा सकते हैं।

जैसा कि नाम से ही जाहिर है कि यह शैली दो कथाओं को साथ लिए चलती है। प्रायः एक छोटी कहानी पुरानी युगचेतना से अनुप्राणित पुरानी पद्धति पर कही जाती है और उसी के समानांतर समकालीन जीवन की मूल कथा अपने पूरे विस्तार के साथ चलती है। दोनों कथ्यगत समान मोड़ों को ध्यान में रखकर चस्पा की हुई होती हैं। इस शिल्प के सहारे कहानी के अर्थ को अनुभव करने और उद्रिक्त करने वाला एक नवीन आरोह-अवरोह से भरा अर्थचक्र-कपाट खुलता रहता है।[21]

लेखक की कहानी 'बरगद का पेड़' में राजकुमार-राजकुमारी की पुरानी कहानी के साथ विनय-शीला की समकालीन कहानी चलती है। पुरानी कहानी दादी माँ सुनाती हैं और नयी कहानी स्वयं 'मैं' के रूप में लेखक का भुक्त यथार्थ है। दादी माँ की कहानी शुरू होती है--'रामगढ़ में रामसिंह सकरवार का राज था, बड़ा बेटा वीरेन्द्र बड़ा सुंदर था...।'[22] इसके अंत में शक्की राजकुमार वीरेन्द्र रानी राजकुमारी पर शक करके उसके पालतू तोते की गरदन मरोड़ देता है। तोते में ही राजकुमारी के प्राण बसते थे, सो वह भी मर जाती है। मरते-मरते कह जाती है—'ओ पापशंकी' तूने मुझ पर संदेह किया। मेरे श्राप से यह गढ़ मिट्टी में मिल जायेगा और आज से इस टूटे गढ़ की छाँह में कभी दो प्रेमी मिलकर नहीं रह सकेंगे।'[23] समकालीन कहानी में शीला से 'मैं' का प्रेम भी शक्की सीरी की क्रूरता के हाथों यहीं दम तोड़ता है और मैं-विनय, जो पत्नी चंदा के साथ इसी टीले के पास बरगद के पेड़ के नीचे बैठा यह सब सोच रहा था, अपने इस किशोरावस्था के प्रेम की परिणति के साथ दादी माँ की पुरानी कहानी का अंत सोचते ही व्याकुल होकर भाग खड़ा होता है।

इसमें देवगढ़ी के टीले के साथ जुड़ी यह पुरानी कथा चाहे ऐतिहासिक सचाई पर आधारित हो या लोकप्रचलित रूढ़िगत धारणाओं-विश्वासों पर; लेकिन इस समकालीन कथा की संवेदना को बहुत तीव्र कर देती है या यूँ कहें कि पुरानी कहानी की संवेदना-मान्यता के परिणामस्वरूप ही यह मुख्य कथा अर्थवान होती है वरना इस 'थीम' में क्या दम या आकर्षण नहीं था। इस तरह प्रस्तुत कहानी की गरिमा और सांकेतिकता कथ्य की नहीं, दुहरी बुनावट पर आधारित इस शिल्प की ही है। कमलेश्वर ने इस शिल्प के संबंध में कहा है कि यह दो युगों की समानांतर तुलना और अंतर्विरोध प्रस्तुत करता जाता है।[24] किंतु यह बात यहाँ लागू नहीं होती। यह

20. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 154.
21. वही, पृष्ठ 153.
22. आर-पार की माला, पृष्ठ 12.
23. वही, पृष्ठ 18.
24. कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियाँ—भूमिका, पृष्ठ 6.

तो उनकी कहानी 'राजा निरबंसिया' की सचाई है जो निश्चित रूप से ज्यादा सशक्त सृजन है। 'बरगद का पेड़' की दोनों कहानियों में अंतर्विरोध नहीं, पोषण है, युगों की तुलनात्मकता नहीं, एकात्मक विश्वासों की गहराती अनुभूति है जिसका कोई सामाजिक परिप्रेक्ष्य नहीं। यह महज भावुक मन की गलदश्रुता है। अतः शिल्प के कारण ही स्मरणीय बनती है। यहाँ दोनों कहानियों का जोड़ कुछ वैसा ही है जैसा 'गली आगे मुड़ती है' की दिवोदास वाली कहानी जो देवगढ़ी के टीले की तरह ही आज के बनारस में प्रचलित तत्वों के साथ जुड़ती है।

डॉ० शीतांशु के अनुसार शिवप्रसाद जी की 'महुए का फूल' कहानी भी दुहरी कहानी के शिल्प पर ही लिखी गयी है, पर मेरी समझ में उसमें महुए के फूल और साँप रूपकात्मक प्रतीक बनकर आये हैं। कथा के समानांतर उसे चस्पा भी नहीं किया है, मात्र दो बार उल्लेख हुआ है। इस शिल्प की योजना को ध्यान में रखकर अन्विति की जाती तो डॉ० सिंह की कई कहानियाँ इस शिल्प में ढल सकती थीं, पर उनका जोर प्रतीकात्मकता पर ज्यादा रहा। इसीलिए 'अरुन्धती' की 'चुरुला-रानी' वाली कहानी लोककथात्मक प्रतीक बन गयी है। 'भग्न-प्राचीर' के शिलालेख वाले दृष्टांत में तो इसकी अपार संभावना थी, पर लेखक ने इसे मात्र तुलनात्मक उदाहरण के रूप में पेश किया। 'अलग-अलग वैतरणी' में विपिन-पुष्पा के साथ डोम व राजकुमारी की कहानी इसी शिल्प की त्वरा लिए हुए है, इसे एक बार इसी शिल्प के अंतर्गत माना भी जा सकता है; पर अंतिम विश्लेषण में यह पूरी कहानी भी लोककथात्मक प्रतीक ही बन जाती है।

जो भी हो, अपनी बहुकोणीय संभावनाओं के बावजूद यह शिल्प-विधि बहुत प्रचलित नहीं हुई। इस पर लिखी गयी कहानियाँ उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं।

(7) उन्मुक्त कसाव की शैली

शिवप्रसाद सिंह का उपन्यासों को लेकर यह सर्वथा मौलिक और अभिनव शिल्प-प्रयोग है—ठीक उसी तरह जैसे कहानियों को लेकर हिन्दी में पहली बार दुहरी कहानी के शिल्प का प्रयोग। 'अलग-अलग वैतरणी' के संदर्भ में यह नाम भी स्वयं लेखक ने ही दिया है—'अलग-अलग वैतरणी' में प्लॉट बिखरे हुए हैं, पर उसको पकड़ने वाली एक डोर भी है। चरित्र स्वतंत्र हैं, गुब्बारों की तरह लेकिन उनका सूत्र कहीं न कहीं से पकड़ा हुआ है।[25] किंतु ऐसा नहीं है कि ऐसा सिर्फ 'अलग-अलग वैतरणी' में ही प्रयुक्त हुआ है, यह तो डॉ० सिंह के संपूर्ण कथा-लेखन में बिखरा पड़ा है। फर्क इतना है, लेखक के शब्दों में ही, कि इसमें यह उन्मुक्त कसाव दिखता है। यहाँ सभी अध्याय स्वतंत्र कहानी या लघु उपन्यास हैं, यह उन्मुक्तता है; पर सभी आंतरिक और सुदृढ़ सूत्रों से जुड़े होकर एक संपूर्ण अन्विति पैदा करते हैं, यह कसाव है। क्या यह सूक्ष्म कथा-कर्म सहसा ही पैदा होकर 'वैतरणी' में प्रकट हो गया? नहीं,.... सूक्ष्मता से देखा जाये तो लेखक के लेखन की शुरुआत से ही यह मौजूद है। तब

25, सारिका—1-15 फरवरी 1980, पृष्ठ 13.

संपूर्ण रूपाकार की परिकल्पना छोटी थी—कहानी की, इसीलिए यह उन्मुक्तता भी उसी के अनुपात में कम थी। धीरे-धीरे होता इसका सहज विकास देखना हो तो 'नयी पुरानी तस्वीरें' की बुआ, 'दादी माँ' की दादी और 'हीरों की खोज' के बोधन तिवारी तथा अन्य तमाम कहानियों में आये ऐसे ही चरित्रों की निर्मिति के खण्डों को देखिये जो नितांत अलग नहीं हैं, पर अलगाए जा सकते हैं, जिनसे मिलकर एक कहानी कस उठती है। फिर इसके क्रमिक विकास में 'उसकी भी चिट्ठी आयी थी' के पोस्टमैन और 'माटी की औलाद' के कुम्हार की खण्ड घटनाओं के संयोजन से होते हुए 'इन्हें भी इंतजार है' के मंगरा, 'शाखामृग' के लक्खीलाल, 'बहावबृत्ति' के बिहरिया, 'बीच की दीवार' के लहरी सिंह और 'अंधकूप' के सोमू आदि के विविध क्रिया-कलापों की उन्मुक्तता और एकसूत्रता पर ध्यान दीजिये। 'खैरा पीपल कभी न डोले' की अलग-अलग घटनाओं की केन्द्रीय कसावट का सूत्र थामे चले आइये तो 'किसकी पाँखें', 'अँधेरा हँसता है', और 'धारा' की घटनाओं से ऐसा द्वार खुलेगा कि 'मैं, कल्याण और जहाँगीरनामा' तथा 'जंजीर, फायरब्रिगेड और इंसान' के बारे में सोचने-समझने की ज़रूरत ही नहीं रह जायेगी। अब जाहिर हुआ न, कि कितने रियाज के बाद 'वैतरणी' का यह विशाल 'शो' 'बॉक्स ऑफिस' पर 'हिट' हुआ है। लेखक को इस बात का अंदाज था कि 'इन्हें भी इंतजार है', 'आर-पार की माला' और 'धारा' आदि कहानियों की उन्मुक्तता को यदि वह खुला छोड़ दें तो वे उपन्यास के रूप में ढल जायेंगी। वह स्वीकार करता है कि ये कहानियाँ उपन्यास होते-होते बचीं, एक तरह से उपन्यासों की हत्या करके लिखी गयीं;[26] क्योंकि तब लेखक की योजना उपन्यास नहीं, कहानी लिखने की थी और 1960 के बाद उपन्यास की योजना मन में आते ही यह गुर रंग लाया।

इन सबको न सोच पाने के कारण ही 'दिनमान' के रिपोर्ट-लेखक ने प्रस्तुत कृति में कसाव-मँजाव की कमी बता दी[27] और इस शिल्प को न पकड़ पाने के कारण गोपालराय को इसकी शिल्पविधि में यदि कोई नवीनता नजर नहीं आयी[28] तो यह पुरानापन उनका और उनकी नज़र का ही है। इनके अलावा आदित्यप्रसाद त्रिपाठी ने इस संबंध में कहे लेखक के उक्त कथन को लेकर बड़ी ही तीखी आलोचना की है और इस नाम देने को लेकर बड़ी खिल्ली उड़ाई है।[29] मेरी राय है कि इसके पहले उन्हें शिवप्रसाद जी का पूरा कथा-साहित्य पढ़ लेना चाहिए था। खैर, प्रस्तुत विवेचन में आये क्रमिक विकास से उनका समाधान हो जायेगा; पर उन्होंने जो उसमें संपादन-कला की लेखकीय कमजोरी (चुप रह जाना, चुक जाना नहीं है,—जैसी दार्शनिक

26. सारिका—1 फरवरी 1980, पृष्ठ 12.
27. दिनमान—31, अगस्त 1964, पृष्ठ 37.
28. समीक्षा—नवंबर-दिसम्बर 1974, पृष्ठ 13-14.
29. उपन्यास और औपन्यासिक समीक्षा—डॉ० आदित्यप्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ 149-51.

शब्दावली में) बतलायी है, उसके संबंध में मैं कहना चाहूँगा कि डॉ० सिंह तो स्टीफेन ज्वाइंग की तरह अपना लिखा काट नहीं सके, त्रिपाठी जी ही जरा उन अंशों को बतला दें जिन्हें काटने से यह उन्मुक्तता (उनके शब्दों में बिखराव) कम हो जायेगी। अरे भाई, यह तो कृति की प्रकृति है जिसके आधार पर इसकी पूरी अन्विति रची गयी है। विद्वान् समीक्षक के संबंध में इतना और कहना चाहूँगा कि 'अलग-अलग वैतरणी' शीर्षक किसी कमजोरी से 'बचने की सजगता नहीं', रचना की प्रकृति को व्यंजित करती कलात्मक उपलब्धि का प्रमाण है।

'गली आगे मुड़ती है' में भी यह प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। इसमें भी पाँच-छः प्रमुख खण्ड कथाओं के साथ अनेक सहायक उपकथाओं की अन्विति इस शैली में नित परिष्कार की साक्षी प्रस्तुत करती है। इसके बाद अद्यतन लिखी गयी कहानियों 'कलंकी अवतार', 'हत्या आत्महत्या के बीच', 'तो' आदि में इसका वही संश्लिष्ट रूप फिर से वैसी ही गझिन, पर झीनी बुनावट करने लगा है। इसी को हम चाहें तो टुकड़ों को जोड़कर कहानी बनाने का शिल्प भी कह सकते। नयी कहानी का यह जाना-माना शिल्प प्रयोग है। 'मैं कल्याण और जहाँगीरनामा' तथा 'जंजीर, फायरब्रिगेड और इंसान' इस रूप के सशक्त उदाहरण हैं। अन्य रचनाओं में प्रमुख रूप से 'रागदरबारी' में भी ऐसी ही उन्मुक्तता और संयोजन है। रुद्रजी की 'बहती गंगा' इस शिल्प की अग्रजा मानी जा सकती है, बस, वहाँ संयोजन का सूत्र बहुत बारीक होने से सहज लक्ष्य नहीं है।

(8) प्रतीकात्मक शैली

यद्यपि प्रतीक ही मुख्यतः प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का साधन है तथापि प्रतीकात्मकता अपेक्षाकृत व्यापक 'टर्म' है।[30] इसी व्यापक रूप में यह शिल्प के साथ जुड़ जाता है। शिवप्रसाद जी के कथासाहित्य में प्रतीकों के व्यापक प्रयोग का अधिकांश भाषापक्ष के साथ जुड़ा हुआ है। अतः यहाँ सिर्फ प्रसंगतः उन प्रयोगों का जिक्र होगा जो कहानी की पूरी संरचना को प्रभावित करते हैं—यानी घटनाओं या चरित्रों के साथ जुड़कर शैली में ढल जाते हैं। इस रूप में लेखक की कुछ कहानियाँ प्रतीकात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण बन गयी हैं। भाषा और शैली पक्ष में प्रतीकों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लें—

प्रतीकात्मक कहानियों में लेखक की 'केवड़े का फूल' कहानी बहुचर्चित है। प्रायः सभी समीक्षकों ने इसका उदाहरण दिया है। रघुवरदयाल वार्ष्णेय के अनुसार यहाँ केवड़े का फूल नारी के उस जीवन का प्रतीक है जिसका सौरभ-जीवन पति की इच्छा पर निर्भर करता है।[31] इसी बात को अपने अभिजात ढंग से डॉ० शीतांशु इस प्रकार कहते हैं—'यहाँ केवड़े का फूल न केवल अनिता को प्रस्तुत करता है प्रत्युत भारतीय नारी को भी प्रतीकित करता है।[32] अब कहानी का वह अंश भी देख लें—

30. हिन्दी उपन्यासों में प्रतीकात्मक शिल्प—डॉ० सुशीला शर्मा, पृष्ठ 31.

31. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 120.

'मेरे सामने केवड़े के फूलों की याद आ जाती है। यदि इन्हें स्वतंत्र खिलने दें, तो जहरीले साँप इन्हें अपनी गुंजलक में लपेट लेते हैं, क्योंकि इनकी मादक गंध सही नहीं जाती और यदि किसी को निवेदित किये जायें, तो भद्र लोग उन्हें तोड़-मरोड़ कर कुएँ में डाल देते हैं, क्योंकि इससे पानी खुशबूदार होता है।'[33] यहाँ केवड़े का फूल, तो जो शीर्षक भी है, फैलकर पूरी कहानी को लपेट लेता है, लेकिन इस वाक्य में आये जहरीले साँप, उनकी गुंजलक तथा कुआँ और पानी आदि शब्द भी प्रतीक हैं, पर ये कहानी की शैली को प्रभावित न करके भाषागत कलात्मकता के साथ जुड़ते हैं, सो इस तरह के प्रतीकों को हमने सविस्तार आगे देखा है—भाषा के अंतर्गत।

प्रस्तुत कहानी में केवड़े के फूल की प्रतीकात्मकता दो विद्वानों के अनुसार हमने देखी। इसी को प्राथमिकता मिलनी चाहिए क्योंकि यह व्यंजना सीधी-सरल होने के साथ ही सहजसंवेद्य भी है, पर डॉ० सिंह के पूरे कथा-साहित्य को देखें तो इसमें केवड़ार के प्रसंग अनेक स्थलों पर आये हैं और उन सबको देखने के बाद इस प्रतीक की एक और भी व्याख्या मेरे मन में आती है। प्रेमियों के मिलनस्थल के रूप में केवड़ार (खासकर के अलग-अलग वैतरणी में) लेखक के कथा साहित्य में प्रेम का प्रतीक बन गयी है और इसी तरह यहाँ केवड़े का फूल भी प्रतीक बन गया है जिसे हमारा स्वार्थी समाज स्वतंत्र खिलने नहीं देता, पर पानी को खुशबूदार बनाने के लिए तोड़-मरोड़कर कुएँ में डाल देता है यानी प्रेम के पवित्र स्वरूप को तो विकृत कर देता है, पर उसे घर के अंदर रखता भी है ताकि पानी खुशबूदार बना रहे—इज्जत बनी रहे (पानी की ध्वन्यार्थकता द्रष्टव्य है)।

अन्य कहानियों में 'कर्मनाशा की हार', 'रेती', 'महुए के फूल', 'टूटे शीशे की तस्वीर', 'अंधकूप', प्लास्टिक का गुलाब', 'किसकी पाँखें', 'अंधेरा हँसता है', 'मुरदासराय', 'धारा', और 'कलंकी अवतार' आदि प्रमुख हैं। इनमें 'कर्मनाशा की हार', 'अंधकूप', 'मुरदासराय', और 'कलंकी अवतार' की प्रतीकात्मकता तो 'जटिल से जटिल अनुभूति को भी संक्षिप्त और सहज रूप में व्यंजित करती हुई प्रतीकात्मक शैली को सार्थक बनाती है।'[34] 'कर्मनाशा की हार मनुष्य से कर्म को नष्ट करके उसके ऊपर सामाजिक रूढ़ि और नियति का अभिशाप लादने वाली समूची प्रवृत्ति के विरोध का प्रतीक है जिसे पराजित करना नयी मानसिकता का सही संकल्प होना चाहिए।'[35] इसी तरह पूरी कहानी में फैलकर 'मुरदासराय' अपनी दीप्ति से मृत-मानवता को प्रतीकित करने लगती है। रोपन की विश्वासमयी चेतना में पैठा कलंकी अवतार तो भगवान् का प्रतीक बनकर पूरी कहानी को संचालित करता ही है। अंधकूप कथानक के अनिवार्य अंग के रूप में आता है और पूरे समाज की गजालत का प्रतीक

32. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 145.
33. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 58.
34. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ० रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 120.
35. प्रश्नों के मेरे—सं० राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 200

बन जाता है। 'धारा' की विस्तृत व्याख्या अध्याय तीन के 'धारा और धारा के बाहर-भीतर' शीर्षक में हुई है। अन्य सभी कहानियों के अंत में लेखक इन प्रतीकों की इस तरह जोड़ाई करता है कि वे पूरी कहानी पर लागू होने लगते हैं, जैसे 'इंजेक्शन' द्वारा चढ़ाई गयी दवा एक नस से होती हुई शिराओं और रक्त में जाकर मिल जाती है। यहाँ 'इंजेक्शन' की दवा के बाहरीपन जितना ही इन प्रतीकों का बाहरीपन भी समझना चाहिए। इनमें सिफत यह भी है कि ये 'इंजेक्शन' की तरह लक्ष्य भी नहीं किये जा सकते। इनमें 'केवड़े का फूल', 'प्लास्टिक का गुलाब' आदि कहानियाँ तो इस इंजेक्शन के बिना निर्जीव ही थीं, सो प्रतीकात्मकता ही उनकी चेतना-संवेदना भी है। 'किसकी पाँखें', 'अंधेरा हँसता है', 'रेती' आदि कहानियाँ स्वयं ही जीवनऊर्जा से भरी थीं, प्रतीकात्मकता के 'इंजेक्शन' ने इनमें 'टानिक' 'विटामिन' का काम किया है। 'टूटे शीशे की तस्वीर' इन दोनों के बीच की रचना है। 'पोशाक की आत्मा' उल्लेखनीय तो है, पर मेरी समझ में इसमें रूपक की स्थिति भर ही बन सकी है—नारी के लिए पोशाक तथा पुरुष के लिए आत्मा और अंत में पोशाक में आत्मा का आना नारी की शक्तिमता को संकेतित करता है, प्रतीकित नहीं।

शिवप्रसाद जी के उपन्यासों की भी प्रतीकात्मकता बड़ी विस्तृत है, पर उनसे प्रतीकात्मक शैली की स्थिति नहीं बनती। वैसे वैतरणी और सती-वियोग से व्याकुल शिव से शिवत्व के तिरस्कृत होने व जन-जन के आँसुओं की धारा में बदल जाने की प्रतीकात्मकता अदृश्य रूप से उपन्यास के शब्द-शब्द में झलकती है और 'गली आगे मुड़ती है' के गली की व्यंजना भी संस्कृति और युवा आक्रोश के प्रतीक के रूप में आद्योपांत व्याप्त है; किन्तु ये उपन्यास के शैलीपक्ष को प्रभावित नहीं कर पाते। अतः इनका अपार प्रतीक-वैभव आगे।

उक्त प्रमुख शिल्प विधियों के अलावा कुछ छिटफुट शैलियाँ भी उल्लेख्य हैं—

(9) पत्रात्मक शैली

पत्र-लेखन जीवन का अनिवार्य अंग और सहज क्रिया-व्यापार है। इसमें 'मैं' का प्रयोग और संस्मरणात्मकता होगी ही, पर इसे अलगाने वाला सबसे प्रमुख तत्व है—आदि का सम्बोधन और अन्त का आत्मोल्लेख। विशुद्ध पत्र में तो अभिवादन आदि के साथ बीच-बीच में पात्रों के सन्दर्भ भी आते हैं, पर शिवप्रसादजी ने इस तरह की सभी औपचारिकताओं का निर्वाह नहीं किया है। 'हाथ का दाग' कहानी में 'प्रिय रेखा' और 'सस्नेह-विपिन' के रूप में आदि-अंत दोनों का निर्वाह हुआ है, पर 'मुरदा-सराय' और 'अंधकूप' में तो आदि के संबोधन भी नदारद हैं। हाँ, 'अंधकूप' में 'आपका पत्र मिला' और 'मुरदासराय' में 'तुम सोचते थे' आदि सन्दर्भों से पत्रात्मकता का अहसास कराया गया है। शिवप्रसाद जी ने पूरी कहानी को एक ही पत्र में समेटा है। दोनों तरफ के पत्राचार का प्रयोग नहीं मिलता। 'प्लास्टिक का गुलाब' में भी एक छोटे-से पत्र का उल्लेख है जो पूरी कहानी की जान है। 'टूटे शीशे की तस्वीर' में भी सूचनार्थ पत्र का सहारा लिया गया है, 'नन्हों' में पत्र का जिक्र आया है, पर यहाँ

शैली वाली बात का प्रश्न ही नहीं है। 'मुरदासराय' व 'अंधकूप' जैसी लम्बी कहानियों को एक ही पत्र में, जो एक ही 'सिटिंग' में लिखा गया है, में समेट देने से पढ़ते समय पाठक को बिल्कुल याद नहीं रह जाता कि यह पत्र है, जब तक कि वह अंत में जाकर यह नहीं पढ़ता—'आपका नीच दोस्त—सोमू' या 'आपका ही—हरिचरण'। अब इसे पत्रात्मक शैली का गुण कहें या दोष, पर इतना जरूर लगता है कि यह पत्र की ही आवश्यकता तो नहीं थी। वैसे यह तो 'हाथ का दाग' में भी लगता है।

'अलग-अलग वैतरणी' में पुष्पा द्वारा विपिन को लिखे पत्र के अलावा पटनहिया भाभी व कनिया के पत्राचार शामिल हैं। ये अनिवार्य रूप से आये हैं और बिना किसी अलग शैली का बोध कराये वास्तविक जीवन के पत्रों की-सी सहजता लिए हैं। 'गली आगे मुड़ती है' के अंत में आये पत्र—जयंती का रामानन्द के लिए और रामानन्द का किरण के लिए—निहायत प्रासंगिक होते हुये भी अति काव्यात्मक हो गये हैं। शायद भावना के अतिरेक के लिए इस तरह की काव्यात्मकता का सहारा लिया गया है।

(10) डायरी शैली

डायरी में श्रृंखलाबद्ध रूप से अपनी दैनंदिन की तफसील और उस पर मन-मस्तिष्क की क्रिया-प्रतिक्रिया का लेखाजोखा ब्योरेवार निबद्ध रहता है। समय-बंध का निर्वाह शिवप्रसाद जी के दोनों उपन्यासों में अतीव सुन्दर ढंग से हुआ है—क्रमवार। किन्तु 'गली आगे मुड़ती है' के पृष्ठ 157 और 160 पर तारीख-दिन का उल्लेख हुआ है जिससे डायरी का आभास होता है। इसी प्रकार एकमात्र कहानी 'प्लास्टिक का गुलाब' में दो तारीखें देकर डायरी शिल्प का अनुसरण किया गया है। ये सब विशुद्ध डायरी शैली न होते हुए भी किसी और के मुकाबले इसके ज्यादा करीब पड़ते हैं।

(11) आवर्त्तक शिल्प

इसी नाम के साथ डॉ० शशिभूषण शीतांशु ने अपने बहुचर्चित शोधप्रबंध 'नयी कहानी के विविध प्रयोग' में कई नवीन प्रयोगों के साथ इसकी भी उद्भावना की है। इसे उन्होंने गूंज-अनगूंज उठाने वाले ऐसे वाक्य-खण्ड, शब्द या सन्दर्भ के आवर्त्तन के प्रयोग में देखा है जिससे कहानी को विशेषता, व्यंजकता और सार्थकता प्राप्त होती है। उनके अनुसार 'यह मूलतः भाषा का 'जेस्चर' है जिसे शिल्प में आवृत किया गया है।'[36] पूरी नयी कहानी में से वे इस शिल्प की सिर्फ दो कहानी ही चुन सके हैं—एक कमलेश्वर की 'नागमणि' और दूसरी शिवप्रसाद सिंह की 'आदिम हथियार'। अब मात्र दो ही कहानी से पूरी हो गयी कहानी का प्रतिनिधित्व कराना कहाँ तक संगत है, इसकी चिंतना तो विद्वान् समीक्षक ने की ही होगी; पर 'आदिम हथियार' इस शिल्प की निष्पत्तियों पर खरी उतरती है। इसमें 'अब ? एक बोला, अब ?

36. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 188.

सभी बोले' की आवृत्ति तीन बार इस कौशल के साथ हुई है कि इससे व्यंजकता बहुत-बहुत गहराती और स्पष्ट होती गयी है।

भाषा

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के लगभग दस वर्षों के लेखन की भाषा को देखकर ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था, 'क्या कमाल की चित्रकारी सीखी है तुमने! भाषा पढ़कर तो कभी-कभी लगता है कि यह मेरा शिवप्रसाद लिख रहा है।'[37] और लेखक की यह कला दिन-ब-दिन अपने कई पड़ावों से गुजरती-निखरती नित नवीन मंजिलों की तरफ बढ़ती जा रही है। शिवप्रसाद जी की भाषा में कहानीपन भी है, काव्यात्मकता भी, सादगी भी है और नाटकीयता भी; आभिजात्य भी है, कड़वाहट भी तथा सस्तापन भी है और लावण्यता भी। किन्तु डॉ० सिंह की इस भाषाई शक्ति को समझने से इरादतन इनकार करने वाले कुछ पूर्वग्रही विद्वान् भी हैं जो सब कुछ को नजरअंदाज करके अपने मोटे-मोटे बयानों में नाहक छिद्रान्वेषण करते रहे हैं। कहानियों के सन्दर्भ में इसका मुख्य मुद्दा आलंकारिक भाषा को लेकर है, जिसका जिक्र यथास्थान, परन्तु 'अलग-अलग वैतरणी' इस प्रवृत्ति का शिकार जरा ज्यादा ही हुई है। सबसे पहले तो इस अनांचलिक कृति से दुराग्रहवश आंचलिक भाषा की अपेक्षा की जाती है और न मिलने पर 'आंचलिकता को यथार्थ रूप देने में भाषा को कमजोर करार दे दिया जाता है।'[38] दूसरे, डॉ० गोपाल राय ने इस भाषा को कमजोर, सपाट और सर्जनात्मकता से हीन बताया है[39] और इसके लिए मुख्य मुद्दा बनाया है—भाषा की पात्रानुकूलता को, लेकिन उदाहरण एक भी नहीं दिया है।

पात्रानुकूल भाषा का प्रश्न

असल में 'अलग-अलग वैतरणी' की भाषा में पात्रानुकूलता को लेकर सवाल उठता ही नहीं क्योंकि यह पूरा उपन्यास ही करैता की भाषा में लिखा हुआ है, लेखक भी इसी भाषा में बोलता है, पात्रों के मानस प्रवाह में। किन्तु इसके अलावा पात्रों की स्थिति-मानसिकता व कथा-संदर्भ के अनुसार उनकी भाषा में पर्याप्त वैविध्य और वैभिन्न्य है। छोटी-सी पात्र दुलरिया को लें। जब वह चमारिनों के रहन-सहन को लेकर उनसे बात करती है, जब कहानी कहती है फिर जब सिरिया को डाँटती है और जब पिता सरूप भगत के मरने पर रोती है, सबमें कितना फर्क है। इसी तरह सुरजू सिंह वोट के दिन जब हरिया को समझाते हैं, बाद में जब उसे डाँटते हैं या शशिकांत को गवाही के लिए तैयार करने और पत्नी को डाँटने की भाषा में कितना फर्क है। यह प्रायः सभी पात्रों में देखा जा सकता है। इसके अलावा भी करैता में रहने के बावजूद प्रवृत्ति-योग्यता-वातावरण आदि के कारण भी पात्रों की भाषा में पर्याप्त अंतर देखा जा सकता है। पटनहिया भाभी, दुक्खन, दयाल, खलील, शशिकांत, विपिन, जगेसर

37. इन्हें भी इंतजार है—शिवप्रसाद सिंह, फ्लैप पर।
38. ज्ञानोदय—फरवरी, 1968—लक्ष्मीकांत वर्मा, पृष्ठ 140.
39. समीक्षा—अप्रैल-जून-1974, पृष्ठ 13-14.

और कुर्क अमीन की भाषा देखकर इसे समझा जा सकता है। कहना न होगा कि करैता के साथ बँधे रहकर भी इन पात्रों की भाषा में उनके लहजे और तेवर द्वारा फर्क दिखा पाने की एकमात्र संभवस्थिति का विलक्षण प्रयोग लेखक ने किया है। कुसुम वार्ष्णेय का मत एकदम उपयुक्त ही है कि भावना-परिस्थिति और पात्र के अनुरूप लेखक की भाषा-शैली ने सब कुछ को बड़ा स्वाभाविक और अकृत्रिम बना दिया है।'[40]

'गली आगे मुड़ती है' में पात्रानुकूल भाषा के वैविध्य का अध्ययन हो सकता है। उसमें विभिन्न क्षेत्रों से आये विविधस्तरीय पात्र आये हैं। वैसे लेखक ने सभी को काशी में ढली काशिका की ठनक में बाँधा है। सुबोध भट्टाचार्य खुद ही बताते हैं कि वे सड़कों पर भोजपुरी में जीते हैं, किरण तो ठेठ भोजपुरी 'कहल जाय हम सुनत हई' का उदाहरण भी दे देती है और बक्कड़ गुरु भी खांटी बनारसी बोल लेता है। लेखक इस मायने में इतना सजग है कि रामकली के मुँह से एक भोजपुरी गीत का उल्लेख करते हुए भी सफाई देना नहीं भूलता कि उसने बनारस आकर यहाँ की भाषा सीख ली थी। इस प्रकार भाषा की मूल धारा 'काशिका' के लिए रास्ता साफ है, पर विविधता तो आनी ही थी; यहाँ उसकी सीमा-रेखा जरूर खिंच गयी है। सो, किरण व सुबोध के परिवार तथा प्रसंग के बीच गुजराती व बंगला की झलक मिलती है। जमना का बिहारीपन लेखक बतला ही देता है। चलते-फिरते विद्यार्थियों की बातचीत में सड़क-छाप भाषा, आरती की जन्म-दिन की पार्टी में लड़कियों की आपसी चुहल के बीच चुलबुली भाषा, हरिमंगल की आक्रोशपूर्ण भाषा आदि अनेक रूप सहज सुलभ हैं। भोजपुरी (काशी की) बोलने वाले अन्य अनपढ़ पात्रों में भूरी, सिचन्ना, शिवमंगल राय, भग्गू साह, भिमला, रजुल्ली, चुन्नू महाराज व चित्रकूट की विधवा ब्राह्मणी आदि की भाषा में भी क्षेत्रगत प्रभाव के अनुसार सर्वनामों व क्रियाओं द्वारा सूक्ष्म वैभिन्न्य का निर्वाह किया गया है। किरण के शब्दों में वैदिक ऋचाएँ और शोहदों में प्रचलित शब्दावली को एक साथ बोलने की रामानंद की निर्लिप्तता[41] ही 'गली आगे मुड़ती है' की निर्लिप्तता है। विवेकी राय के शब्दों में 'सड़क की भाषा, गली और घाट की भाषा, गुंडों और पंडों की भाषा, अभिजात वर्ग की भाषा और सामान्य जन की लोकभाषा, छात्रनेताओं की सामान्य और आक्रोश की भाषा, घेराव-पथराव की भाषा समूचे भाषा-भेद की सूक्ष्म परख और प्रयोगक्षमता कथाकार में निखार पर है।'[42]

उक्त सजगता और वैविध्य के बावजूद कुछेक शब्दों को लेकर जरूर अनमेल और अंतर्विरोधी प्रयोग मिलते हैं (जिनका जिक्र प्रसंगानुकूल होगा) पर वे साधारण हैं और ऐसी अनवधानता प्रायः हो जाती है—खासकर तब तो और जब इतने सारे

40. सम्मेलन पत्रिका, भाग—57, संख्या दो, पृष्ठ 85.
41. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 460.
42. समीक्षा, अप्रैल-जून, 1974, पृष्ठ 31.

पात्रों की दुनिया को सँभालना हो। इस तरह डॉ० गोपाल राय का एतराज 'थोरेहि बात तिन्हहि (पितहि) दुख भारी' जैसा है। इसके अलावा डॉक्टर साहब 'अलग-अलग वैतरणी' की भाषा को 'गहरे अर्थ, तीखी संवेदना, मन के दर्द से कम जुड़ पाने वाली' भी बताया है।[43] कृति को पढ़ने के बाद इस टिप्पणी (कमेंट) की निरर्थकता व पूर्वग्रही दृष्टि को सामान्य पाठक भी समझ जायेगा; परंतु इसके लिए 'अलग-अलग वैतरणी' से कुछ उद्धरण देने से यह बात अपने आप साफ हो जायेगी; क्योंकि इन्हीं मौकों पर तो डॉ० सिंह की भाषा का वैशिष्ट्य निखरता है, वह अपने असली तेवर में उभरती है।

भाषा का वैशिष्ट्य

तीखी संवेदना को अभिव्यक्त करने वाली भाषा के लिए देवनाथ के घर होने वाली चर्चा में जग्गन मिसिर की भाषा का उदाहरण पर्याप्त होगा—'पेट में दाना रहता है तो ई साली तहजीब भी कुत्ते की तरह दुम हिलाती है। अगर घर में चूहे दण्ड पेल रहे हों तो तहजीब कटही कुतिया की तरह गुर्राकर अलग हो जाती है.... अब तुम्हें महाभारत भी तहजीब के खिलाफ लगने लगे तो हे करमनिखट्टू ! जाओ लड़का प्रानी लेकर रेल से कट मरो। और क्या ?'[44] वहीं से एक और नमूना देखिए—'ई नहीं कि खेखर की तरह मुँह बनाये, बीड़ी सुड़कते मजनू बने गली-गली घूम रहे हैं। दुवन्नी-चवन्नी लेकर 'इशक' कर रहे हैं। ये साले टुकड़हे क्या ऐयाशी करेंगे ! किसी के बदन पर एक तोला खून नहीं, हाड़ पर छटाँक भर गोश्त नहीं। ये तो कुत्ते हैं ससुरे, बिना कुछ सोचे-समझे इधर-उधर 'कुकरलेढ़' लगा लेते हैं।'[45]

गहरे अर्थ को अति संक्षिप्तता में व्यक्त करने की कला तो कोई शिवप्रसाद जी से सीखे। सुगनी के साथ पकड़े गये सुरजूसिंह कोठरी से बाहर आते हैं और उनकी बेशर्मी के लिए लेखक सिर्फ दो वाक्य लिखता है—'जो कुछ हाथ लगा, वह उनके चेहरे पर बेशर्मी की चादर की तरह फैल गया। भीड़ ने उनके चेहरे का रंग देखकर खुद गर्दन झुका ली।'[46] इसी तरह विपिन-बुझारथ की लड़ाई की खबरें एक-एक करके पुष्पी के पास पहुँचती हैं—'इन खबरों का सिलसिला पुष्पी के मन पर सिलाई की मशीन की तरह बखिया मारता रहा, किंतु यह एक अजीब सिलाई थी, जिसमें एक परत पर जो सबके सामने थी, बुनावट कुछ थी और दूसरी परत जो आँखों से ओझल थी, बुनावट कुछ और थी।'[47]

'मन के दर्द से कम जुड़ पाने वाली बात के लिए तो किसी भी पात्र को ले सकते हैं, भाषा सीधे हमसे जोड़ देती है। यह कथा तो अनुभूति के सहारे चलती ही

---

43. समीक्षा—अप्रैल-जून—1974, पृष्ठ 13-14.
44. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 434.
45. वही, पृष्ठ 444.
46. वही, पृष्ठ 571-72.
47. वही, पृष्ठ 401.

है। कौन ऐसा हृदयहीन होगा जो पटनहिया भाभी, पुष्पी कनिया के दर्द में डूब नहीं जायेगा या शशिकांत और खलील खाँ के दर्द में नहा न उठेगा अथवा हरिया, दुक्खन, झिनकू के दर्द से सिहर न उठेगा ?

इनके अलावा 'वैतरणी' की भाषा का वैशिष्ट्य जग्गन-भाभी संभोग प्रसंग,[48] दुलरिया की कहानी[49] आदि स्थलों पर खूब उभरता है। जग्गन-जगेसर की लड़ाई के साथ गाँवों में ऐसी खबरें फैलने की क्रिया के वर्णन की भाषा[50] अपनी विशिष्टता में बेजोड़ है। गलत अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से भरी जगेसर की बनावटी भाषा कुण्ठित आक्रोश लिए हरिया की भाषा, देमाल-सुब्बानट की कुश्ती चमारों-ठाकुरों की लड़ाई जैसे अनगिनत प्रसंगों की भाषा शिवप्रसाद जी की वैयक्तिकता को नवाजती हुई, अभिव्यक्ति-कौशल की सटीकता लिए हुए किसी भी साहित्य की निधि बन सकती है। इसीलिए डॉ० विवेकीराय मानते हैं कि 'अलग-अलग वैतरणी' की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, भाषा सम्बन्धी।...जहाँ भाषा का स्वाभाविक राग नहीं, यह उपलब्धि कैसे संभव होगी ? डॉ० सिंह में इस राग की स्वाभाविक पकड़ है। लेखक ने सधे हाथों फड़कती-रपटती हुई, ताजी-टटकी साँस की जिस नयी भाषा को पेश किया है, वह बेशक बहुत जानदार है।'[51]

ऐसी विशिष्टता मात्र 'अलग-अलग वैतरणी' में ही नहीं है, यह तो शिवप्रसाद सिंह की मौलिकता है। कहानियों और 'गली आगे मुड़ती है' में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। लेखक के शब्दों में ही कहूँ तो दृश्यों का वर्णन और स्थितियों के दिलचस्प बयान की ऐसी अद्भुत प्रतिभा शिवप्रसाद जी में है कि पाठक पत्थर की गढ़ी मूर्ति की तरह निश्चेष्ट हो पढ़ता जाये पढ़ता जाये.... 'सच्चा गेहुँअन था, बाप रे तीन साढ़े तीन हाथ का, फन तो साले का दो-दो बित्ते के बराबर। जब तक मैं पहुँचूँ न पहुँचूँ कि साला गेंडुर मारकर हाथ भर का सीना तानकर लगा लहराने जैसे कोई सामने बैठकर बीन बजा रहा हो, मेंगची सामने गिर पड़ी थी और जहर के मारे छटपटा रही थी....बाप रे, मुझे देखते ही गेहुँअन सन्न से झपटा और मेरे से एक लट्ठे के फासले पर आकर खड़ा हो गया....मेरे तो काटो तो खून नहीं, सारा बदन पसीने-पसीने हो गया, कलेजा साला पुकुर-पुकुर करने लगा....।'[52] 'इण्टरव्यू' देकर बाहर निकलने वाले अवधू और उसके चारों तरफ की भीड़ के वर्णन में भी अद्भुत सजीवता है—'तभी उसके इर्द-गिर्द मक्खियों की भनभनाहट तेज हो गयी...क्यों भाई साहब।....हेलो बन्धु।....एक मिनट प्लीज।....और तभी अवधू को लगा कि भीड़ में घिरा-घिराया जाने कब सड़क पर आ गया है....अवधू हाथ हिलाकर सबको

48. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 306-7-8.
49. वही, पृष्ठ 246-47.
50. वही, पृष्ठ 351-52.
51. दिशाओं का परिवेश—सं० ललित शुक्ल, पृष्ठ 32.
52. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 199.

एक तरफ करता है, ट्रैफिक शुरू होती है तो वह सब लोगों की तरफ उड़ती नज़र डालकर देखता है। हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप....नहीं, नहीं भाई, मेरा मुकुट अपने सर पर रखने की कोशिश मत करो....' तभी एक काला-सा खुरदरे मुँह वाला नौजवान फटी हुई आवाज में पूछता है, 'तो अचानक उसने कहा कि आप जा सकते हैं। क्यों ?' और वह घूमकर एक साथी को खुदक्का मारकर ठहाकों में फूट पड़ता है....आओ चलें...अवधू के इर्द-गिर्द सेनापति, योद्धा, सैनिक सभी तितर-बितर हो जाते हैं—फाटक पर रहता है सिर्फ अवधू और उसका विश्वास—दोनों ही घायल, दोनों ही एक दूसरे पर संघातिक चोट करके औचक एक दूसरे को ताकते हुए, खून से लथपथ हल्दीघाटी आँखों से ओझल हो जाती है।'[53]

इसी तरह अपनी गाथा सुनाते अर्जुन पाण्डे की भाषा, बड़की बहू व नैना (क्रमशः 'अरुन्धती' और 'धरातल') के चिंतन की संत्रास भरी भाषा बिहरिया व लक्खीलाल, खुनखुन, रोपनबरी की भाषा में पर्याप्त विशिष्टता समायी हुई है। 'इन्हें भी इंतजार है' से शुरू होकर 'मुरदासराय' में पहुँचते-पहुँचते जहाँ भाषा की कलात्मकता विशिष्ट बनी रहती है वहीं 'भेड़िए' में आकर वह सीधी सपाट और आक्रामक जो जाती है। यदि यही प्रवृत्ति और बढ़े तो आधुनिक जीवन को वहन करने में भाषा और भी समर्थ हो सकती है।

'गली आगे मुड़ती है' में कथ्य के मुताबिक आक्रोशपूर्ण भाषा के उदाहरण कई स्थलों पर वैशिष्ट्य बनकर उभरे हैं जिनमें प्रमुख हैं—सामाजिक भ्रष्टाचार को लेकर हरिमंगल की भाषा, युवापीढ़ी को लेकर सुबोध भट्टाचार्य की भाषा, यौन उच्छृंखलता के सम्बन्ध में जयंती की भाषा और जगह-जगह रामानंद की भाषा तथा भाषणों-आन्दोलनों में छात्रनेताओं की भाषा आदि। रामानंद के प्रति उसकी माँ आरती व शोभना जीजी की भाषा तो संवेदनात्मक है ही पर हरिमंगल के पत्र का अन्तिम अंश तो संवेदनशील पाठक को रुलाये बिना नहीं रहता।[54] किरण को पढ़ाते परामानंद की विवेचनात्मक भाषा तो साहित्य में अपना सानी नहीं रखती।[55] किंतु प्रस्तुत उपन्यास की सबसे बड़ी भाषागत विशिष्टता स्थिति-योग्यता व प्रसंगानुकूल वार्तालापों में है जिनमें चुलबुलापन, तुर्शी, प्रगल्भता, व्यंग्य-विनोद आदि सहज मूर्तिमान हो उठते हैं। रामानंद-जयंती की प्रथम भेंट, किरण-रामानंद के बीच पढ़ाई और सारनाथ पिकनिक वाले प्रसंग, रामानंद हरिमंगल की प्रथम भेंट, रामानंद-बक्कड़ गुरु और इंस्पेक्टर शर्मा रामानंद की बातचीत को इसके प्रमाणस्वरूप देखा जा सकता है।

उक्त वर्णित भाषा और इसके अलावा डॉ० सिंह के कथा-साहित्य की संपूर्ण भाषा की जो सबसे बड़ी विशिष्टता है, वह है उसकी गति, प्रवाह। वर्णन हो या कथा-प्रसंग, भावाभिव्यक्ति हो या भाषण, वार्तालाप हो या चिंतन, सबमें कलकल-छलछल

53. मुरदासराय—पृष्ठ 109-10.
54. गली आगे मुड़ती है—पृष्ठ 440.
55. वही, पृष्ठ 76.

करता भाषा का अविरल प्रवाह अबाधगति से प्रवहमान है। इस गति में कहीं लयात्मकता है, कहीं लोच है, कहीं अक्खड़पन है तो कहीं अल्हड़ता, पर उसमें एक तरन्नुम, एक 'रिद्म' प्रायः सर्वत्र लक्षित की जा सकती है।

लोकभाषा का हिन्दीकरण

शिवप्रसाद सिंह के भाषा प्रयोग की सबसे खास विशेषता है— अपने कथ्य के मुताबिक भाषा को मोड़ देना याने 'स्थानीय भाषा और खड़ी हिन्दी का स्पृहणीय संतुलन।'[56] कहानियों में तो यह मात्र संतुलन तक ही सीमित है पर 'अलग-अलग वैतरणी' तक आते-आते यह प्रक्रिया अपने विकास को एक प्रोन्नत आयाम तक पहुँचा देती है। लेखक की मौलिक प्रतिभा इसे एक नये रूप में ढालने की सफल कोशिश करती है। डॉ० विवेकी राय ने इसी को 'खड़ी हिन्दी का लोकभाषाकरण' कहा है। उन्होंने लिखा है, 'उपन्यास में खड़ी बोली को भोजपुरिया मोड़ दिया गया है, उसे बनारसीपन की चासनी में ऐसा ढाला गया है कि मन पर उसकी मिठास बैठती जाती है। प्रेमचंद की भाषा से इसका फर्क बतलाते हुए विद्वान् समीक्षक का कहना है कि प्रेमचंद ने खड़ी बोली का लोकभाषाकरण किया था और यहाँ लोकभाषा का हिन्दीकरण किया गया है।'[57] इस प्रक्रिया का बहुमुखी रूप 'गली आगे मुड़ती है' में प्रच्छन्न रूप में देखा जा सकता है। इस प्रक्रिया में अपनाये गये (अप्लाइड) भाषा के कुछ प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(1) 'ये' और 'यह' के लिए 'ई' का प्रयोग करके जो व्यक्तिवाचक के अलावा और भी सभी संज्ञारूपों के बदले में आये सर्वनाम हैं। उदाहरण के लिए 'बब्बू, ई का कियो ?' मशहूर वाक्य का 'ई' बढ़ता गया— ई बाबू साहब हैं, ई पंडितजी हैं, ई मुखिया जी हैं'[58] 'ई मुहल्ला ही ससुरा भंडुओं की जमींदारी है'[59] 'बाकी कोठी हमार है ई'।[60]

(2) इसी तरह 'वह' और 'वो', 'वे' के लिए 'ऊ' का प्रयोग। 'ऊ' न होवैं देब हम सत्यानासी,[61] और 'ऊ मुँह के बल चित्[62] ऊ तो कहो दुक्खन चाचा ने हमको चरनी की आड़ में खड़ा कर दिया था।'[63] ऊ सब सह सकते हैं।[64] ऊ कोई वारिसनामा छोड़ गये हैं ?[65]

56. समीक्षा के सन्दर्भ— भगवतशरण उपाध्याय, पृष्ठ 167.
57. दिशाओं का परिवेश—सं० ललित शुक्ल, पृष्ठ 32.
58. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 37
59. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 53.
60. वही, पृष्ठ 62.
61. मुरदासराय, पृष्ठ 141.
62. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 233.
63. वही, पृष्ठ 219.
64. वही, पृष्ठ 40.
65. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 62.

अब इन्हीं दोनों की शृंखला में 'यहाँ', 'वहाँ' के लिए 'इहाँ', 'उहाँ', 'यही' 'वही' के लिए 'इहै', 'उहै'। और जोर देना हो तो 'इहौ', 'उहौ' भी—'इहौ करोगे क्या',[66] न निकले तो उहौ होगा।[67]

(3) इसी तरह 'कोई' के लिए 'कौनो'[68] और 'क्यों' के लिए 'काहै'[69] और 'क्या' के लिए 'का'[70] का प्रयोग करके काफी कुछ भोजपुरी अंदाज दे दिया गया है। इसमें 'का' (क्या के लिए) का प्रयोग तो बहुत ही है। 'नहीं' के लिए गँवई रूप 'नाहीं' भी मिलता है।[71]

(4) शब्दों पर भोजपुरी के ढंग से जोर देकर भी उसे हिन्दी के वाक्यों में समाहित किया गया है—'इहाँ इस लंका में हर साला बावनँ हाथ का बनता है।'[72]

(5) गँवई अंदाज में पुकारे जाने वाले नामों का प्रयोग—हरिप्रसाद—हरिया, श्रीप्रसाद—सिरिया, छबीलचंद—छबिलवा, सुरजित—सुरजितवा, जगजीत—जगजितवा, तो प्रयुक्त ही है, वैसे मौके के मुताबिक सुखुदेउआ, बुझरथा, दयलवा, झिनकुआ जैसे भी प्रयोग हुए हैं।

(6) क्रियापद को भी गँवई मोड़ दिया गया है—बतियाते,[73] पनिया जाती,[74] सकताय गया,[75] कबुलवाय रहे हो,[76] पधराया,[77] चेता दिया,[78] चौड़िया गया,[79] बहरिया दे,[80] सरापती,[81] सरियाए,[82] लौका[83] आदि अनेक हैं। वैसे 'हैं' और 'हो' के लिए 'हौ' का प्रयोग भी एकाधिक स्थलों पर मिलता है।

---

66. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 270.
67. वही, पृष्ठ 290.
68. वही, पृष्ठ 243.
69. वही, पृष्ठ 242.
70. वही, पृष्ठ 251, 52, 144, 93.
71. वही, पृष्ठ 339.
72. वही, पृष्ठ 326.
73. वही, पृष्ठ 326-27.
74. वही, पृष्ठ 145.
75. वही, पृष्ठ 234.
76. वही, पृष्ठ 326.
77. वही, पृष्ठ 14.
78. वही, पृष्ठ 575.
79. वही, पृष्ठ 413.
80. वही, पृष्ठ 555.
81. वही, पृष्ठ 562.
82. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 386.
83. वही, पृष्ठ 316.

इसके अलावा शब्द प्रयोग के माध्यम से सर्वाधिक हिन्दीकरण किया गया है जिनकी एक सूची दी जा रही—'शब्द-साधन' के अंतर्गत, आगे।

भाषा के कलात्मक प्रयोग

इसके अंतर्गत प्रतीक, बिम्ब, मिथक, रूपक, संकेत और अलंकारों का विवेचन अपेक्षित है।

(1) प्रतीक योजना

वैसे तो अंतिम विश्लेषण में सारे शब्द ही हमारे भावों के प्रतीक मात्र होते हैं और रचना के सभी पात्र भी किसी न किसी भाव-विचार-प्रवृत्ति आदि के प्रतीक ही होते हैं; पर वस्तुतः संगुम्फित भाव की अभिव्यक्ति में जब (सामान्य) भाषा अपना प्रभाव नष्ट कर देती है और शब्द अपना अर्थ खो देते हैं तब साधारण के स्थान पर विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये ही विशिष्ट शब्द प्रतीक हैं।[84] कोई शब्द विशिष्ट के रूप में रूढ़ नहीं होता बल्कि शब्दों का वैशिष्ट्य संदर्भानुसार प्रयोग सापेक्ष्य होता है। जो शब्द किसी संदर्भ में विशिष्ट होगा, दूसरे में सामान्य भी हो जायेगा। डॉ॰ कुमार विमल के अनुसार अर्थसंदर्भ व्यंजित करने की शक्ति अर्जित करने वाला कोई अप्रस्तुत या शब्द प्रतीक है।'[85] शब्दों का प्रतीक रूप में चयन पूर्णतः लेखक की अनुभवसमृद्धि और प्रतिभा पर आधारित होता है। 'महत्व या मूल्य प्रतीक का नहीं होता, उससे मिलने वाली अनुभूति की गुणात्मकता में होता है।'[86]

कथा साहित्य में प्रचुरता से प्रतीकों का प्रयोग होता है, पर अनुभव की वास्तविकता को अधिक से अधिक घटित करने के लिए, न कि उसके पार कुछ दिखाने के लिए।[87]

प्रतीक शिवप्रसाद सिंह की भाषा के अनिवार्य अंग हैं। उनकी विविधता और कलात्मकता ने भाषा को अपूर्व गरिमा से भर दिया है। प्रशंसानुरूप समान गुणधर्मी प्रतीक जैसे उनकी चेतना में कदम-कदम पर अपने आप आ जाते हैं। इन प्रयोगों को सोचने पर ऐसा लगता है कि यदि इन प्रतीकों का प्रयोग न होता तो वे बातें कही ही नहीं जा सकती थीं याने कहीं जरा-सी भी खींचतान या जोड़-तोड़ का आभास तक नहीं होता। शिवप्रसाद सिंह के समस्त कथा साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों की चर्चा तो असंभव ही है पर इनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—इस सावधानी के साथ कि प्रस्तुत प्रबंध के किसी प्रसंग में आये प्रतीकों की पुनरावृत्ति न हो और प्रायः प्रमुख प्रतीक छूट न जायें।

प्रारंभिक कहानियों में आये चरित्र—'दादी मां', 'देऊ दादा', 'उपधाइन मैया', 'बुआ' (नयी पुरानी तस्वीरें) आदि—स्वस्थ, उपयोगी और ग्राह्य परंपरा के

---

84. हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान—डॉ॰ रघुबरदयाल वार्ष्णेय, पृष्ठ 118.
85. सौंदर्य शास्त्र के तत्व—डॉ॰ कुमार विमल, पृष्ठ 257.
86. आत्मनेपद—अज्ञेय, पृष्ठ 256.
87. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सं॰ देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 20.

प्रतीक हैं। 'कर्मनाशा की हार' में भैरो पाण्डे की बखरी को लेखक ने खुद ही खानदान की प्रतिष्ठा का प्रतीक कहा है।[88] इसी कहानी के अंत में आया नीम का पेड़, भैरो पाण्डे और उद्धत लहरों की चपेट, अंधविश्वासी समाज की वर्जनाओं के प्रतीक बन गये हैं। इस कहानी की प्रतीकात्मकता लेखक के शब्दों में—'कर्मनाशा की हार' मनुष्य के कर्म को नष्ट करके उसके ऊपर सामाजिक रूढ़ि और नियति का अभिशाप लादने वाली समूची प्रवृत्ति के विरोध का प्रतीक है। कर्मनाशा हमारे समाज के वैषम्य का प्रतीक है जिसे पराजित करना नयी मानसिकता का सही संकल्प होना चाहिए।[89] 'उपहार' कहानी में पहले जब श्रीफल के पेड़ का जिक्र आता है तो बिल्कुल सामान्य लगता है, पर आगे चलकर ठाकुर की दी गयी गुलाबी की फटकार सुनकर बच्चन के कथन—'इस सिरफल में फल ही नहीं लगते, बल्कि ये अनचक्के में टपक भी पड़ते हैं और आदमी खियाल से न रहे तो खोपड़ी भी फोड़ देते हैं।[90]—में लेखक का सुनियोजित प्रतीक-प्रयोग अभिव्यक्ति को बहुत सरस जीवंत बना देते हैं—श्रीफल गुलाबी का ही प्रतीक बन गया है। इसी तरह 'संपेरा' कहानी में ठाकुर के प्रति बक्कस के कथन में आये साँप वाक्चातुर्य से गरीबों-शोषितों के प्रतीक बन गये हैं।'[91]

'नन्हों' कहानी में आये दो प्रमुख प्रतीकों का उल्लेख लेखक ने स्वयं किया है।[92] वे प्रस्तुत प्रबंध के 'सांकेतिक परिवेश' शीर्षक (अध्याय दो) में विवेचित भी हुए हैं। 'इन्हें भी इंतजार है' संकलन की कहानी 'खैरा पीपल कभी न डोले' में पीपल गाँव की पुरातन-विपुल परंपराओं का प्रतीक है और बच्चों का उसे भूल जाना नयी पीढ़ी द्वारा उनकी अवहेलना को संकेतित करता है। 'सुबह के बादल' में कथारंभ का ताजा-ताजा सूर्योदय नवार्जित भारतीय स्वाधीनता का प्रतीक है।'[93] यहाँ तक तो ठीक है, पर जब शीतांशु जी हरिया में स्वातंत्र्योत्तर नयी पीढ़ी की दो प्रवृत्तियों—निरर्थक लंघी लगाने और किसी को कुछ न समझने वाली—की प्रतीकात्मकता की उद्भावना करते हैं तो इनकी किंचित् दुरूहता का भी उल्लेख किये बिना नहीं रह पाते।'[94] फिर सामान्य पाठकों का क्या हाल होगा ? विवेच्य कहानी में नामवर सिंह ने भी आम की गुठली को जिन्दगी की कठिन गाँठ का प्रतीक बताया

88. कर्मनाशा की हार—पृष्ठ 12.
89. प्रश्नों के घेरे—सं० राजेन्द्र अवस्थी, पृष्ठ 200.
90. कर्मनाशा की हार—पृष्ठ 103.
91. वही, पृष्ठ 106.
92. मुरदासराय—भूमिका (कुछ न होने का कुछ), पृष्ठ 21.
93. कल्पना—नवलेखन विशेषांक—भाग 1-1969 पर विवेकीराय का लेख, पृष्ठ 168.
94. कल्पना—नवलेखन विशेषांक—भाग 1—1969 पर डा० शीतांशु का लेख, पृष्ठ 197.

है।'[95] इन प्रतीकों की जटिलता लेखक की विशिष्टता और विद्वानों की कसौटी पर उनके बुद्धि-विलास की सामग्री हो सकती है, लेकिन साधारण पाठक उसके जीवन और कहानी के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं।

'मुरदासराय' कहानी संग्रह कलात्मक दृष्टि से लेखक की कहानी-कला का उत्कर्ष बिन्दु (क्लाइमेक्स) है। इसमें प्रतीकों का प्रयोग परिमाण और व्यंजकता, दोनों ही में बढ़ा हुआ है। 'अरुन्धती' कहानी इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसकी तो पूरी भाषा ही बेहद प्रतीकात्मक है। 'तालाब पर बड़की बहू की धोती उनका नौकर हीरा छाँट देता है। धोती लेकर वह बखरी लौटी थीं—सहज मन से प्रफुल्लित। कगार पर एक चिनगारी उड़कर भँटवास वन में खो गयी।'[96] इसमें भँटवास वन से जंगली समाज और चिनगारी से वह घटना प्रतीकायित की गयी है। इस घटना को फैलने में थोड़ा समय लगा, पर धीरे-धीरे यह झूठा-सच्चा प्रवाद पूरे गाँव में फैल गया। इसकी प्रतीकात्मक भाषा देखिये—'चाँद की धूमिल परतों में सफेद धुआँ एक क्षण को भले ही विलमा रह गया हो, पर दपदपाती लपटें कब तक रुकतीं।'[97] बड़की बहू बबुआन के घर की बहू है। इस घर और गाँव के संबंधों तथा गाँव की हलचल का इस घर पर पड़ने वाला असर 'दो मंजिला बजड़ा' और 'जल' के प्रतीकों से व्यक्त किया गया है।'[98] भाभी के गर्भ में पलते अंकुर और उसकी भावी नियति के संकेत रूप में फिर एक लंबा वर्णन मिलता है। हीरा के परिचयात्मक वर्णन के बाद बहू के बहाने के दौरान कीचड़ के स्पर्श से पाँव में अपनापा महसूस करने में हीरा और फिर कंकरीले पाट में कंटकपूर्ण जीवन की तरफ आने के प्रतीक एकदम स्पष्ट हो जाते हैं। बड़की बहू को बेइज्जती से बचाने के लिए हीरा रेल से कटकर मर जाता है। इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—'बेचारा बबुआने की एक कलोर बाछी को बचाने के लिए लाइन पर दौड़ने लगा....तभी—हाँ। तभी दैत्याकार इंजन के नीचे आ गया। दैत्याकार इंजन, जो खुद नहीं चलता, जो हजारों-हजार पुर्जे के बल पर खड़ा है, किन्तु जिसका कोई भी पुर्जा अलग रहकर एक मामूली मुर्चीले लोहे के टुकड़े से अधिक मूल्य नहीं रखता।'[99] इसमें दैत्याकार इंजन यह अमानवीय समाज ही है जिसमें व्यक्ति की नियति इंजन के बेजान पुर्जे की-सी है। 'किसकी पाँखें' कहानी में आया सीपिया नाले का पुल अशरफ चाचा का प्रतीक ही है जो हिन्दू-मुसलमानों के बीच पुल की तरह ही थे। प्रस्तुत संग्रह की हर कहानी में इसी तरह कई-कई प्रतीक बिखरे पड़े मिलते हैं।

'भेड़िए' में आकर रूपाश्रयी रुझानें जरूर कम हुई हैं। रेल से हुई हत्या को

95. कहानी : नयी कहानी—डा० नामवर सिंह, पृष्ठ 43.
96. मुरदासराय, पृष्ठ 16.
97. वही
98. वही, पृष्ठ 17.
99. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 29.

देखकर 'मैं' को शोभा बुआ की याद आ गई जिससे वह काफी विचलित व तनावग्रस्त हुआ। इस तनाव को मछली और यादों के घेरे को जाले के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है—'यह एक खासी बड़ी मछली थी।' मेरे सिर के भीतर इसकी हलचल से जाल रह-रहकर तन जाता था।....जाल भी अजीब किस्म का करिश्मा है। पानी कहीं रुके भी नहीं, पर पानी के भीतर की कोई चीज बचकर निकल भी न सके।'[100] बचपन में नैना (मुसम्मात) के हाथ की रोटियाँ कभी-कभी चील-कौए छीन लेते। अब बड़े होकर देवर-देवरानी और हरिमंगल जब-जब उसके हक पर हाथ फैलाते हैं, इसी चील-कौए के प्रतीकों से अर्थ संकेत कराया गया है। 'अरुन्धती' और 'धरातल' दोनों कहानियों में अपने अस्तित्व के प्रश्न पर चील-कौए के सोद्देश्य प्रतीक अस्तित्ववादी प्रतीक-से बनकर प्रस्तुत हुए हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' के प्रायः सभी पात्र करैता के विभिन्न पहलुओं और करैता स्वयं भारतीय गाँवों को प्रतिनिधि के रूप में प्रतीकाथित करता है।

पहले अध्याय के मेले में जीवन के विविध पक्ष प्रस्तुत हुए हैं। अपनी संपूर्णता में यह ग्रामीण जीवन की विसंगतियों का प्रतीक बन गया है। जमींदार और प्रजा को बाघ और मेमनों के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त करते हुए मेमनों के खुद-ब-खुद चलकर बाघ के पास आने[101] की बात कहकर शोषण के शिकार लोगों की विवश स्वीकृति की एकमात्र स्थिति को बड़ी कुशलता से व्यंजित कर दिया गया है। मरते समय जैपाल अतीत-चितन में बुझारथ की नालायकी का ख्याल आते ही अचानक उनकी छाती पर एक आदमखोर जानवर उछलकर बैठ जाता है,[102] जो प्रसंगतः तो बुझारथ को प्रतीकायित करता है; पर प्रवृत्तियों में जैपाल भी प्रतीकित हो जाते हैं। इसी अवस्था में कनिया वहाँ आती है और कोठरी की बल्लियों को देखते हुए जैपाल की आँखें स्याह-उजले प्रकाश से काँपते हुए जाले बना देती है। यह जाला तो जैपालसिंह की मनःस्थिति का व्यंजक है, पर केन्द्र और मकड़ी[103] के लिए काफी दिमागी कसरत करनी पड़ती है तब जाकर कहीं यह थोड़ा-सा खुलता है (जो पता नहीं कितना सही है) कि जैपालसिंह स्वयं केन्द्र है और बैठी मकड़ी कनिया की प्रतीक है जो स्वयं केन्द्र को जान-समझ नहीं पाती। खलीलखाँ की मानसिक उलझन भी मकड़ी के जाले के प्रतीक में ही व्यक्त हुई है।[104] 'कर्मनाशा की हार' कहानी की तरह यहाँ भी बबुआन की हवेली खानदानी प्रतिष्ठा का प्रतीक बनकर आयी है, जिसकी दीवारें तमाम आघातों को सहकर भी बनी हुई है, लेकिन अब बुझारथ की तरह-तरह की बुरी आदतें दीमक बनकर ईंटों तक को चाट रही हैं। दीमकों को

100. 'भेड़िए', पृष्ठ 44.
101. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 47.
102. वही, पृष्ठ 89.
103. वही, पृष्ठ 531-32.
104. हिन्दी उपन्यासों में प्रतीकात्मक शिल्प—डॉ० सुशीला शर्मा, पृष्ठ 342.

बदलती परिस्थितियों का प्रतीक भी बताया गया है।[105] नोनी लगी दीवार का गिरना, लेवन के चप्पल उखड़ जाना जगेसर और खलील खाँ के प्रसंग में वर्तमान की विषम मार से सुखद अतीत का ढहना प्रतीकित हुआ है।[106] ये जाले, बखरी, दीवारें लेखक के प्रिय प्रतीक हैं। सुरजूसिंह के बैठके में बिछी खेल की गोटियाँ उन नवयुवकों की प्रतीक हैं जो उन्हीं की तरह आत्मचेतना से शून्य, दूसरों के इशारों पर चलते हैं। खेल का वारा-न्यारा करने वाली गोटियों की तरह ही ये भी गाँव की गतिविधियों को अंजाम देते हैं।

प्रतीकों का सर्वाधिक उपयोग जग्गन मिसिर वाले अध्याय में हुआ है। बड़े भाई बैजू के शव के पास खिलंदड़े लड़के जग्गन के हाथ से कुई के फूलों का बिखर जाना उनकी बचपन की खुशियों का बिखर जाना ही है। भाई का क्रिया-कर्म करने की परंपरा अशौच ढोने के माध्यम से जग्गन को खिलंदड़े लड़के से एक बेचारा इंसान बना देती है।[107] फिर से उन बचकानी खुशियों में लौट जाने की जग्गन की आकांक्षा और परिस्थिति से बँधे जीवन में लौट जाने की विवशता भी सुंदर प्रतीकात्मक भाषा में चित्रित है।[108] जग्गन की शादी के प्रसंग मिसराइन के मन को बेध देते, जिसे सिलाई मशीन की पूरी प्रक्रिया के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है।[109] शोक-संतप्त इस घर और मिसराइन में आती खुशियों की फुरहरी को समान गुणधर्मी प्राकृतिक उपादानों के प्रतीक द्वारा धीरे-धीरे व्यक्त करने में नन्हों सहजाइन वाली रचना प्रक्रिया ही अपने विस्तारित रूप में अर्थवान हो उठी है।[110] फिर एक चित्र आता है— 'पियरी माटी से पुती हुई दीवालें सोंधी-सोंधी महक रही थीं। एक बड़ी अपनपौं भरी महक सारे शरीर को बेहोश किये दे रही थी। पुरानी माटी पर ताजा, नयी माटी का रोगन भी क्या आभा जगा जाता है।'[111] क्या इसे समझते देर लगती है कि शृंगार के नये रोगन से भाभी के अपेक्षाकृत पुराने सौन्दर्य की आभा एक अपनापा (जग्गन में और जग्गन के लिए) लिए जाग उठी है। कबूतरी की बातों से मिसराइन को कुहरीली लगने वाली दालान का अब खूब उजियाली लगना जीवन में आने वाली खुशियों और जग्गन के सीने में बसी घर की गभिन गंध मिसराइन की प्रणय-गंध को भी प्रतीकायित कर देती है।[112] इसके बाद तो दो-तीन पृष्ठों तक चलने वाला जग्गन-मिसराइन का काम-क्रीड़ा प्रसंग अपनी प्रतीकात्मकता, भाषा और कला-

105. हिन्दी-उपन्यासों में प्रतीकात्मक शिल्प—डॉ० सुशीला शर्मा, पृष्ठ 342.
106. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 523.
107. हिन्दी-उपन्यासों में प्रतीकात्मक शिल्प—डॉ० सुशीला शर्मा, पृष्ठ 344.
108. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 290.
109. वही, पृष्ठ 299.
110. वही, पृष्ठ 291.
111. वही, पृष्ठ 203.
112. वही, पृष्ठ 302-3.

त्मक चित्रण को लेकर सम्पूर्ण साहित्य में बेजोड़ है। गद्य में तो ऐसा चित्रण दुर्लभ ही है। उस सम्पूर्ण स्थिति को, मय मूड़-गति-प्रक्रिया के, चित्रित करना और कहीं ज़रा सी भी अश्लीलता का आभास तक न होने देना, सब कुछ समझते, उनका आनन्द लेते भी, कहीं किसी ऐसे-वैसे शब्द तक का न आने देना अपने आप में एक 'न भूतो न भविष्यति' जैसी उपलब्धि है। मेरा ख्याल है कि आज यथार्थ के नाम पर सभी अंग-उपांगों को नवाजते हुए एकदम नग्न वर्णन करने वाले (राजकमल चौधरी, कृष्ण बलदेव सरीखे) लोगों को इसे पढ़कर सीखना चाहिए कि साहित्य में यथार्थ का भी कलात्मक उपयोग हो सकता है। खैर,

चित्रण की शुरुआत आग के जलने और दीपक के बुझने से होती है। आग तो कामाग्नि के रूप में काम के लिए रूढ़ है ही। आग और दीपक का प्रतीक साहित्य का परम्परागत प्रतीक है। प्रसादजी श्रद्धा-मनु के बीच इसी को माध्यम बनाते हैं—

'दो काठों की संधि बीच, उस निभृत गुफा में अपने,
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने पर जैसे सुख सपने।'

इस शुरुआत के बाद तो प्रतीकों का प्रवाह उमड़ पड़ता है—'अथाह समुद्र में डूबते एक दूसरे को सहारा देने, पागल कुत्तों, वाष्प की आँधी, भँवरजाल, चेतनपिंड, दैत्याकार हथेली, पारे की चंचलता का सैलाब आदि से गुज़रता 'एक चिरादिम जल जन्तु जैसा कुछ धारा में चिलका था और जल की पारदर्शी सतह को चीरता हुआ अतल में लीन हो गया। एक सुनहरी चादर में थिरकनों की गति बँध गई और दोनों जल भरे बादलों की तरह परस्पर टकराकर एकाकार हो गये थे।'[113] इतने लंबे वर्णन और इतने अधिक प्रतीकों का ऐसा सटीक संयोजन, सहज-स्वाभाविक प्रवाह में इस तरह लय हो गया है कि विवेचन-विश्लेषण की चेतना हथियार डालकर मूक श्रोता बन जाती है। जितनी बार पढ़ो कि अब शायद इस साधारणीकरण से उबरकर कुछ पा सकेंगे, वह फिसलता जाता है। इसमें प्रतीकों का प्रयोग रूपक-उपमा आदि अलंकारों के रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं पर इनके टुकड़े करना कुछ जंचता नहीं और सब मिलाकर प्रतीक की स्थिति ही ज्यादा माकूल लगती है।

नौकरी से घर आते जगेसर की हरकतें प्रतीकात्मक रूप से उसके अहंकारी-क्रूर स्वभाव को व्यक्त करती चलती हैं। घर में जगेसर अपनी पत्नी के ऊपर टार्च की रोशनी चमका देता है। सूप से छाँटा हुआ धान पछोरती उसकी माँ (रउताइन) को यह बड़ा ही बुरा लगता है। उनकी नाराजगी व आक्रोश को लेखक ने बेहद गवईं, घर-संसार के, प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है—'ऐसा दरिदर-सूप नाहीं देखा। सारा चाउर झरझरकर भूसी में गिर रहा है।'[114] इसमें दरिद्दर सूप में बेटे की नालायकी और चावल का भूसी में झरना, अच्छी परम्पराओं-प्रवृत्तियों का बुराई में मिलवे जाना, प्रतीकायित हुआ है। बड़े भाई को बदनामी से बचाने में विपिन ने जो मिथ्या

113. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 307-8.
114. वही, पृष्ठ 324.

मर्यादा का भार अपने सिर लिया है और बुट्टन की मार खाकर उसके मन का जो ऊहापोह है, वह सब ढेकुल के बाँस के प्रतीक द्वारा व्यक्त हुआ है।[115] आरोपित भार के दबाव से बाँस का ऊपर उठना, संतुलन खोने की विवशता से उसका ऊपर-नीचे उठना-गिरना, सब विपिन के व्यक्तित्व व मन के अंतर्द्वन्द्व को प्रतीकायित करते हैं। शशिकांत की तारीफ करते समय जवाहिरलाल की बातों में ऊपरी प्रसन्नता और भीतर का कांइयापन जूही की लतरों और धतूरे के फूल के प्रतीकों में व्यक्त हुआ है—'चेतेरे पर छायी लतरें जूही की हैं और फूल धतूरे के।'[116]

अब परिस्थितियाँ खलील खाँ के नियंत्रण के बाहर हो गयी हैं, उनकी भयंकरता उन्हें असुरक्षा के डर से पलायन पर मजबूर कर चुकी हैं, आदि बातें खिड़की, उसकी ढीली सिटकिनी और इनके रोके न रुकने वाली हवाओं के तेज झोंकों के प्रतीकों में व्यक्त हुई हैं।[117] प्रतीक तो और भी बहुत हैं, जो विविध स्थितियों, कर्मों, प्रवृत्तियों को द्योतित करते हैं लेकिन अब और विस्तार की गुंजाइश नहीं लगती।

अब 'गली आगे मुड़ती है' को लें। लेखक के अनुसार 'इसमें शब्दों की नहीं प्रतीकों की समस्या है। सभी देवी-देवता प्रतीकों के रूप में आये हैं।'[118] काशी देवी-देवताओं, मंदिरों-शिवालों, पंडों-पुजारियों का शहर है और काशी को चित्रित करना लेखक का मंतव्य; सो बहुत-से देवी-देवता इसमें आये हैं और जब लेखक स्वयं इनकी प्रस्तुति को प्रतीकात्मक बताता है तो उसकी सृजन-चेतना में इनके अप्रस्तुत का अवधान अवश्य होगा; पर बहुत माथा लड़ाने पर भी वे एकदम स्पष्ट नहीं होते। जितने कुछ होते हैं, उनमें सबसे प्रमुख है—उन्मत्त भैरव का प्रतीक, जो कई मौकों पर रामानन्द के अन्दर कई बार उन्माद-अवसाद-चितन के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसके अलावा 'परेमा' (प्रेमा) गाँव में साँप की गुंजलक में लिपटा आदमी के बराबर शिवलिंग[119] है। लेखक शक्ति और शिव के रूप में इस मूर्त्ति के प्रतीक की दार्शनिक व्याख्या करता है। कपालेश्वर और देहली विनायक भी रामानन्द की स्थिति और उससे बनी मानसिकता को प्रतीकित करते हैं जिसमें उसके काशी छोड़ने के आसार को संकेतित किया गया है। राजा दिवोदास वाली कहानी में सूर्य, चौंसठ योगिनियाँ, जो सभी शांति व व्यवस्था को भंग करने आते हैं, इस सत्य को प्रतीकायित करते हैं कि देवता सरीखे लोग ही समाज की शांति-व्यवस्था के लिए आस्तीन के साँप होते हैं; पर असली काम दुण्ढि भण्डारक कर पाते हैं जो ब्राह्मण के रूप में बुद्धिजीवियों के प्रतीक हैं। ये सब अपने-अपने स्वार्थों व ऐश-ओ-आराम के लिए बिक सकते हैं। इस रूप में काशी भी शहरों का एक प्रतिनिधि बन जाता है—जैसे करता

115. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 396-97.
116. वही, पृष्ठ 497
117. वही, पृष्ठ 523.
118. सारिका, 1-15 फरवरी—1980, पृष्ठ 14.
119. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 468.

गाँवों का प्रतिनिधि है। दर्शन के माध्यम से सामयिक यथार्थ के प्रस्तोता रूप में बाबा कामेश्वर की प्रतीकात्मकता भी द्रष्टव्य है। किन्तु ये सब सहज-सीधे नहीं है। यदि लेखक का उक्त वक्तव्य न होता तो शायद हम इस दिशा में सोचते ही नहीं या ये सब प्रतीक के रूप में खुलने के लिए हमें कोई सूत्र (क्ल्यू) देते ही नहीं। चूँकि ये सब गहन साधना से प्राप्त लेखक के वृहत् ज्ञान की सृष्टि हैं, अतः साधाण पाठक के लिए अगम्य ही बने रह जायेंगे। इनके अलावा पितामह गणेशी तिवारी और पिता शिवमंगल क्रमशः रामानन्द और हरिमंगल की चेतना में बार-बार उभरकर उनके संस्कार और परम्परा को प्रतीकायित करते हैं, जो इन दोनों पात्रों के सुकृत व गहन क्षणों में प्राप्त शक्ति व प्रेरणा के स्रोत हैं। कोई तथाकथित प्रगतिशील कभी इसे अतिरिक्त गृहमोह (नास्टैलिजिया) कह दे तो आश्चर्य नहीं।

बाढ़ वाले अध्याय में नये पानी से कूल-किनारों का टूटना नयी सभ्यता-संस्कृति के दबाव से मर्यादित परंपराओं के टूटने का प्रतीक बन गया है। इनकी अतिशयता (ज्यादती) से परम्पराओं का सहज विकास भी अवरुद्ध हो गया है, जिससे उसके असत् अंश निकल नहीं पाते हैं और समाज की मुख्य धारा में व्याप्त सभ्यता-संस्कृति में काफी कुछ फालतू है ही; सो दोनों मिलकर पूरे समाज को सड़ा रहे हैं। इसका खुलासा देखना हो तो उपन्यास के आखिरी अंश में आये रामानन्द के वक्तव्य को देखा जा सकता है—'विदेशी सभ्यता की नकल की बाढ़ ने हमारे भीतर के गटर को रूँध दिया है और हम उसी गंदले गलीज में डुबकियाँ मार रहे हैं।'[120] बाढ़ के दिन रामानन्द को अपने घर पाकर अतिरिक्त रूप से उत्साहित जयंती उसके फिसलकर गिर जाने की झूठी घोषणा करती है। कहीं यह इस तथ्य को प्रतीकित तो नहीं करता कि वह स्वयं फिसलकर प्रेम के रास्ते पर आ गयी है। गंगा में नहाते समय झूरी से बात करते हुए रामानन्द के कथन कीचड़ हैं तो उससे भागने से काम तो चलेगा नहीं। और यह तो पानी के अन्दर का कीचड़ है—ढँका-तोपा, पता नहीं कहाँ तक पाल मारे होगा।....[121] में कीचड़ सामाजिक भ्रष्टाचार से फैली गन्दगी को प्रतीकायित करता है, जो बाहर से सफेदपोश लोगों द्वारा किया जाता है और जिसका कोई पारा-वार नहीं।

हरिमंगल के प्रसंग में मुख्य रूप से दो प्रतीकात्मक पहलू ध्यातव्य हैं। पहला पीपल के वर्णन का है जो शुरू में तो रामानन्द के मौजूदा हालात के प्रतीक रूप में चित्रित हुआ है—'फिर पूरा पेड़ नंगा हो जाता। एकदम नंगा—जैसे कोई उसकी खाना तलाशी कर रहा हो और वह मुजरिम की तरह तपती धूल में खड़ा कर दिया गया है।' परन्तु आगे चलकर रामानन्द को वही पीपल मूज की रस्सियों से बँधे घंट के साथ दिखता है तो वह अस्तित्ववादी चिंतन को प्रतीकायित करने लगता है। दूसरा प्रतीक, अस्पताल में रामानन्द के सोचने की प्रक्रिया के दौरान आता है—'रामानन्द

120. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 474.
121. वही, पृष्ठ 162.

के भीतर कुछ भँवर जैसा घुमड़ा। लहरें तेज होती गयीं। जल भौंरी को चीरकर एक आदमी बाहर आया।'[122] इसमें तेज लहरें और भँवर चिंतन प्रवाह के गड्डमगड्ड हो जाने और फिर उसमें से चिन्त्य को पाने की प्रक्रिया की प्रतीकात्मकता लक्षित की जा सकती है।

हरिमंगल की हत्या के बाद नहाते हुए रामानंद के मन में लहरों के आवेश-हरारत तथा धारा और उससे की जाती छेड़खानी के प्रतीक रूप में शोभना जीजी की स्थिति-स्वभाव-मंशा को व्यक्त किया गया है।[123]

'गली आगे मुड़ती है' के संदर्भ में हम पाते हैं कि कई जगह प्रतीक बनते-बनते रह जाते हैं—लेखक सहसा अप्रस्तुत को कह जाता है। शायद लेखक की आक्रोश-चेतना यहाँ परदे को बर्दाश्त करना नहीं चाहती या वह इनके अति बौद्धिक हो जाने से वाकिफ़ होकर खुद ही स्पष्ट कर देता है। इस तरह कहीं वह रूपक बन जाता है जैसे—पौण्ड्रक का प्रसंग और कहीं संकेत बन जाता है, जैसे—'बाढ़कालीन रिश्ते।' इन्हें आगे स्पष्ट किया जायेगा। जिन प्रतीकों का वर्णन ऊपर हुआ है, उनमें भी कई को लेखक ने थोड़ा स्पष्ट किया है, वरना हम शायद न भी समझ पाते। इस प्रकार इसमें प्रतीक की स्थितियाँ 'अलग-अलग वैतरणी' जैसी नहीं है।

बिम्ब-विधान

'मनुष्य के जीवन में बिम्ब विधान अथवा कल्पना का बड़ा महत्व होता है। प्रस्तुत परिवेश के संवेदनों और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त उसके मानस में अतीत की तथा कभी अस्तित्व न रखने वाली वस्तुओं व घटनाओं की असंख्य प्रतिमाएँ भी रहती हैं। बिम्ब शब्द इसी का पर्याय है।'[124] प्रतीक की सांकेतिकता को निकालकर चित्रात्मक भावमयता और गोपित अदृश्य की जगह मूर्त्तन की समग्रता को रखकर उसे संक्षिप्त कर दिया जाये तो बिम्ब की स्थिति बनती है। बिम्ब में ऐन्द्रियग्राहकता होती है। वह पूर्णतः कर्त्ता की प्रवृत्ति से जुड़ा होता है। जब यह बिना चेतन प्रयत्न के कर्त्ता की अनुभवसमृद्धि और साधना के फलस्वरूप अनायास उदित हो जाता है तो ही इसका सहज मौलिक रूप दृष्टिगोचर होता है।

अक्सर कहा जाता है कि कविता इमैजेज (बिम्बों) की भाषा है और इसी आधार पर शुरू में गद्य साहित्य में बिम्बों की चर्चा देखकर कुछ कविताजीवी आलोचक और बिम्बविधान में असमर्थ कुछ लेखक बिदके; पर अब तो यह स्वीकृत होकर सहज हो चुका है।

बिम्ब-विधान को कुछ विद्वानों ने शैली के अन्तर्गत भी (बिम्बात्मक) शैली रखा है।[125] पर गद्यकृत में इतने व्यापक स्तर पर बिम्बों का प्रयोग नहीं हो पाता

122. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 195.
123. वही, पृष्ठ 185.
124. साहित्य कोश—प्र० सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 558.
125. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 147.

कि उसे बिम्बात्मक शैली जैसा नाम दिया जा सके। शिवप्रसाद सिंह के लेखन में बिम्बों का बाहुल्य है, पर यहाँ भी इसे शैली नहीं मान सकते क्योंकि ये कहीं भी किसी पूरी कहानी या अध्याय को इस कदर प्रभावित नहीं करते। डा० शीतांशु ने शिवप्रसादजी की कहानियों से बिम्बों के अधिकांश उदाहरण दिये हैं और इन्हें दो भागों में विभाजित किया है—सामान्य बिम्ब और उपमानमूलक बिम्ब। विद्वान् समीक्षक ने सामान्य के अंतर्गत विशेषण और क्रिया पदों से बनने वाले बीस प्रकार के बिम्बों का उल्लेख किया है। किन्तु सिर्फ उसी वाक्यांश या शब्द को उदाहरण के रूप में उद्धृत कर दिया है—भूरे अजगर, चूहा, छिपकली या फिर मकड़ा, मधुमक्खी या फिर पीतल, पारा आदि—उनसे बिम्ब निर्माण की कोई अवधारणा रूपायित नहीं होती। काश, उन्होंने पूरे उदाहरण दिये होते। वैसे मेरी समझ से इस विवेचन में अतिरिक्त विस्तार (जिसे और भी ज्यादा बढ़ाया जा सकता है) हो गया है और क्षेत्रापहरण भी। अतः अध्ययन के आधार के लिए इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जा सकता। ये स्थापनाएँ ऐसी नहीं कि मूल्यांकन का आधार बन सकें। उपमान मूलक बिम्बों की स्थिति ग्राह्य हो सकती थी, पर अपेक्षित स्पष्टीकरण का अभाव खटकता है। इसके प्रयोगों को मात्र आलंकारिकता तक सीमित नहीं होना चाहिए बल्कि संबद्ध चित्रण को इन्हें चित्रात्मक प्रत्यक्षीकरण तक पहुँचाना भी चाहिए क्योंकि बिम्बों का संबंध इसी से ज्यादा होता है, अपेक्षाकृत कथ्य की सांकेतिकता या भाषागत सौन्दर्यविधान के, जो प्रतीक और अलंकारों के कार्य हैं।

निस्संदेह शिवप्रसाद जी में उपमानमूलक बिम्बों का बाहुल्य है जो कई स्थलों पर चित्रण के प्रत्यक्षविधान में सक्षम हैं, पर इनसे अलग वर्णनों द्वारा भी वे बड़े ही सफल बिम्बों को प्रस्तुत करने में अधिक सक्षम हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' के प्रथम पृष्ठ पर मेले का वर्णन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। 'बिना दीवार का घर' कहानी में जयपुर का वर्णन भी बिम्ब विधान का सफल उदाहरण है।'[126] जो विभिन्न उपमानों के सहारे ही सम्पन्न होता है। पर उनमें से किसी एक को अलग करके बिम्बों की स्थिति नहीं बनती।

इस प्रकार शिवप्रसाद सिंह के कथा साहित्य में विविध रूपी (उपमान तथा वर्णनों पर आधारित) बिम्ब प्रयुक्त हुए हैं। इनमें प्रायः ऐसे चित्रात्मक बिम्ब प्रमुख रूप से आते हैं जो स्मृति में आये या सामने दिखते व्यक्ति दृश्य, घटना, क्रिया, हाव-भाव आदि को स्थिर या गतिशील दोनों रूपों में हू-ब-हू प्रत्यक्ष कर देते हैं। उदाहरण के लिए दयाल महराज की स्मृति में उभरता जैपाल का स्वरूप—ऊ गोरा भीषम शरीर, दपदप मलमली साफा....वह मुठिया गलमोच्छे, काले-काले जामुन की तरह। पीछे-पीछे गोबरधना चलता था बन्दूक लिये।'[127]—एक सफल बिम्ब विधान कहा जा सकता है। इसी प्रकार तीन-चार उपमानों के माध्यम से मास्टर सुखलाल का बिम्बात्मक

126. कर्मनाशा की हार—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृष्ठ 167.

127. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 28.

चित्र भी द्रष्टव्य है।'[128] सारी संस्मरणात्मक कहानियों के अलावा सुनील की आँखों में उसके पिता,[129] बदलू की स्मृति में बब्बर,[130] लोचन चपरासी[131] जैसे तमाम व्यक्तियों के बिम्बात्मक चित्र उपस्थित हुए हैं। इन स्थिर चित्रों के अलावा रज्जब का गतिशील चित्र भी बिम्बात्मक प्रस्तुति है—'वही गोरा चिट्ठा शरीर, वही कसी देह। अब वहाँ बचपन की मुलायमियत न थी, लोआ पोआ शरीर न था, एक दूसरा ही रंग था। कसावट भी, चलवे मछली की पीठ की तरह चिकनापन था, शोखी थी। गाढ़े का लम्बा झूलता हुआ कुर्ता और मऊ की चारखाने की तहमत। ऊपरी गर्दन पर गंगा के कछार की मिट्टी थी,....।[132] संपूर्ण व्यक्ति चित्र के अलावा शरीर के किसी एक अंग का बिम्बपरक चित्र भी सुलभ है—'गोरे चंपई रंग के बीच हल्की कालिमा लिए ललछौहें गदराये वक्ष उसकी आँखों में अजीब उदासी से भरी वेदना जगा जाते।'[133] शरीर के विभिन्न अंगों का परिवर्तमान मुद्रा में गतिशील बिम्ब भी उभरता है—उसका चेहरा पहले जैसा ही हँसमुख लगता है, अभी-अभी शाम को उसकी गरदन और कनपटी की नसें जो जोर-जोर से चिल्लाने से सूज आयी थी, जिसके कारण वह काफी भयंकर और वीभत्स लगती थी, अब बिल्कुल शांत हो गयी हैं। उसका मुँह ठंडे जल में धोए पान के पत्ते की तरह ताजा लगता है।'[134]

दृश्यों को बिम्बात्मक रूप में प्रकट करने वाले चित्रणों को लें। ऊपर करैता के मेले और जयपुर के चित्रणों का उदाहरण दिया जा चुका है। 'गली आगे मुड़ती है' के एक दृश्य का सजीव बिम्ब देखिए—'घाटों की सीढ़ियों में गुमटियों के भीतर, नंगी-पथरीली सीढ़ियों पर लेटे या टांगे पसारे, अहरे पर बाटियाँ सेकते या बरतन के नाम पर जिनके पास एक रस लोटवा ही है, खिचड़ी पकाते, गंदे बालों और दाढ़ियों से जूँ निकालते।'[135] इसी तरह भीड़ के दृश्य का एक और बिम्ब—'सारी भीड़ उलटकर पश्चिम तरफ टूटी। खचाखच, ठसाठस। नरमुण्डों का समुद्र। एक हिल-कोरा और। सैकड़ों गज लम्बी-चौड़ी आदमियों की दीवालें झूमने लगीं।'[136] और बच्चों के एक झुण्ड की बिम्बात्मक प्रस्तुति—'गली के कंकड़ छोकरों के पैरों से खड़-खड़ा उठते। गंदी कमीजें, फटे पुराने जाँघिये पहने, जिनसे बड़ी मुश्किल से देह ढँक पाती, आपस में धींगा-मुस्ती, लड़ाई-झगड़ा करते छोकरे नगाड़े की आवाज के साथ

128. आर-पार की माला, पृष्ठ 69.
129. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 162.
130. वही, पृष्ठ 39.
131. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 141.
132. आर-पार की माला, पृष्ठ 148.
133. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 205.
134. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 280.
135. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 5.
136. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 20.

इस तरह बहे चले जाते....।'[137] इसी तरह प्रकृति के तमाम बिम्बात्मक दृश्य उपलब्ध हैं। एक छोटा-सा धूप चित्र देखिए—'इसी के साथ थकी-सी, अलसाई हुई गर्भिणी नारी के पीले चेहरे की तरह सूरज की मद्धिम रोशनी भी मेज के पास पसरकर बैठ गयी।'[138]

व्यक्तियों और दृश्यों की गतिशीलता को भी बिम्बों में बाँधा गया है—व्यक्तियों में 'मोटिया के मैले-से अंगोछे से अपना सर और मुँह ढंके हुए ढुलकते चले जा रहे 'जग्गन,[139] हाथों में घुंघरू बाँधकर ढोलक पर थाप देते हुए' लोचन[140] और 'जानदार गठरी में से फूट पड़ती काया' वाली देवला भाभी को देखा जा सकता है। उसी तरह दृश्यों की गतिशीलता के लिए प्रयुक्त बिम्ब सूरज की जो रही-सही तांबिया लाली थी, वह भी अब जिस्म को बिल्कुल ढीला छोड़कर नीले समुद्र में पूरी तरह उतरती चली गयी।'[141]

व्यक्तियों की मुद्राओं को भी बिम्बों में 'स्टिल' कर लिया गया है—'वीसू महराज तर्जनी को मोड़कर त्रिपुटी में अड़ा देते, आँखें मुंदतीं और तभी ये कुंचित तिर्यक् रेखाएँ ललाट पर उभर आतीं।[142] करैता के मेले में बिरहा गाते रामदास की मुद्रा का बिम्बात्मक चित्र देखें—दसों नहों को जोड़कर गुरू का सुमिरन करके, अपने बारह अंगुल के लम्बे बालों को अंगूठी के नगों से पीछे उलटकर।'[143] और एक मुद्रा अपनी रोचकता में उल्लेख्य है—'झिनकू के छप्पर पर अपनी एक टाँग उठाकर, सारे बदन को आजमाकर, सिर के लाल जटामासी कलँगे को नचाकर बुढ़वा मुर्गा पहली बाँग देता है।'[144]

भावों की बिम्बात्मकता के भी चित्र उपलब्ध हैं। एक उदाहरण लें—'घर आता था रोज दारू पीकर। धुत पड़ा रहता। राकस की तरह देखता था, लाल-लाल टेस आँखें।'[145]

विभिन्न क्रियाओं के बिम्बात्मक चित्र भी मिलते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'लड़की के हाथों के स्पर्श से उसने पूँछ को खड़ा करके यों मोड़ दिया है जैसे यह बैल नहीं,....।'[146]

---

137. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 112.
138. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 275.
139. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 349.
140. मुरदासराय, पृष्ठ 24.
141. आर-पार की माला, पृष्ठ 79.
142. वही, पृष्ठ 4.
143. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 216.
144. वही, पृष्ठ 216.
145. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 72.
146, मुरदासराय, पृष्ठ 36.

'उसने अपना मुँह उस उद्भासित अंश पर रख दिया। और अपने होठों से उसने पलकों के नीचे चमकते हुए आँसुओं को पोंछ दिया।'[147] 'जवान नवचे, दर्द को छिपाकर बैलों की पूँछ मरोड़ते हुए'[148] 'गाँव के बूढ़े हथेली से सूरज की रोशनी को आड़कर अपनी कींचरीली आँखों को मुलका-मुलकाकर यह अद्भुत दृश्य देखने लगे।'[149]

भाव-गति-क्रिया-मुद्रा को एक साथ बिम्बित होते हुए भी देखा जा सकता है—'बीचो-बीच आँगन में पसरकर, नंगे पैरों को फैलाकर फटी साड़ी खींचकर सीती रहती है और मुट्ठी भर भात के लिए लड़ाई करते लड़कों को किटकिटाकर गंगा के दहाने में भेजती रहती है।'[150]

इनके अलावा विभिन्न पात्रों की कल्पनाओं में उठते बिम्ब भी प्रयुक्त हुए हैं—'बिना पतवार की एक डोंगी भँवर में उलझ रही थी। धक्के पर धक्के, चक्र-भँवर, हाथ में डाँड़ छूट-छूट जाती। आह कहीं लहरों में छिपी किसी चट्टान से यह डोंगी टकरा न उठे।'[151]

'वह देख रही थी कि खुदाबक्कस की काली-काली भयानक अंगुलियों के चंगुल में उसकी कलाई बँध गयी है। उसने झपटकर एक हाथ से उसका मुँह दबा दिया है। सूगनी उसे पीछे की ओर से पकड़े है और दोनों जबर्दस्ती उसे नाले में ढकेल रहे हैं।'[152]

इनसे हटकर साहित्य कोशकार ने शब्द, स्पर्श और गंध आदि से उभरने वाले बिम्बों की बात उठायी है। इस तरह के बिम्ब भी शिवप्रसाद जी में मिलते हैं—

गंध

इन सबके बीच सबको चीरकर बहती हुई गंदी, बदबूदार, पीलू और मच्छरों से भरी हुई नाली से घिनौने पानी की खड़खड़ाहट। मलाई की परत के नीचे गोबर की बदबू। छिः छिः'[153]

स्पर्श

गदराये शरीर वाली मांसल, गुदकारी पुष्पा, जिसके लाल-लाल अधर अजीब जादू-टोनों में लिपटे हुए थे। एक थरथर काँपता स्पर्श, गर्म-ठंडा, कोमल-कोमल विपिन

147. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 166.
148. वही, पृष्ठ 229.
149. वही, पृष्ठ 585.
150. वही, पृष्ठ 146·
151. मुरदासराय, पृष्ठ 128.
152. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 403.
153. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 277.

की पलकें मुँद गयीं। मन के भीतर एक केवड़ार थी, फूलों के बीच पुष्पा थी। उसके आँसू में डूबे-डूबे, लाल-लाल होठों को उसने चूम लिया।'[154]

शब्द

उक्त सभी तो शब्द बिम्ब याने शब्दों द्वारा ही चित्रित है पर लहरी सिंह द्वारा बखाने जाते अपने कार्यकलाप,[155] इसका एकदम सशक्त उदाहरण है।

बिम्बों के और भी प्रकार हो सकते हैं, पर प्रबंध की सीमा के ख्याल से इत्यलम्।

मिथक

मिथक का मूल हमारी संस्कृति की परंपरा में होता है।'[156] ये हमारी पुराण कथाओं, धर्मग्रंथों या जनकथाओं के माध्यम से विश्रुत होते हैं। इस तरह मिथक के साथ कोई विशिष्ट अभिप्राय, अवधारणा (कान्सेप्ट) पहले से ही जुड़ी होती है। अतः 'इनमें लोकोन्मुखता भी होती है।'[157] ये कभी वैयक्तिक नहीं होते और लेखक को प्रतीकों की तरह इनका सृजन नहीं करना होता, सिर्फ कथ्य के मुताबिक चुनाव करके प्रस्तुत कर देना होता है। मिथक प्रायः मानवेतर होता है—देवता, राक्षस आदि। रचना में मिथक अपना कार्य प्रतीकों की तरह ही करता है, अतः 'मिथकीय प्रतीक' के रूप में भी इसका अध्ययन किया जा सकता है, लेकिन इसकी इयता का सही मूल्यांकन स्वतंत्र रूप से ही हो सकता है।

किसी-किसी रचना में मिथक इस प्रकार अनुस्यूत होते हैं कि हर पात्र, हर घटना, हर दृश्य में वे प्रतीकित होते रहते हैं याने पूरी कृति ही मिथक पर आधारित होती है। 'अंधायुग' और 'अनामदास का पोथा' ऐसी ही रचनाएँ हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' की तटचर्चा (भूमिका) शुरू करते ही लेखक लिखता है, 'कहा जाता है कि सती-वियोग से व्याकुल शिव के आँसुओं की धारा वैतरणी में बदल गयी। इस पुराण-कथा का प्रतीकार्थ चाहे जो हो, मुझे इसे पढ़ते हमेशा ही विक्षिप्त, बहिष्कृत, संत्रस्त और भीड़ के संगठित अन्याय के विरुद्ध जूझते शिव की याद आ जाती है। जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक छीने जाते हैं, सत्य और न्याय अवहेलित होते हैं, तब जन-जन के आँसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती है।'[158] और ऐसी ही तमाम वैतरणियों के प्रवाह का नाम है—'अलग-अलग वैतरणी'। इस सती-शिव के मिथक को यहाँ भी कुछ इस तरह चस्पा किया गया है कि रचना के हर पात्र, हर घटना में इसे व्याख्यायित किया जा सकता है; पर उक्त कृतियों की तरह 'अलग-अलग वैतरणी' इस पर आधारित बिल्कुल नहीं है। यदि इसे निकाल दिया

154. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 465.
155. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 199.
156. मिथक : स्रोत और सेतु—सच्चिदानंद वात्स्यायान अज्ञेय, पृष्ठ 66.
157. हिन्दी उपन्यास में प्रतीकात्मक शिल्प—डा० सुशीला शर्मा, पृष्ठ 28.
158. अलग-अलग वैतरणी, 'तटचर्चा' से।

जाये तो कथा या कृति की व्यंजना पर कोई असर नहीं होगा । इस प्रकार यह मिथक रचना को एक कलात्मक सौंदर्य से मंडित करते हुए उसकी अर्थवत्ता को विस्तार और गहराई प्रदान करता है ।

इसके अलावा पुष्पा की पवित्रता के लिए 'अग्निपरीक्षा' का मिथकीय उल्लेख हुआ है जो बहुविश्रुत भी है और एक निश्चित अर्थ भी रखता है । शशिकांत की आदर्श जीवन पद्धति का मज़ाक उड़ाते हुए जवाहिरलाल ने कपिल-कणाद् ऋषियों के मिथक का रूपक के रूप में व्यंग्यात्मक प्रयोग किया है ।

'कलंकी अवतार' भी एक मिथक ही है जो 'सुखसागर' में आये ईश्वर के चौंतीसवें 'कल्कि' अवतार पर आधारित है । यह पूरी कहानी में इस प्रकार समाया है कि इसके बिना कहानी चल ही नहीं सकती, वह इसी पर अवलंबित है । प्रयोग प्रतीक के रूप में ही हुआ है । संकेत यह कि इस निरर्थक व्यामोह को छोड़े बिना आम आदमी अन्याय, शोषण के शिकार से मुक्त नहीं हो सकता । अगर साहित्य में विश्रुत रचनाएँ भी साहित्यिक मिथक मान ली जायें (और मान लेना चाहिए) तो 'कहानियों की कहानी' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण होगी । 'रामचरित मानस', 'महाभारत' आदि के प्रसंगों को आधार बनाकर आजकल तमाम व्यंग्य रचनाएँ लिखी जा रही हैं, हमेशा ही लिखी जाती रही हैं । तो फिर आलोच्य कहानी में आयी कहानियाँ भी तो साहित्य में बहुविश्रुत हैं । इसी वजन पर राजनीतिक मिथक की कल्पना भी अरुचिकर न होगी । इसका एक सुन्दर उदाहरण 'शहीद दिवस' कहानी में आये गाँधी के चरखे के रूप में उपलब्ध है । क्या आज नाथूराम गोड्से और भगत सिंह आदि मिथक नहीं बन गये हैं ? गाँधी का चरखा, कलंकी अवतार, आदि सबकी प्रस्तुति मिथकीय प्रस्तुति की तरह लोकोन्मुख भी है । मिथकों के अत्यंत संक्षिप्त रूपकात्मक प्रयोग भी हुए हैं—पुष्पा जीमूतवाहन का अवतार बनकर आयी है, दादी माँ शापभ्रष्ट देवी हैं और उपधाइन मैया लोककथा की देवी ।

'गली आगे मुड़ती है' में परिवेश और प्रवृत्ति के मुताबिक मिथकों की गुंजाइश भी थी और अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त भी हुए हैं । घेराव के रूप में अपने सत्य की शवपरीक्षा होते देख सुबोध भट्टाचार्य हरिश्चंद्र की प्रतिमा के पास जाते हैं और उन्हें याद आती है—हरिश्चंद्र की व्यथा-कथा । लेखक इसे खुद भी मिथक कह गया है ।[159] संकेत यह कि सचाई पर टिके रहने के लिए इतने दुख झेलने पड़ेंगे, जिसके प्रति लेखक की प्रश्नमुद्रा[160] आज के लोगों की प्रवृत्ति का यथार्थ संकेत करती हैं । दयानंद और तुलसी का प्रसंग भी मिथकीय प्रस्तुति ही है । शास्त्रार्थ में दयानंद को हराने के लिए[161] किया गया फरेब रामानंद के साथ विश्वविद्यालय में किये गये पक्षपात को सांकेतित करता है जो एकदम स्पष्ट है । इसी तरह जनेऊ तोड़कर व्रात्य

159. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 30.

160. वही, पृष्ठ 31.

161. वही, पृष्ठ 47-48.

बनने पर विवश रामानंद की स्थिति जितनी बेमानी हो गयी है, इसी स्थिति से गुज़रते हुए ही तुलसी भी धूत, अवधूत, रजपूत, जुलाहा सब कुछ बनने के लिए तैयार हो गये होंगे।'[162] इन दोनों के माध्यम से रामानंद के अलावा काशी की एक खास प्रवृत्ति भी संकेतित की गयी है।

जयंती को छिन्नमस्ता का मिथकीय रूपक दिया गया है।[163] रामानंद के पितामह गणेशी तिवारी द्वारा अंग्रेजों की फौज से गाँव को बचाने की कथा ऐतिहासिक आवेष्टन में विश्वास (अंध) पर आधारित मिथक बन गयी है। यह पुरानी पीढ़ी और परंपरा की असीम शक्ति, निष्ठा व लगन की ओर संकेत करती है। पूरी घटना बेहद लोकोन्मुख भी है। कपालेश्वर और देहली विनायक के मिथकों के उल्लेख से रामानंद की प्रतिभा कुंठित करने के रूप में 'मास मर्डर ऑफ इंटेलेक्चुअल्स' का संकेत किया गया है। बाहर से संभ्रात-सुसभ्य तथा अंदर से खून-चूसने वाले शोषक वर्ग को संकेतित करता हुआ पोण्ड्रक का रूपक भी मिथकीय रूपक ही है।

इस प्रकार लेखक की चेतना में ढेर सारे मिथक कुलबुलाते रहते हैं जो संक्षिप्त या विस्तृत रूप में ऐन मौके पर एकदम सटीक रूप में प्रयुक्त होकर मुख्य कथा को सांकेतित कलात्मकता में अर्थवान और सहज संप्रेष्य बनाकर सृजनशील लेखकीय प्रतिभा की उर्वरा शक्ति को उजागर करते हैं।

संकेत

प्रतीक, रूपक, मिथक आदि सभी अन्य कलागत तत्व कथा का संकेत ही करते हैं। पर यहाँ कुछ ऐसे संकेतों का जिक्र हो रहा है जो इनमें से और कुछ नहीं—सिर्फ संकेत हैं—महज संकेत। इनमें कोई व्यंजना नहीं, द्योतन होता है। ये संकेत किसी भी अन्य शास्त्रीय मानदंडों (टार्मिनॉलोजी) से अलग हैं। ये वे भी संकेत नहीं जो रूढ़ चिह्नों (क्रास का निशान, घंटे का बजना या तिलक) के माध्यम से खास अर्थ को इंगित करते हैं और न ही नयी कहानी की मुख्य प्रवृत्ति में आये संकेत ही हैं जो कथ्य, उद्देश्य से जुड़ते हैं। इनका अध्ययन वाक्यों के अन्तर्गत 'सांकेतिक वाक्य' के रूप में किया जा सकता था, पर इनका संबंध वाक्य रचना याने व्याकरण से न होकर अर्थ संदर्भ से ही है, अतः इसकी संगति यही बैठती है। ये प्रायः संदर्भ से खुलते हैं और किसी खास शब्द या वाक्य के माध्यम से किसी एक घटना, चारित्रिक विशेषता या संदर्भ को झटके से खोल देते हैं। इनकी क्षमता सीमित होती है पर ऐसे संक्षिप्त संकेत लेखक की रचनात्मकता में प्रत्युपन्न चेनना के सबूत हैं जो बड़े कौशल और सजगता की अपेक्षा रखते हैं। शिवप्रसाद जी इस प्रतिभा के धनी लेखक हैं। इनमें ऐसे संकेतों के अच्छे और चुस्त प्रयोग मिलते हैं। आइए, इसके कुछ प्रयोग देखें—

—घोड़े के बारे में पूछने पर खुदाबख्स जवाब देता है—'अब तो हुजूर हुनरमंद हो गया है श्यामकरन....कल सबेरे मालिक की इनायत हो जाये तो कुछ इसके

162. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 65.
163. वही, पृष्ठ 217.

भी करतब देख लिये जायें, हुजूर' और तब तक झट जैपाल सिंह बोल उठते हैं—'हाँ, हाँ, करतब देखने ही तो आया हूँ।'[164] यह वाक्य बुझारथ व खुदाबख्श के तमाम अन्य करतबों की तरफ संकेत करने लगता है। इसमें 'करतब' शब्द लाक्षणिक शक्ति से संपन्न हो गया है और काव्य शास्त्र में इसी पूरी प्रक्रिया को संदर्भपरक व्यंजनात्मकता कहते हैं, पर इस यांत्रिक जटिलता में न जाकर इन्हें संकेत में समझना ही ज्यादा सुलभ और प्रीतिकर लगता है।

—अपनी सारी किताबें दिखाते हुए विपिन निश्छल हँसी के साथ कहता है, 'देखिये इनमें से शायद कोई पसंद आ जाये।' इसके बाद पटनहिया भाभी का कथन–'कोई दे दीजिए, सभी अच्छी ही हैं, मेरे लिए, बबुआजी। जहाँ कुछ नहीं वहाँ सभी अच्छे ही हैं।[165]उसके सारे संदर्भों को सहज संकेतित कर देता है।

—विपिन के घर के सामने आकर खलील मियाँ आवाज लगाते हैं—'कोई है, कोई है ?' फिर अपनी सारी दर्द भरी दास्तान सुनाकर उनके चले जाने पर विपिन को लगता है जैसे कोई गरगराती हुई आवाज आ रही है—कोई है, कोई है!![166] और अध्याय समाप्त हो जाता है—बिना किसी जवाब के। इस संयोजन भरी प्रस्तुति में बड़ी संजीदगी से अब किसी ऐसे के न रह जाने का संकेत हुआ है जो इंसान हो या इंसानियत के लिए बोल सके।

—पुष्पा को तमाम सांत्वना देकर विपिन उसके घर ने निकलता है और लेखक लिखता है, 'वह झटके से निकलकर फाटक के पार हुआ और अंधेरी गली में खो गया।'[167] और सचमुच ही वह अंधेरी गलियों में खो गया। फिर कभी पुष्पा को सांत्वना देने नहीं आया। इसी तरह 'कहीं भी रोशनी दिखायी नहीं देती।[168] बड़ी बेहूदा किस्म की हवा चल रही है'[169] जैसे ढेर सारे संकेत 'अलग-अलग वैतरणी' में भरे हैं।

कहानियों में भी ऐसे संकेत प्रचुरता में आये हैं। बिना किसी शास्त्रीय तकनीक की लाग-लपेट के एक सुन्दर संकेत देखिए—'बड़ी लकीरें' कहानी से। बंदूक की आवाज होती है और मेवालाल के हाथ में दो हारिल। यह देखकर 'मैं' कहता है—'एक निशाने में दो हारिल....कमाल है ! बड़ा अच्छा निशाना है तुम्हारा।' मेवालाल हँसकर जवाब देता है—'अरे, इसमें निशाने की क्या बात ? साले दोनों एक ही लाइन में बैठे थे, सो, टपक पड़े।'[170] इस प्रसंग की सांकेतिकता खुलते देर नहीं लगती कि

---

164. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 51.
165. वही, पृष्ठ 214.
166. वही, पृष्ठ 274.
167. वही, पृष्ठ 166.
168. वही, पृष्ठ 181.
169. वही, पृष्ठ 543.
170. 'भेड़िए' पृष्ठ 16-17.

घात में पा जाने से, बिना खास योजना के, मेवालाल ने एक ही 'ट्रिक' से दो काम बना लिए—'मैं' को पस्त कर दिया, अब वह काम को लेकर नुक्ताचीनी नहीं करेगा और वह काम अपने दोस्त को दिला दिया।' इस पूरे प्रसंग को ही कोई प्रतीकात्मक कह सकता है पर अप्रस्तुत के अंगों को इन प्रस्तुतों पर चस्पा करना बहुत मुश्किल है क्योंकि संदर्भ संयोजन की यह योजना प्रतीक को ध्यान में रखकर की ही नहीं गयी है। पूरा प्रसंग संकेत बन गया है। 'चेन' कहानी के अंत में आया वाक्य 'यह हमेशा-हमेशा के लिए उतर जाती बाबू तो भी गला छूटता'[171] भी संकेत ही है। 'नन्हों' का किवाड़ बंद करना तथा साँकल न चढ़ा पाना बिना किसी शास्त्रीय लटके के उसकी सामाजिक स्थिति और मानसिक उद्वेलन का विशुद्ध संकेत बन गया है। 'टूटे तारे' कहानी की यह भाषा भी अपनी स्थितियों की स्पष्टता का संकेत ही करती है—'रात के रहस्य के जादू के पर्दे खींच लिए। रात का दूसरा पहर संपूर्ण मादकता बिखेरकर छा गया था। पास के बगीचे से नाना फूलों की सुगंध रंगीन साँपों की तरह रेंगने लगी थी। पूरब से चाँद का पीला गोला उठने लगा था जिसका प्रकाश खिड़की से होकर कमरे में झाँकने लगा।'[172]

'गली आगे मुड़ती है' में नागर के घर की रौनक का रामानंद को दमघोंट लगना[173] उसके लिए संकेत साबित होता है—उसमें उलझकर उसकी जिन्दगी घुट जाती है।

बाढ़ के समय सड़क, घरों, मुहल्लों के अलावा पुजारी के साथ घिरी भगतिन और झुलनी बुढ़िया के साथ घिरे सिचन्ना के जिक्र के साथ लेखक लिखता है—इनके बीच बाढ़कालीन रिश्ते बन गये हैं; पर नये खून की बाढ़ इन बेहूदे रिश्तों को कब तक सहेगी।'[174] यह संकेत है उस द्वंद्वात्मकता की तरफ जो आपत्तिकाल में मजबूरन बने ऐसे असहज संबंधों के प्रति नयी वैचारिकता के संघर्षपूर्ण रवैये की शुरुआत का, जो समकालीन समाज से अपेक्षित है।

रामानंद के साथ प्रेमातिरेक से उत्साहित जयंती का तुनक कर फाटक बंद कर लेना[175] कहीं प्रेम किवाड़ के सामने से बंद हो जाने को तो संकेतित नहीं कर दे रहा है।

मंड़वा सजाने की अद्भुत कला पर रामानंद के लिए माँ की टिप्पणी सुनते ही किरन के हाथ से गिरे कटोरे की आवाज और उसके द्वारा जलते होने का कथन[176] भी तो इन दोनों के संबंधों की परिणतियों के ज्वलंत संकेत ही बनकर आये हैं।

171. मुरदासराय, पृष्ठ 83.
172. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 85.
173. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 73.
174. वही, पृष्ठ 102.
175. वही, पृष्ठ 98.
176. वही, पृष्ठ 102.

जयंती से प्रथम साक्षात्कार होने के ठीक पहले रामानंद के हाथों से मालती के गुच्छे का छू जाना[177] भी सांकेतिक ही है क्योंकि नियोजन में यहाँ रूपक स्थिति नहीं बनती। यह प्राचीन साहित्यिक पद्धति का सुंदर 'एडॉप्सन' (परिष्कृत रूप) है।

कलश-विसर्जन के अवसर पर खाली कलश का वर्णन रामानन्द की असहाय निरर्थक स्थिति को संकेतित करता है और जयंती का प्रेरणाप्रद गीत[178] उसके अन्दर आत्मविश्वास जगाने के संकेत रूप में प्रस्तुत है।

अलंकार

अलंकारों का विवेचन शायद आज की समीक्षा को ज्यादा शास्त्रीय और पुराना लगे, पर जहाँ तक शिवप्रसाद सिंह का सवाल है; अलंकार इनकी भाषा की फितरत नहीं, कुदरत है। इसीलिए राजेन्द्र यादव का कथन, 'कि उपमानों को 'इन्सर्ट' करने में ही कहानीकार की निगाह भटकती रहती है और वह चालाकी से वर्ण्यविषय के 'चेलेंज' से बच जाता है'[179] डा० सिंह पर लागू नहीं होता। ऐसा उनके साथ होता है जानबूझकर खोज-खोजकर भाषा को सजाने के लिए उपमानों को जोड़ते हैं, जबकि अलंकार डॉ० सिंह की भाषा के शृंगार नहीं संस्कार हैं। वर्ण्य यहाँ छूटता नहीं, और अधिक स्पष्ट होता है। जहाँ तक स्थितियों के 'चेलेंज' से भागने की बात है तो वो तो वैसे भी भागा जा सकता है पाठकों की रुचि पर छोड़कर—'एक कमजोर लड़की की 'कहानी' की तरह। अब इससे बड़ा पलायन क्या होगा कि कथ्य के चरम बिन्दु पर लेखक, खेल खतम किए मदारी की तरह 'दे उसका भी भला, न दे उसका भी भला' का सा नारा लगा दे। यह तो दृष्टिकोण का दिवालियापन है। मैं तो कहूँगा कि किसी लेखक का उपमानों की आड़ में स्थितिगत 'चेलेंज' से भागना ऐसा ग़ैर जिम्मेदाराना नहीं कहा जायेगा। खैर,

शिवप्रसाद सिंह में अलंकारों की अधिकता और विविधता उनके विस्तृत अनुभव संसार और सलीके से सहेजने के कौशल के अद्‌भुत प्रमाण हैं। इनकी संप्रेषण-क्षमता गजब की है। कहा जाता है कि साहित्य और कुछ नहीं करता, मात्र हमारी संवेदनाओं (सेसेंशंस) को विस्तार देता है।' और शिवप्रसाद जी की भाषा में प्रयुक्त अलंकार इस कार्य में बड़ी अहम् भूमिका अदा करते हैं। ये पाठकों की संवेदनाओं के नये क्षितिज खोलते, अनुभवों के नये कोण उभारते चलते हैं। भाषा का यह रूप साहित्य के लिए अक्षय भाण्डार और पाठकों के लिए अति समृद्ध संग्रहालय साबित हो सकता है।[180]

---

177. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 67.
178. वही, पृष्ठ 110.
179. नयी कहानी के विविध प्रयोग—डॉ० शशिभूषण शीतांशु, पृष्ठ 150 से उद्‌धृत।
180. बम्बई दूरदर्शन के एक साक्षात्कार (प्रतिमा और प्रतिमा के अन्तर्गत) में डॉ० हरिवंश राय बच्चन का कथन।

नामवर सिंह ने लिखा है कि जिस तरह शिवप्रसाद सिंह जैसे लेखक कदम-कदम पर उपमाओं का कोश लुटाते चलते हैं, उससे एक दिन कहानी के ही लुट जाने का खतरा है।[181] इस संबंध में शिवप्रसाद सिंह की कहानियों की जीवंतता और ख्याति से बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उक्त कथन कितना बेमानी और निरर्थक है। हाँ, समीक्षक की बुद्धि के लुट जाने का खतरा जरूर है। इनकी दौलत इतनी बेशुमार है कि विश्लेषण में सबको समेटना और करीने से निबेरना समीक्षक के लिए खासा मुश्किल हो जाता है। इसीलिए प्रस्तुत विवेचन में समग्रता का दावा व्यर्थ है, यदि कुछ महत्वपूर्ण और रोचक अलंकार ही आ जायें तो बहुत है।

अलंकारों के प्रयोग में 'उपमान' ही लेखक की शक्ति हैं। अतः इनसे बनने वाले मुख्य अलंकार उपमा और रूपक ही अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं। यदि इन्हें श्रेणियों में बाँटें तो कुछ इस प्रकार कर सकते हैं—

(1) पात्रों के शारीरिक अंगों के लिए प्रयुक्त उपमान।
(2) भावों के लिए प्रयुक्त उपमान।
(3) गति और क्रिया (ऐक्शन) के लिए प्रयुक्त उपमान।
(4) गँवई उपमान।
(5) प्रकृति के लिए प्रयुक्त उपमान।

(1) पात्रों के शारीरिक अंगों के लिए प्रयुक्त उपमान

शरीर के अवयवों में सिर्फ विभिन्न भावों से भरी आँखों के लिए प्रयुक्त उपमानों का निदर्शन पर्याप्त रुचिकर होगा—

नीलोफर-सी आँख,[182] आँखों में सूना जेठ छा रहा है,[183] आँसू भरी आँखें जल में तैरती मछली की तरह,[184] चलवे-सी चमकने वाली आँखें,[185] लम्बी बरौनियाँ बारिश में भीगे तितली के परों की तरह नम और बिखरी थीं,[186] सामने की रोशनी में उसकी उजली-उजली, काली-काली आँखें झुकी हुई पलकों की आड़ में सेवार कुंज में छिपी चलवे मछली की तरह चमक रही थीं।[187] उसकी चलवे मछली की तरह चिलक उठने वाली आँखें कुई के फूल की तरह रेशे-रेशे को आनन्द से कँपाती हुई खिल उठेंगी।[188] उन आँखों में हल्का सा कंपन था। तेज हवा के झोंकों से

181. कहानी : नयी कहानी—नामवर सिंह, पृष्ठ 47.
182. आर पार की माला, पृष्ठ 13.
183. वही, पृष्ठ 24.
184. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 39.
185. वही, पृष्ठ 180.
186. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 15.
187. वही, पृष्ठ 280.
188. वही, पृष्ठ 282.

घायल गौरैये के बच्चे की तरह वे धड़क रही थीं।[189] पुष्पा के बादामी रंग के पीले मुँह में उसकी साफ उजली आँखें खरबूजे के बीज की तरह जड़ी हुई लगतीं।[190] 'उसकी मांस में धँसी आँखें कटहे बन्दर की तरह मुलमुलाने लगीं।'[191]

इसके अलावा अन्य अंगों के लिए प्रयुक्त कुछ प्रमुख उपमान इस प्रकार हैं—रोही मछली की तरह मुँह,[192] अमोले के टटके पत्ते-सी ललछौंही हथेली,[193] जगेसर का विकृत चेहरा ऐबी शीशे की परछाइँ की तरह लगता।[194] ताजे खून के हिलोरों से खिलने वाले गुलाबी गालों पर बरसाती मेढ़कों की खाल की तरह सड़ी-सड़ी पियराई क्यों छा रही है।[195] मुँह पोंछने के बाद आई चिकनाई रोहू मछली के गलफर की तरह,[196] क्रीम पोयी की तरह खिले होंठ,[197] जवाकुसुम की तरह चमकता मुख,[198] लाजो की खुली चोटी जैसे मकोय की लता हो।[199]

शारीरिक अंगों के अलावा भी चरित्रों के लिए उपमानों का प्रयोग हुआ है—दुखियारी सती बुझते दिये सी,[200] माँ तारिका के समान,[201] ओढ़हुल के टटके फूल की तरह पुष्पा,[202] दीपशिखा की तरह कनिया और उनके सामने घुग्घू की तरह बुझारथ,[203] वरुणा की तरह किरणें[204] और रामकीरतदास नंगे बदन ऐसा लगता है जैसे साखू की सिल्ली।[205]

(2) भावों के लिए प्रयुक्त उपमान

पात्रों और उनके विभिन्न अंगों के बाद जरा अब उनके विविध भावों के उपमानों का जायजा लें। ये अक्सर प्रकृति से लिए गये हैं, पर अन्य भी सहज भाव से

189. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 12.
190. अलग अलग वैतरणी, पृष्ठ 104-5.
191. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 51.
192. मुरदासराय, पृष्ठ 1.
193. वही, पृष्ठ 110.
194. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 319.
195. वही, पृष्ठ 438.
196. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 7.
197. वही, पृष्ठ 7.
198. वही, पृष्ठ 216.
199. वही, पृष्ठ 202.
200. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 37.
201. आर-पार की माला, पृष्ठ 122.
202. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 171.
203. वही, पृष्ठ 173.
204. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 385.
205. वही, पृष्ठ 14.

समाहित होते हैं—मंगरू के मन में उठते भावों के लिए लेखक न जलते आसमान की छाती पर फफोले की तरह उठते तारों का उपमान लिया है।[206] शंकाएँ अंधड़ के बादल-सी,[207] हँसी दुपहरिया के फूल-सी,[208] ग्रीष्म के जङ्गली गुलाब की तरह उनके चेहरे पर लाली दौड़ गयी, निर्धन के अपार वैभव की तरह उसे सँभालने में असमर्थ वे बोलीं।'[209] हँसी मछली की तरह,[210] खुशी मिसरीलाल के चेहरे पर ऐसी लगती है जैसे किसी ने मुर्चीली-पिचकी डिबिया में कपूर रख दिया हो।[211] आशा ऊसर के बीज की तरह निष्फल।[212] शशिकांत देखता कि बच्चों की आँखों में निरीहता के साथ ही साथ एक ऐसी घिनौनी निराशा थी जैसे अथाह जल के भीतर किसी भारी पत्थर में बँधी कोई नाजुक चिड़िया हो जो लड़ते-लड़ते निढाल हो गयी हो।[213] जवाहिरलाल के चेहरे पर आये भाव में शशिकांत को कुछ दिख गया था, जो मरे गोजर की तरह मुंशी के दोनों गालों में, कनपटी के पास सटा था,[214] खुशी के बाद अचानक उदास हो जाना लेखक को लगा कि जैसे खुशी की लिजलिजी गिलहरी को साँप ने पकड़ लिया हो।'[215]

ऐसे ही बुद्धि की असफलता की तुलना अबला से की गयी है।[216] बौड़म के निश्चेष्ट बैठने का अमूर्त भाव, लेखक को लगता है, जैसे 'जिन्दगी के असह्य भार को क्षण भर के लिए उतारकर कोई थका-हारा बटोही विश्राम करता हो।'[217]

गति और क्रिया (ऐक्शन) के लिए प्रयुक्त उपमान

पात्रों के हावभाव के साथ ही उनकी गतिविधियों और क्रिया-कलापों को भी उपमानों में बांधा गया है—

'फुन्नन मियाँ लोगों की बातों पर पलकें मुलकाकर यों मुस्कराते जैसे कोई प्राइमरी स्कूल का मास्टर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर को हरफ समझने वाले छोकरों को बढ़ावा दे रहा है।'[218] 'फुन्नन मियाँ ने पंडित की ओर यों देखा जैसे दो-एक दिन धूल

206. आर-पार की माला, पृष्ठ 133.
207. वही, पृष्ठ 36.
208. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 71.
209. वही, पृष्ठ 88.
210. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 69.
211. वही, पृष्ठ 16.
212. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 42.
213. वही, 176.
214. वही, पृष्ठ 498.
215. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 5.
216. आर-पार की माला, पृष्ठ 69.
217. वही, पृष्ठ 57.
218. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 105.

लपेटकर रियाज ठोंकने वाले घमंडी छोकरे को चारों खाने चित पटककर कोई बड़ा पहलवान मुस्करा रहा हो।'[219] 'उन्होंने फुन्नन मियाँ की खसखसी दाढ़ी पर ऐसे आँख गड़ायी जैसे कोई पुराना सूदखोर अपने आसामी के छप्पर की तीलियाँ गिन रहा हो।'[220] 'जगेसर ने सामान निकाल-निकाल सबको यूँ बाँटा जैसे किसी यज्ञ के अवसर पर मँगनों को बख्शीश दी जाती है।'[221] 'गोंगई महराज ने सिक्का यों पकड़ा जैसे पिंजड़े में बंद बनमानुष की ओर किसी ने मूँगफली फेंकी हो।'[222] 'अँधेरे के बाद तेज चाकुओं का अभ्यास करती हुई सी आवाज रह-रहकर सन्नाटे को बेधने लगी।'[223] 'करैता के पूरे सिवान को बेधती उसकी प्रभाती घायल भौंरे की तरह चारों ओर मँडरा रही थी।'[224] 'लड़कोरी मेहरारू की तरह पसर गये हैं।'[225]

'उस औरत का वह पैर हवा में खड़ा रहा। मुझे वह बिना सिपाए के ऊपर उठी उलार बैलगाड़ी की तरह लगी।'[226]

भाव, क्रिया और गति का सुंदर समन्वय एक ही वाक्य में—

'वे (कनिया) क्रोध के मारे तूफान में पड़े पेड़ की तरह गनगना रही थी और हिलती डाल से महुए के फूल की तरह टप-टप आँसू बरस रहे थे।'[227] 'पूरा जुलूस जैसे थरथराती हुई तूफानमेल की तरह विचित्र किस्म की गड़गड़ाहट और कंपन में डूब रहा था।'[228] 'सहसा जोर से धक्का लगा और पूरा जुलूस उमड़ती हुई नदी से मार्ग में आये अवरोध से उत्पन्न पछाड़ खाती लहरों से टकराने-जैसी स्थिति में झूलने लगा।'[229]

गँवई उपमान

गँवई उपमानों की दुनिया भी बड़ी समृद्ध है जो लेखक के ग्रामीण अनुभवों और प्रयोगकुशलता के परिचायक हैं—

प्वाल की राख-सी ऐंठन,[230] उसकी माँग का कृत्रिम सिंदूर ऐसा उदास

---

219. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 106.
220. वही, पृष्ठ 106.
221. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 323.
222. वही, पृष्ठ 345.
223. वही, पृष्ठ 96.
224. वही, पृष्ठ 150.
225. वही, पृष्ठ 18.
226. भेड़िए, पृष्ठ 74.
227. वही, पृष्ठ 18.
228. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 168.
229. वही, पृष्ठ 168.
230. आर-पार की माला, पृष्ठ 56.

मालूम होता जैसे जेठ के दिनों में भरे हुए इंद्रगोप की क्रीड़ापाँति हो।[231] भीड़भोजी जनों की भीड़ जैसे ज्वार, बाजरे पर मँडराते पंछी,[232] दाढ़ी का खरखराना जैसे सरपत में उदबिलाव घुस आया हो।[233] कौए उड़ाने के लिए कनस्तर पीटे जाने जैसी हँसी,[234] मशीन की चरखी ऐसे चिर्राती जैसे बहुत दिनों से तेल के अभाव में रखी हुई गड़ारी आवाज करती है।[235] संकड़े लिलार को सिर के बाल, कुएँ की लहलहाती दूब की तरह हमेशा ढँके रहते।[236] उन्होंने ऐसे गरदन झटकी जैसे नववा बाछे के साथ हल में जुता पुराना बैल कान्ह तोड़ता है।[237] बिन ब्याही लड़की हरही गाय की तरह,[238] किसान के लिए सूखा लड़के की लाश की तरह।[239] सुरजितवा के गले की मिठास एकदम कचरस ऊख की अँगारी, वीसू के गले में भी मिठास है, पर पकठल गन्ने में ऊ बात कहाँ[240] इसी तरह कच्ची उम्र के गोपाल के लिए लेखक लिखता है, कच्ची मिट्टी और कच्चा रस कितनी सावधानी की अपेक्षा रखता है।[241] कुकुरमुत्तों की तरह पनपे छात्र नेता।[242]

प्रकृति के लिए प्रयुक्त उपमान

चाँद कटी पतंग-सा लटक रहा था।[243] मछलियों के झुंड-सा पानी,[244] असहाय विधवा की माँग-सी धुली गंगा।[245] थकी-सी अलसायी हुई गर्भिणी नारी के पीले चेहरे की तरह डूबते हुए सूरज की मद्धिम रोशनी भी मेज के पास पसरकर बैठ गयी।[246] इस सरसराती हवा में हरित पीताभ लचोर पौदे यों मटकते जैसे पूरा खेत मदमाती नागिन की तरह सँपेरे की बीन सुनकर झूम रहा हो।[247] सारा गाँव

231. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 71.
232. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 71.
233. वही, पृष्ठ 107.
234. वही, पृष्ठ 137.
235. वही, पृष्ठ 145.
236. वही, पृष्ठ 197.
237. मुरदासराय, पृष्ठ 93.
238. वही, पृष्ठ 149.
239. आर-पार की माला, पृष्ठ 23.
240. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 23.
241. वही, पृष्ठ 442.
242. गली आगे मुड़ती है,
243. आर-पार की माला, पृष्ठ 16.
244. वही, पृष्ठ 48.
245. वही, पृष्ठ 144.
246. इन्हें भी इन्तजार है, पृष्ठ 275.
247. भेड़िये, पृष्ठ 14.

कंधे से बोझ उतारकर सुस्ताते राहगीर की तरह खुद खोया था।[248] ऋतुमती नारी की तरह धरती,[249] लहरें पालतू हिरण की तरह पैरों में टुन्ना नहीं दे रही थी।[250] गंगा के लिए बलखाती लालछौंही नागिन का उपमान,[251] अपनी बीवी की तरह परिचित जगह,[252] श्मशान की खोपड़ी-सा दाँत फैलाए पीपल[253] और दाँत चियारे श्मशान पर खड़ी खोपड़ी-सा मकान।[254] महासागर जैसा गाँव,[255] बूढ़े योगी जैसा करैता।'[256]

इनके अलावा कुछ विशिष्ट उपमान द्रष्टव्य हैं—'तो कितना लोगे ? शंकर बो मोरपंखी साड़ी में लिपटती हुई-सी बोली, जैसे कसती हुई चोली की गाँठ छूट गयी है और अब बड़ी देर के बाद पहली बार खुलकर साँस आयी है।'[257]

हवा को कोसती हुई धन्नो चाची इस तरह मुस्काती हुई लौटी जैसे गली में खड़े साठ-साठ के पाठे उनके सामने घुटने चलते बच्चे हैं।[258]

उसके वक्ष के पास कोई चीज व्यथा से कसक उठी। उसकी कंचुकी के बंध विषधर साँप की तरह उसकी नसों को जकड़कर तोड़ने लगे। उसका वात्सल्य भरा आँचल आज साँप की केंचुल-सा अमंगल से भरा था।[259]

उसकी कसी जाँघों पर छींट की जाँघिया ऐसी फब रही थी, जैसे केले के पेड़ से तितलियाँ लिपट गयी हों।[260]

रूपक

उपमानों से बने रूपक अलंकार तो अनगिनत हैं—कुछ ऊपर उदाहृत भी हो गये हैं, पर शिवप्रसाद जी ने सांग रूपकों के कई लम्बे-लम्बे चित्रण भी पेश किये गये हैं जिनसे पूरी भाषा ही रूपकात्मक हो गयी है। कुछ प्रमुख चित्र यहाँ उल्लेख्य हैं—जमींदारी-उन्मूलन को लेकर जैपाल सोचते हैं—'यह तो तूफान था....पर पेड़ खड़ा था।'[261]

---

248. भेड़िए, पृष्ठ 59.
249. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 152.
250. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 36.
251. वही, पृष्ठ 163.
252. वही, पृष्ठ 88.
253. आर-पार की माला, पृष्ठ 11.
254. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 399.
255. आर पार की माला, पृष्ठ 10.
256. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 130.
257. मुरदासराय, पृष्ठ 147.
258. इन्हें भी इंतजार है, 137.
259. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 36.
260. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 86 पर द्रष्टव्य।
261. वही, पृष्ठ 190 पर द्रष्टव्य।

—बच्चों के चेहरे पर आये उत्साह को देखकर शशिकांत सोचता है—'यह चमक एक अजीब तरह की आग की सूचना....फट जाती है।'[262]

—काँटे का रूपक लेकर जग्ग मिसिर का वक्तव्य—'पता नहीं काँटा कहाँ चुभा है...उपचारक के हाथ को ही पकड़ लेता है।'[263]

—तैराक, तैराकी और पानी-किनारे के रूपकों में बँधा विपिन का कथन—'जब तक बातचीत सतह पर....न तैराकी की।'[264]

—जेबरा, गोफन को लेकर इंस्पेक्टर शर्मा का विवेचन—'एक शिकारी जीप पर खड़ा....जीप स्टैण्ड स्टिल हो जाती है।'[265]

—इसी तरह हिन्दुस्तान के मास्टर टोलका रूपक भी बड़ा ही व्यंजक है।[266]

'अरुन्धती' कहानी में 'रानी और चुरुला'[267] तथा 'अलग-अलग वैतरणी' में 'राजकुमारी और डोम'[268] वाली कहानियों में रूपककथा (ऐलीगरी) का नमूना भी देखा जा सकता है। इसके अलावा 'बुढ़िया की गाय की नीलामी वाली कहानी'[269] भी रामानंद की माँ की दशा के लिए सुन्दर रूपक के रूप में प्रस्तुत हुई है।

'नन्हों' कहानी में 'शॉकिंग ट्रीटमेंट' से बचने के लिए प्रयुक्त भाषा का उदाहरण लेखक ने दिया है।'[270] ठीक इसी प्रक्रिया में भिन्न उद्देश्यों के तहत कुछ और भी रूपकात्मक वर्णनों का प्रयोग हुआ है—

—'अभी लड़के की मौत का घाव भरा न था, बरसाती बौछारों की मार से घायल दीवालें पूरी भी न थीं कि क्वार महीने में छोट्टक को टायफायड हो गया।'[271]

—कई महीने बीत गये। धरती कभी ऋतुमती बनी थी। बीज पड़ा था। अंखुवे उगे थे। फसलों में हवा के साँप लहराये थे। और आज तो खेत के खेत दूधिया बालों का मोर बाँधे खिलखिला रहे हैं।[272]

अन्य अलंकारों में प्रमुख रूप से मानवीयकरण और उत्प्रेक्षा के छिटफुट प्रयोग मिलते हैं। मानवीयकरण के उदाहरणों में—

262. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 432.
263. वही, पृष्ठ 434.
264. वही
265. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 235.
266. वही, 124.
267. मुरदासराय पृष्ठ 26.
268. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 415-16, 420, 21.
269. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 480.
270. मुरदासराय, भूमिका, पृष्ठ 21.
271. आर-पार की माला, पृष्ठ 136.
272. मुरदासराय, पृष्ठ 140.

—कुहरे से लिपटी हुई अँधेरी अपने मैले आँचल में उन्हें मासूम बच्चों की तरह छिपाकर थपकियाँ दे रही थी…[273]

—पेड़ों के पत्ते तक साँस रोके दिशाओं का सिमटना देख रहे थे।[274]

—पश्चिमी आकाश में बुझते सूरज की जो रही-सही ताँबिया लाली थी, वह भी अब जिस्म को बिल्कुल ढीला छोड़कर नीले समुद्र में पूरी तरह उतरती चली गयी।[275]

—सड़क ओस में डूबी बेपरवाह लेटी थी।[276]

—कुहरे की हल्की जालीदार चादर में लिपटी काशी किसी राजवधू की तरह अधलेटी थी।[277]

—इसे देखकर लगता है जैसे कोई तपस्वी कुमारी अपनी बलखाती कमर पर संस्कृति का कलश धरे चली जा रही है।[278]

उपमानों का प्रयोग करते हुए 'मानों', 'जानो', जैसे उत्प्रेक्षापरक वाचकों के साथ बहुत से उत्प्रेक्षा अलंकार के उदाहरण मिलते हैं। प्रमाण के लिए दो उदाहरण लीजिए—

'उनकी दाढ़ियाँ ऐसी लगती थीं मानो मधुमक्खी के छत्ते हिल रहे हों।'[279]

'धुरबिनवा को मुस्कराते हुए देख बुल्लू पंडित यों झेंपे, जानो किसी ने चौके पर दुलहिन का घूंघट उठा दिया हो।'[280]

अलंकार और भी हैं और बहुत हैं तथा एक से एक अभिनव प्रयोग के उदाहरण हैं, पर उन सबको विवेचित करने के लिए एक पूरे अध्याय की आवश्यकता होगी, ठीक उसी प्रकार जैसे शिवप्रसाद जी के रूपबंध के लिए एक अलग पुस्तक की।

भाषा का व्याकरणिक अध्ययन

इसके अंतर्गत शब्दों और वाक्यों का अलग-अलग अध्ययन किया गया है—उसके वैशिष्ट्यों और सीमाओं के साथ।

(अ) शब्द-प्रयोग

शब्द-प्रयोग को लेकर शिवप्रसाद सिंह की कलाक्षमता अद्‌भुत है। शब्दों के चयन और फिर समान क्षेत्र व जाति वाले शब्दों के सटीक प्रयोग में वे सिद्धहस्त हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' शीर्षक है तो भूमिका को 'तटचर्चा' तथा 'गली आगे मुड़ती है'

273. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 104.
274. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 235.
275. मुरदासराय, पृष्ठ 84.
276. भेड़िए, पृष्ठ 72.
277. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 157.
278. वही, पृष्ठ 11.
279. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 258.
280. वही, पृष्ठ 29.

में 'नुक्कड़ सभा' नाम देना, इसका सबसे सशक्त उदाहरण हैं। इसी तरह 'इन्हें भी इंतजार है' की शुरुआत के पहले महाकवि मिल्टन की पंक्ति 'दे आल्सो सर्व, हू स्टैण्ड ऐण्ड वेट' की संगति भी देखी जा सकती है। रामानंद से कहे गये हरिमंगल के वाक्य—'रूपचंद्र पर दृष्टि रहे, चंदरूप पर नहीं'[281] से व्यंजित अर्थ भी शब्द प्रयोग-क्षमता का उत्कृष्ट नमूना है। 'एक अर्थहीन संतोष का अर्थभरा विश्वास'[282] की सूक्ष्म अर्थव्यंजना भी शब्दयोजना की कुशलता का ही प्रमाण है।

लेखक का शब्द-भांडार बहुत विस्तृत है। इसमें जीवन व ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों वाले शब्दों का सुरुचिपूर्ण सम्मिश्रण हुआ है। इतिहास, पुराण, ज्योतिष, तंत्र, योग, दर्शन और साहित्य के तमाम मृत शब्दों को जहाँ जीवन मिला है, वहीं कितने ही नये शब्दों का जन्म भी हुआ है। 'गली आगे मुड़ती है' का रामानंद इसका सबसे प्रमुख और उपयुक्त स्रोत साबित हुआ है। इन सबको समझने की साधारण पाठक की कठिनाई को भी लेखक समझता है, पर वह पाठकों से उनके शब्द-भांडार बढ़ाने की अपेक्षा रखता है।[283]

शिवप्रसाद सिंह के शब्द भाण्डार की अतुल राशि में हिन्दी शब्दों के अलावा मुख्य रूप से देशज, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी के शब्द हैं। इनके उल्लेख्य शब्दों की अलग-अलग सूची उदाहरण के लिए प्रस्तुत है—

(1) देशज—

इन्हें लोकप्रचलित, स्थानीय और ग्रामीण शब्द भी कह सकते हैं। इनके दो रूप द्रष्टव्य हैं —एक तो ठेंठ ग्रामीण और दूसरे ऐसे हैं, जो अपने तद्भव रूप में तत्सम (शुद्ध) को मुखर करते रहते हैं—

(अ) ठेंठ ग्रामीण शब्द—

कलौंज, डॉक, गोड़, परती, लेवन, लौछार, ताकना, सांसत, तौंक, गोंइड़े, ठार, झिलंगी, ओरदवानी, घोड़पराड़, खांची, गद्दड़, अगोरना, कल्ले, ओखली, कुल्ला दतौन, अनसाने, बेकहल, चनक, चिरौरी, चिढ़कूं, अगाड़ी, कबाहट, नघता है, पटाये रहना, जोहना, भौंचक, पतियाना, कोने-अंतरे, अनखा-अनखाकर, घट्ठे, जुड़ा गया, हिरकना, भोथर, लहाछेह, अघाना, पकठल, रिरियाहट, पछोटे, थेथर, उबसन, बिदोरकर, चौंचक, बखरी, चुहचुहा, पोतन, बटुरना, छिछोरापन, पछुआ, बनरखत, सरेख, झोंटा, टिहुकना, उठंगकर, उनचकर, नवचे, बबुनी, मूर्दे, उबीठ, टटका, खोंइछा, कसरियाही, दांज, खौंखियाना, गझिन, लंघन, सिकहरे, मेहरारू, झौहाना, पेन्हाय, कोयर, बनिहार, मूसना, थथमा, पुरनियां, उपरफट्टू, औझड़, हाड़पड़ा है, अरगन, समहुत, पंगुआना, अगुताहे, नइहर, पैताने, अइया, मेंड़, खराई, गोड़ा, घोंघा, अहरा, बाटी, नांद,

---

281. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 131.
282. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 172.
283. सारिका—1, फरवरी, 1980, पृष्ठ 14.

हलकान, पुरवट, घामड़, झौवा, हलकानी, चांड़, उतान, निबुकना, चंगा, पक्के, फिसड्डी, टरकाना, चकरघिन्नी, घलुआ, सपड़-सपड़, खलबलाता, किकुरी मारे, झांसा, पइन, चट्टन, ठिठुरन, तिड़ी, चौचक, सलटाना, पलहुआना, क्लांस, भटर, पिट्टी, जांगर, पागुर, टेंट, अलंग, उंचाई, नाघना, दंवरी, करमोना, भींक, चियारना, अंडस, कुतरना, सरियाना, झौंसना, टमकना, घोंटना, दुहकना।

(ख) तत्सम से तद्‌भव में अन्तरित शब्द—

वैसे शोध किया जाये तो शिवप्रसाद सिंह के साहित्य में प्रयुक्त अधिकांश शब्दों के शुद्ध रूपों तक पहुँचा जा सकता है, पर यहाँ उतने ही शब्द आ सके हैं जो अध्येता की सीमा में आसानी से पकड़े जा सके हैं और साथ ही अतिसामान्य शब्द, जैसे—पक्षी-पंछी आदि, भी छोड़ दिये गये हैं। कुछ शब्द, 'लोकभाषा का हिन्दीकरण' शीर्षक के अन्तर्गत भी आये हैं। इन शब्दों में स्वरों-व्यंजनों के आगम, लोप तथा विपर्यय के साथ अर्थसंकोच, अर्थविस्तार आदि भाषा-विज्ञान के तमाम रूपों के प्रयोग सहज उपलब्ध और लक्ष्य हैं।

ज्योति-जोत, पोषण किया-पोसा, आशीष-असीस, किरिया-करम-क्रिया-कर्म, व्याकुल-बेकल,य जमान-जजमान, गंधर्व-गन्हरप, ललाट-लिलार, व्यथा-बिथा, आभीर-अहीर, कंधा-कान्ह (तोड़ना), वस्त्र-बस्तर, उऋण-उरिन, निभ-निबह (गया), पिशाच-पिचास, मग्न-मगन, वर्जना-बरजते हैं, अन्यत्र-अनतैं, ब्रह्म-बरम (लेख), प्रपंच-परपंच, हृदय-हियरा, साक्षात्-छछात, अगम्य-अगम, छद्म-(नि) छद्म, विलीन हो गये-बिला गये, शायद-साइत, वरण किया-बरा दिया (अर्थ-परिवर्तन हो गया है), दोषी-खोखी, युक्ति-जुगुत, बर्ताव करो-बरतो, यत्न-जतन, द्वार-दुआर, परितोष-परतोख, अचानक-अनचक्के, अंकुश-अनकुस, भूनना-भूंजना, मुण्ड-मूंड़, नियम-नेम, धृष्ट-ढीठ, पथ-पाह, अक्षत-आछत और अछतै, श्रीप्रसाद-सिरिया, हरिप्रसाद-हरिया, नवान्न-नेवान, प्रमाण-परमान, कुक्ष-कोख।

(2) संस्कृत के शुद्ध शब्द—

इस सूची में वही शब्द दिये जा रहे हैं जो प्रयोग में अपनी संस्कृत-निष्ठता को छिपा नहीं पाये हैं—

किंचित्, अकृतविद्य, श्लथ, अश्रुतपूर्व, हृत्कंप, ईषत्, प्रणिपात, सद्यः, कर्णाभिराम, महोदधि, वदान्यता, अवांच्छित, विद्यमान, ग्रीष्मावकाश, युग्म, पक्षिशावक, कालुष्य, चतुर्दिक, पर्यंत, अंतर्यामी, संपुट, साक्षात्, अन्यमनस्क, तत्पर, अकृतविद्यता, त्रयोदशाह, अतिथि-अभ्यागत, परस्थ, प्रकृतिस्थ, अशक्य, वदान्यता, विकृत अहं, अप्रतिहतनाद, वाचालता, क्लीवता, अंतस्थ, उद्यत, तदाकार, मंत्रोच्चार, चिरप्रज्वलित, व्रात्य, वृगलात्मा तंत्र, श्रांतविवर्त, गमन, पुस्करावर्त, अन्यत्र, कनकोत्तम, शुभेच्छापूर्ण, प्रभामंडित, जीर्ण, सोपान, सूर्यरश्मि, आदित्य, आम्रपल्लव, आच्छादन, स्वस्तिक, मार्गच्युत, उच्छ्वसित, वार्त्तालाप, गड्डलिकाप्रवाह, वाक्‌युद्ध, स्थानापन्न, सर्वत्र,

बुभुक्षित, चिरादिम, ऊर्ध्व, निरापद, अनिर्वचनीय, शलाका, सन्निधि, चक्षु, वृहत्, पुष्पोद्यान, रम्य, पुष्पपाद, दूर्वा, रक्षिता, दयार्द्र, बहिर्द्वार।

'गली आगे मुड़ती है' में गंभीरानंद, प्रतिवादभयंकराचार्य, लट्ठापवीत आदि शब्द संस्कृत शब्दों की शैली में हँसी-मजाक के संदर्भ में बनाकर प्रयुक्त हुए हैं।

(3) उर्दू शब्द—

यहाँ भी वही शब्द रखे गये हैं जो पढ़ते समय अपने उर्दू होने का आभास दे देते हैं—

इंतकाल, हिफाजत, मायूस, कम्बख्त, काफ़ूर, तफसील, मुआयना, तफरीह, लाजबाब, फिदा, फिजूलखर्ची, अहसानमन्द, गवारा, मुस्तैदी, पेशानी, बेतरतीब, बेतकल्लुफ, बदस्तूर, बेजार, फब, जिस्म, इबारत, इत्तफाक, जबांदानी, तजुर्बेकार, जईफी, तबदीली, हिदायत, मुगालता, शुहरत, मुखालिफ, गुमनाम, वाकई, फरियाद, आजिज, वाकिफ, इत्मीनान, जज्ब, फीरोजी, जुबान पर लगे क़स्द के ताले, शिकस्त, तहक़ीकात, इजहार, खुदमुख्तारी, वजूद, गाफिल, जर्द, इश्तहार, आमदरफ्त, गारत, शिनाख्त, आदमक़द, आसूदगी, खैरख्वाह, आजमाइश, मार्फत, तरद्दुद, पुश्तकबाजी, इनायत, हुनरमंद, खब्ती, मुखातिब, ग़फलत, जज्बात, निशाखातिर, फरेबी, कतई, शिकन, ख्वाहिश, यकीन, इफरात, मौजूं, हिदायत, तसकीन, तकमील, नागवार, दानिशमंदी, रहनुमाई, इजाफा, अल्फाज, फारिग, इल्जाम, इबारत, नियामत, ग़नीमत, बदनीयती, गफलत, जहालत, रुखसत, मोहताज, तहरीर, खुदफरामोशी, मुंतजिर, तखमीना, बदफेली, दिलफरेब, दरियाफ्त, ईजाद, आबरू, रहजनी, गुरबत, परवाज, गुमाश्ता, तल्ख, जुर्रत, मुख्तसर, तादाद, तरजीह, बर्खास्त, हुजूम, मशग़ूल, हिदायत, मुल्तबी, लुत्फ, बेदयानतदारी, आबखां, इंतहा, रश्क, जरासीम, तोहमत, बेसाख्ता, मुकम्मल, मर्दुमशुमारी, अहमियत, मुस्तैदी, कैफ़ियत, हिकारत।

(4) अंग्रेजी शब्द

यहाँ भी ऐसे शब्दों को शामिल नहीं किया गया है जो हमारे जीवन में एकदम घुलमिल गये हैं—

डिक्लेयर, सोशल, सिम्फनी, सोपकेस, ऐलान, ऑक्सस, पिरैमिड, सब्सीचूट, चाँस, सेंटेंस, अप्लाई, पब्लिक, डाउन, वारंट, कमेटी, मरडर केस, कैरियर, रेलिंग, मेम्बर, क्लिक, इंटरवल, साइडपार्टनर, प्राइवेट प्रेक्टिस, डिस्पेंसरी, रिजल्ट, मूड, डम्प, स्कीम, सेटिल, सप्लाई, परेड, टाइट, स्पेशल केस, टेम्परेचर, वन वे ट्रैफिक, गारंटी, स्प्रिंग, क्रीम, रिट्रीट, फ्रंट, ड्रिलिंग, आर्डर, माईगॉड, एलर्जी, मनोपोली, बॉयोलॉजिकल, अनफिट, ड्यूटी बाउंड, एक्जैक्ट, कर्बेचर, एडवांस, चेलेन्ज, बॉर्डर, फ्लेमिंग सनसेट, ऑडिट, क्लासफेलो, पॉकेट, एडीशन, पर्वर्ट, प्योर, ट्रेण्ड, प्रजेण्ट, अल्ट्रामॉडर्न, डिलीवरी, स्लोमार्च, कैश पेमेंट, अनफिट, परमिट, अटेस्ट, प्वाइंट, मस्टर रोल।

उर्दू और अंग्रेजी शब्दों के गँवई प्रयोग भी मिलते हैं—खासकर 'अलग-अलग

वैतरणी' में पात्रानुकूलता और ग्रामीणता के लिहाज से। उदाहरण के लिए—हुकुम, सक्ख (शौक), सहूर (शऊर), बद्दू (बद के लिए), उजुर (उज्र), तफरी, फिकर, हरज।

फैर (फायर), लीक्चर, कनटलेसन (कन्सल्टेशन), डरेस, सिलेमा, डागडरी, सीनियरी, टिक्कस, रजिट्टर, अफसरान, रपट (रिपोर्ट) आदि।

(5) बाजारू शब्द और गालियाँ

बोलचाल की भाषा में प्रयोग होने वाले बहुत से सस्ते, सड़कछाप शब्द आये हैं—छप्पनछुरी, बकडेर, घोंचू, लीचड़, निहंग, गावदी, माल, भकचोनरदास, रफूचक्कर, गण्डगोल, फिसड्डी, गुलछर्रे, मटरगश्ती, जानमारू, अण्टाचित्त, गपोड़ा आदि।

गालियाँ कुछ साफसुथरी भी प्रयुक्त हुई हैं, पर कुछ एकदम अश्लील—

मरभुखे, सत्यानासी, हरामी, बेहूदा, कुलच्छन, दोगला, सूरतहराम, कमीना, सोहदा, दाढ़ीजार, भकचोन्हर, बुड़बक, चूतिया, मउंगा, साले, चमरचिल्ली, बेहया, भड़वापन, भुच्चड़, कमीना, डोम की औलाद, आवारा, लुच्चा, मुँहझौंसा, नमकहराम, करमनिखट्टू, करमजली, मक्कार, हरामजादी, चूत में रसाला, मादर...., नासपीटा, ससुरा, छैंछी छिनाल, जनखा, हग मारना, शोहदा, उल्लू का इत्र, अरधेल, मैतारी के सँग मौज उड़ावे।

ध्वन्यार्थक शब्दों के प्रयोग

छुवन में झनझनाहट, गुस्से से कटकटाना, गुस्से में रेंड की तरह लड़खड़ाना, पानी की खड़खड़ाहट, मुर्गे की बाग—क् क् क् कुकुहूँ कू....' डमरू की आवाज—डगड़-डगड़, डमक-डमक, बूट पहने चलने की आवाज—खड़र-खड़र, गलगलाते रहे, खौंखियाया, टिटकारा, सटर-सटर जैसे और भी बहुत से शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं।

शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग

वैसे तो सभी मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही होते हैं जिनकी सूची भी आगे दी जा रही है और पूरे कथासाहित्य में अन्य भी बहुत-से लाक्षणिक प्रयोग उपलब्ध होंगे, पर यहाँ कुछ महत्वपूर्ण शब्दों का ही उल्लेख हो पा रहा है। इन्हें हम इन रूपों में विभाजित करके देख सकते हैं—

गँवई प्रयोग—'उनच कर' शब्द खाट के पैताने की रस्सी को कसने के लिए आता है, पर जवाहिरलाल लड़कों के लिए कहते हैं—'मैं उसे उनचकर ठीक कर दूँगा।'[284] इसी तरह नाश्ते के लिए आने वाला शब्द 'खरमेटाव' है पर 'खरमेटाव' के लिए चार चटकन लग जाता'[285] लाक्षणिक अर्थ को व्यंजित करता है। बैलों के खाने के लिए मिट्टी का बड़ा हौद होता है, उसे 'नांद' कहते हैं पर ज्यादा खाने के

284. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 178.
285. वही, पृष्ठ 234.

लिए 'नांद भरना'[286] कहने पर इसका लाक्षणिक अर्थ ही ग्राह्य होता है। मूर्ख के लिए 'तुम घोंघा हो' भी ऐसा ही प्रयोग है।

जनविश्रुत—प्रायः ऐसे शब्द सर्वत्र प्रचलित होते हैं—गाली देने के लिए, भला-बुरा कहने के लिए पुराण बाँचना'[287] वेदपाठ करना,[288] उपनिषद् बोलना,[289] ऐसे ही शब्द हैं। 'सत्कार करना'[490] भी इसीलिए आया है पर इसे मारने-पीटने के लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

धार्मिक—'दुर्गासप्तशती' पुस्तक का पाठ करते समय निश्चित श्लोकों के अंतर के बाद एक पंक्ति को बार-बार दुहराया जाता है। इसे 'संपुट' कहते हैं, पर धनेसरी बुढ़िया घुरबिनवा को डाँटते समय भी बीच-बीच में किसी खास शब्द का संपुट करती है[291]—गालियों का। यह लाक्षणिक प्रयोग है। इसी तरह देव-पूजन के समय 'नैवेद्यमंत्र' बोला जाता है जिसका लाक्षणिक प्रयोग रामानंद करता है,[292] अपने खाते समय धनी लोगों की तहज़ीब को लेकर कही जाने वाली बात के लिए। पीढ़ियों का संदर्भ देकर गाली देने के लिए लेखक 'शाखोच्चार[293] करना' शब्द का प्रयोग करता है जो असल में शादी-ब्याह के अवसर पर ब्राह्मण द्वारा वर-वधू की तीन पीढ़ियों के साक्षी के रूप में प्रयुक्त होता है।

कुछ विशिष्ट प्रयोग—लेखक ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ से नागरगंधी घास-फूलों की प्राकृतिक सुगंध को किरण नागर के लिए संयोजित करके लाक्षणिक वैशिष्ट्य पैदा किया है।[294] पात्रों के नामों को लेकर ऐसे और भी प्रयोग हुए हैं—बुझारथ, सुर-जितवा, सुखदेव।

मुहावरे

गंगा के दहाने में डालना, आँखों में गूलर फूलना, छाती पर मूंग दलना, घिग्घी बँध जाना, नाकों दम होना, आँख की लकड़ी समझना, आँखों में धूल झोंकना, कान पर जूं रेंगना, ताँता बँध जाना, आँखों से ओझल होना, दिन में तारे नज़र आना, पौ बाहर होना, बिस्मिला ही ग़लत होना, खटिया कटना, साँस टँग जाना, जी मुँह को आना, निहाल हो जाना, फूले न समाना, डूबते को तिनके का सहारा, लाले पड़ना, पानी भरना, हाथ-पाँव फूलना, नहले पर दहला मारना, पेट का पानी पचना,

286. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 251.
287. वही, पृष्ठ 461.
288 लगी आगे मुड़ती है, पृष्ठ 19.
289. वही, पृष्ठ 453.
290. अगल-अलग वैतरणी, पृष्ठ 226.
291. वही, पृष्ठ 226.
292. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 103.
293. वही, पृष्ठ 154.
294. वही, पृष्ठ 307.

बधिया बैठ जाना, नाक पर माछी बैठने न देना, फूटी आँख न सुहाना, चिनगारी फूटना, आँखों में खून उतर आना, पगड़ी उछालना, दुम हिलाते कुक्कुर को दुलत्ती मारना, तलवा चाटना, दैव बाँव देना, आई-बाई पच जाना, सब्जबाग दिखाना, नाक रगड़ना, टस से मस न होना, नानी मरना, छठी का दूध याद आना, तूती बोलना, तीन-तेरह पढ़ाना, मोटाई का मंगल गाना, हवन करते हाथ जलना, दाल गलना, आस्तीन का साँप होना, कान में तेल डालना, तिल का ताड़ बनाना, हाथ पैर फूलना, चिउंटी के पाँख निकलना, गंगा लाभ लेना, झख मारना, चेहरा फक्क पड़ जाना, चूल्हे भाड़ में जाना, खटाई में डालना, गुड़-गोबर हो जाना, दाँत निपोरना, मेढकी को बुखार आना, टाँग उठा के नाल मढ़ाना, आँखों से लुत्ती छटकना, कच्चा चबा जाना, पुजैया के बकरे को कनइल की माला चढ़ाना, सब धान बाइस पसेरी होना।

कहावतें

देसी चिरई मरहठी बोल; नानी के आगे ननिहाल का बखान; हर्रे लगे न फिटकरी, माल चोखा; कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजुआ तेली; खायेंगे गेहूँ, नहीं रहेंगे एहूँ; बाप न मारी मेढकी, बेटा तिरंदाज; न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी; तेली का तेल जरे....; एक तो तितलौकी, दूसरे नीम चढ़ी; छप्पन-छुरी बहत्तर पेंच; जैसी करनी वैसी भरनी; गरीब का घर जरै, गुण्डा हाथ सेंके; जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ; बिना बान के चंदन दे माथ चर्राता; जइसन देस वइसन भेस; न साँप मरे, न लाठी टूटे; चिरई के जान जाये, खवैया को सवादै नहीं; बड़ बतियाये, चमार लतियाए; जैसे कंता घर रहें वैसे रहें विदेस; मियाँ को न पाऊँ तो बीबी को बकोटूँ; नेकी कर दरिया में डाल; कुत्ते भौंकते रहते हैं, हाथी चला जाता है; करिया अच्छर भैंस बराबर; गंजेड़ी यार किसके, दम लगाये खिसके; सावन सूखा न भादों हरा; मेहर न लड़िका, चला दुवरिका; अपना ढेंढ़र न देखना, दूसरे का फूली देखना; दाल-भात में मूसरचंद; तीन तिलंगे, पूरे नंगे; काहू-काहू में मगन, काहू-काहू मगन; रामजी की माया, कहीं धूप कहीं छाया।

इनके अलावा कुछ ऐसी कहावतें भी हैं जो किसी कवि की उक्तियाँ हैं, पर लोक में रस-बस गयी हैं। इनमें संस्कृत की 'प्रथम चुम्बने ओष्ठ भंगः' का 'पहले चुम्मा गाल कटौवल' के अलावा रामचरितमानस की कई पंक्तियाँ आयी हैं—इहाँ न लागिहि राउर माया, कोउ नृप होई हमें का हानी, समय चूक पुनि का पछिताने आदि। अंग्रेजी की दो उक्तियाँ भी आयी हैं जिनका अनुवाद काफी प्रचलित हो चुका है—'शैतान का नाम लो और शैतान हाजिर'—थिंक ऑफ डेविल एण्ड डेविल इज हीयर; खाली पेट शैतान का घर—ऐन एम्प्टी माइंड इज डेविल्स वर्कशाप (माइंड का पेट कर दिया गया है)।

शब्द और उनके प्रयोगों की अशुद्धता

अपने कथा साहित्य में प्रयुक्त शब्दों को लेकर लेखक ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा है कि वह इसमें प्रयुक्त शब्दों को लेकर बहुत सजग रहा है। इसमें प्रयुक्त सभी

शब्द 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित लघुतम शब्दकोश में भी उपलब्ध हैं, और जो नहीं हैं, उन्हें निकाल दिया है।[295] सचमुच कोई भी शब्द अनुपलब्ध नहीं है, सिवाय 'बीजें' के। मैंने साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'वृहत् कोश' (पाँच भागों में) देखा, 'ठहर', 'डांठ' जैसे शब्दों को लेकर शंका होती थी; पर सब मिले। लेकिन कुछ शब्द गलत जरूर आ गये हैं—लिखाई और प्रयोग दोनों को लेकर। इसमें वचन, लिंग, वर्तनी आदि को लेकर तो बहुत कम शब्द गलत हुए हैं, पर पात्रों द्वारा प्रयोग कराने में लेखक बहुत गड़बड़ा गया है, उसमें कोई नियम या संगति ही नहीं लगती। तो पहले वही देखें—

(1) पात्रानुसार शब्द प्रयोग की गड़बड़ी

यहाँ मुख्यतः वर्तनी को लेकर ही बात की जायेगी, जिनमें गलती नहीं, गड़बड़ी है। इस तरह के शब्द अनगिनत हैं, पर यहाँ इस प्रवृत्ति का संकेत मात्र किया जा रहा है। उदाहरण के लिए बिना पढ़े-लिखे, बिल्कुल गंवार पात्र धनेसरी 'साक्षात्' झिनकू 'फव्वारा' और देवी चौधरी 'प्रजा' बोल लेते हैं, तो एम० ए० पास विपिन 'धरम' 'करम', 'नेम' क्यों बोलता है ? देवी चौधरी 'प्रजा' तो बोल लेते हैं, पर वेश को 'भेस' बोलते हैं। धनेसरी भी 'साक्षात्' बोल लेती है तो फिर 'छछात्' बोलने वाला दूसरा और कौन आदमी है करैता में जो उससे भी ज्यादा गँवार है ? धनेसरी-दुक्खन तो 'दुश्वार' बोल लेते हैं, पर थोड़ा पढ़ा-लिखा सिरिया 'दुस्वार' बोलता है। बात-बात में इतने मुश्किल शेर कहने वाले खलील भी 'तवज्जा' क्यों बोलते हैं ? झब्बू उपाध्याय जो 'हलपर्वरी' जानते और समझाते हैं, पंडित हैं, प्रयोग को 'परयोग' बोलते हैं। पात्र ही नहीं, ये भूलें लेखकीय वक्तव्यों में भी हुई हैं—वह 'भाखन' और 'भाषन' दोनों लिखता है। इसी तरह लेखक 'वैशाख' तो शुद्ध लिखता है पर आषाढ़ को 'आसाढ़' कर देता है। अंग्रेजी शब्दों में भी ऐसी गड़बड़ी हुई है। हरिमंगल 'ड्राप' तो एकदम सही बोलते हैं पर 'रिपोर्ट' को 'रपट' कहते हैं। जग्गन मिसिर 'लेक्चर' को 'लीक्चर' बोलते हैं, पर 'डिस्पेंसरी' शुद्ध बोल लेते हैं। इस प्रकार इस मुद्दे को लेकर लेखक के दिमाग में कोई व्यवस्था ही नहीं रही है।

(2) वर्तनी की अशुद्धियाँ

उक्त शब्दों के अलावा सीधी-सादी भूलें भी हुई हैं, जिनमें नौ की गिनती के लिए प्रयुक्त 'नव'[296] शब्द को सबसे प्रमुख रूप में लिया जा सकता है। यह तो अलग से एक शब्द है इसलिए ऐसा तो बिल्कुल नहीं होना चाहिए। दूसरा शब्द है 'अंतर्राष्ट्रीय' जो सभी देशों के लिए प्रयुक्त किया गया है।[297] इसे 'अंतरराष्ट्रीय' होना चाहिए। उर्दू के शब्द 'मांजूं' को 'मौजू' लिखा गया है।[298] 'रू-बरू' को

295. सारिका, 1 फरवरी 1980, पृष्ठ 14.
296. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 155.
297. गली आगे मुड़ती है—पृष्ठ 361.
298. अलग-अलग वैतरणी—पृष्ठ 100.

सीधे 'रूबरू' लिख दिया गया है।[299] फसल के पौधे 'डांठ' कहे जाते हैं, 'डांट' प्रयुक्त हुआ है[300] और 'एकजुट' को 'एकजूट' [301] लिखा गया है। ये यदि छपाई की ग़लतियाँ नहीं हैं तो बहुत बड़ी गलती कही जायेंगी। 'प्रकट' को लेखकीय वक्तव्य में 'प्रगट' किया गया है[302] जो स्थानीय प्रयोग के लिए मान्य किया गया है और लेखक का दावा है कि वह आंचलिक नहीं है। इसके अलावा लेखक द्वारा प्रयुक्त 'प्वाल' [303] शब्द तो नहीं, 'पुआल', 'पयाल' और 'प्याल' शब्द हैं।

दो शब्द और विचारणीय हैं। 'खेलने' से लेखक ने 'खिलाती' बनाया है [304] जो 'खाने' के परिवार का है—खाना खिलाना। इसका दूसरा अर्थ संस्कृत में किसी को 'प्रफुल्लित करने' खिलने में प्रवृत्त करना होता है। खेलने से 'खेलाया' तो बनता ही है—'एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा' तुलसी कब से कह गये हैं। लेखक द्वारा प्रयुक्त दूसरा शब्द है— 'परपाहुन'।[305] इस रूप में इसका अर्थ अतिथि या दूसरे का अतिथि हो गया है। इसे पर-पाहुन होना चाहिए।

वर्तनी के अंतर्गत 'र' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार की (भोजपुरी-मगही वाला क्षेत्र) प्रवृत्ति है जो हिन्दी में अशुद्ध मानी जाती थी, पर अब शब्दकोषों में स्वीकृत हो गया है और उपन्यास के मुताबिक तो और भी। इसीलिए 'अलग-अलग वैतरणी' में घबड़ाना, उभाड़, कांवड़ आदि तो चलेंगे ही, पर जग्गन मिसिर का 'सदड़'[306] कहना बिहारी प्रवृत्ति का परिचायक है।

(3) लिंग के अशुद्ध प्रयोग

लेखक लिखता है—आवाज में कंपन थी जबकि यह शब्द पुलिंग है। जग्गन मिसिर के लिए 'ऊधम' मचती है जो पुलिंग होना चाहिए। स्त्रीलिंग 'पुश्त' का प्रयोग तो पुलिंग में हुआ ही है, यहाँ तो 'रोशनी भी थोड़ा और चमकदार' हो गयी है। इसी तरह पुलिंग शब्द 'चेत', 'बाजू', 'साबुन' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं। 'गली आगे मुड़ती है' में 'कमीज' को स्त्रीलिंग के बदले 'पुलिंग' में लिखा गया। 'हुनर' को स्त्रीलिंग 'तुम्हारी हुनर' भी गलत प्रयोग है। 'कर्मनाशा की हार' में तो लेखक को 'डर' लगती थी पर 'इन्हें भी इंतजार है' में 'डर' लगने लगता है।

(4) वचन के अशुद्ध प्रयोग

वचन को लेकर उर्दू के निर्विवाद शब्द 'हालात' की गलती प्रमुख है। 'हाल'

299. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 316.
300. वही, पृष्ठ 657.
301. वही, पृष्ठ 197.
302. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 205.
303. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 95, 324.
304. वही, पृष्ठ 231.
305. वही, पृष्ठ 230.
306. वही, पृष्ठ 533.

का बहुवचन 'हालात' होता है जबकि लेखक 'हालतों' लिखता है। अंग्रेजी शब्द 'नोट' (रुपये) को लेकर विवाद यह हो सकता है कि उसे पुलिंग कहें या स्त्रीलिंग, पर जब जैपाल दस-दस के नोट थमा रहे हों तो 'दुक्खन ने थाम लिया' बिल्कुल नहीं चलेगा, 'नोट थाम लिये' ही होना चाहिये। 'वचन' की और उल्लेख्य गलतियाँ नजर नहीं आयीं।

'गली आगे मुड़ती है' में प्रयुक्त गुजराती

वैसे तो प्रस्तुत उपन्यास में कई भाषाओं-बोलियों का समावेश है; पर उसमें—

—बंगला के गद्य-वाक्य नहीं के बराबर हैं।

—उत्तर भारत की तमाम बोलियों के वाक्यों में एकरूपता नहीं है—क्रिया और सर्वनामों के प्रयोग एक ही पात्र द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में हुए हैं; पर बहुभाषी शहर में ऐसा हो जाना इतना असहज नहीं कि एतराज किया जा सके।

—रही गुजराती जो विचारणीय है क्योंकि इसके वाक्य कुछ प्रसंगों में आये हैं, जिनके प्रयोग की भूलें तुरत ख्याल में आ जाती हैं, क्योंकि बम्बई में सुनते-सुनते इतनी समझ में आने लगी है—

(1) 'किन्ची बेन, म्हारी समझ मां कशूं नत्थी आववूं'[307] में 'आववूं' नहीं, 'आवतूं' होना चाहिए।

(2) 'नत्थी' शब्द भी बोलने में जोर डालने के लिए इस प्रकार भले उच्चरित हो, पर लिखने में 'नत्थी' लिखने की प्रवृत्ति नहीं है, 'नथी' ही लिखा जाता है।

(3) 'तू ह्वै नान्ही नत्थी'[308] में प्रयुक्त शब्द 'ह्वै' नहीं, 'ह्वे' होता है।

(4) 'एनी बेन ए अंतर्जातीय विवाह कीधो छे'[309] में अंतर्जातीय की बात तो हम ऊपर कर चुके हैं, संस्कृत से आया शब्द है, इसका विग्रहार्थ वैसा ही होगा, पर गुजराती के अनुसार 'कीधो छे' बिल्कुल नहीं होता, होना चाहिए—'कर्यो छे' इसके अलावा 'बेन ए' नहीं, या तो 'बेने' होगा या फिर 'बहेने'।

(5) जिस पारिवारिक माहौल को सहज बनाने के लिए गुजराती वाक्यों का प्रयोग हुआ है, उसके अनुसार माँ द्वारा बुलाये जाने पर किरण 'आयी अम्मी' क्यों कहती है, 'आऊँ बा' क्यों नहीं ? वरना बनारस में रहते हुए सब कुछ हिन्दी में बोलने का निर्णय भी लिया जा सकता था।

इसके अलावा 'जसियस' द्वारा प्रयुक्त बम्बइया भाषा की भी एक झलक है[310] और खटक इसमें भी है। सबसे पहले तो हिन्दी की भ, ख, घ आदि महाप्राण ध्वनियाँ इन्हें भारी पड़ती हैं, पर जसियस 'कभी' और 'भूलना' बोलता है जिसके लिए 'कबी' और 'बूलेगा' ज्यादा संभव है। 'मुझको' के बदले 'मुजको' तो लेखक ने किया है, पर

307. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 458.
308. वही, पृष्ठ 470.
309. वही, पृष्ठ 470.
310. वही

यहाँ मूल बात यह है कि 'मेरे को' या 'अपन को' चलता है। 'मेरी मंगेतर' में 'मंगेतर' के अनुसार 'मेरी' का प्रयोग तो जसियसों की समझ से बिल्कुल परे होता है, वे तो अपने के अनुसार 'मेरा' ही बोलते हैं—यहाँ तक कि 'लड़कियाँ' भी 'मेरा माँ' कहती हुई सुनी जाती हैं। सबसे उल्लेख्य असहजता जसियस की भाषा में अंग्रेजी शब्दों का अभाव है।

(य) वाक्य-गठन

शिवप्रसाद जी के वाक्य-गठन में विविधता है। लगभग हर तरह के प्रचलित और विशिष्ट वाक्यों के प्रयोग हुए हैं। ये लम्बे भी हैं और छोटे भी; साधारण भी और संयुक्त तथा मिश्र भी। इसी तरह अंग्रेजी और उर्दू शब्दों से युक्त वाक्यों के साथ-साथ संस्कृतनिष्ठ वाक्य भी हैं। स्थानीय बोलियों की बहुलता तो पूरी भाषा में है ही। इसमें अधिकता है, स्थानीय भाषा से पूर्ण छोटे-छोटे वाक्यों की।

छोटे वाक्यों में 'हाँ'[311] और 'हुँह'[312] जैसे स्वीकार-इनकार-सूचक प्रयोगों के अलावा 'शाबाश'[313] 'बेमतलब'[314] जैसे क्रिया-विहीन एक शब्दीय वाक्य भी हैं और सिर्फ एक क्रियापद से बने वाक्य भी—कमाओ।[315] खाओ।[316] इसी तरह दो शब्दों के भी क्रिया-रहित और क्रियासहित वाक्यों के प्रयोग भी हुए हैं—क्रिया-रहित—'ससुर दरिद्र'।[317] 'बेचारा लड़का'।[318] 'बाकी होशियार'[319] क्रिया-सहित—'गऊ हैं'।[320] 'सीता है'।[321] 'कल्लू चुप'।[322] 'खाद फेंकते'।[323] आक्रोश में बोलते हुए जगेसर की भाषा में छोटे वाक्यों की भरमार है—'सब जलते हैं।....ई बाबू साहब हैं। ई पंडितजी हैं। ई मुखिया जी हैं। हुँह।....अपना राज है। हम किसी से कम हैं क्या ?'[324] जैपाल के मरने की-सी नाजुक स्थिति पर छोटे वाक्यों का एक और उदाहरण देखिए—

---

311. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 159.
312. वही, पृष्ठ 157.
313. वही, पृष्ठ 189.
314. वही, पृष्ठ 201.
315. वही, पृष्ठ 254.
316. वही, पृष्ठ 254.
317. वही, पृष्ठ 147.
318. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 6.
319. वही, पृष्ठ 162
320. अलग अलग वैतरणी, पृष्ठ 157.
321. वही, पृष्ठ 157.
322. वही, पृष्ठ 156.
323. वही, पृष्ठ 192.
324. वही, पृष्ठ 337.

'सारा बदन कांपकर थिर हो गया। पंछी उड़ गया। कनिया घबराकर चीख उठीं। वे दौड़कर चारपाई के पास पहुँचीं। बाँहों को हिलाया। पर आँखें नहीं खुलीं। जैपालसिंह के चेहरे पर संतोष का भाव था।'[325]

बड़े-बड़े मिश्र और संयुक्त वाक्य भी हैं; पर अपेक्षाकृत कम। 'अलग-अलग वैतरणी' में जग्गन की बचकानी गतिविधियों को बताते हुए लगभग तेरह-चौदह पंक्तियों का एक ही वाक्य आया है[326] जो शायद डॉ० सिंह के कथा साहित्य में प्रयुक्त सबसे बड़ा वाक्य होगा। वैसे एक ही सहायक उपवाक्य से बने ऐसे वाक्य भी हैं जो पढ़ते समय बिना ध्यान दिये भी जहिरा जाते हैं कि ये मिश्र वाक्य हैं— 'विदेशी सभ्यता की देन, जिसे पहनकर हर आदमी, चाहे वह किसी भी पेशे का हो, छात्र बन जाता है।'[327] ऐसा ही एक संयुक्त वाक्य देखिए—'जग्गन ने मर्दाने बइठके के सामने हाते में एक तरफ केले के पेड़ लगाये और पुराने कुएँ को जिसका मुँह घास-फूस से ढँककर खालिस गड्ढे की तरह लगता था, साफ कराया।'[328]

यह सब मात्र व्याकरणिक आधार पर नहीं है, वरन् वर्ण्य के मुताबिक ढला है। ऐसे वाक्य भी हैं जो संयुक्त-मिश्र की शैली में हैं, पर उनकी व्याकरणिक शर्तों को पूरी नहीं करते; फिर भी वे संप्रेषण की अद्भुत क्षमता लिए एकदम सहज और शुद्ध वाक्य हैं। एक उदाहरण लें—कनिया विपिन का बिस्तर बिछा रही हैं, वह मना कर रहा है और वे बिछाते-बिछाते ही कहती जाती हैं—'ठीक है, हो गया, आओ, सो जाओ।'[329]

—सरल संस्कृतनिष्ठ वाक्यों का एक नमूना देखिए—

'नदी का किनारा है। स्थान रम्य है। पुष्पपाद युक्त है। मृगों का झुण्ड निर्भय घूमता है। भूमि हरित तृणों से भरी-भरी है। जलाशय निर्मल हैं। वृक्ष फल-पफूल से भरे हैं। क्षेत्र आम्रवन युक्त है, वेणुवन युक्त है। कोकिल बोलते हैं, हंस विचरते हैं। सब कुछ का सुपास है।[330] रामानंद संस्कृत का विद्वान् है जिससे संस्कृतनिष्ठ वाक्यों की बड़ी प्रासंगिक संगति बैठती है। इसके अलावा सुबोध भट्टाचार्य हैं, पंडित घूरेलाल (सुबह के बादल) हैं और झब्बू उपाध्याय भी। शुरुआत की कहानियों में लेखक की भाषा में इसका काफी असर देखा जा सकता है।

—उर्दूमय वाक्यों की भरमार तो नहीं है पर लेखक की भाषा में इसका अभाव भी नहीं है। खलीलखाँ (अलग-अलग वैतरणी) 'आखरी बात' कहानी के कुन्नन मियाँ तथा 'किसकी पाँखें' के अशरफ चाचा आदि पात्रों के माध्यम से इसके पर्याप्त अवसर

325. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 92.
326. वही, पृष्ठ 288.
327, गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 186.
328. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 291.
329. वही, पृष्ठ 400.
330. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 375.

भी प्राप्त हुए हैं। बड़े वाक्य के रूप में एक उदाहरण लें—'जमींदारी टूटी तो बड़े मियाँ को गम न हुआ कि जमीन चली गयी या कि नेंची टोपी और चश्मे की सदा-बहारी रौनक में कोई फर्क आ गया। उन्हें गम असल में इस बात का हुआ कि लोग-बाग अब खामखाह उनकी उस तबीयत को फितूर समझने लगेंगे, संदेह की नजर से देखेंगे और बहुत जले भुने तो वे मूजी लोग भी, जो चंद दिनों पहले उनके फेंके हुए टुकड़ों पर कुत्तों की तरह टूटते थे, उनके मिजाज को मुरादाबादी मुलम्मा कहने के अहमकपने से बाज न आयेंगे।'[331] खलील मियाँ की पूरी भाषा ही उर्दूमिश्रित शब्दों वाले वाक्यों से भरी है जिसका पूरा निर्वाह भी हुआ है। एक वाक्य देख ही लें—'मुझे नये जमाने से कोई गिला नहीं। सच तो यह है कि मैं इस बदलते मंजर का अरसे से मुंतजिर था, मगर यह नया दौर खलील को पस्तहिम्मत करने आ रहा है, इससे मैं जरूर नावाकिफ़ था।[332] जग्गन के आत्मचिंतन का निष्कर्ष व्यक्त करने के लिए लेखक को उर्दू शब्दों—खुदफ़रामोशी नहीं खुदइन्कारी[333]—से अच्छा शब्द नहीं मिला, शायद है भी नहीं।

—अंग्रेजी के तो बहुधा फुटकल शब्द ही आये हैं। ग्रामीण क्षेत्र में इससे अधिक की सँभावना भी नहीं थी। लेकिन 'गली आगे मुड़ती है' में कहीं-कहीं एकाध वाक्यों में ज्यादा प्रयोग हुए हैं, संदर्भानुसार—'अपनी फैकल्टी के कॉमनरूम में मैगजीन में एक तस्वीर देखी थी'[334]—तस्वीर को भी फोटो कह देते तो जरा और अंग्रेजी-मयता आ जाती। इसी तरह 'पॉकेट से पैकेट निकाला' और 'बेल बॉटम पर कमेंट'। इस तरह के दो-दो शब्दों वाले तो तमाम वाक्य मिलेंगे।

—स्थानीय भाषा वाले वाक्यों का तो पूछना ही क्या, डॉ० सिंह का संपूर्ण कथा-साहित्य ही इसी जीवन पर आधारित है। रचना तो क्या, हर पृष्ठ पर इसके अनेकानेक रूप देखे जा सकते हैं। कुछेक रोचक और वैविध्यपूर्ण उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'हीडमास्टर था ऊ। दरवाजे का कपड़ा खसकाय के पट से आ गया हमारे सामने। बोला—क्यों, कल्पनाथ आपका लड़का है? मैं तो भइया सकताय गया। एक मिनिट के वास्ते बोलती बंद। फिर कैसेहु-कैसेहु करके, हिम्मत बटोर के कहा—हाँ हुजूर। जाने ससुरा फिर क्या सिटपिट-गिटपिट करता रहा। हम तो भइया ओकरे मुँह पर ताकते रहे। एक अच्छर नहीं पल्ले पड़ा। 'बोलते क्यों नहीं?' मुझको ऐसे टुकुर-टुकुर ताकते देख ऐसा डपटा उसने कि मेरी तो सिट्टी-पिट्टी गुम। मैं तो लगा हकलाने। मुझे भी एकदम से किरोध आ गया। ई सरवा हमको कहीं छोटी जात समझकर रोब तो नहीं ले रहा है।'[335]

331. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 105.
332. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 528.
333. वही, पृष्ठ 317.
334. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 11.
335. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 196-97.

'तुम सगरो जमाने का बचावे को ठीका लीन्ह ही का। मरै दो ससुरे हरामिन के। दुहाई हो रामजी, अइसा करो कि अरराय के बैठि जाय अहि का छत, अउर ससुरे दबि मरै उहि माँ।'[336]

'हरे हौं तेरी माँय काहे कौ बनूँ, तू भूकौ है। मेरे हियाँ चल, जौ लौं मन आवै, हुवाँ ही पड़ो रह।'[337]

'अइसे सास्तर पर थू-थू। सगरा सास्तर तिरिया के सतावे बदे बना है। मरद के हजार खून माफ। ओके छुट्टी कि ऊ चाहे त अपने मेहरारू के कुत्ता की नाई झक-झोरत रहे, आ औरत बदे सास्तर बोल देलेस कि ड्योढ़ी लाँघब पाप है।....'[338]

'हे राम, सुहागिन मेहरारू के बहू न कहबै त हमार जीभ नाहीं गिर जाई का? हम बिटिया भी कहबै, बहू भी कहबै, हमरे मन के जवन नीक लागी उहै बोलबै।'[339]

'हमार गोड़ टूटि गवा रहा, कोई चिरई के पूत झांकै भी नहीं आवा। इहै तिवारी बाबू बड़का अस्पताल में ले गयेन और दवा करायेन।'[340]

वाक्य-गठन में व्याकरणिक नियमों के आधार पर शब्दों का क्रम बिल्कुल नहीं है, भावानुसार उन्हें रखा गया है। किसी खास बात पर जोर देने के लिए उसके वाहक शब्द का प्रयोग अक्सर वाक्य के अंत में करने की एक उल्लेख्य प्रवृत्ति देखी जा सकती है—

'बड़ा आदर मिलता है उसे।'[341] मैंने इन्हें रोटियाँ दी हैं, रोटियाँ—[342] में दुबारा प्रयोग करके अधिक प्रभाव पैदा करने की कोशिश की गयी है।

विशिष्ट वाक्य

शिवप्रसाद सिंह की वाक्य-रचना की सबसे बड़ी विशेषता है—भावानुसार व प्रसंगानुसार अर्थव्यंजकों वाक्यों का सृजन। इस संदर्भ के कुछ विशिष्ट वाक्य उदाहरणीय हैं—

(1) 'कर्मनाशा की हार' में लेखक को कहना पड़ा था, अभिधा में कि 'जैसे सारी गतिहीनता मूर्त्तिमान हो गयी है'[343] पर 'भेड़िये' तक आते-आते गतिशील मूर्त्तिमत्ता वाक्यों से प्रकट होने लगी है—'लल्लन के शरीर से एक अजब आदमी

336. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 85.
337. वही, पृष्ठ 326.
338. वही, पृष्ठ 194.
339. वही, पृष्ठ 399.
340. वही, पृष्ठ 93.
341. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 15.
342. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 268.
343. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 89.

निकल आया था।'[344] नयी बहू के बदन से एक अजब औरत निकल आयी थी।[345]

(2) शर्म से गड़ जाने के लिए—परछाई का जैसे सर ही नहीं था।[346]

(3) क्रिया की गतिशीलता—'सचेत भाव से गर्म खून पर रखे अनजाने गर्म खून ने एक दूसरे से चिरादिम स्वभाव में बात करना आरम्भ कर दिया था।[347]

(4) भाव और क्रिया की मूर्त्तिमत्ता—'मैंने किरण को आँखों में भर लिया, किरण मेरे होठों पर उतर आयी।'[348]

(5) 'अपचेतना अपराध की मुरदा गंध से भरी-भरी कमरे में फैल गयी।'[349]

(6) 'जैसे पूरा माहौल किसी अनजाने काण्ड को जन्म देने के लिए प्रसव-पीड़ा से छटपटा रहा था।'[350]

(7) भाव और मुद्रा की एकात्मक अभिव्यक्ति—'धड़कते दिल को बँधी बाहों में समेटे....'[351] इसी तरह 'उनके चेहरे पर दयनीय विरक्ति और विकृत तटस्थता की मुरदनी छा गयी।'[352]

वाक्यगत अशुद्धियाँ

कुछ इने-गिने वाक्य ही हैं ऐसे जिनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ आयी हैं, पर वे ऐसी नहीं हैं कि नज़रअंदाज की जा सकें।

—'ने' के प्रयोग को लेकर दो भूलें—

(1) 'वह एक चौकी से दूसरे चौकी के हमले को जीता है।'[353] यहाँ वाक्यों की शृंखला में सभी वाक्य सामान्य वर्तमान काल में हैं जिसके अनुसार 'जीतना' क्रिया के आधार पर 'जीतता है' होता तो कर्ता 'वह' ठीक था; लेकिन 'जीता है' लिखकर इसे आसन्न भूत की तरफ मोड़ दिया है तब तो फिर कर्त्ता को 'उसने' ही होना चाहिए, वरना यहाँ 'जाता' का अर्थ जीने से भी लगने लगेगा—जैसे वह हमले को जी रहा हो।

(2) 'इसी तरह ये घुटने तक की गंदी धोती पहने थे'[354] में कर्त्ता 'ये' के बदले

344. भेड़िये पृष्ठ 93.
345. वही, पृष्ठ 94.
346. अलग-अलग वैतरणी, 451.
347. वही, पृष्ठ 467.
348. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 253.
349. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 451.
350. वही, पृष्ठ 606.
351. वही, पृष्ठ 164.
352. वही, पृष्ठ 76.
353. भेड़िये, पृष्ठ 57.
354. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 176.

'इन्होंने' और क्रिया 'पहने थे' जो कर्त्ता के अनुसार प्रयुक्त है, 'पहनी थी' होनी चाहिए—कर्म 'धोती' के अनुसार।

—'माँ को लगा कि वाकई नया चिवड़ा और भेली देना गलती था।'[355] इस वाक्य में 'था' का प्रयोग 'चिवड़ा-भेली देना' के अनुसार हुआ है जबकि चाहिए 'गलती' केअनुसार—'थी'। 'था' ही रखना हो तो फिर 'गलत था' कहकर व्याकरण की गलती सुधर सकती थी, लेकिन यहाँ लेखक को काम के गलत-सही होने का नहीं वरन् करने वाली माँ की गलती पर जोर डालना था; अतः इस उद्देश्यार्थ के मुताबिक यह उपयुक्त न होता।

—'मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता' के बदले 'मेरे तो कुछ समझ में नहीं आता'[356] भी ऐसा ही गलत प्रयोग हुआ है।

दो-एक स्थलों पर मिश्र वाक्यों में प्रयुक्त संबंधसूचक शब्दों का भी उपयुक्त प्रयोग नहीं हुआ है—

(1) '... उसकी जगह जो शर्मा आप देख रहे हैं'[357] ....में जो के बदले 'जिस शर्मा को' होना चाहिए।

(2) 'शरीर में आधी बाँह की बंड़ी थी जिसका बांही और गरदन का हिस्सा काला हो गया था'[358]—वाक्य में 'जिसका' का प्रयोग 'हिस्सा' के अनुसार हुआ है पर यहाँ होना चाहिए 'जिसकी'—'बंडी' के मुताबिक।

असङ्ढल वाक्य

वाक्य में उपयुक्त स्थल पर उपयुक्त पद (शब्द या वाक्यांश) न रखकर आगे-पीछे रख देने से वाक्य-रचना तो असङ्ढल होती ही है, अर्थबोध में भी कठिनाईं होती है। शिवप्रसाद जी के यहाँ कुछ ऐसे व्यतिक्रम भी आये हैं—

—'केवड़े का फूल' की अनिता अपने पति के बारे में सरोज को बताती है—'वह पुरुष नहीं है सरोज, जो अपनी पत्नी के सम्मान की रक्षा भी नहीं कर सकता।'[359] इसमें पूरा का पूरा विशेषण उपवाक्य पहले आना चाहिए ताकि सीधे वह की विशेषता बताते हुए आसानी से अर्थबोध करा सके। परंतु यही उलटे लिख देने से तमाम भटकनें पैदा होती हैं और सोचना पड़ता है। पढ़ते ही सबसे पहले ध्यान में आ जाता है कि कहीं उसमें पुरुषत्व ही तो नहीं है क्या ?

—'अंधकूप' का सोम सोचता है, 'मेरी बाहर के दूसरे लोगों से जान-पहचान भी कहाँ है।'[360] यहाँ यदि 'बाहर के दूसरे लोगों से' वाक्यांश पहले आता और तब 'मेरी जान-पहचान भी कहाँ है' तो अर्थग्रहण में सुविधा होती।

355. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 323.
356. वही, पृष्ठ 143.
357. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 230.
358. अलग अलग वैतरणी, पृष्ठ 176.
359. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 54.
360. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 243.

—'मैंने वही कहा, भले ही उन्हीं शब्दों में न कहा हो, जो तुमसे आरती ने कहा।'[361] अब इस वाक्य में क्या ऐसा नहीं लगता कि 'जो आरती ने कहा' के बदले जिन शब्दों में आरती ने कहा होना चाहिए। ऐसा सिर्फ इसलिए कि 'चाहे भले उन्हीं शब्दों में न कहा हो' उपवाक्य बीच में आ गया है। यदि यही वाक्य ऐसे होता—'मैंने वही कहा, जो आरती ने कहा, चाहे उन्हीं शब्दों में न कहा हो' तो ऐसा कुछ न लगता, क्योंकि असल में 'जो आरती ने कहा' उपवाक्य का सीधा संबंध पूरक के रूप में 'मैंने वही कहा' के साथ है और 'चाहे भले उन्हीं शब्दों में न कहा हो' दोनों के लिए एक जैसा है। शायद इसीलिए लेखक ने बीच में रखा पर बीच में आकर वह रूप और अर्थ दोनों में बाधा पहुँचाने लगा है।

—'और' की जगह 'पर' तथा 'पर' की जगह 'और' रख देने से भी कई जगह अपेक्षित प्रवाह और अर्थबोध में रुकावट आयी है। जैसे—'इन तमाम बातों को पहले तो युवकों की मंडली खालिस प्रलाप ही मानती रही और जब एकाएक एक दिन वे मेरे पास आकर बोले कि आज शाम को स्कूल पर एक सभा होगी....'[362] में शुरू से जो आरोह की तान खींची गयी है, उसके मुताबिक स्पष्टतः रेखांकित 'और' की जगह 'पर' ही चाहिए।

—'माटी की औलाद' कहानी में आये वाक्य—'पर बाजार के बनिए उधारी पर सौदा लेते और महीनों बाद दाम चुकाते और खुद बाजार में ही आठ-नौ घर कुम्हार हैं, इसलिए टीमल लाचार था'[363]—'और' की दुबारा आवृत्ति वाक्य में बड़ी फूहड़ लगती है। असल में दूसरे 'और' के बदले 'चूँकि' से नया वाक्य शुरू करने की पूरी गुंजाइश है वहाँ और तब इसलिए को अपेक्षित आरोह भी मिलता।

—'अलग-अलग वैतरणी' के 'मुँह हाथ धोकर जग्गन जाना ही जाना चाहते थे'[364] वाक्य द्वारा जो जल्दबाजी दिखानी थी लेखक को, उसके लिए जाना की आवृत्ति नहीं, सिर्फ 'जाना ही चाहते थे' होना चाहिए। 'जाना ही जाना चाहते थे' से तो दृढ़ निश्चयात्मकता समझ में आने लगती है।

विराम चिह्नों का प्रयोग

शिवप्रसाद सिंह ने स्वीकार किया है कि 'पंक्चुएशन' के बारे में वे कभी जागरूक नहीं रहे,[365] पर मुझे ऐसा नहीं लगता। 'शिल्प' को वस्तु से कम महत्व न देने[366] वाले के लिए यह असावधानी मुमकिन नहीं। भाषागत नियम-कानून के हिसाब से जो भूलें हुई हैं, वे लेखन-प्रवृत्ति के कारण हैं।

---

361. गली आगे मुड़ती है, पृष्ठ 449.
362. आर-पार की माला, पृष्ठ 92.
363. कर्मनाशा की हार, पृष्ठ 155.
364. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 296.
365. मुरदासराय—भूमिका, पृष्ठ 18.
366. आर-पार की माला—भूमिका से।

लेखन में विराम चिह्नों के प्रयोग कभी-कभी व्याकरणिक नियमों के प्रतिकूल होते हुए भी भाव और स्थितियों के मुताबिक संगत होते हैं। उदाहरण के लिए 'और' के पहले अल्पविराम (,) का प्रयोग नहीं होता; पर इस वाक्य—दोपहर में खाना खाकर मिसरीलाल दालान में सो जाता, और रामसुभग बाजार गया होता या कहीं घूमने—[367] में 'और' के पहले थोड़ा-सा रुकने की जरूरत थी, जो प्रयुक्त 'कामा' द्वारा पूरी हुई है। इसी तरह एक और वाक्य द्रष्टव्य है—'बाप सख्ती से काम कराता, और आनाकानी की तो बूढ़े बाप के साथ....'[368]।

खटकने वाली बातों में अल्पविराम, अर्धविराम और 'डैश' के बदले पूर्णविराम लगाने की प्रवृत्ति प्रमुख है। इससे वाक्य तो छोटे हो जाते हैं, पर पूर्णविरामों की आवश्यकता जाहिर हो जाती है। उदाहरण के लिए इन वाक्यों में पूर्णविराम के बदले अल्पविराम ज्यादा उपयुक्त होता—'खाद फेंकते। कोड़ते-गोड़ते।'[369] 'सुबह उठे। हाथ-मुँह धोया।'[370] 'पूरे वैष्णव थे। खूब सहनशील।'[371] 'बिल्कुल चुप। बिल्कुल मौन।'[372]

इसी तरह निम्नलिखित वाक्यों में 'डैश' की जरूरत थी, अल्पविराम भी चलता; पर पूर्णविराम तो बहुत खलता है—'देवल की माँ हँसी थीं। बहुत हल्के।'[373] 'साथ में एक लड़का भी है। बिरिछ।'[374] 'काफी छुटपन से यहाँ आता रहा है। फुफुआन करने।'[375] 'उनकी चिट्ठी में लिपटा हुआ एक और कागज था। रूलदार।'[376]

उक्त सभी वाक्यों में पूर्णविराम जितना रुकना भी नागवार ही लगेगा।

कहीं-कहीं 'अल्पविराम' या 'और' के बदले भी पूर्ण विराम आये हैं—'यही उनके काम थे। यही जीविका।'[377] 'दिन में चूल्हा-चक्की। रात में लाज-सरम।'[378]

कहीं-कहीं ठीक इससे उल्टा भी हुआ है याने पूर्णविराम के अपेक्षित प्रयोग

---

367. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 18.
368. वही, पृष्ठ 15.
369. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 192.
370. वही, पृष्ठ 462.
371. वही, पृष्ठ 283.
372. वही, पृष्ठ 283.
373. वही, पृष्ठ 576.
374. वही, पृष्ठ 276.
375. वही, पृष्ठ 276.
376. वही, पृष्ठ 639.
377. वही, पृष्ठ 283.
378. वही, पृष्ठ 336.

की जगह अल्पविरामों की भरमार हो गयी है और वाक्य भी अनावश्यक रूप से बड़े हो गये हैं—

'सिगनल हो चुका था, भीड़ छंट गयी थी, वह औरत चुपचाप घुटने पर ढुट्ठी संभाले गाड़ी के काले-काले पहियों को देख रही है। मैं उसे उसी समय पहचान गया था, जब उसने गरदन उठाकर पहली बार भीड़ को देखा था, पर मैं दुबककर एक आदमी के पीछे हो गया था, क्योंकि मैं डरता था, कहीं ऐसे मौके पर कबरी मुझसे कुछ कहने-सुनने न लग जाये।'[379]

उक्त उदाहरण में पहले रेखांकित 'कामा' की जगह 'और' के प्रयोग से ज्यादा जोर आ जाता है। दूसरे रेखांकित अल्पविराम की जगह अर्धविराम या पूर्णविराम होना चाहिए और तीसरे रेखांकित के लिए 'कि' रखकर इस 'कामा' के जंगल को साफ किया जा सकता था। ऐसे एक वाक्य का उदाहरण लेखक ने खुद दिया है— 'सुबह के बदल' कहानी से।'[380] इतने अधिक विराम चिह्नों से भरे वाक्य, पं० किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों में, 'ऐसे लगते हैं, जैसे चेचक के दाग भरे हों।'[381]

कहीं-कहीं वाक्य की बनावट इतनी जटिल है कि इन चिह्नों को लेकर समस्या पैदा हो जाती है—'वह हँसती हुई सामने खड़ी हो जाती —' माई बुला रही है,— वह इस आवाज को सुनकर बिना किसी सवाल के उत्तर देती,....।[382] इसमें 'डैश' के बाद एक अवतरण चिह्न है जो कहाँ पूरा होता है, मालूम नहीं और फिर दूसरी 'डैश' के पहले 'कामा' भी है। लेखक के अनुसार, 'बात की भीड़ उसके मन में अकुला रही होगी जिसके अनुसार ये सब निकले होंगे पर नियमतः अशुद्ध तो हैं ही।'

एक अवतरण चिह्न में बंद शब्द ('अलग-अलग वैतरणी' के संदर्भ में)

'अलग-अलग वैतरणी' में बहुत-से शब्दों को एक अवतरण चिह्न (') से बंद करके लिखा गया है। इनमें से कुछ तो ऐसा करने से किसी अव्यक्त भाव या खास अर्थ के व्यंजक व वाहक बन गये हैं, पर अधिकांश पर लगाये ये चिह्न नितांत अबूझ निरर्थक होने से अजीब लगते हैं। विवेकी राय ने इसे 'सिलाई में बखिया लग गई'[383] कहा है। सार्थक शब्दों में—'काम'[384] मरने के बाद होने वाले क्रिया-कर्म को व्यक्त करता है और 'लच्छन'[385] एक विशिष्ट लक्षण को। दुक्खन के लिए कहे गये जैपाल के 'समझे'[386] पर लगा चिह्न इसे बड़ी गहरी अव्यक्त व्यंजक से भर देता

---

379. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 66.
380. मुरदासराय—भूमिका, पृष्ठ 18.
381. हिन्दी शब्दानुशासन—पं० किशोरीदास वाजपेयी, पृष्ठ 378.
382. इन्हें भी इंतजार है, पृष्ठ 67.
383. दिशाओं के परिवेश—सं० ललित शुक्ल
384. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 93.
385. वही, पृष्ठ 204.
386. वही, पृष्ठ 224.

है। 'खड़'[387] एक खास आवाज का संकेत करता है और 'कर'[388] पर लगा चिह्न उसे 'करने' के अर्थ से अलगा कर 'टैक्स' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ बता देता है। जवाहिरलाल द्वारा ली जाती 'सेवा'[389] पर लगा यह अततरण चिह्न सेवा की विशिष्टता बताता है तो 'सगरो गाँव 'दरसन'[390] के लिए खड़ा है हुजूर' में दर्शन की व्यंग्यात्मकता।

किंतु ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। अधिकांश में तो यह समझ में ही नहीं आता कि इन शब्दों पर यह चिह्न क्यों लगाया गया है। यदि यह मानें कि ग्रामीण शब्दों पर लगाये गये हैं, जैसे—'ठहर', 'पोरवट', 'रउरा', 'डुबकी छुओवल', 'बड़वरगी', 'मन-सायन', 'बिअहुता,, 'हउरा', 'जीवजांगर', 'खरमेटाव' आदि तो फिर इस कृति में कम से कम सत्तर प्रतिशत शब्दों पर अवतरण चिह्न लगना चाहिए जो नहीं लगा है। यदि यह मान लें कि अन्य भाषाओं से बने स्थानीय शब्दों के लिए प्रयोग हुआ है—'दोखी', 'सबख', 'सामरथ' –तो फिर अंतरजामी, हुकुम, करमजली और जन्मभूमि पर क्यों नहीं ? इसी तरह यदि अंग्रेजी के प्रचलित 'लाइटर' 'मनीबेग', 'सिलेमा', 'स्वेटर'—या शुद्ध—'डल', 'सेटिल', 'स्लो मार्च', 'परमिट', 'प्वाइंट'—अथवा ग्रामीण--'किलिप', 'मनिअड्डर', 'डरेस', 'डागडरी'—आदि शब्दों पर लगा मान लें तो फिर 'टिक्कस, गारंटी, अटेस्ट, सर्टीफिकेट्स, फैर, कनटलेसन आदि पर तो नहीं लगा है। इस प्रकार इनमें कोई व्यवस्था ही नहीं है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कुछ निवार्य सीमाओं के बावजूद शिव-प्रसाद सिंह की भाषा सुंदर कलात्मकता का उदाहरण बन सकती है।

●

387. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 225.
388. वही, पृष्ठ 267.
389. वही, पृष्ठ 454.
390. वही, पृष्ठ 571.

परिशिष्ट

शिवप्रसाद सिंह के साथ एक साक्षात्कार

इस साक्षात्कार की शुरुआत बड़े ही करुण प्रसंग से हुई। इक्कीस जनवरी, 1985 को दिन के बारह बजे मैं शिवप्रसाद जी के निवासस्थान 'सुधर्मा' पर पहुँचा और इसके लगभग एक महीने पहले ही उन्नीस दिसम्बर, 1984 को उनकी पुत्री मंजु का निधन हो चुका था। सुनते ही कोई बात करने की मनःस्थिति और हिम्मत मेरे अंदर नहीं रह गयी। परंतु शिवप्रसाद जी ने ही बात का सूत्र जोड़ा—'अब तो जो होना था, हो ही चुका। आप चार बजे आ जाइए। अभी तो मैं युनिवर्सिटी जा रहा हूँ।' मैंने उनसे निवेदन किया कि मैं वापस भी जा सकता हूँ, यदि आप बात करने की मनःस्थिति में न हों। इस पर वे सहज रूप से कह उठे—नहीं, नहीं, सारे कार्य तो चल ही रहे हैं। चार बजे आ जाओ।

अब इसके लिए यदि मैं शिवप्रसाद जी के लिए आभार या धन्यवाद के रूप में कुछ कहूँ भी तो किन शब्दों में कहूँ! मैं तो दिल-दिमाग के ऐसे धैर्य और संतुलन की कल्पना भी नहीं कर सकता।

ईश्वर स्व० मंजुश्री की आत्मा को शांत दे।

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के साथ हुई अपनी बातचीत को प्रस्तुत करने के पहले इसके संबंध में कुछ बातें स्पष्ट कर दूँ—

बातचीत के दौरान कहीं-कहीं शिवप्रसाद जी शून्य-सी निगाहों से कुछ सोचते-से होकर चुप हो जाते थे। उस वक्त मैं परिस्थितिगत उनके 'मूड' के कारण जोर डालकर उसी को बार-बार पूछे बिना ही आगे बढ़ गया हूँ जिससे कहीं-कहीं प्रश्नों के कुछ अंश निरुत्तरित रह गये हैं। ऐसी हालत में वे अंश प्रश्न से निकाल देने चाहिए थे, पर निकाले नहीं गये हैं, उन्हें ज्यों का त्यों रहने दिया गया है।

बातें दो दिनों में दो 'सिटिंग' में हुई हैं—इक्कीस जनवरी को शाम, चार बजे से साढ़े छः बजे तक और बाईस जनवरी को अपराह्न, तीन बजे से सायं साढ़े सात बजे तक। पहले दिन सिर्फ चार सवालों पर बातें हो पायी थीं। बीच-बीच में अनेक लोग आते रहते थे। मेरे पास भी कॉलेज से लिया गया छुट्टी का वक्त बहुत कम था, अतः मैं डर-सा गया कि इस रफ्तार से बातें शायद हो ही न पायें। इसलिए भी कहीं-कहीं उत्तर अति संक्षिप्त रह गये हैं, जिन्हें मैं और भी स्पष्ट कराता, पर नहीं करा पाया हूँ।

साक्षात्कार दो भागों में विभाजित है—व्यक्तिगत और साहित्यिक सवालों को अलग-अलग रखा गया है जो काफी कुछ निभा है, पर दोनों एक दूसरे से पूर्णतः अलग नहीं रह पाये हैं—प्रच्छन्न दखलंदाजी तो हुई ही है। इस बात का ख्याल रखा

गया है कि वे प्रश्न न पूछे जायें जो इसके पहले के लिए गये साक्षात्कारों में उनसे पूछे जा चुके हैं।

व्यक्तिगत सन्दर्भों को बताते हुए शिवप्रसाद जी बहुत सकुचाते थे। बार-बार पूछ देते थे—यह सब लेकर क्या करोगे ? इस तरह जितना कुछ आ सका है, बड़ी मुश्किल से आया है। उनका यह संकोच बेहद विश्वसनीय (जेनुइन) लगता था। जरा भी बनावट या बिना पूछे ही अपने से या दूसरों के द्वारा अपने को सामने लाने की ओछी वृत्ति का उनमें नामोनिशान भी नहीं लगा और इसी स्तर पर वे अन्य तमाम साहित्यकारों से बिल्कुल अलग पड़ते हैं।

अब आइए बातचीत पर ही चलें—

(अ) व्यक्तिगत सन्दर्भ

प्रश्न—सबसे पहले तो आप अपने जन्म, प्रारम्भिक जीवन व शिक्षा तथा उन दिनों के अनुभवों के बारे में बताइए।

उत्तर—19 अगस्त, 1928 को काशी जनपद के जलालपुर गाँव में जन्म हुआ। पिता का नाम चन्द्रिका प्रसाद सिंह जो 1972 में स्वर्गवासी हो गये। माँ कुमारी देवी हैं। वे छोटे भाई के साथ गाँव में रहती हैं। उनके परिवार को छोड़कर शहर में रहना नहीं चाहतीं। शहर में उन्हें सुनसान लगता है, वे अकेलापन महसूस करती हैं यहाँ। पितामह गणेश सिंह बहुत बड़े जमींदार थे। माँ-बाप से ज्यादा प्यार-स्नेह मुझे बचपन में दादी माँ (आजी) से मिला, जिन्हें मैं 'मैया' कहा करता था। बस, जाने दो ये सब ज्यादा लिखकर क्या करोगे ?

प्रारम्भिक शिक्षा में पाँचवीं कक्षा तक तो गाँव की 'प्राइमरी पाठशाला जलालपुर' में ही रहा। (आगे बढ़ना चाहते हैं पर मैं वहाँ की किसी याद, घटना आदि के बारे में पूछता हूँ तो बताने लगते हैं)। हिन्दी कविता सस्वर पढ़ने का अभ्यास मुझे तभी हो गया था। स्कूल की सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेता रहा। एक अध्यापक विशेष रूप से स्मरणीय हैं—स्व० रामचंद्र लाल। उन्होंने मेरे जीवन को कई तरह से प्रभावित किया। वे हरफन मौला व्यक्ति थे। तुकबंदियाँ करते थे, चित्र भी बनाते थे, 'कैम्पफायर' वगैरह चलाया करते थे। जो स्कूली टीम जिला टूर्नामेंट के लिए शिवपुर जाया करती थी, मैं उसका कमांडर होता था। स्व० रामचंद्र लाल जी के लिखे प्रहसनों में भी भाग लिया करता था। यही सब था, अब आगे चलो।

छठीं कक्षा के लिए जमनियाँ कस्बे के मिडिल स्कूल में नाम लिखाया गया, पर इसी बीच आर्थिक कारणों से स्कूल छोड़ना पड़ा। अब गाँव से आठ मील दूर 'मिडिल स्कूल बरहनी' में गये। वहाँ 'हॉस्टल' नहीं था। एक बड़ा हालनुमा कमरा था जिसके कोनों में लड़के अपने सामान रखते थे और बाकी में सोते थे। खाने के लिए अलग से कोई कमरा नहीं था, बाहर के एक कमरे में उपलों की आग पर बनाया जाता था। हम घर के चार लोग वहाँ पढ़ते थे। बारी-बारी से खाना बनाने का काम करना पड़ता था। उस कमरे में इतना धुँआ होता था कि आँखें सूज आती थीं। उपले

की आग बहुत जल्दी बुझ जाती थी इसलिए ज्वार-बाजरे के खेतों से उनकी खुंटियाँ बीनकर लाते थे। खाना पकाना मुझे बिल्कुल नहीं आता था, अब तक नहीं आया; सो, बाकी लोगों की दया पर जीता था। उसके लिए झगड़े भी खूब होते थे, कई-कई दिन खाना भी नहीं खाता था। किसी-किसी तरह वहाँ से 'मिडिल' किया।

इसके बाद 'गवर्नमेंट विक्टोरिया हाईस्कूल', गाजीपुर सिटी से प्राइवेट सिस्टम में हाईस्कूल की परीक्षा दी। हाँ, इसके पहले जमनिया के जूनियर हाईस्कूल में भी 'स्पेशल क्लास' करके अंग्रेजी के हिसाब से प्रवेश लेना पड़ा था क्योंकि वह स्वीकृत (मान्यता प्राप्त) स्कूल था। खैर, हाईस्कूल पास किया 1947 में। प्रथम श्रेणी से, संस्कृत और गणित में विशेष योग्यता (डिस्टिंक्शन मार्क्स) मिली थी। बस, अब अगला सवाल पूछिए।

प्रश्न—उच्चस्तरीय शिक्षा व उसके दौरान हिन्दी की पढ़ाई तथा लेखन की तरफ झुकाव की प्रेरणा?

उत्तर—उदयप्रताप कॉलेज, वाराणसी से सन् 1949 में इण्टरमीडिएट पास किया प्रथम श्रेणी में ही। विषय थे—हिन्दी, संस्कृत, तर्कशास्त्र और अंग्रेजी। संस्कृत और तर्कशास्त्र में विशेष योग्यता के अंक (डिस्टिंक्शन मार्क्स) यहाँ भी मिले थे। इसके बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी, दर्शन, संस्कृत और अंग्रेजी विषयों के साथ 1951 में बी० ए० किया—द्वितीय श्रेणी में। विश्वविद्यालय में मेरा पाँचवाँ स्थान था (फिफ्थ रैंक)। इन दिनों के अनुभवों और गतिविधियों का जहाँ तक सवाल है, उदयप्रताप कॉलेज के दिनों में बहुत कुछ हुआ। आप लेखन और साहित्य की तरफ झुकाव की बात भी जानना चाह रहे हैं तो इसके लिए उदयप्रताप कॉलेज का योगदान मैं स्वीकारता हूँ। वहाँ हिन्दी के प्राध्यापक थे, मारकण्डेय सिंह। उस कॉलेज से निकलने वाली पत्रिका काफी उच्च श्रेणी की हुआ करती थी। मैंने उसके लिए प्रो० सिंह को एक लेख दिया—'तन मात्राओं का लोक'। इससे वे इतने प्रभावित हुए कि डांटकर मुझसे पूछा—'यह तुमने लिखा है?' पूरा इत्मीनान हो जाने के बाद प्रथम वर्ष में ही मुझे उस पत्रिका का सम्पादक बना दिया। वहाँ के प्रिंसिपल जगदीश प्रसाद सिंह भी बहुत अच्छे व्याख्यानदाता थे—हिन्दी व अंग्रेजी के। वे भी मुझ पर विशेष ध्यान देते थे। मेरे भाषणों से बहुत प्रभावित थे और प्रोत्साहन देने का हर संभव प्रयत्न करते थे। एक घटना जो मेरे मस्तिष्क में बहुत ही ताजी है अभी—हमारे यहाँ संस्थापन सप्ताह में कविवर बच्चन आये थे। मुख्य अतिथि के रूप में संभवतः भाषण उनका अन्तिम हुआ, पर इसके बाद प्रिंसिपल ने घोषणा की कि अब शिवप्रसाद सिंह बोलेंगे।

(भाषणों को लेकर किसी विशिष्ट घटना का उदाहरण देने के लिए मैं आग्रह करता हूँ और तब शिवप्रसाद जी फिर कहने लगते हैं)—

मेरे कॉलेज में बहुत अच्छा बोलने वाला एक लड़का था—अम्बिकाप्रसाद सिंह, जो 'आर्टस' छोड़कर कृषि में इसलिए चला गया था कि मैं कॉलेज में उसका प्रतियोगी

आ गया था। उन्हीं दिनों जे० पी० मेहता कॉलेज में वाद-विवाद प्रतियोगिता रखी गयी थी। उसमें हम दोनों भाग लेने गये। गांधी जी से संबंधित ही कोई विषय था और अम्बिका शुरू से ही गांधीवादी थे। उसमें मैं विषय के विपक्ष में बोला और मेरे भाषण का अंतिम वाक्य था—'गांधीवाद की मृत्यु हो चुकी है, शव परीक्षा चल रही है'। मैं उसमें प्रथम आया। इस वाक्य का मुझे बहुत मानसिक आघात पहुँचा और इसीलिए यह हमेशा के लिए याद भी रह गया; क्योंकि यह वाक्य मैं उसी उन्तीस जनवरी की शाम को बोलकर आया था, जिसके दूसरे दिन गांधी जी की हत्या कर दी गयी।

(गांधी जी का नाम आते ही मैं टोक देता हूँ कि उन दिनों स्वतंत्रता के लिए तमाम आंदोलन चल रहे थे, उनमें कहीं आपने कभी हिस्सा लिया था? और वे बताते हैं)—

जमनियाँ के दिनों में 1942 में जब 'विद्यार्थी' आंदोलन हुआ था तो 'भारत छोड़ो' में सक्रिय रूप से भाग लिया था—लड़कों ने जमानियाँ स्टेशन तोड़ा था, कस्बे के थाने पर कब्जा कर लिया था और मैं इस दल का नेतृत्व करने वालों में था। थाना जमनियाँ में ही एक दिन पुलिस हिरासत में भी रहा। बाद में अपने आप सब लोग छूट गये थे, कोई 'केस,वेस' नहीं हुआ था।

(अन्य गतिविधियों के संबंध में जिज्ञासा जाहिर करने पर उन्होंने बताया)—

बचपन में जमनियाँ के दिनों में ही स्कूल में आयोजित नाटकों में भाग लिया करता था—'प्रह्लाद' नाटक में प्रह्लाद और 'दुर्गादास' में 'दुर्गादास' का 'मेन रोल' किया था। पर अब जाने भी दो, क्या करोगे सब। अपने प्रश्न पर आओ—हिन्दी साहित्य और लेखन की तरफ झुकाव की बात चल रही थी न।

तो उदयप्रताप कॉलेज के दिनों की ही बात है, वहीं केदारनाथ सिंह रहा करते थे। 'प्रतीक' में उनकी एक कविता छपी—'झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की'। मैंने इसे पढ़ा था और अच्छी भी लगी थी। एक दिन उन्होंने ही मुझे कहानी भेजने के लिए कहा—शायद पत्रिका द्वारा ही जानकर उन्होंने ऐसा कहा होगा। उन्हीं दिनों 'साप्ताहिक संसार' दैनिक साप्ताहिक अंकों में भी कई कहानियाँ निकली थीं मेरी, पर अब मुझे एक भी याद नहीं। परन्तु उस कॉलेज में एक ऐसा माहौल था, जिससे साहित्य की प्रेरणा मिलती थी।

(उन दिनों की अन्य पसंदीदा गतिविधियों को जानने की मैं ही इच्छा प्रकट करता हूँ; तो फिर मुझे बताते हैं)—

दो मेरे पसंदीदा कार्य थे—(1) उदयप्रताप कॉलेज से पाण्डेपुर होते हुए सारनाथ की यात्रा। मैं बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित था और घंटों जापानी मंदिर या महाबोधि वृक्ष के नीचे बैठा रहता था। (2) रास्ते में आते हुए एक इसाइयों का कब्रगाह पड़ता था, उसमें भी मैं बहुत बैठता था। वे फूल और शांत वातावरण मुझे बहुत आकृष्ट करते थे।

(इसे सुनकर मैं स्पष्ट देखने लगता हूँ कि मुरदासराय और 'गली आगे मुड़ती है' की सारनाथ यात्रा के चित्रों में इन्हीं अनुभवों की पूँजी काम आयी है।)

(डॉ० सिंह फिर मुझे रोकते हैं क्योंकि मैं और कुछ पूछने जा रहा था—भाई, रुको अपने प्रश्न की बात बता लेने दो)

आओ, बी० ए० की बात करते हैं, अब उदयप्रताप कॉलेज को बख्शो। मैंने 1951 में बी० ए० किया। (और मैं अब फिर द्विवेदी जी की बात पूछ बैठता हूँ, जो मेरे मन में अकुला रही थी, वे कहते हैं कि, वही बता रहा हूँ)—1950 में द्विवेदी जी वहाँ आ गये थे। मैं तुरत वहाँ जा नहीं सका। लेकिन एक बार उनके घर जाकर मुलाकात की। देखने के लिए एक कहानी भी दी—कृष्णचंदरियन स्टाइल में लिखी गयी थी जो उनके घर ही दब गयी कहीं।

(मैं फिर पूछ बैठता हूँ कि विद्यार्थी जीवन में आप यदि किसी बड़े कवि-लेखक से मिले हों तो वह अनुभव बताइए। इस पर डॉ० सिंह सोचते-सोचते मुस्करा कर उठ बैठते हैं और निराला जी से भेंट की बात बताने लगते हैं)—

बात उदयप्रताप कॉलेज की ही है। तुलसी जयंती समारोह के लिए अतिथि वक्ता के रूप में निराला जी को आमंत्रित करने गया। वे तहमद पहन कर मालिश करा रहे थे।

निवेदन करने पर पूछा। 'मैं क्यों चलूँ ?'

मैंने कहा कि हम चाहते हैं कि महाकवि की जयंती महाकवि की अध्यक्षता में ही हो। वे खुश हो गये, बोले—'मैं चलूँगा, टमटम लाओगे ?' खैर, निश्चित तिथि पर मैं उन्हें ले आया। मंच पर ही उन्होंने प्रिंसिपल को कह दिया—'सो यू आर जे० पी० सिंह, आई केम हीयर इन 1912 ऐण्ड यू वेयर ए चैप।' सभी मुझसे नाराज हुए, मारकण्डेय सिंह भी। अंत में मैंने ही उन्हें संभाला और वही महाकवि वाला अस्त्र काम आया। निराला जी ने अपनी कविता 'तुलसीदास' पूरी सस्वर पढ़कर सुनायी। समारोह बहुत अच्छा हुआ।

खैर, युनिवर्सिटी की पढ़ाई के दिनों में मैं प्रसाद जी से बहुत प्रभावित था। वह प्रभाव खत्म हुआ, त्रिलोचन के कहने से कि आधुनिक कहानियाँ लिखो। इस रूप में उनका योगदान भी मैं स्वीकारूँगा।

1953 में एम० ए० किया। उन दिनों आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र और आचार्य द्विवेदी जी के व्याख्यानों से बहुत प्रभावित रहा। उन्हीं दिनों पूरी 'आर-पार की माला' की कहानियाँ लिखी गयीं। तब तक तो मैं लेखन की विशिष्टता से एकदम बेपरवाह स्वच्छंद था।

(एम० ए० के दिनों के बारे में भी मैं फिर कुछ विशेष जानना चाहता हूँ और वे बताते हैं)—

तीक्ष्ण बुद्धि के छात्र के रूप में जाना जाता था। अपने साथियों को अनेक विषय मैं पढ़ाया करता था। एम० ए० के शिवप्रसाद को जानना चाहते हो तो अपने गुरु पारसनाथ जी से पूछना, वे बतायेंगे। अब चलो, अगला सवाल पूछो—

प्रश्न—पहले संयुक्त परिवार था, अब विभक्त हो गया है ('गर्दिश के दिन' के आधार पर)। तो बाकी लोगों के साथ व्यवहार? घर पर आपके हिस्से की खेती-बारी, उसकी व्यवस्था, प्राप्ति आदि?

उत्तर—'इनकम' तो कुछ नहीं मिलती, देना पड़ता है। छोटे भाई शंभूप्रसाद सिंह देखभाल करते हैं। उनमें आलस्य है, गांजा पीते हैं। इसलिए खेती वगैरह उनसे संभलती नहीं। वैसे शालीनता है उनमें, मेरा अदब भी करते हैं। खेत लगभग पन्द्रह एकड़ होंगे, मेरे हिस्से के। दो छोटी बहनें हैं। दोनों सुखी हैं और हमारे संबंध भी बहुत अच्छे हैं।

प्रश्न—यहाँ का जीवन आपके वेतन व 'रॉयल्टी' आदि के पैसों से मजे में चल जाता है या अतिरिक्त आय की जरूरत पड़ती है?

उत्तर—नहीं चलता, किसी तरह खींच रहे हैं।

प्रश्न—आपने 'सारिका' के साक्षात्कार (फरवरी १९८०) में विश्वविद्यालय की समस्याओं तथा नौकरी और लेखन के तनाव की बात की है। क्या इन दोनों को स्पष्ट करना पसंद करेंगे?

उत्तर—मेरा मतलब था कि जो विश्वविद्यालय का ढाँचा होता है, वह एक तरह का शिकंजा है। उसमें लेखक को फिट होने का प्रयत्न करना पड़ता है। उस समय 'गली आगे मुड़ती है' का माहौल था दिमाग में। विश्वविद्यालय की समस्याओं पर लिखते समय बड़ी उलझनें आयीं। जो छात्र नेता हैं, उनकी कलई खुलती है तो पूरा माहौल मेरे प्रति बिगड़ सकता था। विश्वविद्यालय के 'प्रशासक' अपना पर्दाफाश होते देखेंगे तो उनका रुख मेरे प्रति क्या होगा? (मैं बीच में ही कह देता हूँ कि प्रशासन को आप बचा ले गये हैं) हाँ भाई, लिखने के बाद कुलपति को दिखलाया। उनकी अनुमति के बाद ही प्रकाशन हुआ है। उनका विरोध होता तो अनुमति न भी देते। कुलपति उन दिनों कालूलाल श्रीमाली थे।

प्रश्न—आपने उसी साक्षात्कार में यह भी कहा है कि अध्यापकीय और साहित्यिक जीवन में बहुत से तनाव झेले। क्यों, कब और कैसे? क्या अब वे तनाव नहीं रहे? और नहीं रहे तो क्यों?

उत्तर—तनाव अभी भी है। युनिवर्सिटी का माहौल इस प्रकार का प्रेरणादायक नहीं है जिसमें रचनात्मक कार्य किया जा सके। एक अध्यापक की 'प्रोफेशनल लाइफ' का उसके लेखक की जिन्दगी से तालमेल नहीं बैठ पाता। बीस तरह के ऊटकनाटक करने पड़ते हैं—पदोन्नति या इसके उसके लिए। यह हर जगह सबके साथ होता है, पर मैं कभी किसी दल या पार्टी का सदस्य नहीं रहा। इसलिए मेरे ऊपर यह तनाव हमेशा रहता रहा कि जो सुविधा इन पार्टी व दल वालों को मिल जाती है, वह मुझे नहीं मिल पाती और न ही मिली।

प्रश्न—आपने अपनी आदत के संबंध में कहीं कहा है कि लोगों से कटे हुए

रहते हैं और पहले किसी से जुड़ते नहीं। आत्म-विश्लेषण के दौरान आप इसे कैसा समझते हैं और क्यों ?

उत्तर—कुछ दिमागी बनावट ही इस तरह की है कि मैं बहुत खुलकर किसी के सामने अपना दुख-दर्द या खुशी रख नहीं पाता। हालाँकि जो लोग संपर्क में आते हैं, गहरे संपर्क में, उनको यह आपत्ति नहीं होती। तब मुझे लोग बहुत ही सहज पाते हैं। 'रिजर्वनेस' का रूप जो है वह अक्सर लोगों को भयभीत करता है। पता नहीं क्यों, मेरे बारे में लड़के तक बहुत भयभीत रहते हैं और जो मुँह लगे हो गये हैं, उन्हें अचम्भा लगता है। ये है कि मैं दरबारदारी नहीं पसंद करता। बहुत थोड़े लोगों के साथ मन की बात हो पाती है। जो कटे रहने का सवाल है, अगर वह न होता तो जो मैं दे पाया, वह न दे पाता। मेरा कटना उन तत्वों से कटना था, जो मेरी प्रशंसा या दूसरों की निन्दा करके मेरे निकट पहुँचना चाहते थे। जहाँ तक साहित्यिक औदार्य का संबंध है, एक छोटा से छोटा साहित्यकार भी मेरे पास आकर रचनाएँ दिखा, राय ले सकता है। मैं उसकी सहायता करता रहा हूँ। जब मैं आत्म-विश्लेषण करता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं भीड़ में खो नहीं सकता।

प्रश्न—तब और अब की शिक्षण-स्थिति और प्राध्यापक की 'पोजीशन' के संबंध में विचार ? अब इसमें रहना खलता तो नहीं ? यदि हाँ तो कारण ?

उत्तर—अब तो समय का अंत आ गया। अध्यापक का पेशा मेरे लिए हमेशा महत्वपूर्ण रहा। इसकी दिक्क़तों के बावजूद यदि मैं दूसरी लाइन में होता तो साहित्यकार न बन पाता। मेरा अध्यापक मेरे साहित्यकार का प्रेरक रहा है। मुझे शुरू से ही ऐसे विद्यार्थियों का आदर प्राप्त रहा, जिससे अध्यापकी कभी भार नहीं लगी। हालाँकि इस क्षेत्र में मेरे साथ न्याय या तो हुआ नहीं या तो बहुत विलंब से हुआ। इसलिए कि मैं तीन-तिकड़म नहीं जानता था।

प्रश्न—आपने कभी सोचा है कि आप अध्यापक और लेखक न होते तो क्या होते ? आपकी रुचियाँ जिन्हें खाली समय में आप करते हों या करना चाहेंगे ?

उत्तर—अध्यापक-लेखक न होते तो किसान होते। कई-कई रुचियाँ उपजीं और उनमें परिवर्तन होता रहा। अध्यापन के आरम्भिक दिनों में गंगा-किनारे घूमना, आसपास के खेत-खलिहानों को देखना, कभी बागवानी करना आदि। इसके अलावा ढेर सारी पत्र-पत्रिकाएँ व विभिन्न विषयों—खासकर दर्शन और भारतीय पुरातत्व की किताबें पढ़ना।

प्रश्न—अपने बारे में सोचने पर कभी ऐसा महसूस करते हैं कि गलत हो गया ? कुछ और किया होता तो ज्यादा अच्छा था, कहाँ आ फँसा ?

उत्तर—यह सब नहीं महसूस करता। जो कुछ हुआ, उससे कोई शिकवा नहीं। कभी-कभी लगता है कि मेरे जैसे उजड्ड गाँव का रहने वाला आदमी, जहाँ शिक्षा का हाल बुरा हो; इतना कुछ कैसे हो गया। मेरे विद्यार्थी जीवन में भी ऐसे मोड़ कई बार आये कि लगा अब मैं घर बैठ जाऊँगा। तो जो मिला, वह किसी

प्रकार से असंतोषदायक नहीं है । मैं तो सोच भी नहीं सकता था कि मैं कभी अध्यापक या साहित्यकार बनूंगा ।

प्रश्न—गाँव से दूर रहकर आप अपनी ग्रामीण परम्पराओं को कहाँ तक या किस परिवर्तन के साथ निभा पाते हैं या सब छूट-छाट गयी हैं ?

उत्तर—शहर में रहकर भी मेरा मन एक ग्रामीण का मन ही बना रहा। मैंने कभी भी आधुनिक कहे जाने वाले व्यसनों—जैसे होटल में आना-जाना, शराब पीना या तरह-तरह के अन्य मनोरंजन जो चरित्र और मस्तिष्क दोनों को खराब करते हैं—का शिकार नहीं हुआ । घर भी बिल्कुल ही ग्रामीण परम्परागत घर है। आजकल अंग्रेजी की दिखावटी शिक्षा से उत्पन्न जो वातावरण है लोगों के घरों का—टा टा, पप्पा, डैड वाला—यह सब मेरे साथ नहीं रहा ।

(ब) साहित्यिक सन्दर्भ

प्रश्न—लेखन में प्रवृत्त होने की पृष्ठभूमि, प्रेरणा ?

उत्तर—जैसा कल कहा था कि जो चार-पाँच कहानियाँ दैनिक 'आज' में छपी थीं, उनके नाम याद नहीं; किन्तु इनसे कोई ऐसी प्रेरणा नहीं उपजी कि मैं लेखन के क्षेत्र में कुछ कर सकता हूँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि एक आंतरिक शक्ति होती है जो साहित्यकार के लिए जरूरी है। 'दादी माँ' जब छपी तो अचानक ये लगा कि मैं इस दिशा में कुछ कर सकता हूँ। उदयप्रताप कॉलेज के माहौल से कुछ बना जरूर ।

प्रश्न—लेखन का उद्देश्य—क्या परिवर्तन या निर्माण चाहते हैं और उसमें कहाँ तक सफल हुए हैं ?

उत्तर—मेरे लेखन का उद्देश्य मूलतः ग्रामीण जीवन के अंतर्विरोधों को, चाहे वे राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक या मूल्यगत हों—को सामने ले आना रहा है। मैंने जो जिन्दगी देखी, उसका उपस्थापन साहित्य में इस ढंग से करना चाहा कि वह लाखों-लाख भारतीय ग्रामीणों की जिन्दगी का प्रतिनिधित्व कर सके। एक बार जैसा कल कहा कि परिवर्तन जो आया—यथार्थता की ओर; तो उसमें मेरी दृष्टि ने उसके विभिन्न पहलुओं से संघर्ष करने, भोगी हुई जिन्दगी को फिर से जीवित करने और जो कुछ भी मेरा जाना हुआ था, उसका साक्ष्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह आश्चर्यजनक है कि मेरी कहानियाँ और उपन्यास तथाकथित प्रगतिशील या जन-वादी लोगों के साहित्य से भी ज्यादा यथार्थवादी हैं। मसलन, मेरी पीढ़ी के जो साहित्यकार थे, वे अपने को प्रगतिशील या जनवादी कहने लगे हैं; लेकिन गुमराह आलोचक ही वहाँ भटक सकता है क्योंकि मेरी कहानियों में राजनीतिक माहौल भी प्रतीकात्मक ढंग से आया है। (पलकें ज़रा तेजी से झपकाते हुए वे अपनी बात जारी करते हैं) मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि मेरा कथा-संसार उन तथाकथित मार्क्सवादी यथार्थवादियों से कहीं अधिक प्रामाणिक और जनचेतना से भरा हुआ है। वैसे मान लीजिए, आपने पढ़ा होगा कि अमरकांत जनवादी लेखक है, तो क्या मेरी 75 कहा-नियाँ जो हैं उनका समष्टिगत स्वर अमरकांत से अधिक जनवादी नहीं है ? मैं नारे

नहीं लगाता, मशाल जुलूस नहीं निकालता, किन्तु मेरे कथासाहित्य में जीवन की प्रामाणिकता (उँगलियाँ फोड़ते हैं) कहीं अधिक सूक्ष्म दृष्टि से चित्रित की गयी है—अपेक्षाकृत घोषित प्रगतिशील लोगों के ।

प्रश्न—आप अपने साहित्य के माध्यम से जनजीवन—आम आदमी तक पहुँच पाते हैं क्या ? और साफ पूछूँ तो 'अलग-अलग वैतरणी' (कहानियों को छोड़िए) कितने खेतिहरों ने पढ़ी होगी, आपके गाँव के कितने लोग पढ़ पाये और यदि वे नहीं पढ़ पाये तो इस लेखन का अर्थ, सार्थकता ? फिर इस आलोक में आपके लेखन (यह समस्या पूरे साहित्य की है, पर मैं आपके विचार जानना चाहता हूँ) की उपयोगिता ?

उत्तर—जहाँ तक 'अलग-अलग वैतरणी' का सवाल है, हमारे गाँव का हर व्यक्ति जो पढ़-लिख सकता है; पढ़ चुका है । यही नहीं, उस पर यह चर्चा भी कर चुके हैं कि कौन-सा पात्र किसका स्वरूप है । यही हालत कहानियों की है । मेरे गाँव के आस-पास के लोग किताबें ढूंढ़ते हैं, न पाने पर मुझसे माँगकर ले जाते हैं । इस तरह गाँव भर किताबें घूमती रहती हैं ।

प्रश्न—क्या आप आम आदमी तक पहुँचने का कोई दूसरा मार्ग, साहित्येतर भी, अपनाने की जरूरत महसूस करते हैं या फिर साहित्य को कोई ऐसा रूप देने की कोशिश या सोच-विचार, जिससे वहाँ तक पहुँचा जा सके—जैसा 'मानस' में तुलसी ने किया था (चाहे भले उनका कथ्य वहाँ तक जाते-जाते बदल गया हो) । क्या आज भी ऐसी ही आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर—देखिए, आम आदमी की जो बात है, वह महत्वपूर्ण है, दुरुस्त है अपनी जगह, लेकिन कोई भी साहित्य आम आदमी, जो बहुत ही निचले तबके का है, के पास नहीं पहुँच रहा है । हमेशा ही साहित्य को पढ़ने वाले मध्यवर्ग के लोग रहे हैं । कोशिश मैं करता हूँ कि उस मध्यवर्ग के भी निचले हिस्से तक साहित्य पहुँचे; लेकिन केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, बल्कि विश्व भर में साहित्य एक सीमित दायरे में ही पहुँच पाता है । आम आदमी के लिए लिखने वाले कितने आम आदमी तक पहुँचते हैं और वहाँ पहुँचने पर अफाट निराशा ही होगी । माध्यम तो कोई है ही नहीं । अब रेडियो, टेलीविजन आदि जो हैं, वे साहित्य नहीं पहुँचाते, कुछ और ही पहुँचाते हैं ।

प्रश्न—आधुनिकता और आंचलिकता को लेकर आपने विचार व्यक्त किये हैं, पर नयी कहानी से जुड़े होने के संबंध में आपके विचार ? नयी कहानी आन्दोलन आपकी दृष्टि में ?

उत्तर—'नयी कहानी' का पुरस्कर्त्ता होने का श्रेय मिलने पर भी 'नयी कहानी' को आंदोलन की शक्ल में मैं इसलिए नहीं देख पाता कि उसमें शहरी और ग्रामीण का झमेला खड़ा किया गया । इसलिए नयी कहानी-आंदोलन के बारे में मैंने जो कहा, वह इनके ऊपर होने वाली निराधार समीक्षाओं के जवाब में कहा । वैसे हिन्दी का कोई भी समालोचक या पाठक क्यों न हो; सन् 1950 के बाद की कहानियों के

माहौल से, जो नयी कहानी के रूप में जानी जाती है, मुझे अलग करके नहीं देखा गया ।

प्रश्न—कहानियों से उपन्यासों की तरफ प्रवृत्त होने के कारण; जबकि जमाना उपन्यास से कहानी की ओर जा रहा हो ? क्या कहानियों के समकालीन दौर में आप अपने को धारा से बाहर तो नहीं पाते ?

उत्तर—उपन्यास से कहानी की ओर का कोई दौर नहीं चल रहा है । सच तो यह है कि समकालीन कथाकार जो साहित्य लिख रहे हैं, वे उससे खुद ही असंतुष्ट हैं; क्योंकि जो दौर नयी कहानी का था, उस तरह का कोई माहौल नहीं बन पा रहा है । 'सारिका' में पीढ़ियाँ आमने-सामने आदि से भी स्पष्ट है कि सब कुछ के बावजूद समकालीन कथाकार जिन्दगी की नब्ज नहीं पकड़ पा रहे हैं ।

प्रश्न—आज के युग में लघु उपन्यासों की उपयोगिता और आपके न लिखने के कारण, जबकि चलन उसी का है—समयाभाव आदि के कारण ?

उत्तर—अभी तक तो नहीं लिखा, लेकिन आगे योजनाएँ लघु उपन्यासों की हैं ।

प्रश्न—कहानियों के संबंध में आपने बहुत कुछ कहा, पर उपन्यासों को लेकर मौन क्यों ?

उत्तर—उपन्यासों पर लोगों ने इतना कहा है कि मुझे कहने की कोई गुंजाइश नहीं रही (हँसते हैं)—खास करके 'अलग-अलग वैतरणी' पर ।

प्रश्न—उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डालें—जैसा कि कहानियों के संबंध में 'कुछ न होने का कुछ' के अंतर्गत कहा है । क्या यह भिन्न है ? क्योंकि 'अलग-अलग वैतरणी' में नहीं लगता कि चरित्र पहले आकर सृजन की प्रेरणा बने हों, जैपाल के अलावा ।

उत्तर—'अलग-अलग वैतरणी' का रचनात्मक पक्ष बिल्कुल अलग है । यह एक 'उन्मुक्त कसाव' का रूप है, जैसा कि मैंने 'सारिका' के साक्षात्कार (फरवरी—एक, 1980) में बताया है । वैसे रचना-प्रक्रिया को लेकर, जैसे धारा कहानी का विश्लेषण हुआ है, वैसी बहुत सारी बातें हैं । आप 'थीसिस' जमा करके 'इण्टरव्यू' लीजिए तो सिर्फ उसी पर बातें हों ।

प्रश्न—'अलग-अलग वैतरणी' के बाद ग्रामीण जीवन पर कुछ कहना शेष नहीं रहा, जो आप काशी पर जुट गये ? आगे कुछ योजना है—एक उपन्यास की चर्चा थी, चकबंदी को लेकर शायद आप कुछ कहना चाह रहे हैं उसमें....?

उत्तर—वह चकबंदी पर तो नहीं है, जनजातियों पर है । अभी आधा भी नहीं हुआ । 'जंगली आग' नाम रखा है अभी तक ।

ग्रामीण जीवन को आगे बढ़ाने की योजनाएँ हैं, पर क्या करें, योजनाएँ बनाते हैं और भगवान् जो है........सब........

प्रश्न—आपका लेखन योजनाबद्ध रूप से होता है या स्वतःस्फूर्त ? लिखने का

कोई निश्चित समय है या किसी भी वक्त लिखने लगते हैं। सुना है आप सुबह नौ-दस बजे तक किसी से मिलते नहीं। वही समय लिखने का तो नहीं है ?

उत्तर—पहले सुबह ही लिखा करता था, अब सुबह सोता हूँ। (तख्ते पर से उठकर सोफे पर आ जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं, ढेर सारे कागजों के बीच से मेरे लिए लिखा गया पत्र निकालकर मुझे देते हैं जो छोड़ा नहीं जा सका था) रोज की योजना तो नहीं है कि इतना लिखना है पर कहानी या उपन्यास क्या लिखना है, यह योजना है।

प्रश्न—'अलग-अलग वैतरणी' का विपिन गाँव छोड़ता है और 'गली आगे मुड़ती है' का नायक रामानंद शहर भी छोड़ देता है। तो अब वह कहाँ जायेगा ? आपके मन में क्या संकेत है ?

उत्तर—रहना तो दुनिया में ही है। परिस्थितियाँ मनुष्य को बेदखल कर रही हैं—ग्राम से, शहर से, किन्तु मैं इससे निराश नहीं हूँ। मुझे उम्मीद है कि विपिन भी अपना रास्ता पा जायेगा और रामानंद भी। वह रास्ता क्या होगा, यह शायद मैं अपने अगले उपन्यास में कह सकूँ।

प्रश्न—संस्कृति (काशी की), युवा आक्रोश और वर्तमान काशी, तीनों के चित्रण के लिए अकेले रामानंद को केन्द्रीय माध्यम बनाने से कथा में बिखराव आ गया है, क्या ऐसा आपको नहीं लगता ?

उत्तर—आ गया है। असल में काशी पर मैं तीन उपन्यास लिखना चाहता था—एक उपनिषद्कालीन काशी, एक मध्यकालीन काशी और एक आधुनिक काशी पर। 'गली आगे मुड़ती है' में आधुनिक काशी की ही प्रधानता है। किन्तु कई समस्याओं में उलझ जाने के कारण यह उस प्रकार का नहीं हो पाया, जैसा मैं सोचता था। अब जैसा सोचता हूँ कि काशी पर मेरे जो दो उपन्यास आने वाले हैं, उनमें काशी का पूरा रूप और उसकी शाश्वत संस्कृति ठीक ढंग से सामने आ सकती है। (आने की निश्चितता के बारे में मेरे पूछने पर बताते हैं कि) दोनों आयेंगे, यदि सेहत ने साथ दिया।

प्रश्न—सभी देवी-देवताओं (गली आगे मुड़ती है में आये) को आपने प्रतीक माना है। (सारिका के साक्षात्कार में) क्या कुछेक को स्पष्ट करेंगे ?

उत्तर—प्रतीक का मतलब...., प्रतीक भी नहीं, वे एक प्रकार के मिथक हैं। अब जैसे भैरव के रूप में रामानंद कुछ कल्पनाएँ करता है। भैरव काशी के कोतवाल माने जाते हैं, उनके आदेश के बिना कोई काशीवास नहीं कर सकता और वह (रामानंद) आस्तिक होते हुए भी भैरव की मूर्तियों के सामने विद्रूप बनकर खड़ा होता है। कुछ स्थान ऐसे हैं जिनसे प्राचीन किंदन्तियाँ जुड़ी हुई हैं—जैसे, दयानंद के शास्त्रार्थ का स्थान—आनंदबाग में वहाँ स्मृतिस्थल भी बना दिया गया है। यह शहर किसी के भी 'अहम्' को गलत-सही तरीके से तोड़ता रहा है—दयानंद को भी तोड़ा गया। और भी बहुत लंबी परंपरा रही है। जहाँ तुलसीदास, शंकराचार्य, कबीर सबके साथ

एक खास प्रकार का अमानवीय व्यवहार किया गया और उन्हें तोड़ने की कोशिश की गयी। रामानंद के साथ भी ऐसा ही....हालाँकि वह उस प्रकार का कोई भास्वर व्यक्तित्व लिए हुए नहीं हैं, पर उसे भी तोड़ने को कोशिश की जाती रही है।

(बीच में ही मैं पूछ बैठता हूँ)—

—इस रूप में रामानंद आपका ही प्रतिरूप तो नहीं बन गया है, क्या आपके साथ भी ऐसा हुआ ?

उत्तर—हाँ, मेरे साथ भी ऐसा हुआ। बहुत कोशिश की गयी।

—लेकिन आप तो सफल रहे, फिर रामानंद को असफल क्यों बना दिया ?

उत्तर—मैं कहाँ सफल रहा ?

—कैसे आप अपने को असफल रूप में देखते हैं ?

उत्तर—भविष्य बतायेगा। अगर कुछ कर सका तो मान लूँगा। अभी तो मंझधार में नाव है। जब आपको 'थीसिस' के दूसरे संस्करण में इतना ही 'मैटर' फिर जोड़ना पड़ेगा........

प्रश्न—दो नायिका, एक नायक के रूप में 'गली आगे मुड़ती है' पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का असर कहाँ तक स्वीकार करते हैं ? यदि ये तीनों, संस्कृति के प्रतिनिधि हैं तो इन्हें प्रेम के सूत्र में जोड़ने की ही क्या संगति बैठती है ? किरण की तरफ रामानंद की आसक्ति को जानते हुए भी उसकी तरफ जयंती का झुकाव कौन-सी सांस्कृतिक विशेषता है ? इसकी क्या व्यंजना हो सकती है ?

उत्तर—द्विवेदी जी का प्रभाव कतई नहीं है। असल में मेरे मन के भीतर दक्षिणवामा नायिका का कोई रूप रहा होगा, जिसका प्रतिनिधित्व किरण और जयंती ने किया। संस्कृतियों के प्रतीक के रूप में इन्हें ग्रहण किया गया और वाराणसी की जो एक विस्तृत संस्कृति है, उसे समेटने के लिए इनकी सृष्टि हुई। प्रेम जानकर लादा नहीं गया बल्कि मेरे मन के अनुभवों ने ऐसा करने के लिए बाध्य किया। रामानंद की यह अपनी कमजोरी हो सकती है कि वह दोनों में से किसी का नहीं हो पाया। शायद नहीं होने दिया लेखक ने; क्योंकि इनके पीछे की कथाएँ अगर बच्चन की तरह मैं भी कहने लगूँ तो लोग मेरे चरित्र पर पता नहीं क्या-क्या आरोप करेंगे।

(मैं फिर बीच में ही पूछ बैठता हूँ)—

—तो ऐसा कुछ था ?

उत्तर—(सिर्फ हँसते हैं और मैं बताता हूँ कि किस तरह बम्बई दूरदर्शन के एक साक्षात्कार में लंदन की किसी प्रेयसी के बारे में पूछने पर बच्चन जी ने प्रश्नकर्त्री श्रीमती पद्मा सचदेव को झिड़क दिया था और बात टाल गये थे। इस पर डॉ॰ सिंह कहते हैं)—

तो वही बात है, बताना आसान भी नहीं है। (थोड़ा चुप रह कर फिर कहते हैं) और यह सब आज के यथार्थ भी हैं।

प्रश्न—ऊपर जो आपने बताया और जिसे आप पहले भी कह चुके हैं कि

'गली आगे मुड़ती है' के बाद काशी को लेकर दो और उपन्यास लिखने की योजना है। तो उस पर क्या कुछ काम हुआ है ? यह योजना कब तक कार्य रूप में परिणत हो रही है ?

उत्तर—उस पर 'स्पेड वर्क' हुआ है। जमीन खोदी जा चुकी है, निर्माण अभी बाकी है। (और हँसने लगते हैं)।

प्रश्न—'अलग-अलग वैतरणी' और 'गली आगे मुड़ती है' की समीक्षाओं, जो प्रकाशित हुई हैं, से आप कहाँ तक संतुष्ट हैं ? उनमें से किसके मत यथार्थ, जो आपका मंतव्य था, के सर्वाधिक करीब है ?

उत्तर—मिल जुलकर करीब होते हैं। कोई एक मेरे मत के करीब नहीं है।

प्रश्न—'अलग-अलग वैतरणी' की मौसमी भटकन (जगेसर पुआल पर बैठा धूप ले रहा है और जग्गन जोन्हरी पंगुआने के लिए बनिहारिन सरेखने जा रहे हैं। दोनों के मौसम में काफी फर्क है) के संबंध में क्या कोई स्पष्टीकरण देना चाहेंगे ?

उत्तर—जोन्हरी को हमारे यहाँ ज्वार कहते हैं जो अगहन से माघ तक कटता है। इसलिए यहाँ भटकन है ही नहीं ?

प्रश्न—अरविन्द दर्शन ने आपको बहुत प्रभावित किया है पर किसी रचना में उसकी छाया तक नहीं आयी। जानबूझकर आपने इसे नहीं आने दिया या वह मात्र चिंतन के धरातल तक ही ग्रहण करने योग्य है, जीवन में उतरने लायक नहीं ?

उत्तर—अरविन्द दर्शन को मैंने जानबूझकर नहीं आने दिया। उसके आने का समय 'गली आगे मुड़ती है' के आस-पास होता। यह दर्शन कोई इस तरह का नहीं है जिसे मार्क्सवाद की तरह साहित्यिक लेखन का जामा पहनाया जाये। जो लोग पहनाते रहे हैं, उनकी कृतियाँ उस कोटि की नहीं होती रही हैं। उसका जो व्यावहारिक पक्ष है वह एक वाक्य में बताऊँ तो रमेश कुंतल मेघ ने मेरी बेटी मंजु के निधन का समाचार सुनकर एक पत्र लिखा था, उन्हें बहुत-बहुत बधाई, कि अतिमानवीय व्यथा अधिमानवीय व्यथा को जन्म दे। जिस आंतरिक जीवन की हम बात करते हैं, साहित्य में, उसको समृद्ध करने के लिए इस दर्शन की वही उपयोगिता है। लेकिन मैंने अरविन्द दर्शन या अस्तित्ववाद, जिस पर भी लिखा, उसका सीधा प्रभाव अपने लेखन पर नहीं आने दिया। मैं किसी दर्शन की वैसाखी का सहारा नहीं लेता। दर्शन अपने को समझने और जीवन की संघर्षमय स्थितियों से जूझने का संबल बन सकता है।

प्रश्न—एक सामान्य (जनरल) सवाल पूछना चाह रहा हूँ कि आज की राजनीतिक स्थिति (लोकसभा के चुनाव में राजीव गांधी इतने भारी बहुमत से जीतकर सरकार बना चुके हैं कि अब तक के सारे 'रेकार्ड' टूट गये हैं) को देखते हुए आप देश के भविष्य को किस रूप में आँकते हैं ?

उत्तर—देश का भविष्य बहुत अच्छा है। जितना ही विराट समर्थन सरकार को मिला है, उतनी ही स्थिरता देश में आयेगी। चुनाव के पहले 'आज' साप्ताहिक

के 15 दिसम्बर, '84 के अंक में मेरा एक लेख छपा है जिससे मालूम होता है कि मेरा दृष्टिकोण क्या है।

प्रश्न—अब अंतिम सवाल—आज के साहित्यिक माहौल, साहित्य और साहित्यकार दोनों के सन्दर्भ में, आपकी टिप्पणी ?

उत्तर—मेरी राय निराशाजनक है। बनारस को ही लीजिए, साहित्यिक माहौल शून्य हो गया है। यही हाल पूरे साहित्य का है। पता नहीं क्या है कि साहित्य का दर्जा बहुत गिरता जा रहा है। समझ-बूझकर बात करने वाले साहित्यकारों की बहुत कमी है।

प्रश्न—अंतिम सवाल के बाद भी चलते-चलते एक बात मन में आ रही है कि आप स्वयं शोधनिर्देशक हैं। क्या कभी सोचा था कि आपके कथा साहित्य पर कोई पी-एच० डी० करे। यदि ऐसा कोई आपके पास आता तो क्या आप उसे निर्देशित करते....

उत्तर—(तपाक से कहने लगते हैं) नहीं करता क्योंकि कर नहीं सकता, नियमतः। यह तो विश्वास था कि कई लोग कार्य करेंगे लेकिन (हँसते हुए कहते हैं कि) सत्यदेव त्रिपाठी जैसे मनीषी मिलेंगे, यह उम्मीद नहीं थी।

इस हास्य-व्यंग्य भरे 'काम्प्लीमेंट' को सहर्ष सर माथे पर लिए हुए मैं उठा। बहुत हल्का और निरर्थक जानते हुए भी डॉ० साहब का शुक्रिया अदा किया और प्रणाम करके बाहर निकल आया। पूरे रास्ते महसूस करता रहा कि कार्य की समाप्ति से मस्तिष्क तो काफी हल्का हो गया है—फ्री माइंड पर मन उतना ही भारी।

●

शिवप्रसाद सिंह की कृतियाँ

कहानी संग्रह—मेरी प्रिय कहानियाँ—आरपार की माला, कर्मनाशा की हार, इन्हें भी इन्तजार है, मुरदासराय, भेड़िए (सद्यः प्रकाशित दो संकलनों—'अंधकूप' और 'एक यात्रा सतह के नीचे'—में संपूर्ण कहानियाँ उपलब्ध)

उपन्यास—अलग-अलग वैतरणी, गली आगे मुड़ती है।

निबंध संग्रह—शिखरों के सेतु, चतुर्दिक्, कस्तूरी मृग

नाटक—घाटियाँ गूँजती हैं।

समीक्षात्मक निबंध संग्रह—आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद
आधुनिक साहित्य और नवलेखन

शोधप्रबंध—सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

दार्शनिक ग्रंथ—उत्तर योगी श्री अरविन्द

संपादन—शांति निकेतन से शिवालिक तक और 'कल्पना' (मासिक) के दो अंक (नवलेखन विशेषांक—1969)

समीक्षा कृति—विद्यापति

संदर्भ ग्रंथ-सूची

डॉ० अतुलवीर अरोड़ा—आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास
अमरकांत—जिन्दगी और जोंक
अमृतराय—गीली मिट्टी
डॉ० आदर्श सक्सेना—हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि
डॉ० आदित्यप्रसाद त्रिपाठी—औपन्यासिक समीक्षा और समीक्षाएँ
डॉ० इंद्रनाथ मदान—हिन्दी कहानी : अपनी जबानी
डॉ० इंद्रनाथ मदान—आधुनिकता और हिन्दी आलोचना
उपेन्द्रनाथ अश्क—हिन्दी कहानियाँ और फैशन
उपेन्द्रनाथ अश्क—हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय
कमलेश्वर—नयी कहानी की भूमिका
कमलेश्वर—मेरा पन्ना
कमलेश्वर—गर्दिश के दिन
कमलेश्वर—(राजा निरबंसिया, खोई हुई दिशाएँ, मांस का दरिया)
कृष्ण बलदेव वैद—नसरीन
किशोरीदास वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन

गंगाप्रसाद बिमल—आधुनिकता : साहित्य के संदर्भ में
गंगाप्रसाद बिमल—आधुनिक हिन्दी कहानी
गंगाप्रसाद बिमल—समकालीन कहानी का रचना विधान
गजानन माधव मुक्तिबोध—एक साहित्यिक की डायरी
गजानन माधव मुक्तिबोध—नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र
डॉ० गोपाल राय—हिन्दी कथा साहित्य और उस पर पाठकों की रुचि का प्रभाव
डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर—उपन्यास : स्थिति और गति
डॉ० जगन्नाथ शर्मा—कहानी का रचना विधान
डॉ० जलादि विश्वमित्र—उपन्यास कला
जैनेन्द्र कुमार—कहानी : अनुभव और शिल्प
डॉ० देवराज उपाध्याय—आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान
सं० देवीशंकर अवस्थी—नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति
सं० देवीशंकर अवस्थी—विवेक के रंग
डॉ० धनंजय—आज की हिन्दी कहानी
डॉ० धर्मवीर भारती—मानवमूल्य और साहित्य (बंद गली का आखिरी मकान, चाँद और टूटे हुए लोग)
डॉ० नगेन्द्र—हिन्दी साहित्य का इतिहास
डॉ० नगेन्द्र—आस्था के चरण
सं० नरेन्द्र मोहन—आधुनिक हिन्दी उपन्यास
नामवर सिंह—कहानी : नयी कहानी; दूसरी परंपरा की खोज
निर्मल वर्मा—परिंदे
डॉ० परमानंद श्रीवास्तव—हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया
डॉ० पारसनाथ मिश्र—मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल
प्रकाशचंद्र मिश्र—यशपाल का कथासाहित्य
डॉ० प्रभाशंकर मिश्र—राहुल सांकृत्यायन का कथा साहित्य
डॉ० प्रतापनारायण टंडन—हिन्दी उपन्यास कला; कहानी कला
फणीश्वरनाथ रेणु—मैला आंचल; परती परकथा; ठुमरी
डॉ० बंशीधर—हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा
डॉ० बच्चन सिंह—समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना को चुनौती
डॉ० बदरीनाथ—हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा
डॉ० भगवतीप्रसाद शुक्ल—आंचलिकता से आधुनिकताबोध
भँरूलाल गर्ग—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन
सं० मधुकर सिंह—कमलेश्वर
मन्नू भंडारी—मेरी प्रिय कहानियाँ
महादेवी वर्मा—आधुनिक कवि

मोहन राकेश—मेरी प्रिय कहानियाँ; आषाढ़ का एक दिन; एक और जिन्दगी; नये बादल
यशपाल—दादा कामरेड; दिव्या; मनुष्य के रूप
योगेन्द्र शाही—अस्तित्ववाद; कीर्कैगार्द से कामू तक
डॉ० रमेश कुंतल मेघ—आधुनिकता और आधुनिकीकरण
डॉ० रविनाथ सिंह—नयी कविता की भाषा
सं० राजेन्द्र अवस्थी—प्रश्नों के घेरे; श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ
राजेन्द्र यादव—एक दुनिया समानांतर; प्रेमचंद्र की बिरासत,
राजेन्द्र यादव—कहानी : स्वरूप और संवेदना, छोटे-छोटे ताजमहल;
राजेन्द्र यादव—जहां लक्ष्मी कैद है; किनारे से किनारे तक
राजकमल चौधरी—मछली मरी हुई
रामदरश मिश्र— हिन्दी उपन्यास : कए अंतर्यात्रा;
रामदरश मिश्र— जल टूटता हुआ : हिन्दी समीक्षा;
रामदरश मिश्र—स्वरूप और संदर्भ; अपने लोग
रामधारी सिंह दिनकर—आधुनिकता बोध; उर्वशी
रामलखन शुक्ल—उपन्यासकला
रामविलास शर्मा—नयी कविता और अस्तित्ववाद
रघुवरदयाल वार्ष्णेय—हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान
राही मासूम रजा—आधा गाँव
सं० ललित शुक्ल—दिशाओं का परिवेश
लक्ष्मीकांत वर्मा—नये प्रतिमान : पुराने निष्कर्ष
लक्ष्मणदत्त गौतम—हिन्दी कहानी में प्रगति चेतना
डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल—हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास
डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल—आधुनिक हिन्दी कहानी
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—आधुनिक कहानी का परिपार्श्व
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य
लालचंद गुप्त मंगल—अस्तित्ववाद : दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका
डॉ० विनय—समकालीन : समांतर कहानी
डॉ० विवेकी राय—स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्रामजीवन
डॉ० विवेकी राय—गंवई गंध गुलाब
विश्वभरनाथ उपाध्याय—रीछ
विष्णुकांत शास्त्री—कुछ चंदन की कुछ कपूर की
विष्णु प्रभाकर—धरती अब भी घूम रही है
सं० वेदप्रकाश अमिताभ—समकालीन हिन्दी साहित्य
डॉ० शशिभूषण शीतांशु—नयी कहानी के विविध प्रयोग

शिवदान सिंह चौहान—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष
शिवप्रसाद मिश्र रुद्र—बहती गंगा
डॉ० शिवशंकर पाण्डेय—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प
शेखर जोशी—कोसी का घटवार
शैलेश मटियानी—दो दुखों का एक सुख; मेरी तैंतीस कहानियाँ
श्यामसुंदर शर्मा—अस्तित्ववाद और द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य
सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय—नदी के द्वीप; अपने-अपने अजनबी, आत्मने पद
सीताराम शर्मा—स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य
डॉ० सुभाषिनी शर्मा—स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास
सुमन मेहरोत्रा—हिन्दी कहानियों में द्वंद्व
सं० सुरेन्द्र—नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना
सं० सुरेन्द्र—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ
सुरेश कुमार—शैली विज्ञान
सुरेश सिन्हा—नयी कहानी की मूल संवेदना
सुरेश सिन्हा—हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास
सुशीला शर्मा—हिन्दी उपन्यासों में प्रतीकात्मकता
श्रीलाल शुक्ल—रागदरबारी
श्रीनारायण चतुर्वेदी—उपन्यास : तत्व एवं रूपविधान
डॉ० हृ० के० कड़वे—हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति
हजारी प्रसाद द्विवेदी—बाणभट्ट की आत्मकथा
डॉ० हरवंशलाल शर्मा एवं कैलाश भाटिया—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (चतुर्दश भाग) (ना० प्र० स०, काशी)
हरिवंश राय बच्चन—क्या भूलूँ क्या याद करूँ; प्रवास की डायरी
ज्ञान अस्थाना—हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ
ज्ञानरंजन—सपना नहीं

पत्र-पत्रिकाएँ

'आजकल'—दिसम्बर, 1969
'आलोचना'—जनवरी, 1966; अप्रैल, 1968; अप्रैल, 1969 और 'आज' साहित्य विशेषांक—1961
'कल्पना'—मार्च, 1965; जून, 1968; अगस्त, 1968; नवलेखन विशेषांक—भाग एक और दो, 1969; फरवरी, 1970; अक्टोबर, 1971
'डेली' (अंग्रेजी दैनिक)—2 मई, 1983, (सनडे मैगजीन)
दस्तावेज—अंक-दस और ग्यारह
दिनमान—31 अगस्त, 1969
संचेतना—दिसम्बर, 1971

समीक्षा—नवम्बर, दिसम्बर, 1974; अक्टोबर, 1975
सम्मेलन—भाग-57
सारिका—अंक 292, अक्टोबर, 1961; जुलाई, 1972; 1 फरवरी, 1980
ज्ञानोदय—समकालीन कथा विशेषांक—1964; फरवरी, 1968

कोश

साहित्यकोश (भाग-1)—प्र० सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
राष्ट्रभाषा कोश—डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'
उर्दू-हिन्दी शब्दकोश—संकलनकर्त्ता—मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'मद्दाह'
हिन्दी शब्दकोश (पाँच भागों में)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग